प्रकाशक
मार्तंड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली।

सातवीं बार : १९४६
मूल्य
एक रुपया बारह आने

मुद्रक,
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, १२-'४७

इस संस्करणके बारेमें

आजसे कोई १८ साल पहले मैंने 'आत्मकथा'का हिंदी अनुवाद किया था। उसके बाद यह पहला मौका है जबकि मैं उसे दुहरानेका समय निकाल पाया हूँ। हिंदी में अबतक इसके छः संस्करण निकल चुके हैं। कुछ मित्रोंने इस बातकी ओर ध्यान भी दिलाया कि मैं एकबार फिर मूल गुजरातीसे मिलाकर अनुवादको देख जाऊं तो अच्छा रहे। मेरे पास इस समय गुजराती 'आत्मकथा'की छठी आवृत्ति है, जो १९४० में प्रकाशित हुई थी। उससे मिलाकर मैंने इसमें जहां कहीं कसर या त्रुटि मालूम हुई है उसे ठीक करनेका प्रयास किया है। अपना ही लिखा हम जब-जब देखते हैं तब-तब कुछ-न-कुछ सुधार करनेकी इच्छा हो जाती है, तो फिर १८ साल पहले का अनुवाद देखनेसे मुझे यों भी शब्दों व भाषा-संबंधी कई सुधार सूझने स्वाभाविक थे। मैंने इसमें कंजूसीसे काम नहीं लिया है।

पूज्य बापूकी इस पवित्र कथा और अनमोल प्रयोगोंको फिरसे एकबार अच्छी तरह पढ़नेका जो सुअवसर मिला उससे मेरी आत्माको भी अच्छी खुराक मिली। कई पुरानी भावनायें नये सिरेसे जाग उठीं, उनके प्रकाशमें अपनी कमियों व कमजोरियोंको भी देखने व परखनेका मौका मिला। यह अमिट छाप फिरसे हृदयपर पड़ी कि बापूकी यह 'आत्मकथा' उनके प्रतिक्षण विकासशील दिव्य जीवनकी तरह पाठकोंको वास्तवमें नित नई सत्यकी प्रेरणा व प्रकाश देनेवाली है, और सत्यकी शोधके इतिहासमें इसका अमर स्थान है। क्या अच्छा हो कि बापू

अपने अबतकके सत्यके और भी महान् प्रयोगों व अनुभवोंकी कथा और लिख डालें। मुझे विश्वास है कि सत्यके इस निडर उपासकके अगले अनुभव अधिक दिव्य व अद्भुत होंगे और उनसे संसारको एक नई रोशनी मिलेगी।

गांधी-आश्रम,
हटुंडी, (अजमेर)
शीतला सप्तमी
संवत् २००२ वि०

हरिभाऊ उपाध्याय

दो शब्द

यह मेरा अहोभाग्य है कि महात्माजीकी आत्मकथाके हिंदी अनुवादका अवसर मुझे मिला। 'नवजीवन'में आत्म-कथाके प्रकाशित होनेके पहले ही मैं, 'हिन्दी-नवजीवन'को छोड़कर, महात्माजीकी आज्ञासे, राजस्थानमें काम करनेकेलिए आ चुका था। मेरे बाद कई भाइयोंके हाथोंमें 'हिन्दी-नवजीवन'का काम रहा और आत्मकथाका अनुवाद भी उसमें कई मित्रों द्वारा हुआ। अतएव उसमें भाषा-शैलीका एक-सा न रहना स्वाभाविक था; परंतु उसे पुस्तक-रूपमें प्रकाशित करनेकेलिए यह आवश्यक समझा गया कि अनुवाद किसी एक व्यक्तिसे कराया जाय। यह निर्णय होते ही मैंने भूखे भिखारीकी तरह, झपटकर, अनुवादका भार अपने सिरपर ले लिया। सचमुच, वह दिन मेरे बड़े सद्भाग्यका दिन था।

अनुवाद मैंने गुजरातीसे किया है। मूल कथा महात्माजी गुजरातीमें ही लिख रहे हैं। अंग्रेजी अनुवादमें बहुत स्वतंत्रता ली गई है। अतएव अंग्रेजीसे हिंदी उलथा करनेमें हिंदी अनुवाद मूल गुजरातीसे बहुत दूर जा पड़ता। महात्माजी गुजरातीमें बड़े थोड़ेमें, और बहुत खूबीसे, अपने हृदयके गूढ़ भावोंको व्यक्त कर देते हैं। उनका अनुवाद करना, कई बार, बड़ा कठिन हो जाता है। भावको विशद करने जाते हैं तो भाषा-सौंदर्य नहीं निभ पाता और भाषा-सौंदर्यपर ध्यान देने लगते हैं तो भावमें गड़बड़ी पड़ने लगती है। अतः मैंने कहीं-कहीं भाषाके किंचित् अटपटेपनको स्वीकार करके भी महात्माजीकी मार्मिक

वाक्य-रचना को कायम रखनेकी कोशिश की है। पाठक महात्माजीके ऐसे वाक्योंको 'आर्ष' वाक्य ही समझ लें। दूसरे, हिंदी भाषा ज्यों-ज्यों राष्ट्र-भाषाकी योग्यता और श्रेष्ठताको पहुंचती जायगी, त्यों-त्यों उसका 'परदेकी बीबी' बनी रहना असंभव होता जायगा। उसे गुजराती, मराठी, बंगला आदिके सुंदर और मार्मिक शब्द-प्रयोगोंको अपनाकर अपना भंडार भरे बिना गुजर नहीं। इस दृष्टि से तो इस अनुवादके ऐसे शब्द-प्रयोग मेरी रायमें केवल क्षम्य ही नहीं, स्वागत-योग्य भी हैं।

रहा अनुवाद। सो इसकी अच्छाई-बुराईके बारेमें मुझे कुछ भी कहनेका अधिकार नहीं। मूल वस्तुकी अद्वितीयतासे तो कोई इंकार नहीं कर सकता। अनुवादमें यदि मूलकी उत्तमतासे पाठकको वंचित रहना पड़े तो अपनी इस असमर्थताका दोष-भागी मैं अवश्य हूं।

जबसे मैंने अनुवादको हाथमें लिया है, मैं मुश्किलसे एक जगह ठहरने पाया हूं—जहां ठहरने भी पाया हूं, वहां अन्यान्य कामोंमें भी लगा रहना पड़ा है। अतएव जितनी जल्दी मैं चाहता था, इस अनुवाद को पूरा न कर सका। इसका मुझे बड़ा दुःख है। पाठकोंकी बढ़ी हुई उत्सुकताको यदि यह अनुवाद पसंद हुआ तो मेरा दुःख कम हो जायगा। अभी तो यह भाव, कि मैं महात्माजीके इस प्रसादको हिंदी पाठकोंके सामने पुस्तक-रूपमें रखनेका निमित्त-भागी बना हूं, उस दुःख-को कम कर रहा है। और जब मेरी दृष्टि इस अनुवादके भावी कार्यकी-ओर जाती है, तब तो मुझे अपने इस सौभाग्यपर गर्व होने लगता है। मुझे विश्वास है कि महात्माजीकी यह उज्ज्वल आत्मकथा भूमंडलके आत्मार्थियोंके लिए एक दिव्य प्रकाश-पथका काम देगी और उन्हें आशा तथा आत्माका अमर संदेश सुनावेगी।

उज्जैन

फाल्गुन शुक्ल ८, सं० १९८४ हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

चार-पांच साल पहले, अपने नजदीकी साथियोंके आग्रहसे, मैंने आत्मकथा लिखना मंजूर किया था और शुरूआत भी कर दी थी; परंतु एक पृष्ठ भी न लिख सका था कि बंबईमें दंगेकी आग भड़क उठी, और आगेका काम जहां-का-तहां रह गया। उसके बाद तो मैं इतने कामोंमें उलझता गया कि अंतको मुझे यरवडामें जाकर शांति मिली। वहां श्री जयरामदास|भी थे। उन्होंने चाहा कि मैं, अपने दूसरे तमाम कामोंको एक ओर रखकर, सबसे पहले आत्मकथा लिख डालूं। मैंने उन्हें कहलाया कि मेरे अध्ययनका क्रम बन चुका है, और उसके पूरा होनेतक मैं आत्मकथा शुरू न कर सकूंगा। यदि मुझे पूरे छः साल यरवडामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ होता तो मैं अवश्य वहीं आत्मकथा लिख डालता; परन्तु उसमें अभी एक साल बाकी था और उसके पहले मैं किसी तरह लिखना शुरू न कर सकता था। इस कारण वहां भी वह रह गई। अब स्वामी आनंदने फिर वही बात उठाई है। इधर मैं भी दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास पूरा कर चुका हूं, इसलिए आत्मकथा लिखनेको मन होरहा है। स्वामी तो यह चाहते थे कि पहले मैं सारी कथा लिख डालूं और फिर वह पुस्तकाकार प्रकाशित हो; पर मेरे पास एकसाथ इतना समय नहीं। हां, 'नवजीवन'केलिए तो रफ्ता-रफ्ता लिख सकता हूं। इधर 'नवजीवन'केलिए भी हर हफ्ता मुझे कुछ-न-कुछ लिखना पड़ता है, तो फिर आत्मकथा ही क्यों न लिखूं? स्वामीने इस निर्णयको स्वीकार किया, और अब जाकर आत्मकथा लिखनेका अवसर मिला।

पर मैं यह निर्णय कर ही रहा था—वह सोमवारका मेरा मौन-दिन था—कि एक निर्मल-हृदय साथीने आकर कहा—

"आप आत्मकथा लिखकर क्या करेंगे? यह तो पश्चिमकी प्रथा

है। हमारे पूर्वमें तो शायद ही किसीने आत्मकथा लिखी हो। और फिर आप लिखेंगे भी क्या? आज आप जिस बातको सिद्धांतके तौरपर मानते हैं, कल उसे न मानने लगें तो? अथवा उस सिद्धांतके अनुसार जो काम आप आज करते हैं उनमें बादको परिवर्तन करना पड़े तो? आपके लेखोंको बहुत लोग प्रमाण मानकर अपना जीवन बनाते हैं। उन्हें यदि गलत रास्ता मिला तो? इसलिए अभी आत्मकथाके रूपमें कुछ लिखनेकी जल्दी न करें तो ठीक होगा।''

इस दलीलका थोड़ा-बहुत असर मुझपर हुआ; पर मैं आत्मकथा कहां लिख रहा हूं? मैं तो आत्मकथाके बहाने अपने उन प्रयोगोंकी कथा लिखना चाहता हूं, जो मैंने सत्यके लिए समय-समयपर किये हैं। हां, यह बात सही है कि मेरा सारा जीवन ऐसे ही प्रयोगोंसे भरा हुआ है। इसलिए यह कथा एक जीवन-वृत्तांतका रूप धारण कर लेगी; पर यदि इसका एक-एक पृष्ठ मेरे प्रयोगोंके वर्णनसे ही भरा हो तो इस कथाको मैं स्वयं निर्दोष मानूंगा। यह मानता हूं—अथवा यों कहिए, मुझे ऐसा मोह है—कि मेरे तमाम प्रयोग लोगोंके सामने आजायं, तो इससे उन्हें लाभ ही होगा। राजनीतिक क्षेत्रके मेरे प्रयोगोंको तो अब भारत-वर्ष जानता है—यही नहीं, उन्नत मानी जानेवाली दुनिया भी, थोड़ा-बहुत, जानती है; पर मेरी दृष्टिमें उसका मूल्य बहुत कम है और चूंकि इन्हीं प्रयोगोंके कारण मुझे 'महात्मा' पद मिला है, इसलिए मेरे नजदीक तो उनका मूल्य बहुत ही कम है। अपने जीवनमें बहुत बार इस विशेषणसे मुझे बड़ा दुःख पहुंचा है। मुझे एक भी ऐसा क्षण याद नहीं पड़ता, जब इस विशेषणसे मैं मनमें फूल उठा होऊं; पर हां, अपने उन आध्यात्मिक प्रयोगोंका वर्णन अवश्य मुझे प्रिय होगा, जिन्हें कि अकेला मैं ही जान सकता हूं और जिनकी बदौलत मेरी राजनीतिक-क्षेत्र-संबंधी शक्ति उत्पन्न हुई है। और यदि ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हों, तो फिर उनमें फूलनेके लिए जगह भी कहां है? उनके वर्णनका फल तो नम्रताकी वृद्धि ही हो सकता है। ज्यों-ज्यों मैं विचार करता

जाता हूं, अपने भूतकालके जीवनपर दृष्टि डालता जाता हूं, त्यों-त्यों मुझे अपनी अल्पता साफ-साफ दिखाई देती है। जो बात मुझे करनी है, आज तीस सालसे जिसके लिए मैं लालायित रहा हूं, वह तो है—आत्म-दर्शन, ईश्वरका साक्षात्कार, मोक्ष। मेरे जीवनकी प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टिसे होती है। मैं जो-कुछ लिखता हूं, वह भी इसी उद्देश्यसे, और राजनीतिक क्षेत्रमें जो मैं कूदा सो भी इसी बातको सामने रखकर।

परंतु शुरू हीसे मेरी यह राय रही है कि जिस बातको एक आदमी कर सकता है उसे सब लोग कर सकते हैं। इसलिए मेरे प्रयोग खानगी तौर पर नहीं हुए और न वैसे रहे ही। इस बातसे कि सब लोग उन्हें देख सकते हैं, उनकी आध्यात्मिकता कम होती होगी, यह मैं नहीं मानता। हां, कितनी ही बातें ऐसी जरूर होती हैं जिन्हें हमारी आत्मा ही जानती है, जो हमारी आत्मामें ही समाई रहती हैं। परंतु ऐसी बात तो मेरी पहुंचके बाहरकी बात हुई। मेरे प्रयोगमें तो आध्यात्मिक शब्दका अर्थ है नैतिक; धर्मका अर्थ है नीति; और जिस नीतिका पालन आत्मिक दृष्टिसे किया हो, वही धर्म है; इसलिए इस कथामें उन्हीं बातोंका समावेश रहेगा, जिनका निर्णय बालक, युवा, वृद्ध करते हैं और कर सकते हैं। ऐसी कथाको यदि मैं तटस्थ भावसे, निरभिमान रहकर, लिख सका, तो उससे अन्य प्रयोग करनेवालोंको अपनी सहायता-केलिए कुछ मसाला अवश्य मिलेगा।

मै यह नहीं कहता कि मेरे ये प्रयोग सब तरह संपूर्ण हैं। मैं तो इतना ही कहता हूं कि जिस प्रकार एक विज्ञान-शास्त्री अपने प्रयोगको अतिशय नियम और विचार-पूर्वक सूक्ष्मताके साथ करते हुए भी उत्पन्न परिणामोंको अन्तिम नहीं बताता, अथवा जिस प्रकार उनकी सत्यताके विषयमें यदि सशंक नहीं तो तटस्थ रहता है, उसी प्रकार मेरे प्रयोगों-को समझना चाहिए। मैंने भरसक खूब आत्म-निरीक्षण किया है, अपने मनके एक-एक भावकी छान-बीन की है, उनका विश्लेषण किया है। फिर भी मैं यह दावा हरगिज नहीं करना चाहता कि उनके परिणाम

सबके लिए अंतिम हैं; वे सत्य ही हैं, अथवा वही सत्य हैं। हां, एक दावा अवश्य करता हूं कि वे मेरी दृष्टि से सच्चे हैं और इस समयतक तो मुझे अंतिम जैसे मालूम होते हैं। यदि ये ऐसे न मालूम होते हों तो फिर इनके आधारपर मुझे कोई काम उठा लेनेका अधिकार नहीं; पर मैं तो जितनी चीजें सामने आती हैं उनके कदम-कदमपर, दो भाग करता जाता हूं—ग्राह्य और त्याज्य। और जिस बातको ग्राह्य समझता हूं उसके अनुसार अपने आचरणको बनाता हूं, एवं जबतक ऐसा आचरण मुझे—अर्थात् मेरी बुद्धिको और आत्माको—संतोष देता है तबतक उसके शुभ परिणामोंपर मुझे अवश्य अटल विश्वास रखना चाहिए।

यदि मैं केवल सिद्धांतोंका अर्थात् तत्त्वोंका ही वर्णन करना चाहता होता, तो मैं आत्मकथा न लिखता; परंतु मैं तो उनके आधारपर उठाये गये कार्योंका इतिहास देना चाहता हूं, और इसलिए मैंने इस प्रयत्नका पहला नाम रखा है 'सत्यके प्रयोग।' इसमें यद्यपि सत्यसे भिन्न समझे जानेवाले अहिंसा ब्रह्मचर्य आदिके प्रयोग भी आ जायंगे, परंतु मेरे निकट तो सत्य ही सर्वोपरि है, और उसमें अगणित वस्तुओंका समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल अर्थात् वाचिक सत्य नहीं है। यह तो वाचाकी तरह विचारका भी सत्य है। यह सत्य केवल हमारा कल्पनां-गत सत्यही नहीं, बल्कि स्वतंत्र चिरस्थायी सत्य, अर्थात् स्वयं परमेश्वर ही है।

परमेश्वरकी व्याख्यायें अगणित हैं; क्योंकि उसकी विभूतियां भी अगणित हैं। ये विभूतियां मुझे आश्चर्य-चकित तो करती हैं, मुझे क्षण-भर-केलिए मुग्ध भी करती हैं; पर मैं तो पुजारी हूं सत्य-रूपी परमेश्वर-का ही। मेरी दृष्टिमें वही एक-मात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है; यह सत्य अबतक मेरे हाथ नहीं लगा है, पर मैं उसकी खोजमें लगा हुआ हूं। उसकी शोधके लिए मैं अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुको भी छोड़ देनेकेलिए तैयार हूं, और इस शोध-रूपी यज्ञमें अपने शरीरको भी होम देनेकी तैयारी कर ली है। मुझे विश्वास है कि इतनी शक्ति मुझमें है; परंतु जबतक इस सत्यका साक्षात्कार नहीं हो

जाता, तबतक मेरी अंतरात्मा जिसे सत्य समझती है, उसी काल्पनिक सत्यको अपना आधार मानकर, दीप-स्तंभ समझकर, उसके सहारे मैं अपना जीवन आगे बढ़ा रहा हूं।

यह मार्ग यद्यपि तलवारकी धारपर चलने-जैसा दुर्गम है, तथापि मुझे तो अत्यंत सरल मालूम होता है। इस रास्ते जाते हुए अपनी भयंकर भूलें भी मेरे लिए मामूली हो गई हैं; क्योंकि इन भूलोंको करते हुए भी मैं खाइयों और खंदकोंसे बच गया हूं और अपनी समझके अनुसार तो आगे भी बढा हूं; पर यहींतक बस नहीं; हां, दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी—ईश्वरकी—झलक भी देख रहा हूं। मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जाता है कि सृष्टिमें एक-मात्र सत्यकी ही सत्ता है और उसके सिवा दूसरा कोई नहीं है। यह विश्वास किस तरह बढता गया है, यह बात मेरे जगत् अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादिके पाठक चाहें तो शौकसे मेरे प्रयोगोंमें हिस्सेदार बनें तथा उस सत्य-परमात्माकी झलक भी मेरे साथ-साथ देखें। फिर मैं यह बात अधिकाधिक मानता जाता हूं कि जितनी बातें मैं कर सकता हूं, उतनी एक बालक भी कर सकता है। और इसकेलिए मेरे पास सबल कारण हैं। सत्यकी शोधके साधन जितने कठिन दिखाई देते हैं, उतने ही सरल हैं। अभिमानीको जो बात अशक्य मालूम होती है वही एक भोले-भाले शिशुको बिलकुल सरल मालूम होती है। सत्यके शोधकको एक रज-कणसे भी नीचे रहना पड़ता है। सारी दुनिया रज-कणको पैरों तले रौंदती है; पर सत्यका पुजारी तो जबतक इतना छोटा नहीं बन जाता कि रज-कण भी उसे कुचल सके, तबतक स्वतंत्र सत्यकी झलक भी होना दुर्लभ है। यह बात वशिष्ठ-विश्वामित्रके आख्यानमें अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है। ईसाई-धर्म और इस्लाम भी इसी बातको साबित करते हैं।

आगे जो प्रकरण क्रमशः लिखे जायंगे उनमें यदि पाठकको मेरे अभिमानका भास हो तो अवश्य समझना चाहिए कि मेरी शोधमें

कमी है और मेरी वे कल्पनाएं मृग-जलके सदृश हैं। मैं तो चाहता हूं कि चाहे मुझ-जैसे अनेकोंका क्षय होजाय, पर सत्यकी सदा जय हो। अल्पात्माको नापनेकेलिए सत्यका गज कभी छोटा न बने।

मैं चाहता हूं, मेरी विनय है, कि मेरे लेखोंको कोई प्रमाणभूत न माने। उनमें प्रदर्शित प्रयोगोंको उदाहरण-रूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें, इतनी ही मेरी इच्छा है। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्रमें, आत्मा-संबंधी मेरे लेखोंसे बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी; क्योंकि एक भी ऐसी बात जो कहने लायक है, छिपाऊंगा नहीं। पाठकोंको अपने दोषोंका परिचय मैं पूरा-पूरा करानेकी आशा रखता हूं; क्योंकि मुझे तो सत्यके वैज्ञानिक प्रयोगोंका वर्णन करना है। यह दिखानेकी कि मैं कैसा अच्छा हूं मुझे तिल-मात्र इच्छा नहीं है। जिस नापसे मैं अपनेको नापना चाहता हूं और जो नाप हम सबको अपनेलिए रखना चाहिए, उसे देखते हुए तो मैं अवश्य कहूंगा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥

क्योंकि जिसे मैं सोलहों आने विश्वासके साथ अपनी हर सांसका स्वामी मानता हूं, जिसे मैं अपने नमकका देनेवाला मानता हूं, उससे मैं अभीतक दूर हूं और यह बात मुझे प्रतिक्षण कांटेकी तरह चुभ रही है। इसके कारण-रूप अपने विकारोंको मैं देख तो सकता हूं, पर अब भी उन्हें निर्मूल नही कर पाया हूं।

पर अब इसे समाप्त करता हूं। प्रस्तावनासे हटकर यहां प्रयोगोंकी कथामें प्रवेश नहीं कर सकता। यह तो कथा-प्रकरणोंमें ही पाठकोंको मिलेगी।

सत्याग्रहाश्रम, साबरमती,
मार्गशीर्ष शुक्ल ११, सं० १९८२

मोहनदास, करमचंद गांधी

विषय-सूची

तीसरा भाग

चौथा भाग

पांचवां भाग

—

आत्म-कथा

पहला भाग

: १ :

जन्म

गाधी-परिवार, कहते है, पहले पसारीका[1] काम करता था । परतु मेरे दादासे लेकर तीन पुश्ततक उसने दीवानगिरी की है । जान पडता है, उत्तमचंद गांधी, उर्फ ओता गाधी, बड़े टेकवाले थे । उन्हें राज-दरबारी साजिशोंके कारण, पोरबदर छोड़कर जूनागढ़-राज्यमें जाकर रहना पड़ा था । वहा गये तो उन्होंने बायें हाथसे नवाब साहबको सलाम किया। जब किसीने इस स्पष्ट गुस्ताखीका कारण पूछा, तो उत्तर मिला—"दाहिना हाथ तो पोरबंदरके सुपुर्द हो चुका है ।"

ओता गांधीने एक-एक करके अपने दो विवाह किये थे । पहली पत्नीसे चार लड़के हुए थे और दूसरीसे दो । लेकिन अपना बचपन याद करते हुए मुझे यह खयालतक नही आता कि ये भाई सौतेले लगते थे । उनमे पांचवे करमचंद गाधी, उर्फ कबा गांधी और अंतिम तुलसीदास गांधी थे । दोनों भाई, बारी-बारीसे, पोरबदरमे दीवान रहे थे । कबा गाधी मेरे पिताजी थे । पोरबंदरकी दीवानगिरी छोड़नेके बाद वह 'राजस्थानिक कोर्ट'के सभासद रहे थे । इसके पश्चात् राजकोटमे और फिर कुछ समय वाकानेरमे दीवान रहे । मृत्युके समय राजकोट-दरबारके पेंशनर थे ।

कबा गांधीके भी एक-एक करके चार विवाह हुए थे । पहली दो

---

१ गुजरात-काठियावाड़में पंसारी को गांधा कहते हैं ।—अनु०

पत्नियोंसे दो लड़कियां थी; अंतिम, पुतलीबाईसे, एक कन्या और तीन पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटा मैं हूं।

मेरे पिताजी कुटुंब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परंतु साथ ही क्रोधी थे। मेरा खयाल है, कुछ विषयासक्त भी रहे होंगे। उनका अंतिम विवाह चालीस वर्षकी अवस्थाके बाद हुआ था। वह रिश्वतसे सदा दूर रहते थे, और इसी कारण अच्छा न्याय करते थे, ऐसी प्रसिद्धि उनकी हमारे कुटुंबमे तथा बाहर भी थी। वह राज्यके बड़े वफादार थे। एक बार असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंटने राजकोटके ठाकुरसाहबसे अपमान-जनक शब्द कहे तो उन्होंने उसका सामना किया। साहब बिगड़े और कबा गांधीसे कहा, माफी मांगो। उन्होंने साफ इंकार कर दिया। सस्से कुछ घंटेके लिए उन्हे हवालातमे भी रहना पड़ा। पर वह टस-से-मस न हुए। तब साहबको उन्हे छोड़ देनेका हुक्म देना पड़ा।

पिताजीको धन जोड़नेका लोभ न था। इससे हम भाइयोंके लिए वह बहुत थोड़ी संपत्ति छोड़ गये थे।

पिताजीने शिक्षा केवल अनुभव द्वारा प्राप्त की थी। आजकी अपर प्राइमरीके बराबर उनकी पढ़ाई हुई थी। इतिहास, भूगोल बिलकुल नही पढ़े थे। फिरभी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे दरजेका था कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्नोंको हल करनेमें अथवा हजार आदमियोंसे काम लेनेमे उन्हें कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नहीं-के बराबर हुई थी। परंतु मंदिरोंमे जानेसे, कथा-पुराण सुननेसे, जो धर्मज्ञान असंख्य हिन्दुओंको सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें था। अपने अंतिम दिनोंमे एक विद्वान् ब्राह्मणकी सलाहसे, जोकि हमारे कुटुंबके मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजाके समय ऊंचे स्वरसे पाठ किया करते थे।

माताजी साध्वी स्त्री थी, ऐसी छाप मेरे दिलपर पड़ी है। वह बहुत भावुक थी। पूजा-पाठ किये विना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव मंदिर—जाया करतीं। जबसे मैंने होश संभाला, मुझे याद नहीं

पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वह लिया करती और उन्हें निर्विघ्न पूरा करती। बीमार पड़ जाने पर भी वह व्रत न छोड़ती। ऐसा एक समय मुझ याद है, जब उन्होंने चांद्रायणव्रत किया था। बीचमें बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मासमें एक बार भोजन करना तो उनके लिए मामूली बात थी। इतनेसे संतोष न मानकर एक बार चातुर्मासमें उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया। एक साथ दो-तीन उपवास तो उनके लिए एक मामूली बात थी। एक चातुर्मासमे उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायणके दर्शन होनेपर ही भोजन किया जाय। इस चौमासेमे हम लड़केलोग आसमानकी तरफ देखा करते कि कब सूरज दिखाई पड़े और कब मा खाना खाय। सब लोग जानते है कि चौमासेमे बहुत बार सूर्य-दर्शन मुश्किलसे होते है। मुझे ऐसे दिन याद है, जबकि हमने सूर्यको निकला हुआ देखकर पुकारा है—"मां-मां, वह सूरज निकला" और जबतक मां जल्दी-जल्दी दौड़कर आती है, सूरज छिप जाता था। मां यह कहती हुई वापस जाती कि 'खैर, कोई बात नही, ईश्वर नही चाहता कि आज खाना मिले' और अपने कामोंमे मशगूल हो जाती।

माताजी व्यवहार-कुशल थी। राज-दरबारकी सब बाते जानती थीं। रनवासमे उनकी बुद्धिमत्ता ठीक-ठीक आंकी जाती थी। जब मै बच्चा था, मुझे दरबारगढमे कभी-कभी वह साथ ले जाती और 'बा—मां साहेब' (ठाकुर साहबकी विधवा माता) के साथ उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी याद है।

इन माता-पिताके यहां आश्विन बदी १२ संवत् १९२५ अर्थात् २ अक्तूबर १८६९ ईसवीको पोरबंदर अथवा सुदामापुरीमे मेरा जन्म हुआ।

मेरा बचपन पोरबंदरमें ही बीता। ऐसा याद पडता है कि किसी पाठशालामें मै पढने बैठाया गया था। मुश्किलसे कुछ पहाड़े पढा होऊंगा। उस समय मैंने और लडकोंके साथ मेहताजी—मास्टर साहब—को सिर्फ गाली देना सीखा था, इतना याद पडता है। और कोई बात याद

नही आती । इससे यह अनुमान करता हूं कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी और स्मरणशक्ति उन पंक्तियोंके कच्चे पापड़की तरह रही होगी जोकि हम लड़के गाया करते थे—

एकड़े एक, पापड़ शेक
पापड़ कच्चो,...मारो....

पहली खाली जगह मास्टर साहबका नाम रहता था । उन्हें मैं अमर करना नही चाहता । दूसरी खाली जगहमें, एक गाली रहती, जिसे यहां देनेकी आवश्यकता नही ।

: २ :

बचपन

पोरबंदरसे पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट'के सभ्य होकर जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई ७ सालकी होगी । राजकोटकी देहाती पाठशालामें मैं भरती कराया गया । इस पाठशालाके दिन मुझे अच्छी तरह याद है । मास्टरोंके नाम-ठाम भी याद हैं । पोरबंदरकी तरह वहांकी पढ़ाईके संबंधमें भी कोई खास बात जानने लायक नहीं । मामूली विद्यार्थी भी मुश्किलसे माना जाता होऊंगा । पाठशालासे फिर ऊपरके स्कूलमें—और वहांसे हाईस्कूलमें गया । यहांतक पहुंचते हुए मेरा बारहवां साल पूरा होगया । मुझे न तो यही याद है कि अबतक मैंने किसी भी शिक्षकसे झूठ बोला हो, न यही कि किसीसे मित्रता जोड़ी हो । बात यह थी कि मैं बहुत झेंपू लड़का था, मदरसेमें अपने कामसे काम रखता । घंटी लगते समय पहुंच जाता, और स्कूल बंद होतेही घर भाग आता । 'भाग आता' शब्दका प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि मुझे किसीके साथ बातें करना न सुहाता था—मुझे यह डर भी बना रहता कि कहीं 'कोई मेरी दिल्लगी न उड़ाए ?'

हाईस्कूलके पहले ही सालकी परीक्षाके समयकी एक घटना लिखने योग्य है। शिक्षा-विभागके इंस्पेक्टर, जाइल्स साहब, निरीक्षण करने आये। उन्होंने पहली कक्षाके विद्यार्थियोंको पांच शब्द लिखवाये। उनमे एक शब्द था 'केटल' (Kettle) उसे मैंने गलत लिखा। मास्टर साहबने मुझे अपने बूटसे टल्ला देकर चेताया। पर मैं क्यों चेतने लगा? मेरे दिमागमे यह बात न आई कि मास्टर साहब मुझे आगेके लड़केकी स्लेट देखकर सही लिखनेका इशारा कर रहे हैं। मैं यह मान रहा था कि मास्टर साहब यह देख रहे हैं कि हम दूसरेसे नकल तो नहीं कर रहे हैं। सब लड़कोके पांचों शब्द सही निकले, एक मैं ही बुद्धू साबित हुआ। मास्टर साहबने बादमे मेरी यह 'मूर्खता' मुझे समझाई। परंतु उसका मेरे दिलपर कुछ असर न हुआ। दूसरोंकी नकल करना मुझे कभी न आया।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहबका अदब रखनेमे मैंने कभी गलती न की। बड़े-बूढोंके ऐब न देखनेका गुण मेरे स्वभावमें ही था। बादको तो इन मास्टर साहबके ऐब भी मेरी नजरमें आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर-भाव कायम ही रहा। मैं इतना जान गया था कि हमे बड़े-बूढोंकी आज्ञा माननी चाहिए, जैसा वे कहे करना चाहिए; पर वे जो-कुछ करे उसके काजी हम न बने।

इस समय और दो घटनाए हुई, जो मुझे सदा याद रही है। मामूली तौरपर मुझे कोर्सकी पुस्तकोंके अलावा कुछ भी पढ़नेका शौक न था। इस खयालसे कि अपना पाठ याद करना उचित है, नही तो उलाहना सहन न होगा और मास्टर साहबसे झूठ बोलना ठीक नही, मैं पाठ याद करता; पर मन न लगा करता। इससे सबक कई बार कच्चा रह जाता। तो फिर दूसरी पुस्तकें पढनेकी तो बात ही क्या? परंतु पिताजी एक 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नामक नाटक खरीद लाये थे, उसपर मेरी नजर पड़ी। उसे पढनेको दिल चाहा। बड़े चावसे मैने उसे पढ़ा। इन्ही दिनों शीशेमें तसवीर दिखानेवाले लोग भी आया करते। उसमें मैंने यह चित्र भी

देखा कि श्रवण अपने माता-पिताको कावड़में बैठाकर तीर्थयात्राके लिए ले जा रहा है। ये दोनों चीजें मेरे अंतस्तल पर अंकित होगईं। मेरे मनमें यह बात उठा करती कि मै भी श्रवणकी तरह बनूं। श्रवण जब मरने लगा तो उस समयका उसके माता-पिताका विलाप अब भी याद है। उस ललित छंदको मै बाजेपर भी बजाया करता। बाजा सीखनेका मुझे शौक था और पिताजीने एक बाजा खरीद भी दिया था।

इसी अरसेमें एक नाटक-कंपनी आई और मुझे उसका नाटक देखनेकी छुट्टी मिली। हरिश्चंद्रका खेल था। इसको देखते मै अघाता न था, बार-बार उसे देखनेको मन हुआ करता। पर यों बार-बार जाने कौन देने लगा? लेकिन अपने मनमें मैंने इस नाटकको सैकड़ों बार खेला होगा। हरिश्चंद्रके सपने आते। यही धुन समाई कि 'हरिश्चद्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों न हों?' यही धारणा जमी कि हरिश्चंद्रके जैसी विपत्तियां भोगना, पर सत्यको न छोड़ना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान लिया था कि नाटकमें जैसी विपत्तियां हरिश्चंद्रपर पड़ी है, वैसी ही वास्तवमें उसपर पड़ी होंगी। हरिश्चंद्रके दुःखोंको देखकर, उन्हें याद कर-कर, मै खूब रोया हूं। आज मेरी बुद्धि कहती है, कि संभव है, हरिश्चंद्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हों। पर मेरे हृदयमे तो हरिश्चंद्र और श्रवण आज भी जीवित है। आज भी यदि मै उन नाटकोंको पढ़ पाऊं तो आंसू आये बिना न रहें।

: ३ :

बाल-विवाह

जी चाहता है कि यह प्रकरण मुझे न लिखना पड़े तो अच्छा; परंतु इस कथामें मुझे ऐसी कितनी ही कड़ई घूंटें पीनी पड़ेंगी। सत्यके पुजारी होनेका दावा करके मै इससे कैसे बच सकता हूं?

यह लिखते हुए मेरे हृदयको बड़ी व्यथा होती है कि १३ वर्षकी उम्रमें मेरा विवाह हुआ। आज मैं जब १२-१३ वर्षके बच्चोंको देखता हूं; और अपने विवाहका स्मरण हो आता है, तब मुझे अपनेपर तरस आने लगती है; और उन बच्चोंको इस बातके लिए बधाई देनेकी इच्छा होती है कि वे मेरी दुर्गतसे अबतक बचे हुए हैं। तेरह सालकी उम्रमें हुए मेरे इस विवाहके समर्थनमे एक भी नैतिक दलील मेरे दिमागमे नही आ सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाईकी बात लिख रहा हूं। सगाईका तो अर्थ होता है मां-बापके द्वारा किया हुआ दो लड़के-लड़कियोंके विवाहका ठहराव—वाग्दान।-सगाई टूट भी सकती है। सगाई हो जानेपर यदि लड़का मर जाय तो उससे कन्या विधवा नही हाती। सगाईके मामलेमें वर-कन्या की कोई पूछ नही होती। दोनोंको खबर हुए बिना भी सगाई हो सकती है। मेरी एक-एक करके तीन सगाइयां हुई। किंतु मुझे कुछ पता नही कि ये कब हो गईं। मुझसे कहा गया कि एक-एक करके दो कन्याये मर गईं, तब मैं जान पाया कि मेरी तीन सगाइयां हुई। . छ ऐसा याद पड़ता है कि तीसरी सगाई सातेक सालकी उम्रमें हुई होगी। पर मुझे कुछ याद नही आता कि सगाईके समय मुझे उसकी खबर का गई हो। लेकिन विवाहमे तो वर-कन्याकी उपस्थिति आवश्यक होती है, उसमें धार्मिक विधि-विधान होते है। अतः यहा मै सगाईकी नही, अपने विवाहकी ही बात कर रहा हू। विवाहका स्मरण तो मुझे अच्छी तरह है।

पाठक जान ही गये है कि हम तीन भाई थे। सबसे बड़ेकी शादी हो चुकी थी। मंझले भाई मुझसे दो-तीन वर्ष बड़े थे। मेरे पिताजीने तीन विवाह एक-साथ करनेका निश्चय किया—एक तो मंझले भाईका, दूसरे मेरे चचेरे भाईका, जिनकी उम्र मुझसे शायद एकाध साल ज्यादा हो, और तीसरा मेरा। इसमे हमारे कल्याणका कोई विचार न था, हमारी इच्छाकी तो बात ही क्या ? बस, केवल माता-पिताकी इच्छा और खर्च-वर्चकी सुविधा ही देखी गई थी।

हिंदू-संसारमें विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नही। वर-कन्याके मां-बाप विवाहके पीछे बरबाद हो जाते है। धन भी लुटाते है और समय भी बरबाद करते है। महीनों पहलेसे तैयारियां होने लगती है, तरह-तरहके कपडे तैयार होते है, जेवर बनते है, जाति-भोजोंका तखमीना बनाया जाता है, खानेकी चीजोंकी होड़-सी लगती है। स्त्रियां, सुर हो या बे-सुर, गीत गा-गाकर अपना गला बैठा लेती है, बीमार भी पड़ जाती है, और पड़ोसियोंकी शांति भंग करती है सो अलग। पड़ोसी भी तो जब उनके यहां अवसर आता है तब ऐसा ही करते है, इसलिए इस सारे शोर-गुलको तथा भोजोंकी जूठन व दूसरी गंदगीको चुपचाप सहन कर लेते है।

यह इतना झंझट तीन बार अलग-अलग करनेके बजाय एक ही बार कर डालना क्या अच्छा नहीं? 'कम खर्च बाला नशीन'। क्योंकि तीन विवाह एक-साथ होनेसे खर्च भी खुले हाथ किया जा सकता था। पिताजी और चाचाजी वृद्ध थे। हम लोग थे उनके सबसे छोटे लड़के। इसलिए हमारे विवाह-संबंधी अपनी उमंगको पूरा करनेका भाव भी उनके मनमें था ही। इन कारणोंसे तीन विवाह एकसाथ करनेका निश्चय हुआ और उसके लिए, जैसा कि मै लिख चुका हूं, महीनों पहले तैयारियां होती रही और सामग्रियां जुटती रहीं।

हम भाइयोंने तो सिर्फ उन तैयारियोंसे ही जाना कि हमारे विवाह होनेवाले है। मुझे तो इस समय इन मनसूबोंके अलावा कि अच्छे-अच्छे कपड़े पहनेंगे, बाजे बजते देखेंगे, तरह-तरहका भोजन, मिठाई मिलेगी, एक नई लड़कीके साथ हंसी-खेल करेंगे, और किसी विशेष वाकभा रहना याद नहीं आता। विषय-भोग करनेका भाव तो पीछेसे उत्पन्न हुआ। यह किस प्रकार हुआ, सो मै बता तो सकता हूं परंतु इसकी जिज्ञासा पाठक न रखे। अपनी इस शर्मपर मै परदा डाले रखना चाहता हूं। किंतु जो बाते उनके जानने योग्य है, वे सब आगे आ जायगी—वे भी इसलिए कि जो मध्य-बिंदु मैंने अपनी दृष्टिके सामने रखा है, उसका कुछ संबंध उनके ब्योरेके साथ है।

हम दोनों भाइयोंका राजकोटसे पोरबंदर ले गये। वहा हलदी लगाने इत्यादिकी जो विधिया हुई वे रोचक तो है, पर उनका वर्णन छोड देने ही लायक है।

पिताजी दीवान थे तो क्या हुआ; थे तो आखिर नौकर ही। फिर राजप्रिय थे, इसलिए और भी पराधीन। ठाकुर साहबने अखीरी वक्त तक उन्हे जाने न दिया। फिर जब इजाजत दी भी तो दो दिन पहले, जबकि सवारीका जगह-जगह इंतजाम करना पड़ा! पर दैवने कुछ और ही सोच रखा था। राजकोटसे पोरबदर ६० कोस है। बैलगाड़ीसे ५ दिनका रास्ता था। पिताजी तीन दिनमे आये। अखीरी मजिलपर तांगा उलट गया। पिताजीको सख्त चोट आई। हाथ-पांव और बदनमें पट्टियां बांधे घर आये। हमारे लिए और उनके लिए भी विवाहका आनंद आधा रह गया। परंतु इससे विवाह थोड़े ही रुक सकते थे? लिखा मुहूर्त कहीं टल सकता था? और मै तो विवाहके बाल-उल्लासमें पिताजीकी चोटको भूल ही गया।

मै जितना पितृ-भक्त था उतना ही विषय-भक्त भी। यहां विषयसे मतलब किसी एक इंद्रियके विषयसे नही, बल्कि भोग-मात्रसे है। यह होश तो अभी आना बाकी था कि माता-पिताकी भक्तिके लिए पुत्रको अपने सब सुख छोड़ देने चाहिए। ऐसा होते हुए भी, मानो इस भोगेच्छाकी सजा मुझे मिलनी हो, मेरी जिंदगीमे एक ऐसी दुर्घटना हुई, जो मुझे आज भी काटेकी तरह चुभती है। जब-जब निष्कुलानंदकी यह पक्ति

'त्याग न टके रे वैराग बिना, करिये कोटि उपाय जी'

गाता अथवा सुनता हू, तब-तब यह दुर्घटना और कटु-प्रसंग मुझे याद आता है और शर्मिदा करता रहता है।

पिताजीने खुद मानों थप्पड मारकर अपना मुह लाल रखा। शरीरमे चोट और पीडाके रहते हुए भी विवाह-कार्यमे पूरा-पूरा योग दिया। पिताजी किस अवसरपर कहा-कहा बैठे थे, यह सब मुझे ज्यों-का-त्यों याद है। बाल-विवाहपर विचार करते हुए पिताजीके कार्यपर जो टीका-

टिप्पणी आज मै कर रहा हूं, उसका स्वप्न भी उस समय न आया था। उस समय तो मुझे वे सब बाते रुचिकर और उचित ही मालूम होती थीं। क्योंकि एक तो विवाहकी उत्सुकता थी और दूसरे पिताजी जो-कुछ करते थे वह सब उस समय ठीक ही जान पड़ता था। अतः उस समयकी स्मृति आज भी मेरे मनमे ताजा है।

हमारा पाणि-ग्रहण हुआ, सप्तपदीमें वर-वधू साथ बैठे, दोनोंने एक-दूसरेको कँसार[1] खिलाया, और तभीसे हम दोनों एक साथ रहने लगे। ओह, वह पहली रात ! दो अबोध बालक बिना जानें, बिना समझे, संसार-सागरमें कूद पड़े !! भाभीने सिखाया कि पहली रातको मुझे क्या-क्या करना चाहिए। यह याद नहीं पड़ता कि मैंने धर्म-पत्नीसे यह पूछा हो कि उन्हें किसने सिखाया था। अब भी पूछा जा सकता है; पर अब तो इसकी इच्छातक नही होती। पाठक इतना ही जान लें कि कुछ ऐसा याद पड़ता है कि हम दोनों एक-दूसरेसे डरते और शरमाते थे। मैं क्या जानता कि बाते कैसे व क्या-क्या करें ? सिखाई बातें भी कहांतक मदद कर सकती हैं ? पर क्या ये बाते सिखानी पड़ती है ? जहां संस्कार प्रबल है, वहां सिखाना फिजूल हो जाता है। धीरे-धीरे हमारा परिचय बढ़ता गया। आजादीके साथ एक-दूसरेसे बोलने-बतलाने लगे। हम दोनों हम-उम्र थे। फिर भी मैं पतिदेव बन बैठा।

---

[1] कँसार गेहूंकी लपसी-जैसा पदार्थ होता है, जिसे विवाह-विधि समाप्त होनेपर वर-वधू खाते है।

: ४ :

पतिदेव

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, छोटे-छोटे निबंध—पैसे-पैसे या पाई-पाईके, सो याद नही पड़ता—छपा करते। इनमें दांपत्य प्रेम, मितव्ययता, वाल-विवाह इत्यादि विषयोंकी चर्चा रहा करती। इनमेंसे कोई-कोई निबंध मेरे हाथ पड़ता और उसे मै पढ़ जाता। शुरूसे यह मेरी आदत रही कि जो बात पढ़नेमे अच्छी नही लगती उसे भूल जाता, और जो अच्छी लगती उसके अनुसार आचरण करता। यह पढ़ा कि एक-पत्नी-व्रतका पालन करना पतिका धर्म है। बस, यह मेरे हृदयमे अंकित हो गया। सत्यकी लगन तो थी ही। इसलिए पत्नीको धोखा या भुलावा देनेका तो अवसर ही न था। और यह भी समझ चुका था कि दूसरी स्त्रीसे संबंध जोड़ना पाप है। फिर कोमल वयमे एक-पत्नी-व्रतके भग होनेकी संभावना भी कम रहती है।

परंतु इन सद्विचारोंका एक बुरा परिणाम निकला। 'यदि मैं एक-पत्नी-व्रतका पालन करता हूं, तो मेरी पत्नीको भी एक-पति-व्रतका पालन करना चाहिए।'-इस विचारसे मै असहिष्णु-ईर्ष्यालु पति बन गया। फिर 'पालन करना चाहिए' मेसे 'पालन करवाना चाहिए' इस विचारतक जा पहुंचा। और यदि पालन करवाना हो तो फिर मुझे पत्नीकी चौकीदारी करनी चाहिए। पत्नीकी पवित्रता पर तो संदेह करनेका कोई कारण न था; परतु ईर्ष्या कही कारण देखने जाती है? मैंने कहा—'पत्नी हमेशा कहां-कहां जाती है, यह जानना मेरे लिए जरूरी है, 'मेरी इजाजत लिये बिना वह कही नही जा सकती।' मेरा यह भाव मेरे और उनके बीच दुःखद झगड़ेका मूल बन बैठा। बिना इजाजतके कही न जा पाना ता एक तरहकी कैद ही हो गई। परंतु कस्तूरबाई ऐसी मिट्टीकी न बनी थीं, जो ऐसी कैदको बरदाश्त करती। जहां जी चाहे, मुझसे बिना पूछे

जरूर चली जाती। ज्यों-ज्यों मैं उन्हें दबाता त्यों-त्यों वह अधिक आजादी लेती, और त्यों-ही-त्यों मैं और बिगड़ता। इस कारण हम बाल-दंपतीमें अबोला रहना एक मामूली बात हो गई। कस्तूरबाई जो आजादी लिया करती उसे मैं बिलकुल निर्दोष मानता हूं। एक बालिका जिसके मनमें कोई पाप नहीं है, देव-दर्शनको जानेके लिए अथवा किसीसे मिलने जानेके लिए क्यों ऐसा दबाव सहन करने लगी? 'यदि मैं उसपर दबाव रखूं तो फिर वह मुझपर क्यों न रखे?' पर यह बात तो अब समझमें आती है। उस समय तो मुझे पतिदेवकी सत्ता सिद्ध करनी थी।

इससे पाठक यह न समझें कि हमारे इस गार्हस्थ्य-जीवनमें कहीं मिठास थी ही नहीं। मेरी इस वक्रताका मूल था प्रेम! मैं अपनी पत्नीको आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरे मनमें एकमात्र यही भाव रहता था कि मेरी पत्नी स्वच्छ हो, स्वच्छ रहे, मैं सीखूं सो सीखे, मैं पढ़ूं सो पढ़े और हम दोनों एक-मन दो-तन बनकर रहें।

मुझे खयाल नहीं पड़ता कि कस्तूरबाईके भी मनमें ऐसा भाव रहा हो। वह निरक्षर थीं। स्वभाव उनका सरल और स्वतंत्र था। वह परिश्रमी भी थी, पर मेरे साथ कम बोला करती। अपने अज्ञानपर उन्हें असंतोष न था। अपने बचपनमें मैंने कभी उनकी ऐसी इच्छा नहीं देखी कि 'वह पढ़ते हैं तो मैं भी पढ़ूं।' इससे मैं मानता हूं कि मेरी भावना एकतर्फा थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्रीपर अवलंबित था और मैं उस सुखकी प्रतिध्वनिकी आशा लगाये रहता था। अस्तु। प्रेम यदि एक-पक्षीय भी हो तो वहां सर्वांशमें दुःख नहीं हो सकता।

मुझे कहना चाहिए कि मैं अपनी पत्नीसे जहांतक संबंध है, विषयासक्त था। स्कूलमें भी उसका ध्यान आता, और यह विचार मनमें चला ही करता था कि कब रात हो और कब हम मिलें। वियोग असह्य हो जाता था। कितनी ही ऊट-पटांग बातें कह-कहकर मैं कस्तूरबाईको देरतक सोने न देता। इस आसक्तिके साथ ही यदि मुझमें कर्त्तव्यपरायणता न होती तो, मैं समझता हूं, या तो किसी बुरी बीमारीमें फंसकर अकाल ही

कालकवलित हो जाता अथवा अपने और दुनियाकेलिए भारभूत होकर वृथा जीवन व्यतीत करता होता। 'सुवह होते ही नित्यकर्म तो हर हालतमें करने चाहिएं, झूठ तो बोल ही नही सकते', आदि अपने इन विचारोंकी बदौलत मैं अपने जीवनमे कई संकटोंसे बच गया हू।

मै ऊपर कह आया हूं कि कस्तूरबाई निरक्षर थी। उन्हे पढानेकी मुझे बड़ी चाह थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे कैसे पढ़ाने देती ? एक तो मुझे उनकी मर्जीके खिलाफ पढाना था, फिर रातमे ही ऐसा मौका मिल सकता था। बुजुर्गोंके सामने तो पत्नीकी तरफ देखतक नही सकते—बात करना तो दूर रहा ! उस समय काठियावाड़में घूंघट निकालनेका निरर्थक और जगली रिवाज था, आज भी थोड़ा-बहुत बाकी है। इस कारण पढ़ानेके अवसर भी मेरे प्रतिकूल थे। इसलिए, मुझे कहना होगा कि युवावस्थामें पढ़ानेकी जितनी कोशिशे मैंने की वे सब प्राय: बेकार गईं और जब मै विषय-निद्रासे जगा तब तो सार्वजनिक-जीवनमे पड़ चुका था। इस कारण अधिक समय देने योग्य मेरी स्थिति नहीं रह गई थी। शिक्षक रखकर पढानेके मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप आज कस्तूरबाई मामूली चिट्ठी-पत्री व गुजराती लिखने-पढ़मेसे अधिक साक्षर न होने पाईं। यदि मेरा प्रेम विषयसे दूषित न हुआ होता तो, मै मानता हूं आज वह विदुषी हो गई होती। उनके पढ़नेके आलस्यपर मै विजय प्राप्त कर पाता। क्योंकि मै जानता हूं कि शुद्ध प्रेमके लिए दुनियामे कोई बात असंभव नही।

इस तरह अपनी पत्नीके साथ विषय-रत रहते हुए भी मै कैसे बहुत कुछ बच गया, इसका एक कारण मैने ऊपर बताया। इस सिलसिलेमे एक और बात कहने जैसी है। सैकड़ों अनुभवोंसे मैंने यह निचोड़ निकाला है कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे खुद परमेश्वर ही बचा लेता है। हिंदू-ससारमें जहा बालविवाहकी घातक प्रथा है वहां उसके साथ ही उसमेंसे कुछ मुक्ति दिलाने वाला भी एक रिवाज है। बालक वर-वधूको मां-बाप बहुत समयतक एकसाथ नही रहने देते। बाल-पत्नीका आधेसे

ज्यादा समय मायकेमे जाता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। अर्थात् हम १३ और १८ सालकी उम्रके दरमियान थोड़ा-थोड़ा करके तीन सालसे अधिक साथ न रह सके होंगे। छः आठ महीने रहना हुआ नहीं कि पत्नीके मां-बापका बुलावा आया नही। उस समय तो वे बुलावे बड़े नागवार मालूम होते। परंतु सच पूछिए तो उन्हींकी बदौलत हम दोनों बहुत बच गये। फिर १८ सालकी अवस्थामे मैं विलायत गया—लंबे और सुंदर वियोगका अवसर आया। विलायतसे लौटनेपर भी हम एक साथ तो छः महीने मुश्किलसे रहे होंगे, क्योंकि मुझे राजकोट-बंबई बार-बार आना-जाना पड़ता था। फिर इतनेमे ही दक्षिण अफ्रीकाका निमंत्रण आ पहुंचा—और इस बीच तो मेरी आंखे बहुत-कुछ खुल भी चुकी थी।

: ५ :

हाईस्कूलमें

मै पहले लिख चुका हूं कि जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाईस्कूलमें पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूलमे पढ़ते थे। बड़े भाई बहुत ऊपरके दरजेमें थे और जिन भाईका विवाह मेरे साथ हुआ वह मुझसे एक दरजा आगे थे। विवाहका परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयोंका एक साल बेकार गया। मेरे भाईको तो और भी बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाहके पश्चात् वह विद्यालयमे रह ही न सके। परमात्मा जाने विवाहके कारण कितने नवयुवकोको ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते है! विद्याध्ययन और विवाह ये दोनों बातें हिंदू-समाजमें ही एक-साथ हो सकती है।

मेरा अध्ययन चलता रहा। हाईस्कूलमें मै बुद्धू नहीं माना जाता था। शिक्षकोंका प्रेम हमेशा संपादन करता रहा। हर साल मां-बाप

का विद्यार्थीकी पढ़ाई तथा चाल-चलनके संबंधमें स्कूलसे प्रमाण-पत्र भेजे जाते। उनमे किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलनकी शिकायत नहीं की गई। दूसरे दरजेके वाद तो इनाम भी पाये और पाचवे तथा छठे दरजेमें तो क्रमश: ४) और १०) मासिककी छात्रवृत्तिया भी मिली थी। छात्रवृत्ति मिलनेमे मेरी योग्यताकी अपेक्षा तकदीरने ज्यादा मदद की। ये छात्रवृत्तिया सव लड़कोंके लिए नही थी, सिर्फ सोरठ-प्रातके विद्यार्थियोंके लिए ही थी और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियोंकी कक्षामें सोरठ-प्रांतके विद्यार्थी बहुत नहीं हो सकते थे।

अपनी तरफसे तो मुझे याद पड़ता है कि मैं अपनेको बहुत योग्य नही समझता था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परंतु हां, अपने आचरणका मुझे वड़ा खयाल रहता था। सदाचारमें यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझसे कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिए शिक्षकको उलाहना देना पड़े, अथवा उनका ऐसा खयाल भी हो जाय, तो यह मेरे लिए असह्य हो जाता। मुझे याद है कि एक बार मै पिटा भी था। मुझे इस वातपर तो दु:ख न हुआ कि पिटा; परंतु इस वातका महादु:ख हुआ कि मैं दंडका पात्र समझा गया। मैं फूट-फूटकर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षाकी है। दूसरी घटना सातवें दरजेकी है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेड मास्टर थे। वह विद्यार्थी-प्रिय थे। क्योंकि वह सबसे नियमोंका पालन करवाते, विधिपूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढ़ाई अच्छी करते। उन्होंने ऊंचे दरजेके विद्यार्थियोंके लिए-कसरत क्रिकेट लाजिमी कर दी थी। लेकिन मुझे उनसे अरुचि थी। लाजिमी होनेके पहले तो मै कसरत, क्रिकेट या फुटबालमे कभी न जाता था। न जानेमे मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। किंतु अब मैं देखता हूं कि कसरतकी वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरतका शिक्षाके साथ कोई संबंध नहीं। पीछे जाकर मैंने समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षाके लिए भी विद्याध्ययनमें उतना ही स्थान होना चाहिए जितना मानसिक शिक्षाको है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरतमें न जानेसे मुझे कोई नुकसान न हुआ। इसका कारण है। पुस्तकोंमें मैंने पढ़ा था कि खुली हवामें घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसंद आया और तभीसे—हाईस्कूलके दिनोंसे—घूमने जानेकी आदत मुझे पड़ गई थी, जो अबतक है। घूमना भी एक प्रकारका व्यायाम ही है। और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत गठीला हो गया।

अरुचिका दूसरा कारण था पिताजीकी सेवा-शुश्रूषा करनेकी तीव्र इच्छा। स्कूल बंद होते ही तुरंत घर पहुंचकर उनकी सेवामें जुट जाता। लेकिन जब कसरत लाजिमी कर दी गई तब इस सेवामें विघ्न आने लगा। मैंने गीमी साहबसे अनुरोध किया कि पिताजीकी सेवा करनेके लिए मुझे कसरतसे माफी मिलनी चाहिए, परंतु वे क्यों माफी देने लगें? एक शनिवारको सुबहका स्कूल था। शामको ४ बजे कसरतमें जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाशमें बादल छा रहे थे, इस कारण समयका पता न चला। बादलोंसे मुझे धोखा हुआ। जबतक कसरतके लिए पहुंचता हूं तबतक तो सब लोग चले गये थे। दूसरे दिन गीमी साहबने हाजिरी देखी तो मुझे गैरहाजिर पाया। मुझसे कारण पूछा। कारण तो जो था, सो ही मैंने बतलाया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझपर एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हो गया। मुझे इस बातसे अत्यंत दुःख हुआ कि मैं झूठा समझा गया। मैं यह कैसे साबित करता कि मैंने झूठ नहीं बोला। पर कोई उपाय न रहा था। मन मसोस-कर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलनेवाले और सच करनेवालेको गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाईके दरमियान मुझसे ऐसी गफलत वह पहली और अखीरी थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि अंतको मैं वह जुर्माना माफ करा पाया था।

अंतको कसरतसे छुट्टी मिल ही गई। पिताजीकी चिट्ठी जब हेड-मास्टरको मिली कि मैं अपनी सेवा-शुश्रूषाके लिए स्कूलके बाद इसे अपने पास चाहता हूं, तब उससे छुटकारा मिल गया।

व्यायामकी जगह मैंने घूमना जारी रखा। इस कारण शरीरसे मिहनत न लेनेकी भूलके लिए शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो; परंतु एक दूसरी भूलकी सजा मैं आजतक पा रहा हूं। पढ़ाईमे खुशखत होनेकी जरूरत नही, यह गलत खयाल मेरे मनमे जाने कहांसे आ घुसा था जो ठेठ विलायत जानेतक रहा। फिर, और खासकर दक्षिण अफ्रिकामें, जहां वकीलोंके और दक्षिण अफ्रिकामे जन्मे और पढे नवयुवकोंके मोतीकी तरह अक्षर देखे, तब तो बहुत लजाया और पछताया। मैंने देखा कि बेडौल अक्षर होना अधूरी शिक्षाकी निशानी है। अत: मैंने पीछेसे अपना खत सुधारनेकी कोशिश भी की; परंतु पक्के घड़ेपर कही मिट्टी चढ सकती है ? जवानीमें जिस बातकी अवहेलना मैंने की उसे मै फिर आजतक न सुधार सका। अत: हरेक नवयुवक और युवती मेरे इस उदाहरणको देखकर चेते और समझे कि सुलेख शिक्षाका एक आवश्यक अग है। सुलेखके लिए चित्रकला आवश्यक है। मेरी तो यह राय बनी है कि बालकोंको आलेखन-कला पहले सिखानी चाहिए। जिस प्रकार पक्षियों और वस्तुओं आदिको देखकर बालक उन्हें याद रखता और आसानीसे पहचान लेता है उसी प्रकार अक्षरोंको भी पहचानने लगता है और जब आलेखन या चित्रकला सीखकर चित्र इत्यादि निकालना सीख जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापेकी तरह हो जावे।

इस समयके मेरे विद्यार्थी-जीवनकी दो बातें लिखने जैसी है। विवाहके बदौलत जो मेरा एक साल टूट गया था उसकी कसर दूसरी कक्षामे पूरी करानेकी प्रेरणा मास्टर साहबने की। परिश्रमी विद्यार्थियोंको ऐसा करनेकी इजाजत उन दिनों तो मिलती थी। अतएव मै छ: महीने तीसरे दरजेमे रहा और गर्मियोंकी छुट्टीके पहलेवाली परीक्षाके बाद चौथे दरजेमें चढ़ा दिया गया। इस कक्षासे कुछ विषयोंकी शिक्षा अंग्रेजीमे दी जाती है, पर अंग्रेजी मै कुछ न समझ पाता। भूमिति—रेखागणित भी चौथे दरजेसे शुरू होता है। एक तो मै उसमे कमजोर था, और फिर समझमें भी कुछ न आता था। भूमिति-शिक्षक पढ़ानेमे तो अच्छे थे,

पर मेरी कुछ समझ हीमें न आता था। इससे मैं बहुत बार निराश हो जाता; कभी-कभी यह भी दिलमें आता कि दो दरजोंकी पढ़ाई एक सालमें करनेसे तो अच्छा हो कि मै तीसरी कक्षामे ही फिर चला जाऊं। पर ऐसा करनेसे मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षकने मेरी हिम्मतपर विश्वास रखकर दरजा चढ़ानेकी सिफारिश की थी उनकी भी बात बिगड़ती! इस भयसे नीचे उतरनेका विचार तो बंद ही रखना पड़ा। आखिर परिश्रम करते-करते जब 'युक्लिड'के तेरहवे प्रमेयतक पहुंचा तब मुझे एकाएक लगा कि भूमिति तो सबसे सहज विषय है। जिस बातमें केवल बुद्धिका सीधा और सरल उपयोग ही करना है उसमें मुश्किल क्या है? उसके बादसे भूमिति मेरे लिए बड़ा सहज और रोचक विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणितसे भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणितमे तो रटनेकी कोई बात न थी; परंतु संस्कृतमे, मेरी समझसे, सब रटना ही रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षासे शुरू होता था। आखिर छठी कक्षामे जाकर मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त आदमी थे। विद्यार्थियोंको बहुतेरा पढ़ा देनेका लोभ उन्हें रहा करता। संस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्गमे एक प्रकारकी प्रतिस्पर्धा रहती। फारसीके मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थीलोग आपसमें बाते करते कि फारसी बड़ी सरल है, और मौलवी साहब भी भले आदमी है। विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वह निभा लेते है। सहज होनेकी बातसे मै भी ललचाया और एक दिन फरसीके दरजेमें जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षकको इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया— "यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो? अपने धर्मकी भाषा तुम नही पढ़ना चाहते? तुमको जो कठिनाई हो सो मुझे बताओ। मै तो सारे विद्यार्थियोंको अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूं। आगे चलकर तो उसमे तुम्हें रसकी घूंटें मिलेंगी। अतः तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरी कक्षामें आकर बैठो।" मैं शरमिंदा हुआ। उन शिक्षकके इस प्रेमकी अवहेलना न कर सका। आज मेरी अंतरात्मा कृष्णशंकर

मास्टरका उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतना भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रोंका जो आनंद ले रहा हूं वह न ले पाता। बल्कि मुझे तो इस बातका पछतावा रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ सका। क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू-बालकको संस्कृतका अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानताहूं कि भारतवर्षके उच्च शिक्षण-क्रममें मातृभाषाके उपरांत राष्ट्र-भाषा हिंदी,[1] संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजीके लिए भी स्थान होना चाहिए। इतनी भाषाओंका गिनतीसे किसीको डर जानेकी जरूरत नही; यदि भाषाएं विधि-पूर्वक पढाई जायं और सब विषयोंका अध्ययन अंग्रेजीके द्वारा करनेका बोझ हमपर न हो तो पूर्वोक्त भाषाएं भार-रूप न मालूम हों, बल्कि उनमे बड़ा रस आने लगे। फिर जो एक भाषाको विधि-पूर्वक सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओंका ज्ञान सुगम हो जाता है। सच पूछिए तो हिंदी, गुजराती, संस्कृत ये एक भाषा मानी जा सकती है। यही फारसी और अरबीके लिए कह सकते है। फारसी यद्यपि संस्कृतसे मिलती-जुलती है, और अरबी हिब्रूसे; तथापि दोनों भाषाएं इस्लामके प्रादुर्भावके पश्चात् फली-फूली है। इसलिए दोनोंमें निकट संबंध है। उर्दूको मैंने पृथक् भाषा नही माना, क्योंकि उसके व्याकरणका समावेश हिंदीमे होता है। अलबत्ता उसके शब्द फारसी और अरबी ही है। ऊंचे दरजेकी उर्दू जाननेके लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसा कि उच्च कोटिकी गुजराती, हिंदी, बंगला, मराठी जाननेवालेके लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

[1] अब इसे गांधीजी 'हिंदुस्तानी' कहते हैं।—अनु०

: ६ :

दुःखद प्रसंग

१

मैं पहले कह आया हूं कि हाईस्कूलमें मेरी बहुत कम लोगोंसे निजी मित्रता थी। यों जिन्हें घनिष्ट कह सकते है ऐसे मित्र तो मेरे कुल दो ही थे, सो भी जुदा-जुदा समयपर। उनमें एककी मित्रता अधिक समयतक न निभी, हालांकि मैंने अपनी तरफसे उसे नहीं तोड़ा। दूसरेसे मित्रता करनेके कारण पहले मित्रने मेरा साथ छोड़ दिया। पर वह दूसरी मित्रता मेरे जीवनका एक दुःखद प्रकरण है। यह संग बहुत दिनोंतक चला। एक सुधारककी दृष्टि रखकर मैंने यह मित्रता की थी। उस व्यक्तिकी मित्रता पहले मेरे मंझले भाईके साथ थी। वह उनका सहपाठी था। मैं उसके कई ऐबोंको जान पाया था, परंतु मैंने उसे अपना वफादार साथी मान लिया था। मेरी माताजी, बड़े भाई और धर्मपत्नी तीनोंको उसकी सोहबत बुरी मालूम पड़ती थी। पत्नीकी चेतावनीपर तो मैं—अभिमानी पति—क्यों ध्यान देने लगा? हां, माताकी बातको तो मैं टाल ही नहीं सकता था। बड़े भाईकी भी माननी पड़ती। परंतु मैंने उन्हें यों समझा दिया—"आप उसकी जो बुराइयां बताते हैं, उन्हें तो मैं जानता हूं। पर उसके गुणोंको आप नहीं जानते। मुझे वह खराब रास्ते नहीं ले जा सकता; क्योंकि मैंने उसके साथ संबंध केवल उसे सुधारनेके लिए बांधा है। मुझे विश्वास है कि यदि वह सुधर गया तो बड़ा अच्छा आदमी साबित होगा। मैं चाहता हूं कि आप मेरी तरफसे बिलकुल निःशंक रहें।" मैं नहीं समझता कि मेरे इन वचनोंसे उन्हें संतोष हुआ हो; पर इतना जरूर हुआ कि उन्होंने मुझपर विश्वास रखा और मुझे अपने रास्ते जाने दिया।

पीछे जाकर मैंने देखा कि मेरा अनुमान ठीक न था। सुधार करनेके लिए भी मनुष्यको गहरे पानीमे न पैठना चाहिए। जिनका सुधार हमें करना हो उनके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रतामे अद्वैत-भाव होता है। ऐसी मित्रता संसारमे बहुत कम देखी जाती है। समान गुण और शीलवालोंमें ही मित्रता शोभती और निभती है। मित्र एक-दूसरेपर अपना असर छोड़े बिना नही रह सकते। इस कारण, मित्रतामें सुधारके लिए बहुत कम गुंजाइश होती है। मेरा मत यह है कि निजी या अभिन्न-मित्रता अनिष्ट है; क्योंकि मनुष्य दोषको झट ग्रहण कर लेता है। किंतु गुण ग्रहण करनेके लिए प्रयासकी जरूरत है। जो आत्माकी—ईश्वरकी मित्रता चाहता है उसे एकाकी रहना उचित है, या फिर सारे जगत्के साथ मित्रता करनी उचित है। ये विचार सही हों या गलत, परंतु इसमें कोई संदेह नही कि मेरा निजी मित्रता जोड़ने और बढ़ानेका यह प्रयत्न विफल साबित हुआ।

जिन दिनों इन महाशयसे मेरा संपर्क हुआ, राजकोटमें 'सुधारक-पथ'का जोरशोर था। इन मित्रने बताया कि बहुतेरे हिंदू-शिक्षक छिपे-छिपे मांसाहार और मद्यपान करते है! राजकोटके दूसरे प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम भी लिये। हाईस्कूलके कितने ही विद्यार्थियोंके नाम भी मेरे पास आये। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही दुःख भी। जब मैंने इसका कारण पूछा तो यह बताया गया—"हम मांस नहीं खाते, इसीलिए कमजोर होगये है। अंग्रेज जो हमपर हुकूमत कर रहे है इसका कारण है उनका मांसाहार। तुम जानते ही हो कि मै कितना हट्टा-कट्टा और मजबूत हूं और कितना दौड़ सकता हू। इसका कारण भी—मेरा मांसाहार ही है। मांसाहारीको फोड़े-फुंसी नही होते, हों भी तो जल्दी अच्छे हो जाते है। देखो, हमारे शिक्षकलोग मांस खाते है, इतने भले-भले आदमी खाते हैं, सो क्या बिना सोचे-समझे ही? तुमको भी खाना चाहिए। खाकर तो देखो कि तुम्हारे बदनमें कितनी ताकत आ जाती है।"

ये दलीलें एक ही दिनमे नही पेश हुई। अनेक उदाहरणोंसे सजाकर कई बार पेश की गईं। मेरे मंझले भाई तो मांस खाकर भ्रष्ट हो ही चुके थे। उन्होंने भी इस दलीलका समर्थन किया। इन मित्रके और अपने भाईके मुकाबलेमें मैं दुबला-पतला और कमजोर था। उनके शरीर ज्यादा सुगठित थे। उनका शरीर-बल मुझसे बहुत ज्यादा था। वह निर्भय थे। इन मित्रके पराक्रम मुझे मुग्ध कर लेते। वह जितना चाहे दौड़ सकते। गति भी बहुत तेज थी। बहुत लंबा और ऊंचा कूद सकते थे। मार सहनेकी शक्ति भी वैसी ही थी। इस शक्तिका प्रदर्शन भी वह समय-समय पर करते। अपने अंदर जो सामर्थ्य नही होता उसे दूसरेमे देखकर मनुष्य को अवश्य आश्चर्य होता है। वैसा ही मुझे भी हुआ। आश्चर्यसे मोह पैदा हुआ। मुझमे दौड़ने-कूदनेकी शक्ति नहीके बराबर थी। मेरे मनने कहा, 'इन मित्रके समान बलवान मै भी बन जाऊं तो क्या बहार हो ?'

फिर मै डरपोक भी बड़ा था। चोर, भूत, सांप आदिके भयसे सदा घिरा रहता। इन भयोंसे मै घबराता भी बहुत। रातमे कही अकेले जानेकी हिम्मत न होती। अंधेरेमें तो कही न जाता। बिना चिरागके सोना प्राय: असभव था। कहीं यहांसे भूत-पिशाच निकलकर न आ जाय, वहांसे चोर और उधरसे सांप न आ घुसे—यह डर बना रहता, इसलिए रोशनी जरूर रखता। इधर अपनी पत्नीके सामने भी, जोकि पास ही सोती और अब कुछ-कुछ युवती हो चली थी, ये भयकी बातें करते हुए संकोच होता था। क्योंकि मै इतना जान चुका था कि वह मुझसे अधिक हिम्मतवाली है, इस कारण मैं शरमाता था! उसे सांप वगैरेका भय तो कहीं छूतक नही गया था, अंधेरेमें अकेली चली जाती। मेरी इन कमजोरियों-का हाल उन मित्रको मालूम था। वह तो मुझसे कहा करता कि मै जीते सांपको हाथसे पकड़ लेता हूं। चोरसे तो वह डरता ही न था, न भूत-प्रेतोंको ही मानता था। मतलब यह कि उसने यह बात मेरे मनमें जमा दी कि यह सब मांसाहारका प्रताप है।

इन दिनों नर्मद कविकी यह कविता स्कूलमें गाई जाती—

अंग्रेजो राज करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जोने बेनां शरीर भाई
पेलो पांच हाथ पूरो, पूरो पांचसे ने।[1]

इन सबका मेरे दिलपर बड़ा असर हुआ। मैं राजी हो गया। मैं मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज है। उससे मैं बलवान् और निर्भय बनूंगा। सारा देश यदि मास खाने लगे तो हम अंग्रेजोंको हरा सकते हैं।

मांसाहारकी शुरुआतका दिन तय हुआ।

इस निश्चय—इस प्रारंभ—का अर्थ सब पाठक न समझ सकेंगे। गांधी-परिवार वैष्णव-संप्रदायका अनुयायी था। माता पिता-कट्टर वैष्णव माने जाते थे। हमेशा वैष्णवमंदिर जाते। कितने ही मंदिर तो हमारे कुटुंबके ही गिने जाते। फिर गुजरातमे जैनसप्रदायको भी बहुत जोर था। उसका असर हर जगह और हर काममें पाया जाता था। इसलिए मांसाहारके प्रति, जो विरोध-तिरस्कार गुजरातमे और श्रावकों तथा वैष्णवोंमें दिखाई पड़ता है, वह हिंदुस्तानमें या सारी दुनियामे कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ये थे मेरे संस्कार।

फिर माता-पिताका मै परम भक्त ठहरा। मै मानता ही था कि यदि उन्हें मेरे मांसाहारका पता लग जायगा तो वे तो बे-मौत ही प्राण छोड़ देगे। जान-अनजानमे सत्यका भी सेवक तो मै था ही। पर यह नहीं कह सकता कि यह ज्ञान मुझे नहीं था कि यदि मांस खाने लगा तो माता-पिताके सामने झूठ बोलना पड़ेगा।

ऐसी स्थितिमे मेरा मास खानेका निश्चय, मेरे लिए बड़ी गंभीर और भयकर बात थी।

---

[1] भाव यह है कि अंग्रेज इसी कारण हट्टे-कट्टे हैं और हमपर राज्य करते है कि वे मांस खाते है, और हिंदुस्तानी इसीलिए मुर्दा बनें हुए हैं कि वे मांसाहार नहीं करते—अनु०।

परंतु मैं तो सुधार करना चाहता था। मांस शौकके लिए नहीं खाना चाहता था। न स्वादके लिए मांसाहारका श्रीगणेश करना था। मैं तो बलवान्, निर्भय, साहसी होना चाहता था। दूसरोंको ऐसा बननेकी प्रेरणा करना चाहता था और फिर अंग्रेजोंको हराकर भारतवर्षको स्वतंत्र करना चाहता था। 'स्वराज्य' शब्द उस समय नहीं सुन पड़ता था। कहना चाहिए, इस सुधारकी उमंगमें उस समय तो मेरी अक्ल बौरिया गई थी।

: ७ :

दुःखद-प्रसंग

२

नियत दिन आया। उस समयकी मेरी दशाका हूबहू वर्णन करना कठिन है। एक ओर सुधारका उत्साह, जीवनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करनेका कुतूहल और दूसरी ओर चोरकी तरह लुक-छिपकर काम करनेकी शरम! नहीं कह सकता इनमें किस भावकी प्रधानता थी। हम एकांत जगहकी तलाशमें नदीकी तरफ चले। दूर जाकर एक ऐसी जगह मिली जहां कोई सहसा न देख सके और जहां मैंने देखा मांस, जिसे जीवनमें पहले कभी न देखा था; साथमे भटियारेके यहांकी डबल रोटी भी थी। दोमेंसे एक भी चीज न भायी। मांस चमड़ेकी तरह लगा। खाना असंभव हो गया। मुझे कै-सी होने लगी। खाना यों ही छोड़ना पड़ा।

मेरे लिए यह रात बहुत कठिन साबित हुई। नींद किसी तरह न आती। ऐसा मालूम होता मानो बकरा मेरे शरीरके अंदर जीवित है और सपनेमें मानो वह बें-बे चिल्लाता है। मैं चौंक उठता, पछताता, पर फिर सोचता कि मांसाहारके बिना तो गति ही नहीं; यों हिम्मत न हारनी

चाहिए। मित्र भी पिंड छोड़नेवाले न थे। उन्होंने अब मांसको तरह-तरहसे पकाना और सुस्वाद बनाना तथा ढककर रखना शुरू किया। नदी किनारे ले जानेके बजाय राज्यके एक भवनमे वहांके बवर्चीसे इंतजाम करके छिपे-छिपे जानेकी तजवीज की; और वहां मेज कुर्सी इत्यादि सामग्रियोंके ठाट-बाटसे मुझे लुभाया। इसका अभीष्ट असर मेरे दिलपर हुआ। डबल रोटीसे नफ़रत हटी, बकरे की दया-माया छूटी और मासका तो नही कह सकता, पर मासवाले पदार्थोका स्वाद लग गया। इस तरह एक साल गया होगा और इस बीच कुल पांच-छ: बार मांस खानेको मिला होगा। क्योंकि एक तो बार-बार राज्यका भवन न मिलता, और दूसरे मांसके सुस्वाद पदार्थ हमेशा तैयार न हो पाते। फिर ऐसे भोजनोंके लिए खर्च भी करना पड़ता। इधर मेरे पास कानी कौड़ी भी न थी। मैं देता क्या? खर्चका इंतजाम सोचना उस मित्रके जिम्मे रहा था। मुझे आजतक खबर नही कि उसने कहांसे इंतजाम किया था। उसका इरादा तो था मुझे मांसकी चाट लगा देना, मुझे भ्रष्ट कर देना। इसलिए खर्चका भार वह खुद ही उठाता था। पर उसके पास भी अटूट खजाना तो था नही, इस कारण ऐसे भोजनोंके अवसर कभी-कभी ही आते।

जब-जब ऐसे भोजनमें शरीक होता तब-तब घर खाना न खाया जाता। जब मां खानेको बुलाती तो बहाना करना पड़ता—आज भूखनही, खाना पचा नही। जब-जब ये बहाने बनाने पड़ते तब-तब मेरे दिलको सख्त चोट पहुंचती। इतनी झूठ बात, फिर माके सामने! फिर यदि मां-बाप जान जायं कि लड़के मांस खाने लग गये हैं, तबतो उनपर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये विचार मेरे हृदयको हरदम नोचते रहते। इस कारण मैंने निश्चय किया कि, मांस खाना तो आवश्यक है, उसका प्रचार करके हिंदुस्तानको सुधारना भी आवश्यक है, पर माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना मांस न खानेसे भी ज्यादा बुरा है। इसलिए माता-पिताके जीते-जी मांस न खाना चाहिए। उनकी मृत्युके बाद, स्वतंत्र हो जानेपर

खुल्लम-खुल्ला खाना चाहिए; और जबतक वह समय न आवे मांसके रास्ते न जाना चाहिए। यह निश्चय मैंने अपने मित्रपर प्रकट कर दिया। उस दिनसे जो मांसाहार छूटा सो छूटा ही। हमारे माता-पिताने कभी न जाना कि उनके दो पुत्र मांस खा चुके हैं।

माता पिताको धोखा न देनेके शुभ विचारसे मैंने मांसाहार तो छोड़ा परंतु उस मित्रकी मित्रता न छोड़ी। मैं जो दूसरोको सुधारनेके लिए, आगे बढ़ा था सो खुद ही बिगड़ गया और सो भी ऐसा कि बिगड़ जानेका भानतक न रहा।

उसीकी मित्रताके कारण मैं व्यभिचारमें भी फंस जाता। एक बार यही महाशय मुझे चकलेमें ले गये। वहां एक बाईके मकानमें जरूरी बातें समझाकर भेजा। पैसे देना-दिवाना मुझे कुछ न था। वह सब पहले ही होचुका था। मेरे लिए तो सिर्फ एकांत लीला करनी बाकी थी।

मैं मकानमें दाखिल तो हुआ, पर ईश्वर जिसे बचाना चाहता है वह गिरनेकी इच्छा करते हुए भी बच सकता है। उस कमरेमें जाकर मैं तो मानो अंधा बन गया। कुछ बोलनेका ही औसान न रहा। मारे शरमके चुपचाप उस बाईकी खटियापर बैठ गया। एक लफ्जतक जबानसे न निकला। बाई झल्लाई और मुझे दो-चार बुरीं-भली सुनाकर सीधा दरवाजेका रास्ता दिखलाया।

उस समय तो मुझे लगा, मानो मेरी मर्दानगीको लांछन लग गया, और धरती फट जाय तो मैं उसमे समा जाऊं। परंतु बादको, इससे मुझे उबार लेनेपर, मैंने ईश्वरका सदा उपकार माना है। मेरे जीवनमें ऐसे ही चार प्रसंग और आये हैं। बहुतोंमे मैं बिना प्रयत्नके, दैवयोगसे बच गया हूं। विशुद्ध दृष्टिसे तो इन अवसरोंपर मैं गिरा ही समझा जा सकता हूं; क्योंकि विषयकी इच्छा करतेही मैं उसका भोग तो कर चुका। फिर भी लौकिक दृष्टिसे हम उस आदमीको बचा हुआ ही मानते हैं जो इच्छा करते हुए भी प्रत्यक्ष कर्मसे बच जाता है। और मैं इन अवसरोंपर इसी तरह, इतने ही अंशतक, बचा हुआ समझा जा सकता हूं। फिर कितने ही काम ऐसे

होते है, जिनके करनेसे बचना व्यक्तिके तथा उसके संपर्कमे आनेवालोंके लिए बहुत लाभदायक साबित होता है। और जब विचार-शुद्धि हो जाती है तब उस कर्मसे बच जानेको वह ईश्वरका अनुग्रह मानता है। जिस प्रकार हम यह अनुभव करते है कि न गिरनेका यत्न करते हुए भी मनुष्य गिर जाता है उसी प्रकार पतनकी इच्छा हो जानेपर भी अनेक कारणोंसे मनुष्य बच जाता है। यह भी अनुभव-सिद्ध है। इसमे कहां पुरुषार्थके लिए स्थान है, कहा दैवके लिए, अथवा किन नियमोंके वशवर्ती होकर मनुष्य अंतमे गिरता है, या बचता है, ये प्रश्न गूढ़ है। ये आजतक हल नही हो सके है। और यह कहना कठिन है कि इनका अंतिम निर्णय हो सकेगा या नही।

पर हम आगे चलें।

मुझे अब भी इस बातका भान न हुआ था कि इस मित्रकी मित्रता अनिष्ट है। अभी और कड़ुए अनुभव होना बाकी थे। यह तो मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने उसके ऐसे दोषोंका प्रत्यक्ष अनुभव किया, जिसकी मुझे कभी कल्पनातक न हुई थी। पर मैं जहातक हो, समयानुक्रमसे अपने अनुभव लिख रहा हूं, इसलिए वे बाते आगे समयपर आ जावेंगी।

एक बात तो इसी समयकी है, जो यही कह दूं। हम दंपतीमे जो कितनी ही बार मतभेद और मनमुटाव हो जाया करता, उसका कारण यह मित्रता भी थी। मैं पहले कह चुका हू कि मै जैसा प्रेमी था वैसा ही वहमी पति भी था। यह मित्रता मेरे वहमको बढ़ाती रहती थी, क्योंकि मित्रकी सच्चाईपर मुझे अविश्वास बिलकुल न था। इस मित्रकी बाते मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नी को कई बार दुःख दिया है। इस हिंसाके लिए मैने कभी अपनेको माफ नहीं किया। हिंदू स्त्री ही ऐसे दुःखोंको सहन कर सकती होगी। और इसलिए मैने स्त्रीको हमेशा सहनशीलताकी मूर्ति माना है। नौकर-चाकरपर यदि झूठा वहम आने लगे तो वे नौकरी छोड़कर चले जाते है, पुत्रपर ऐसी बीते तो बापका घर छोड़कर चला जाता है, मित्रोंमें संदेह पड़ जाय तो मित्रता टूट जाती है, पत्नीको यदि

पतिपर शक हो तो बेचारी मन मसोसकर रह जाती है; पर यदि पतिके मनमें पत्नीके लिए शक पड़ जाय तो बेचारीकी मौत ही समझिए। वह कहां जाय ? उच्च-वर्णकी हिंदू स्त्री अदालतमें जाकर तलाक भी नही दे सकती। ऐसा एक-पक्षी न्याय उसके लिए रखा गया है। यही न्याय मैंने उसके साथ वरता, इस दुःखको मैं कभी नही भूल सकता। इस वहमका सर्वथा नाश तो तभी हुआ, जब मुझे अहिंसाका सूक्ष्म ज्ञान हुआ। अर्थात् जब मैं ब्रह्मचर्यकी महिमाको समझा और समझा कि पत्नी पतिकी दासी नही वरन सहचारिणी है, सहधर्मिणी है। दोनों एक-दूसरेके सुख-दुखके समान-भागी है और पतिको अच्छा-वुरा करनेकी जितनी स्वतंत्रता है उतनी ही पत्नीको भी है। इस वहमके समयकी जब मुझे याद आती है तव मुझे अपनी मूर्खता और विषयांध निर्दयतापर क्रोध और मित्रता-विषयक अपनी इस मूर्च्छा—मूढ़तापर तरस आता है।

: ८ :

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहारके समयके और उसके पहलेके अपने कुछ दूषणोंका वर्णन करना अभी वाकी है। ये या तो विवाहके पहलेके है या तुरंत वादके।

अपने एक रिश्तेदारके साथ मुझे सिगरेट पानेका चस्का लग गया। पैसे तो हमारे पास थे ही नही। दो मेंसे किसीका भी यह तो नही मालूम होता था कि सिगरेट पीनेमें कुछ फायदा है या उसकी गंधमें कुछ स्वाद है; पर इतना जरूर मालूम हुआ कि केवल धुंआ फूकनेमें ही कुछ आनंद है। मेरे चाचाजीको सिगरेट पीनेकी आदत थी। और उनको तथा औरोंको धुआं उड़ाते देखकर हमें भी फूंक लगानेकी इच्छा हुआ करती।

पैसे थे ही नहीं, इसलिए चाचाजीके पीकर फेंके हुए सिगरेटके टुकड़े चुरा-चुराकर हम लोग पीने लगे।

परंतु ये टुकड़े भी हर वक्त नही मिल सकते थे और उनसे बहुत धुंआ भी नही निकलता था। इसलिए हम नौकरके पैसोमेसे एक-एक दो-दो पैसे चुराने और बीड़ी खरीदने लगे। पर यह दिक्कत थी कि उन्हें रखें कहा? यह तो जानते ही थे कि बड़े-बूढ़ोंके सामने बीड़ी-सिगरेट पी नही सकते। ज्यों-त्यों करके दो-चार पैसे चुराकर कुछ सप्ताह काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक किस्मके पौधे (उसका नाम भूल गया) के डंठल बीडीकी तरह सुलगते हैं। हम उन्हें ला-लाकर पीने लगे।

पर हमे संतोष न हुआ। यह पराधीनता हमें खलने लगी। बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाके बिना कुछ भी नही कर सकते, यह दिन-दिन नागवार होने लगा। अतको उकताकर हमने आत्म-हत्या करनेका निश्चय किया।

परतु आत्म-हत्या करे किस तरह? जहर लावे कहांसे? हमने सुना था कि धतूरेके बीज खानेसे आदमी मर जाता है। जंगलमे घूम-फिरकर बीज लाये। शामका समय ठीक किया। केदारजीके मंदिरमें जाकर दीपकमें घी डाला, दर्शन किया, और एकांत ढूढा, पर जहर खानेकी हिम्मत न होती थी। 'तुरत ही प्राण न निकले तो? मरनेंसे आखिर क्या लाभ? पराधीनतामे ही क्यों न पड़े रहे?' ये विचार मनमें आने लगे। फिर दो-चार बीज खा ही डाले। ज्यादा खानेकी हिम्मत न चली। दोनों मौतसे डर गये; और यह तय किया कि रामजीके मंदिरमें जाकर दर्शन करके खामोश हो रहें और आत्म-हत्याके खयालको दिलसे निकाल डाले।

तब मैं समझा कि आत्म-हत्याका विचार करना तो सहल है; पर आत्म-हत्या करना सहल नही। अतएव जब कोई आत्म-हत्या करनेकी धमकी देता है, तब मुझपर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहू कि बिलकुल ही नहीं होता तो हर्ज नही।

आत्म-हत्याके विचारका एक परिणाम यह निकला कि जूठी सिगरेट चुराकर पीनेकी, नौकरके पैसे चुरानेकी और उसकी बीड़ी लाकर पीनेका टेव छूट गई। बड़ा होनेपर भी मुझे कभी बीड़ी पीनेकी इच्छातक न हुई। और मैंने इस टेवको जंगली, हानिकारक और गंदी माना है। पर अबतक मैं यह नही समझ पाया कि बीड़ी-सिगरेट पीनेका इतना जबर्दस्त शौक दुनियाको आखिर क्यों है ? रेलके जिस डिब्बेमे बहुतेरी बीड़ियां फूकी जाती हों, वहां बैठना मेरे लिए मुश्किल हो पड़ता है और उसके धुंएंसे मेरा दम घुटने लगता है।

सिगरेटके टुकड़े चुराने तथा उसके लिए नौकरके पैसे चुरानेसे बढ़-कर चोरी का एक दोप मुझसे हुआ है, और उसे मैं इससे ज्यादा गंभीर समझता हूं। बीड़ीका चस्का तब लगा जब मेरी उम्र १२-१३ सालकी होगी। शायद इससे भी कम हो। दूसरी चोरीके समय १५ वर्षकी रही होगी। यह चोरी थी मेरे मांसाहारी भाईके सोनेके कड़ेके टुकड़ेकी। उन्होंने २५) के लगभग कर्जा कर रखा था। हम दोनों भाई इस सोचमें पड़े कि यह चुकावे किस तरह। मेरे भाईके हाथमे सोनेका एक ठोस कड़ा था। उसमेसे एक तोला काटना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज चुका, पर मेरे लिए यह घटना असह्य हो गई। आगेसे कदापि चोरी न करनेका मैंने निश्चय किया। मनमे आया कि पिताजीके सामने जाकर चोरी कबूल करलू। पर उनके सामने मुंह खुलना मुश्किल था। यह डरतो न था कि पिताजी खुद मुझे पीटने लगेगे, क्योंकि मुझे नही याद पड़ता कि उन्होंने हम भाइयोंमेसे कभी किसीको पीटा हो। पर यह खटका जरूर था कि वह खुद बड़ा संताप करेंगे, शायद अपना सिर भी पीट ले। तथापि मैंने मनमे कहा—'यह जोखिम उठाकर भी अपनी बुराई कबूल कर लेनी चाहिए, इसके बिना शुद्धि नही हो सकती।'

अंतमे यह निश्चय किया कि चिट्ठी लिखकर अपना दोष स्वीकार कर लूं। मैंने चिट्ठी लिखकर खुद ही उन्हें दी। चिट्ठीमे सारा दोष कबूल किया था और उसके लिए सजा चाही थी। आजिजीके साथ यह

प्रार्थना की थी कि आप किसी तरह अपनेको दुखी न बनावें और प्रतिज्ञा की थी कि आगे मै कभी ऐसा न करूंगा ।

पिताजीको चिट्ठी देते हुए मेरे हाथ काप रहे थे । उस समय वह भगंदरकी बीमारीसे पीड़ित थे । अत. खटियाके बजाय लकड़ीके तख्तोंपर उनका बिछौना रहता था । उनके सामने जाकर बैठ गया ।

उन्होंने चिट्ठी पढी । आंखोसे मोतीके बूद टपकने लगे । चिट्ठी भीग गई । थोड़ी देरके लिए उन्होने आखे मूद ली । चिट्ठी फाड़ डाली । चिट्ठी पढनेको जो वह उठ बैठे थे सो फिर लेट गये ।

मै भी रोया । पिताजीके दुःखको अनुभव किया । यदि मै चितेरा होता तो आज भी उस चित्रको हूबहू खीच सकता । मेरी आखोके सामने आज भी वह दृश्य ज्यो-का-त्यो दिखाई दे रहा है ।

इस मोती-बिंदुके प्रेमबाणने मुझे बीध डाला । मै शुद्ध हो गया । इस प्रेमको तो वही जान सकता है, जिसे उसका अनुभव हुआ है —

रामबाण वाग्यां रे होय ते जाणे[1]

मेरे लिए यह अहिंसाका पदार्थ-पाठ था । उस समय तो मुझे इसमे पितृ-वात्सल्यसे अधिक कुछ न दिखाई दिया; पर आज मै इसे शुद्ध अहिंसा-के नामसे पहचान सका हूं । ऐसी अहिंसा जब व्यापक रूप ग्रहण करती है तब उसके स्पर्शसे कौन अलिप्त रह सकता है ? ऐसी व्यापक अहिसाके बलको नापना असंभव है ।

ऐसी शातिमय क्षमा पिताजीके स्वभावके प्रतिकूल थी । मैंने तो यह अंदाज किया था कि वह गुस्सा होगे, सख्त-सुस्त कहेंगे, शायद अपना सिर भी पीट ले । पर उन्होंने तो असीम शांतिका परिचय दिया । मै मानता हूं कि यह अपने दोषको शुद्ध हृदयसे मंजूर कर लेनेका परिणाम था ।

जो मनुष्य अधिकारी व्यक्तिके सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदयसे कह देता है और फिर कभी न करनेकी प्रतिज्ञा करता है, वह मानो

---

[1]प्रेम बाणसे जो बिंधा हो वही उसके प्रभावको जानता है—अनु०

शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मै जानता हूं कि मेरी इस दोष-स्वीकृतिसे पिताजी मेरे संबंधमे नि:शंक हो गये और उनका महाप्रेम मेरे प्रति और भी बढ़ गया।

: ९ :

पिताजीकी मृत्यु और मेरी शर्म

यह जिक्र मेरे सोलहवे सालका है। पाठक जानते है कि पिताजी भगंदरकी बीमारीसे बिलकुल बिछौनेपर ही लेटे रहते थे। उनकी सेवा-शुश्रूषा अधिकांशमें माताजी, एक पुराने नौकर और मेरे जिम्मे थी। मै 'नर्स'—परिचारकका काम करता था। घावको धोना, उसमें दवा डालना, जरूरत हो तब मरहम लगाना, दवा पिलाना, और जरूरत हो तब घरपर दवा तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रातको हमेशा उनके पैर दबाना और जब वह कहें तब, अथवा उनके सो जानेके बाद, जाकर सोना मेरा नियम था। वह सेवा मुझे अतिशय प्रिय थी। मुझे नहीं याद पड़ता कि किसी दिन मैने इसमे गफलत की हो। ये दिन मेरे हाईस्कूलके थे। इस कारण भोजन-पानसे जो समय बचता वह या तो स्कूलमें या पिताजीकी सेवा-शुश्रूषामे जाता। जब वह कहते, अथवा उनकी तबीयतके अनुकूल होता, तब शामको घूमने चला जाता।

इसी वर्ष पत्नी गर्भवती हुई। आज मुझे इसमे दुहेरी शर्म मालूम होती है। एक तो यह कि विद्यार्थी-जीवन होते हुए मै संयम न रख सका, और दूसरे यह कि यद्यपि मै स्कूलकी पढ़ाई पढ़नेका और इससे भी बढ़कर माता-पिताकी भक्तिको धर्म मानता था—यहांतक कि इस संबंधमें बाल्यावस्थासे ही श्रवण मेरा आदर्श रहा था—तथापि विषय-लालसा मुझपर हावी हो सकी थी। यद्यपि मै रातको पिताजीके पांव दबाया करता था,तथापि मन शयन-गृहकी तरफ दौड़ा करता और वह भी ऐसे समय

कि जब स्त्री-संग धर्म-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र तीनोंके अनुसार त्याज्य था। जब उनकी सेवा-शुश्रूषासे मुझे छुट्टी मिलती तब मुझे खुशी होती और पिताजीके पैर छूकर मैं सीधा शयन-गृहमे चला जाता।

पिताजीकी बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्योने अपने-अपने लेप आजमाये, हकीमोंने मरहम-पट्टियां आजमाई, मामूली नाई-हजामो आदिकी घरेलू दवाये की, अंग्रेज डाक्टरने भी अपनी अक्ल लड़ा देखी। अंग्रेज डाक्टरने कहा, नश्तर लगानेके सिवा दूसरा रास्ता नही। हमारे कुटुंबके मित्र वैद्यने आपत्ति की और ढलती उमरमे ऐसा नश्तर लगवानेकी सलाह उन्होंने न दी। दवाओंकी बीसों बोतले खपी, पर व्यर्थ गईं और नश्तर भी नही लगाया गया। वैद्यराज थे तो काबिल और नामांकित; पर मेरा खयाल है कि यदि उन्होंने नश्तर लगाने दिया होता तो घावके अच्छा होनेमे कोई दिक्कत न आती। आपरेशन बबईके तत्कालीन प्रसिद्ध सर्जनके द्वारा होनेवाला था। पर अंत नजदीक आ गया था, इसलिए ठीक बात उस समय कैसे सूझ सकती थी? पिताजी बंबईसे बिना नश्तर लगाये वापस लौटे और नश्तर-संबधी खरीदा हुआ सामान उनके साथ आया। अब उन्होंने अधिक जीनेकी आशा छोड़ दी थी। कमजोरी बढ़ती गई और हर क्रिया बिछौनेमे ही करनेकी नौबत आगई। परंतु उन्होने अंततक उसे स्वीकार न किया और उठने-बैठनेका कष्ट उठाना मंजूर किया। वैष्णव-धर्मका यह कठिन शासन है। उसमे बाह्य-शुद्धि अति आवश्यक है। परतु पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र हमे सिखाता है कि मल-त्याग तथा स्नान आदिकी समस्त क्रियायें पूरी-पूरी स्वच्छताके साथ बिछौनेमें हो सकती है और फिर भी रोगीको कष्ट नही उठाना पड़ता। जब देखिए तब बिछौना स्वच्छ ही रहता है। ऐसी स्वच्छताको मै तो वैष्णव-धर्मके अनुकूलही मानता हू। परतु इस समय पिताजीका स्नानादिके लिए बिछौनेको छोड़नेका आग्रह देखकर मै तो आश्चर्य-चकित रहता और मनमे उनकी स्तुति किया करता।

अवसानकी घोर रात्रि नजदीक आई। इस समय मेरे चाचाजी

राजकोटमें थे। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि पिताजीकी बीमारी बढ़नेका समाचार सुनकर वह आ गये थे। दोनों भाइयोंमें प्रगाढ़ प्रेम-भाव था। चाचाजी दिन-भर पिताजीके बिछौनेके पास ही बैठे रहते और हम सबको सोनेके लिए रवाना करके खुद पिताजीके बिछौनेके पास सोते। किसीको यह खयालतक न था कि यह रात अखीरी साबित होगी। भय तो सदा रहा ही करता था। रातके साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजीने मुझसे कहा—"अब तुम जाकर सोओ, मैं बैठूंगा।" मैं खुश हुआ और सीधा शयन-गृहमें चला गया। पत्नी बेचारी भर-नींदमें थी। पर मैं उसे क्यों सोने देने लगा? जगाया। पांच-सात ही मिनिट हुए होंगे कि नौकरने दरवाजा खटकाया।

मैं चौंका! उसने कहा—'उठो, पिताजीकी हालत बहुत खराब है।' बहुत खराब है, यह तो मैं जानता ही था, इसलिए 'बहुत खराब' का विशेष अर्थ समझ गया। एक-बारगी बिछौनेसे हटकर पूछा—

"कहो तो, बात क्या है?"

"पिताजी गुजर गये!"—उत्तर मिला।

अब पश्चात्ताप किस कामका? मैं बहुत शर्मिंदा हुआ, बड़ा खेद हुआ। पिताजीके कमरेमें दौड़ा गया। मैं समझा कि यदि मैं विषयांध न होता, तो अंत समय का यह वियोग मेरे भाग्यमें न होता, मैं अंतिम घड़ियों-तक पिताजीके पैर दबाता रहता। अब तो चाचाजीके मुंहसे ही सुना, "बापू[1] तो हमें छोड़कर चले गये!" अपने जेठे भाईके परम-भक्त चाचाजी उनकी अंतिम सेवाके सौभाग्यके भागी हुए। पिताजीको अपने अवसानका खयाल पहलेसे हो चुका था। उन्होंने इशारेसे लिखनेकी सामग्री मांगी। कागजपर उन्होंने लिखा, 'तैयारी करो।' इतना लिखकर अपने हाथपर बंधा तावीज तोड़ फेंका। सोनेकी कंठी पहने हुए थे, उसे भी तोड़ फेंका और एक क्षणमें प्राण-पखेरू उड़ गये।

---

[1] काठियावाड़में पिताको बापू कहते हैं।—अनु०

पिछले प्रकरणमे मैंने अपनी जिस शर्मकी ओर सकेत किया था, वह यही शर्म थी। सेवाके समयमे भी विषयेच्छा! इस काले धब्बेको मे आजतक न पोंछ सका, न भूल सका। और मैंने हमेशा माना है कि यद्यपि माता-पिताके प्रति मेरी भक्ति अपार थी, उसके लिए मै सब-कुछ छोड़ सकता था, परंतु उस सेवाके समयमे भी मेरा मन विषयभोगको न छोड़ सका, यह उस सेवामे अक्षम्य कमी थी। इसीलिए मैंने अपनेको एक-पत्नी-व्रतका पालन करनेवाला मानते हुए भी विषयाध माना है। इससे छूटनेमे मुझे बहुत समय लगा है और छूटनेके पहलेतक बड़े धर्म-सकट सहने पड़े हैं।

अपनी इस दुहेरी शर्मका प्रकरण पूरा करनेके पहले यह भी कह देना है कि पत्नीने जिस बालकको जन्म दिया वह दो या चार दिन ही सांस लेकर चलता हुआ। दूसरा क्या परिणाम हो सकता था? इस उदाहरणको देखकर जो मा-बाप अथवा जो दपती चेतना चाहें वे चेतें।

: १० :

धर्मकी झलक

छः-सात सालकी उम्रसे लेकर १६ वर्षतक विद्याध्ययन किया; परंतु स्कूलमें कही धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज शिक्षकोंके पाससे सहज ही मिलनी चाहिए, वह न मिली। फिर भी वायुमंडलमेंसे तो कुछ-न-कुछ धर्म-प्रेरणा मिला ही करती थी। यहां धर्मका व्यापक अर्थ करना चाहिए। धर्मसे मेरा अभिप्राय है आत्म-भानसे, आत्म-ज्ञानसे।

वैष्णव-सप्रदायमें जन्महोनेके कारण बार-बार 'वैष्णवमंदिर' जाना होता था। परंतु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। मंदिरका वैभव मुझे पसंद न आया। मदिरोंमें होनेवाले अनाचारोंकी बाते सुन-सुनकर मेरा

मन उनके संबंधमे उदासीन हो गया। वहांसे मुझे कोई लाभ न मिला।

परंतु जो चीज मुझे इस मंदिरसे न मिली, वह अपनी दाईके पाससे मिल गई। वह हमारे कुटुंबमें एक पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मै पहले कह चुका हूं कि मै भूत-प्रेत आदिसे डरा करता था। इस रंभाने मुझे बताया कि इसकी दवा 'राम-नाम' है। किंतु राम-नामकी अपेक्षा रंभापर मेरी अधिक श्रद्धा थी। इसलिए बचपनमें मैंने भूत-प्रेतादिसे बचनेके लिए राम-नामका जप शुरू किया। यह सिल-सिला यों बहुत दिनतक जारी न रहा; परंतु जो बीजारोपण बचपनमें हुआ वह व्यर्थ न गया। राम-नाम जो आज मेरे लिए एक अमोघ-शक्ति हो गया है, उसका कारण वह रंभाबाईका बोया हुआ बीज ही है।

मेरे चचेरे भाई रामायणके भक्त थे। इसी अर्सेमें उन्होंने हम दो भाइयोंको 'राम-रक्षा'का पाठ सिखानेका प्रबंध किया। हमने उसे मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नानके बाद पाठ करनेका नियम बनाया। जबतक पोरबंदरमें रहे, तबतक तो यह निभता रहा। परंतु राजकोटके वाता-वरणमें उसमें शिथिलता आ गई। इस क्रियापर भी कोई खास श्रद्धा न थी। दो कारणोंसे 'राम-रक्षा'का पाठ करता था। एक तो मै बड़े भाईको आदरकी दृष्टिसे देखता था, दूसरे मुझे गर्व था कि मै 'राम-रक्षा' का पाठ शुद्ध उच्चारण-सहित करता हूं।

परंतु जिस चीजने मेरे दिलपर गहरा असर डाला, वह तो थी रामायण-का पारायण। पिताजीकी बीमारीका बहुतेरा समय पोरबंदरमें गया। वहां वह रामजीके मंदिरमें रोज रातको रामायण सुनते। कथा कहनेवाले थे रामचंद्रजीके परम-भक्त बीलेश्वरके लाधा महाराज। उनके संबंधमें यह प्रसिद्ध था कि उन्हें कोढ़ हो गया था। उन्होंने कुछ दवा न की — सिर्फ बीलेश्वर महादेवपर चढ़े हुए बिल्व पत्रोंको कोढ़वाले शरीरपर बांधते रहे, और राम-नामका जप करते रहे, अन्तमें उनका कोढ़ जड़-मूलसे नष्ट हो गया। यह बात सही हो या झूठ, हम सुननेवालोंने तो सच ही मानी। हां, यह जरूर सच है कि लाधा महाराजने जब कथा

आरंभ की थी, तब उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराजका स्वर मधुर था। वह दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसके रसमें लीन हो जाते और श्रोताओंको भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई १३ सालकी होगी; पर मुझे याद है कि उनकी कथामें मेरा बड़ा मन लगता था। रामायणपर जो मेरा अत्यंत प्रेम है, उसका पाया यही रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसीदासकी रामायणको भक्ति-मार्गका सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हू।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहां ऐसी कथा न होती थी। हां, एकादशीको भागवत अलबत्ता पढ़ी जाती थी। कभी-कभी मै वहां जाकर बैठता; परतु कथा-पडित उसे रोचक न बना पाते थे। आज मैं समझता हू कि भागवत ऐसा ग्रथ है कि जिसे पढकर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने उसका गुजराती अनुवाद बड़े चाव-भावसे पढ़ा है। परंतु अपने इक्कीस दिनके उपवासमें जब भारत-भूषण पडित मदनमोहन मालवीयजीके श्रीमुखसे मूल सस्कृतके कितने ही अश सुने तब मुझे ऐसा लगा कि बचपनमे यदि उनके सदृश भगवद्भक्तके मुहसे भागवत सुनी होती, तो बचपनमें ही मेरी गाढ़-प्रीति उसपर जम जाती। मै अच्छी तरह इस बातको अनुभव कर रहा हूं कि बचपनमे पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते है और इसीलिए यह बात अब मुझे बहुत खल रही है कि लड़कपनमे कितने ही अच्छे ग्रंथोंका श्रवण-पठन न हो पाया।

राजकोटमें मुझे सब संप्रदायोके प्रति समानभाव रखनेकी शिक्षा अनायास मिली। हिंदू-धर्मके प्रत्येक संप्रदायके प्रति आदर-भाव रखना सीखा; क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मंदिर भी जाते थे, शिवालय भी जाते व राम-मंदिर भी जाते थे और हम भाइयोंको भी ले जाते अथवा भेज देते थे।

फिर पिताजीके पास एक-न-एक जैनधर्माचार्य अवश्य आया करते। पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार भी करते। वे पिताजीके साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते। इसके सिवा पिताजीके मुसलमान

तथा पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्मकी बातें सुनाया करते और पिताजी बहुत बार आदर और अनुरागके साथ उनकी बातें सुनते। मैं पिताजीका 'नर्स' था, इसलिए ऐसी चर्चाके समय मैं भी प्रायः उपस्थित रहा करता। इस सारे वायुमंडलका यह असर हुआ कि मेरे मनमें सब धर्मोंके प्रति समानभाव पैदा हुआ।

हां, ईसाई-धर्म इसमें अपवाद था। उसके प्रति तो जरा अरुचि ही उत्पन्न हो गई। इसका कारण था। उस समय हाईस्कूलके एक कोनेमें एक ईसाई व्याख्यान दिया करते थे। वह हिंदू-नेताओं और हिंदू-धर्मवालोंकी निंदा किया करते। यह मुझे सहन न होता। मैं एकाध ही बार इन व्याख्यानोंको सुननेके लिए खड़ा रहा होऊंगा, पर फिर वहां खड़ा होनेको जी न चाहा। इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिंदू ईसाई हो गये हैं। गांवमें यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हे जब ईसाई बनाया गया तब गो-मांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उनका लिबास भी बदल दिया गया और ईसाई होनेके बाद वह सज्जन कोट-पतलून और हैट लगाने लगे। यह देखकर मुझे व्यथा पहुंची। 'जिस धर्ममें जानेके लिए गो-मांस खाना पड़ता हो, शराब पीनी पड़ती हो और अपना पहनाव बदलना पड़ता हो, उसे क्या धर्म कहना चाहिए ?' मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई हो जानेपर वह महाशय अपने पूर्वजोंके धर्मकी, रीति-रिवाजकी, और देशकी भर-पेट निंदा करते फिरते हैं। इन सब बातोसे मेरे मनमे ईसाई-धर्मके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नहीं कह सकते कि ईश्वरके प्रति मेरे मनमे श्रद्धा थी। इस समय पिताजीके पुस्तक-संग्रहमेसे मनुस्मृतिका भाषातर मेरे हाथ पड़ा। उसमें सृष्टिकी उत्पत्ति आदिका वर्णन पढ़ा। उसपर श्रद्धा न जमी। उलटे कुछ नास्तिकता आ गई। मेरे दूसरे चचेरे भाई जो अभी मौजूद है, उनकी बुद्धिपर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शंकायें रखी। परंतु वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—"बड़े

होनेपर इन प्रश्नोंका उत्तर तुम्हारी बुद्धि अपने-आप देने लगेगी। ऐसे-ऐसे सवाल बच्चोंको न पूछने चाहिए।" मै चुप हो रहा, पर मनको शांति न मिली। मनुस्मृतिके खाद्याखाद्य-प्रकरणमें तथा दूसरे प्रकरणोंमें भी प्रचलित प्रथाका विरोध दिखाई दिया। इस शंकाका उत्तर भी मुझे प्रायः ऊपर लिखे अनुसार ही मिला। तब यह सोचकर मनको समझा लिया कि एक-न-एक दिन बुद्धिका विकास होगा। तब अधिक पठन और मनन करूंगा और तब सब कुछ समझमें आने लगेगा।

मनुस्मृतिको पढकर मैं उस समय तो उससे अहिंसाकी प्रेरणा न पा सका। मासाहारकी बात ऊपर आ ही चुकी है। उसे तो मनुस्मृतिका भी सहारा मिल गया। यह भी जचा था कि सांप-खटमल आदिको मारना नीति-विहित है। इस समय, मुझे याद है, मैंने धर्म समझकर खटमल इत्यादिको मारा है।

पर एक बातने मेरे दिलपर अच्छी जड जमा ली। यह सृष्टि नीतिके पाये पर खड़ी है, नीति-मात्रका समावेश सत्यमे होता है। पर सत्यकी खोज तो अभी बाकी है। दिन-दिन सत्यकी महिमा मेरी दृष्टिमे बढ़ती गई, सत्यकी व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

फिर एक नीति-विषयक छप्पय तो हृदयमें अंकित होगया। अपकारका बदला अपकार नही, बल्कि उपकार हो सकता है, यह बात मेरा जीवन-सूत्र बन बैठी। उसने मुझपर अपनी सत्ता जमानी शुरू की। अपकार करनेवालेका भला चाहना और करना मेरे अनुरागका विषय हो चला। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम मनोहरो नुं करीए;
आप उगारे प्राण ते तणा दुःख मां मरीए।

गुण केडे तो गुण दशगणो; मन वाचा कर्म करी;
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही।'

: ११ :

विलायतकी तैयारी

१८८७ ईसवीमे मैट्रिककी परीक्षा पास की। बंबई और अहमदाबाद दो परीक्षा केंद्र थे। देशकी दरिद्रता और कुटुंबकी आर्थिक अवस्थाके बहुत मामूली होनेके कारण, मेरी स्थितिके काठियावाड़-निवासीके लिए नजदीकी और सस्ते अहमदाबादको पसंद करना स्वाभाविक था। राजकोटसे अहमदाबादकी मैंने यह पहली बार अकेले यात्रा की।

घरके बड़े-बूढ़ोंकी यह इच्छा थी कि पास हो जानेपर अब आगे कालेजमे पढ़ूं। कालेज तो बंबईमे भी था और भावनगरमे भी। भावनगरमे खर्च कम पड़ता था, इसलिए शामलदास कालेजमें पढ़नेका निश्चय हुआ। वहां सब-कुछ मुझे मुश्किल दिखने लगा। अध्यापकोके व्याख्यानोंमे मन न लगता, न समझ ही पड़ती। उसमें अध्यापकोंका दोष न था। मेरी पढ़ाई ही कच्ची थी। उस समयके शामलदास कालेजके अध्यापक तो प्रथम पंक्तिके माने जाते थे। पहला सत्र पूरा करके घर आया।

१—जल-फलका उपहार, पेट भर भोजन दीजे।
समुद नमनके लिए दंडवत् प्यारे कीजे॥
कौड़ी पाकर मित्र, मुहर बदलेमें देना।
होवे कष्ट-सहाय, प्राण उसके हित देना॥
गुणके बदले दस गुना, गुण करना यह धर्म है।
अवगुण बदले गुण करे, सत्य-धर्मका मर्म है॥

हमारे कुटुंबके पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान् व्यवहार-कुशल ब्राह्मण—मावजी दवे थे। पिताजीके स्वर्गवासके बाद भी उन्होंने हमारे कुटुंबके साथ संबंध कायम रखा था। छुट्टियोंके दिनोंमे वह घर आये। माताजी और बड़े भाईके साथ बाते करते हुए मेरी पढ़ाईके विषयमें पूछताछ की। यह सुनकर कि मै शामलदास कालेजमें पढ़ता हूं, उन्होंने कहा—"अब जमाना बदल गया है। तुम भाइयोंमेसे यदि कोई कबा गांधीकी गद्दी कायम रखना चाहे तो यह बिना पढ़ाईके नही हो सकता। यह अभी पढ़ रहा है। इसलिए उस गद्दीको कायम रखनेका भार इसपर डालना चाहिए। इसे अभी ४ साल बी० ए० होनेमे लगेंगे। इसके बाद भी ५०)—६०)की नौकरी भले ही मिले, दीवान-पद नही मिल सकता। फिर अगर उसके बाद मेरे लड़केकी तरह वकील बनाओगे तो कुछ और साल लगेंगे, और तबतक तो दीवानगिरीके लिए कितने ही वकील तैयार हो जायगे। आपको चाहिए कि इसे विलायत पढने भेजे। केवलराम (मावजी दवेका पुत्र) कहता है कि वहां पढ़ाई आसान है। तीन सालमें पढ़कर लौट आवेगा। खर्च भी ४-५ हजारसे ज्यादा न लगेगा। देखो न, वह नया बैरिस्टर आया है। कैसे ठाट-बाटसे रहता है। वह यदि चाहे तो आज दीवान बन सकता है। मेरी सलाह तो यह है कि मोहनदासको आप इसी साल विलायत भेज दे। विलायतमे केवलरामके बहुतेरे मित्र हैं। वह परिचय-पत्र दे देगा तो इसे वहां कोई कठिनाई न होगी।"

जोशीजीने (मावजी दवेको हम इसी नामसे पुकारा करते थे), मानो उन्हे अपनी सलाहके मंजूर हो जानेमें कुछ भी संदेह न हो, मेरी ओर मुखातिब होकर पूछा—

"क्यों, तुम्हें विलायत जाना पसद है या यही पढ़ना ?"

मेरे लिए यह 'नेकी और पूछ-पूछ' वाली मसल हो गई। मैं कालेजकी कठिनाइयोसे तंग तो आ ही गया था। मैंने कहा—"विलायत भेजे तो बहुत ही अच्छा। कालेजमें जल्दी-जल्दी पास हो जानेकी आशा नही मालूम होती। पर मुझे डाक्टरीके लिए क्यो नही भेजते ?"

बड़े भाई बीचमें बोले—"बापूको यह पसंद न था। तुम्हारी बात जब निकलती तो कहते हम तो वैष्णव हैं। हाड-मांस नोचनेका काम हम कैसे करें ? बापू तो तुमको वकील बनाना चाहते थे।"

जोशीजीने बीचमे ही हां-में-हां मिलाई—"मुझे गांधीजीकी तरह डाक्टरीसे नफरत नही। हमारे शास्त्रोंने इसका तिरस्कार नही किया है। परंतु डाक्टरी पास करके तुम दीवान नही बन सकते। मै तुमको दीवान और इससे भी बढ़कर देखना चाहता हूं। तभी तुम्हारे विशाल कुटुंबका काम चल सकता है। जमाना दिन-दिन बदलता जाता है और मुश्किल होती जाती है, इसलिए बैरिस्टर बनाना ही बुद्धिमानी है।"

माताजीकी ओर देखकर कहा—"आज तो मै जाता हूं। मेरी बातपर विचार कीजिएगा। वापस आनेपर मै विलायत जानेकी तैयारीके समाचार सुननेकी आशा रखूगा। कोई दिक्कत हो तो मुझे खबर कीजिएगा।

जोशीजी गये। इधर मैने हवाई किले बांधना शुरू किये।

बड़े भाई शशोपंजमे पड़ गये। रुपयेका क्या इंतजाम करें ? फिर मुझ जैसे नौजवानको इतनी दूर कैसे भेज दे ?

माताजी भी बड़ी दुविधामें पड़ गई। दूर भेजनेकी बात तो उन्हें अच्छी न लगी। परंतु शुरूमें तो उन्होंने यही कहा—"हमारे कुटुबमें तो अब चाचाजी ही बड़े-बूढ़े है। इसलिए पहले तो उन्हीकी सलाह लेनी चाहिए। यदि वह इजाजत दे दे तो फिर सोचेगे।"

बड़े भाईको एक और विचार सूझा—"पोरबंदर राज्यपर हमारा हक है। लेली साहब एडमिनिस्ट्रेटर है। हमारे परिवारके संबंधमे उनका अच्छा मत है। चाचाजीपर उनकी खास मेहरबानी है। शायद वह राज्यकी ओरसे तुम्हारी थोड़ी-बहुत मदद भी कर दें।"

मुझे यह सब पसंद आया। मै पोरबंदर जानेके लिए तैयार हुआ। उस समय रेल न थी। बैल-गाड़ियां चलती थी। ५ दिनका रास्ता था। मै स्वभावसे डरपोक था, यह तो ऊपर कह चुका हूं। पर इस समय मेरा डर न जाने कहां चला गया। विलायत जानेकी धुन सवार हुई। मैंने

धोराजीतककी गाड़ी की। धोराजीसे एक दिन पहले पहुंचनेके इरादेसे ऊंट किया। ऊंटकी सवारीका यह पहला अनुभव था।

पोरबंदर पहुंचा। चाचाजीको साष्टांग प्रणाम किया। सारा किस्सा उनसे कहा। उन्होंने विचार करके उत्तर दिया—

"विलायत जाकर अपना धर्म कायम रख सकोगे कि नहीं, यह मैं नहीं जानता। सारी बातें सुनकर तो मुझे संदेह ही होता है। देखो न, बड़े-बडे बैरिस्टरोंसे मिलनेका मुझे मौका मिलता है। मैं देखता हूं कि उनकी और साहब लोगोंकी रहन-सहनमें कोई फर्क नहीं। उन्हें खान-पानका कोई परहेज नहीं होता। सिगार तो मुंहसे अलग ही नहीं होती। पहनाव भी देखो तो नंगा। यह सब अपने कुटुंबको शोभा नहीं देगा। पर मैं तुम्हारे साहस में विघ्न डालना नहीं चाहता। मैं थोड़े ही दिनोंमें तीर्थयात्राको जानेवाला हूं। मेरी जिंदगीके अब थोड़े ही दिन बाकी है। सो मैं, जोकि जिंदगीके किनारेतक पहुंच गया हूं, तुमको विलायत जानेकी, समुद्र-यात्रा करनेकी इजाजत कैसे दूं? पर मैं तुम्हारा रास्ता न रोकूंगा। असली इजाजत तो तुम्हारी माताजीकी है। अगर वह तुम्हें इजाजत दे दे तो तुम शौकसे जाओ। उनसे कहना कि मैं तुम्हें न रोकूंगा। मेरी आशीष तो तुम्हें हुई है।"

"इससे ज्यादाकी आशा मैं आपसे नहीं कर सकता। अब मुझे माताजीको राजी कर लेना है। परंतु लेली साहबके नाम आप चिट्ठी तो देंगे न?" मैंने कहा।

चाचाजी बोले, "यह तो मुझसे कैसे हो सकता है? पर साहब भले आदमी है। तुम चिट्ठी लिखो। अपने कुटुंबकी याद दिलाना तो वह जरूर मिलनेका समय देंगे; और उन्हें जंचा तो मदद भी कर देंगे।"

मुझे खयाल नहीं आता कि चाचाजीने साहबके नाम चिट्ठी क्यों न दी? पर कुछ-कुछ ऐसा अनुमान होता है कि विलायत जानेके धर्म-विरुद्ध कार्यमें इतनी सीधी मदद देते हुए उन्हें संकोच हुआ होगा।

मैंने लेली साहबको चिट्ठी लिखी। उन्होंने अपने रहनेके बंगले पर

मुझे बुलाया। बंगलेके जीनेपर चढ़ते-चढते साहब मुझसे मिले और यह कहते हुए ऊपर चढ गये कि—"पहले बी० ए० हो लो, फिर मुझसे मिलो; अभी कुछ मदद नहीं हो सकती।" मैं बहुत तैयारी करके, बहुतेरे वाक्योंको रटकर, गया था। बहुत झुककर दोनों हाथोसे सलाम किया था, पर मेरी सारी मिहनत फिजूल गई।

अब मेरी नजर अपनी पत्नीके गहनोंपर गई। बड़े भाईपर मेरी अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारताकी सीमा न थी। उनका प्रेम पिताकी तरह था।

मै पोरबंदरसे विदा हुआ और राजकोट आकर सब बातें सुनाईं। जोशीजीसे सलाह-मशविरा किया। उन्होंने कर्ज करके भी विलायत भेजनेकी सलाह दी। मैंने सुझाया कि पत्नीके गहने बेच डाले जायं। गहनोसे २-३ हजारसे ज्यादा रकम मिलनेकी आशा न थी। किंतु भाई साहबने जिस तरह हो, रुपयेका इंतजाम करनेका बीड़ा उठाया।

पर माताजी क्योंकर मानती? उन्होंने विलायतके जीवनके सबंधमें पूछ-ताछ शुरू की। किसीने कहा, नवयुवक विलायत जाकर बिगड़ जाते है। कोई कहता था, वे मांस खाने लग जाते है। किसीने कहा, वहां शराब पिये बिना नही चलता। माताजीने यह सब मुझसे कहा। मैंने समझाया कि तुम मुझपर विश्वास रखो, मै विश्वासघात न करूगा। मैं कसम खाकर कहता हूं कि मै, इनमे तीनों बातोसें बचूंगा। और अगर ऐसी जोखिमकी ही बात होती तो जोशीजी क्यों जानेकी सलाह देते?

माताजी बोली—"मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देशमे तेरा कैसे क्या होगा? मेरी तो अकल काम नही करती। मै बेचरजी स्वामीसे पूछूंगी।" बेचरजी स्वामी मोढ़ बनियेसे जैन साधु हुए थे। जोशीजीकी तरह हमारे सलाहकार भी थे। उन्होंने मेरी मदद की। उन्होने कहा कि मै इससे तीनों बातोंकी प्रतिज्ञा लिवा लूंगा। फिर जाने देनेमे कोई हर्ज नहीं। तदनुसार मैने मांस, मदिरा और स्त्री-संगसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा ली। तब माताजीनें इजाजत दे दी।

मेरे विलायत जानेके उपलक्ष्यमे हाईस्कूलमें विद्यार्थियोंका सम्मेलन हुआ। राजकोटका एक युवक विलायत जा रहा है, इसपर सबको आश्चर्य ही हो रहा था। अपनी विदाईके जवाबमे मै कुछ लिखकर ले गया था। पर मै उसे मुश्किलसे पढ सका। सिर घूम रहा था, बदन कांप रहा था, इतना मुझे याद है।

बड़े-बूढोके आशीर्वाद प्राप्त कर मै बंबई रवाना हुआ। बंबईकी मेरी यह पहली यात्रा थी, इसलिए बड़े भाई साथ आये।

परंतु अच्छे काममे सैकड़ों विघ्न आते है। बंबईका बंदर छूटना आसान न था।

: १२ :

जाति-बहिष्कार

माताजीकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर, कुछ महीनेका बच्चा पत्नीके साथ छोडकर मै उमंग और उत्कठाके साथ बंबई पहुंचा। पहुच तो गया, पर वहा मित्रोंने भाईसे कहा कि जून-जुलाईमें हिंद महासागरमे तूफान रहता है। यह पहली बार समुद्र-यात्रा कर रहा है, इसलिए दिवालीके बाद अर्थात् नवबरमे इसको भेजना चाहिए। इतने ही मे किसीने तूफानमे किसी जहाज़के डूब जानेकी बात भी कह डाली। इससे बड़े भाई चिंतित हो गये। उन्होंने मुझे ऐसी जोखिम उठाकर उसी समय भेजनेसे इकार कर दिया, और वही अपने एक मित्रके यहां मुझे छोड़कर खुद अपनी नौकरीपर राजकोट चले गये। अपने एक बहनोईके पास रुपये-पैसे रख गये और कुछ मित्रोसे मेरी मदद करनेको भी कहते गये।

बंबईमे मेरा पड़ाव लबा हो गया। वहां मुझे दिन-रात विलायतके ही सपने आते।

इसी बीच हमारी जातिमें खलबली मची। पंचायत इकट्ठा हुई। मोढ बनियोंमे अबतक कोई विलायत नही गया था और उन लोगोंका कहना था कि यदि मै ऐसा साहस करता हूं तो मुझसे जवाब तलब होना चाहिए। मुझे जातिकी पंचायतमे हाजिर होनेका हुक्म हुआ। मै गया। ईश्वर जाने मुझे एकाएक यह हिम्मत कहासे आई। वहा जाते हुए न संकोच हुआ, न डर। जातिके मुखियाके साथ दूरका कुछ रिश्ता भी था, पिताजीके साथ उनका अच्छा संबंध था। उन्होंने मुझसे कहा—

"पंचोंका यह मत है कि तुम्हारा विलायत जानेका विचार ठीक नही है। अपने धर्ममे समुद्र-यात्रा मना है। फिर हमने सुना है कि विलायतमे धर्मका पालन नहीं हो सकता। वहां अंग्रेजोंके साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैने उत्तर दिया, "मै तो समझता हूं, विलायत जाना किसी तरह अधर्म नही। मुझे तो वहां जाकर सिर्फ विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन बातोंका भय आपको है उनसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा मैने माताजीके सामने ले ली है और मै उनसे दूर रह सकूंगा।"

"पर हम तुमसे कहते है कि वहां धर्म कायम नही रह सकता। तुम जानते हो कि तुम्हारे पिताजी के साथ मेरा कैसा संबंध था, तुम्हे मेरा कहना मान लेना चाहिए।" मुखिया बोले।

"जी, आपका संबंध मुझे याद है। आप मेरे लिए पिताके समान है। परंतु इस बातमें मैं लाचार हूं। विलायत जानेका निश्चय मै नही पलट सकता। मेरे पिताजीके मित्र और सलाहकार, जो कि एक विद्वान् ब्राह्मण है, मानते है कि मेरे विलायत जानेमें कोई बुराई नहीं। माताजी और भाई साहबने भी इजाजत दे दी है।" मैने उत्तर दिया।

"पर पंचोंका हुक्म तुम नही मानोगे?"

"मैं तो लाचार हूं, मै समझता हूं पंचोंको इस मामलेमे न पड़ना चाहिए।"

इस जवाबसे उन मुखियाको गुस्सा आ गया। मुझे दो-चार भली-बुरी सुनाई। मै चुप बैठा रहा। उन्होंने हुक्म दिया—

"यह लड़का आजसे जात-बाहर समझा जाय। जो इसकी मदद करेगा अथवा पहुंचाने जायगा वह जातिका गुनहगार होगा और उससे सवा रुपया जुर्माना लिया जावेगा।"

इस प्रस्तावका मेरे दिलपर कुछ असर न हुआ। मैंने मुखियासे विदा मागी। अब मुझे यह सोचना था कि इस प्रस्तावका असर भाई साहबपर क्या होगा। वह कही डर गये तो? पर सौभाग्यसे वह दृढ़ रहे और मुझे उत्तरमे लिखा कि जातिके इस प्रस्तावके होते हुए भी मैं तुमको विलायत जानेसे नही रोकूगा।

इस घटनाके बाद मै अधिक चितातुर हुआ। भाई साहबपर दबाव डाला गया तो? अथवा कोई और विघ्न खड़ा हो गया तो? इस तरह चितासे मै दिन विता रहा था कि इतनेमे खबर मिली कि ४ सितबरको छूटनेवाले जहाजमे जूनागढ़के एक वकील बैरिस्टर बननेके लिए विलायत जा रहे है। मै भाई साहबके उन मित्रोंसे मिला, जिनसे वह मेरे लिए कह गये थे। उन्होंने सलाह दी कि इस साथको नही छोड़ना चाहिए। समय बहुत थोड़ा था। भाई साहबसे तार द्वारा आज्ञा मागी। उन्होने दे दी। मैंने बहनोई साहबसे रुपये मागे। उन्होंने पंचोंकी आज्ञाका जिक्र किया। जाति-बाहर रहना उन्हें मंजूर न हो सकता था। तब अपने कुटुबके एक मित्रके पास मै पहुचा, और किराये वगैराके लिए आवश्यक रकम मुझे देने और फिर भाई साहबसे वसूल कर लेनेका अनुरोध मैंने किया। उन्होंने न केवल इस बातको स्वीकार ही किया बल्कि मुझे हिम्मत भी बधाई। मैंने उनका अहसान मानकर रुपये लिये और टिकिट खरीदा।

विलायत-यात्राका सारा सामान तैयार करना था। एक दूसरे अनुभवी मित्रने साज-समान तैयार करवाया। मुझे वह सब बड़ा विचित्र मालूम हुआ। कुछ बाते अच्छी लगी, कुछ बिलकुल नही। नेकटाई तो बिलकुल अच्छी न लगी—हालाकि आगे जाकर मै उसे बड़े शौकसे पहनने

लगा था। छोटा-सा जाकेट नगा पहनावा मालूम हुआ परंतु विलायत जानेकी धुनमें इस नापसंदगीके लिए जगह नही थी। साथमे खानेका सामान भी काफी बांध लिया था।

मेरे लिए स्थान भी मित्रोंने त्र्यवकराय मजमुदार (जूनागढ़वाले वकील) की कैबिनमे रिजर्व कराया। उनसे मेरे लिए उन्होंने कह भी दिया। वह तो थे अधेड़, अनुभवी आदमी। मै ठहरा अठारह वर्षका नौजवान, दुनियाके अनुभवोसे बेखबर। मजमुदारने मित्रोंको मेरी तरफसे निश्चित रहनेका आश्वासन दिया।

इस तरह ४ सितंबर १८८८ ई०को मैने वंबई वंदर छोड़ा।

: १३ :

आखिर विलायतमें

जहाजमे समुद्रसे मुझे कोई तकलीफ न हुई। पर ज्यों-ज्यों दिन जाते, मैं असमंजसमें पड़ता चला। स्टुअर्टके साथ बोलते हुए झेंपता। अंग्रेजीमें बातचीत करनेकी आदत न थी। मजमुदारको छोड़कर बाकी सव यात्री अंग्रेज थे। उनके सामने बोलते न बनता था। वे मुझसे बोलनेकी चेष्टा करते तो उनकी बातें मेरी समझमें न आतीं और यदि समझ भी लेता तो यह औसान नही रहता कि जवाव क्या दूं। हर वाक्य बोलनेसे पहले मनमें जमाना पड़ता था। छुरी-कांटेसे खाना जानता न था। और यह पूछनेकी भी जुरंत न होती कि इसमें विना मांसकी चीजे क्या-क्या है? इस कारण मै भोजनकी मेजपर तो कभी गया ही नहीं; केविन—कमरे—में ही खा लेता। अपने साथ मिठाइयां वगैरा ले रखी थीं—प्रधानतः उन्हींपर गुजर करता रहा। मजमुदारको तो किसी प्रकारका संकोच न था। वह सबके साथ हिल-मिल गये। डेकपर भी

जहां जी चाहे घूमते फिरते । मैं सारा दिन केबिनमे घुसा रहता । डेकपर जब लोगोकी भीड़ कम देखता, तब कही जाकर वहां बैठ जाता । मजमुदार मुझे समझाते कि सबके साथ मिला-जुला करो और कहते—'वकील जबादराज होना चाहिए ।' वकीलकी हैसियतसे अपना अनुभव भी सुनाते । कहते—'अंग्रेजी हमारी मातृ-भाषा नही, इसलिए बोलनेमे भूलें होना स्वाभाविक है । फिर भी बोलनेका रफ्त तो करना ही चाहिए, आदि ।' परतु मेरे लिए अपना दब्बूपन छोडना भारी पड़ता था ।

मुझपर तरस खाकर एक भले अंग्रेजने मुझसे बातचीत करना शुरू कर दिया; वह मुझसे बड़े थे । मै क्या खाता हूं, कौन हूं, कहां जा रहा हूं, क्यों किसीके साथ बातचीत नही करता, इत्यादि सवाल पूछते । मुझे खानेके लिए मेजपर जानेकी प्रेरणा करते । मांस न खानेके मेरे आग्रह-की बात सुनकर एक रोज हंसे और मुझपर दया प्रदर्शित करते हुए बोले—"यहा तो (पोर्टसईद पहुचनेतक) सब ठीक-ठाक है, परंतु बिस्केके उपसागरमे पहुचनेपर तुम्हे अपने विचार बदलने पडेगे । इग्लैंडमें तो इतना जाडा पडता है कि मासके बिना काम चल ही नही सकता ।"

मैंने कहा—"मैंने तो सुना है कि वहां लोग बिना मांसाहार किये रह सकते है ।"

उन्होंने कहा—"यह झूठ है । मेरी जान-पहचानवालोमे कोई आदमी ऐसा नही है, जो मास न खाता हो । मै शराब पीनेके लिए तुमसे नहीं कहता; पर मै समझता हू, मास तो तुम्हे अवश्य खाना चाहिए ।"

मैंने कहा—"आपकी सलाहके लिए मै आपका आभारी हूं । पर मैंने अपनी माताजीको वचन दिया है कि मैं मांस न खाऊगा । अत मै मास नही खा सकता । यदि उसके बिना न रह सकते हो तो मै फिर हिंदुस्तानको लौट जाऊंगा, पर मांस हरगिज न खाऊगा ।"

बिस्केका उपसागर आया । वहां भी मुझे न तो मांसकी आवश्यकता मालूम हुई, न मदिराकी ही । घरपर मुझसे कहा गया था कि मांस न खानेके प्रमाण-पत्र संग्रह करते रहना। सो मैंने इन अंग्रेज मित्रसे प्रमाणपत्र

मांगा। उन्होंने खुशीसे दे दिया। बहुत समय तक मैंने उसे धनकी तरह संभालकर रखा। पीछे जाकर मुझे पता चला कि प्रमाणपत्र तो मांस खाकर भी प्राप्त किये जा सकते हैं। तब उससे मेरा दिल हट गया। मैंने कहा—यदि मेरी बातपर किसीको विश्वास न हो तो ऐसे मामलोंमें प्रमाणपत्र दिखानेसे भी मुझे क्या लाभ हो सकता है ?

किसी तरह दुःख-सुख उठा, हमारी यात्रा पूरी हुई और साउदेम्प्टन बंदरपर हमारे जहाजने लंगर डाला। मुझे याद पड़ता है, उस दिन शनिवार था। मैं जहाजपर काले कपड़े पहनता था। मित्रोंने मेरे लिए सफेद फलालैनके कोट-पतलून भी बना दिये थे। मैंने सोचा था कि विलायतमें उतरते समय मै उन्हें पहनूं। यह समझकर कि सफेद कपड़े ज्यादा अच्छे मालूम होते है, इस लिबासमे मैं जहाजसे उतरा। सितंबरके अंतिम दिन थे। ऐसे लिबासमे मैंने सिर्फ अपनेको ही वहां पाया। मेरे संदूक और उनकी तालियां ग्रिंडले कंपनीके गुमाश्ते लोग ले गये थे। जैसा और लोग करते है ऐसा ही मुझे भी करना चाहिए, यह समझकर मैंने अपनी तालियां भी उन्हें दे दी थी !

मेरे पास चार परिचय-पत्र थे—एक डाक्टर प्राणजीवन मेहताके नाम, दूसरा दलपतराम शुक्लके नाम, तीसरा प्रिंस रणजीतसिंहके नाम, और चौथा दादाभाई नौरोजीके नाम। मैंने साउदेम्प्टनसे डाक्टर मेहताको तार कर दिया था। जहाजमे किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटलमे ठहरना ठीक होगा, इसलिए मजमुदार और मैं वहां गये। मैं तो अपने सफेद कपड़ोंकी शर्ममे बुरी तरह झेंप रहा था। फिर होटलमें जाकर खबर लगी कि कल रविवार होनेके कारण सोमवारतक ग्रिंडलेके यहांसे सामान न आ पावेगा। इससे मै बड़ी दुविधामें पड़ गया।

सात-आठ बजे डाक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेम-भावसे मेरा खूब मजाक उड़ाया। मैंने अनजानमे उनकी रेशमी रोएंवाली टोपी देखनेके लिए उठाई और उसपर उलटी तरह हाथ फेरने लगा। टोपीके रोएं उठ खड़े हुए। यह डाक्टर मेहताने देखा। मुझे तुरत रोक दिया, पर कुसूर

तो हो चुका था। उनकी रोकका फल इतना ही हो पाया कि मै समझ गया— आगे फिर ऐसी हरकत न होनी चाहिए।

यहांसे मैंने यूरोपियन रस्म-रिवाजका पहला पाठ पढ़ना शुरू किया। डाक्टर मेहता हंसते जाते और वहुतेरी बाते समझाते जाते। "किसीकी चीजको यहां छूना न चाहिए। हिंदुस्तानमे परिचय होते ही जो बातें सहज पूछी जा सकती है, वे यहा न पूछनी चाहिएं। बाते जोर-जोरसे न करनी चाहिएं। हिंदुस्तानमे साहबोंके साथ बाते करते हुए 'सर' कहनेका जो रिवाज है वह यहा अनावश्यक है। 'सर' तो नौकर अपने मालिकको अथवा अपने अफसरको कहता है। फिर उन्होंने यह भी कहा कि "होटलमे तो खर्चा ज्यादा पड़ेगा, इसलिए किसी कुटुबके साथ रहना ठीक होगा।" इस सबधमे विचार सोमवारतक मुल्तवी रहा। और भी कितनी ही हिदायतें देकर डाक्टर मेहता विदा हुए।

होटलमे तो हम दोनोंको ऐसा मालूम हुआ मानो कहींसे आ घुसे हों। खर्च भी बहुत पड़ता था। माल्टासे एक सिंधी यात्री सवार हुए थे। मजमुदारकी उनके साथ अच्छी जान-पहचान हो गई थी। वह सिंधी यात्री लंदनके जानकार थे। उन्होने हमारे लिए दो कमरे ले लेनेका जिम्मा लिया। हम दोनों रजामद हुए और सोमवारको ज्योंही सामान मिला, होटलका बिल चुकाकर उन कमरोंमे दाखिल हुए। मुझे याद है कि होटलका खर्चा लगभग तीन पौंड मेरे हिस्सेमे आया था। मै तो भौचक रह गया। तीन पौड देकर भी भूखा ही रहा। वहाकी कोई चीज अच्छी नही लगी। एक चीज उठाई, वह न भाई। तब दूसरी ली। पर दाम तो दोनोंका देना पड़ता था। मै अभीतक प्राय: बंबईसे लाये खाद्य-पदार्थोंपर ही गुजारा करता रहा।

उस कमरेमे तो मैं बड़ा दुखी हुआ। देश खूब याद आने लगा। माताका प्रेम साक्षात् सामने दिखाई पडता। रात होते ही रुलाई शुरू होती। घरकी तरह-तरहकी बाते याद आती। उस तूफानमें नीद भला क्यों आने लगी? फिर उस दु:खकी बात किसीसे कह भी नही सकता

था। कहनेसे लाभ ही क्या था ? मैं खुद न जानता था कि मुझे किस इलाजसे तसल्ली मिलेगी। लोग निराले, रहन-सहन निराली, मकान भी निराले और घरोंमें रहनेका तरीका भी निराला। फिर यह भी अच्छी तरह नहीं मालूम कि किस बातके बोल देनेसे अथवा क्या करनेसे यहांके शिष्टाचारका अथवा नियमका भंग होता है। इसके अलावा खान-पानका परहेज अलग; और जिन चीजोंको मैं खा सकता था, वे रूखी-सूखी मालूम होती थीं। इस कारण मेरी हालत सांप-छछूंदर जैसी हो गई। विलायतमें अच्छा नहीं लगता था और देशको भी वापस नहीं लौट सकता था। फिर विलायत आ जानेके बाद तो तीन साल पूरा करके ही लौटनेका निश्चय था।

: १४ :

मेरी पसंदगी

डाक्टर मेहता सोमवारको विक्टोरिया होटलमें मुझसे मिलने गये। वहां उन्हें हमारे नये मकानका पता लगा। वह वहां आये। मेरी बेवकूफीसे जहाजमें मुझे दाद हो गई थी। जहाजमें खारे पानीसे नहाना पड़ता। उसमें साबुन घुलता नहीं। इधर मैं साबुनसे नहानेमें सभ्यता समझता था। इसलिए शरीर साफ होनेके बदले उलटा चिकटा हो गया और मुझे दाद पैदा हो गई। डाक्टरने तेजाब-सा एसिटिक-एसिड दिया, जिसने मुझे रुलाकर छोड़ा। डाक्टर मेहताने हमारे कमरे आदिको देखकर सिर हिलाया व कहा—"यह मकान कामका नहीं। इस देशमें आकर महज पुस्तकें पढ़नेकी अपेक्षा यहांका अनुभव प्राप्त करना ज्यादा जरूरी है। इसके लिए किसी कुटुंबमें रहनेकी जरूरत है। पर फिलहाल कुछ बातें सीखनेके लिए .... के यहां रहना ठीक होगा। मैं तुमको उनके यहां ले चलूंगा।"

मैंने सधन्यवाद उनकी बात मान ली। उन मित्रके यहां गया। उन्होंने मेरी खातिर-तवाजोमे किसी बातकी कसर न रखी। मुझे अपने सगे भाईकी तरह रखा, अंग्रेजी रस्म-रिवाज सिखाये। अग्रेजीमे कुछ वातचीत करनेकी टेव भी उन्होंने मुझे डाली।

पर मेरे भोजनका सवाल बड़ा विकट हो पडा। बिना नमक, मिर्च, मसालेका साग भाता नही था। मालकिन बेचारी मेरे लिए पकाती भी क्या? सुबह ओट-मीलकी एक किस्मकी लपसी बनती, उससे कुछ पेट भर जाता, पर दोपहरको और शामको हमेशा भूखा रहता। यह मित्र मासाहार करनेके लिए रोज समझाते। पर मै अपनी प्रतिज्ञाका नाम लेकर चुप हो रहता। उनकी दलीलोका मुकाबला न कर सकता था। दोपहरको सिर्फ रोटी और चौलाईके साग तथा मुरब्बेपर गुजर करता। यही खाना शामको भी। मै देखता था कि रोटीके तो दो ही तीन टुकड़े ले सकते हैं, अतः ज्यादा मागते हुए झेप लगती। फिर मेरा आहार भी काफी था। जठराग्नि तेज थी, और काफी आहार भी चाहती थी। दोपहरको या शामको दूध बिलकुल नही मिलता था। मेरी यह हालत देखकर वह मित्र एक दिन झल्लाये और बोले—"देखो, यदि तुम मेरे सगे भाई होते तो मै तुमको जरूर देश लौटा देता। निरक्षर माको यहांकी हालत जाने बगैर दिये वचनका क्या मूल्य? इसे कौन प्रतिज्ञा कहेगा? मै तुमसे कहता हूं कि कानूनके अनुसार भी इसे प्रतिज्ञा नही कह सकते। ऐसी प्रतिज्ञा लिये बैठे रहना अध-विश्वासके सिवा कुछ नही। और ऐसे अध-विश्वासोंका शिकार बने रहकर तुम इस देशसे कोई बात अपने देशको नही ले जा सकते। तुम तो कहते हो कि मैंने मास खाया है। तुम्हें तो वह भाया भी था। अब जहा खानेकी कोई जरूरत न थी वहां तो खा लिया, और जहां खास तौरपर उसकी जरूरत है वहा उसका त्याग! कितने ताज्जुबकी बात है!"

पर मै टससे मस न हुआ।

ऐसी दलीले रोज हुआ करती। छत्तीस रोगोकी एक दवा 'नन्ना' ही

मेरे पास थी। वह मित्र ज्यों-ज्यों मुझे समझाते त्यों-त्यों मेरी दृढ़ता बढ़ती जाती। रोज मैं ईश्वरसे अपनी रक्षाकी याचना करता और रोज वह पूरी होती। मैं यह तो नहीं जानता था कि ईश्वर क्या चीज है, पर उस रंभाकी दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्रने मेरे सामने बेंथमकी पुस्तक पढ़ना शुरू की। उपयोगितावादका विषय पढ़ा। मैं चौंका। भाषा क्लिष्ट। मैं थोड़ा-बहुत समझता। तब उन्होंने उसका विवेचन करके समझाया। मैंने उत्तर दिया, "मुझे इससे माफी दीजिए। मैं इतनी सूक्ष्म बातें नहीं समझ सकता। मैं मानता हूं कि मांस खाना चाहिए, परंतु प्रतिज्ञाके बंधनको मैं नहीं तोड़ सकता। इसके संबंधमें मैं वाद-विवाद भी नहीं कर सकता। मैं जानता हूं कि बहसमें मैं आपसे नहीं जीत सकता। अतः मुझे मूर्ख समझकर, अथवा जिद्दी ही समझकर, इस बातमें मेरा नाम छोड़ दीजिए। आपके प्रेमको मैं पहचानता हूं। आपका उद्देश्य भी समझता हूं। आपको अपना परम हितेच्छु मानता हूं। मैं यह भी देखता हूं कि आप इसीलिए आग्रह करते हैं कि आपको मेरी हालतपर दुःख होता है। पर मैं लाचार हूं। प्रतिज्ञा किसी तरह नहीं टूट सकती।"

मित्र बेचारे देखते रह गये। उन्होंने पुस्तक बंद कर दी। "बस, अब मैं तुमसे इस बातपर बहस न करूंगा" कहकर चुप हो रहे। मैं खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेरी तरफसे उनकी चिंता दूर न हुई। वह सिगरेट पीते, शराब पीते। पर इसमेंसे एक भी बातके लिए मुझे कभी नहीं ललचाया। उलटा मना करते। पर उनकी सारी चिंता तो यह थी कि मांसाहारके बिना मैं कमजोर हो जाऊंगा और इंग्लैंडमें आजादीसे न रह सकूंगा।

इस तरह एक मासतक मैंने नौसिखियेके रूपमें उम्मीदवारी की। उन मित्रका स्थान रिचमंडमें था, इससे लंदन सप्ताहमें एक-दो बार ही जाया जाता। अब डाक्टर मेहता तथा श्री दलपतराम शुक्लने यह विचार किया कि मुझे किसी कुटुंबमें रखना चाहिए। श्री शुक्लने वेस्ट केंसिंगटनमें

एक एंग्लो-इडियनका घर खोजा, और वहा मेरा डेरा लगा। मालकिन विधवा स्त्री थी। उससे मैंने अपने मास-त्यागकी बात कही। बुढ़ियाने मेरे लिए निरामिष भोजनका प्रबंध करना स्वीकार किया। मं वहां रहा, पर वहा भी भूखे ही दिन बीतते। घरसे मैंने मिठाइयां आदि मंगाई तो थी, पर वे अभी पहुंच नही पाई थी। बुढ़ियाके यहांका खाना सब बे-स्वाद लगता। बुढिया बार-बार पूछती, पर बेचारी करती क्या, फिर मै अभीतक शरमाता था। बुढ़ियाके दो लड़कियां थी। वे आग्रह करके कुछ रोटी ज्यादा परोस देती, पर वे बेचारी क्या जानती थी कि मेरा पेट तो तभी भर सकता था, जब उनकी सारी रोटियां साफ कर जाता।

लेकिन अब मेरे पख फूटने लग गये थे। अभी पढ़ाई तो शुरू हुई भी नही। योंही अखबार वगैरा पढने लगा था। वह हुआ शुक्लजीके बदौलत। हिंदुस्तानमे मैंने कभी अखबार नही पढ़ा था। परंतु निरतर पढ़नेके अभ्याससे उन्हे पढ़नेका शौक लग गया। 'डलीन्यूज', 'डेली टर्लीग्राफ' और 'पेलमेल गजट' इतने अखबारोंपर नजर डाल लिया करता था। परंतु शुरू-शुरूमें इसमे एक घटेसे ज्यादा न लगता था।

मैंने घूमना शुरू कर दिया। मुझे निरामिष अर्थात् अन्नके भोजनवाले भोजन-गृहकी तलाश थो। मकान-मालकिनने भी कहा था कि लदन शहरमे ऐसे गृह है अवश्य। मै १०-१२ मील रोज घूमता। किसी मामूली भोजनालयमे जाकर रोटी तो पेट-भर खा लेता, पर दिल न भरता। इस तरह भटकते हुए एक दिन मै फेरिंग्टन स्ट्रीट पहुचा, और 'वेजिटेरियन रेस्टरा' (निरामिष भोजनालय) नाम पढ़ा। बच्चेको मनचाही चीज मिलनेसे जो आनंद होता है, वही मुझे हुआ। हर्षोन्मत्त होकर मे अदर पहुचा ही नही कि दरवाजेके पास, काचकी खिड़कीमे, विक्रयार्थ पुस्तकें देखी। उनमे मैंने सॉल्टकी 'अन्नाहारकी हिमायत' नामक पुस्तक देखी। एक शिलिंग देकर खरीदी, और फिर भोजन करने बैठा। विलायतमें आनेके बाद यही पहला दिन था, जब मैंने पेट-भर खाना खाया। उस दिन ईश्वरने मेरी भूख बुझाई।

सॉल्टकी पुस्तक पढ़ी। मेरे दिलपर उसकी अच्छी छाप पड़ी। यह पुस्तक पढ़नेके दिनसे मैं अपनी इच्छासे, अर्थात् सोच-समझकर, अन्नाहारका कायल हुआ। माताजीके सामने की हुई प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनंददायक हो गई। अबतक जो मैं यह मान रहा था कि सब लोग मांसाहारी हो जायं तो अच्छा और पहले केवल सत्यकी रक्षाके लिए और पीछेसे प्रतिज्ञा-पालनके लिए मांसाहारसे परहेज करता रहा, और भविष्यमें किसी दिन आजादीसे खुलेआम मांस खाकर दूसरोंको मांस-भोजियोंकी टोलीमें शामिल करनेका हौसला रखता था, सो अबसे. उसके बजाय, खुद अन्नाहारी रहकर औरोंको भी ऐसा बनानेकी धुन मेरे सिरपर सवार हुई।

: १५ :

'सभ्य' वेशमें

अन्नाहारपर मेरी श्रद्धा दिन-दिन बढ़ती गई। सॉल्टकी पुस्तकने आहार-विषयपर अधिक पुस्तकें पढ़नेकी उत्सुकता तीव्र कर दी। ऐसी जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं उतनी खरीदीं और पढ़ीं। हावर्ड विलियम्स-की 'आहार-नीति' नामक पुस्तकमें भिन्न-भिन्न युगके ज्ञानियों, अवतारों, पैगंबरोंके आहारका और उससे संबंध रखनेवाले उनके विचारोंका वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसामसीह इत्यादिको उसने महज अन्नाहारी साबित करनेकी कोशिश की है। डाक्टर मिसेज एना किंग्सफर्डकी 'उत्तम आहारकी रीति' नामक पुस्तक भी चित्ताकर्षक थी। फिर आरोग्य-संबंधी डा० एलिन्सनके लेख भी ठीक मददगार साबित हुए। उनमें इस पद्धतिका समर्थन किया गया था कि दवा देनेके बजाय केवल भोजनमें फेरफार करनेसे रोगी कैसे अच्छे हो जाते हैं। डाक्टर एलिन्सन खुद

अन्नाहारी थे और रोगियोंको केवल अन्नाहार ही बताते। इन तमाम पुस्तकोके पठनका यह परिणाम हुआ कि मेरी जिदगीमे भोजनके प्रयोगोने महत्त्वका स्थान प्राप्त कर लिया। शुरूमें, इन प्रयोगोमे, आरोग्यकी दृष्टिकी प्रधानता थी। पीछे चलकर धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि हो गई।

अबतक मेरे उन मित्रकी चिंता मेरी तरफसे दूर न हुई थी। प्रेमके वशवर्ती होकर वह यह मान बैठे थे कि यदि मै मासाहार न करूंगा तो कमजोर हो जाऊगा, यही नही बल्कि बुद्धू बना रह जाऊंगा, क्योंकि अंग्रेज-समाजमे मै मिल-जुल न सकूगा। उन्हे मेरे अन्नाहार-संबंधी पुस्तकोके पढनेकी खबर थी। उन्हे यह भय हुआ कि ऐसी पुस्तकोंको पढनेसे मेरा दिमाग खराब हो जायगा, प्रयोगोंमे मेरी जिदगी योही बरबाद हो जायगी, जो मुझे करना है वह एक तरफ रह जायगा और मै सनकी बनकर बैठ जाऊंगा। इस कारण उन्होंने मुझे सुधारनेका आखीरी प्रयत्न किया। मुझे एक नाटकमे चलनेको बुलाया। वहा जानेके पहले उनके साथ हॉबर्न भोजनालयमे भोजन करना था। वह भोजनालय क्या, मेरे लिए एक खासा महल था। विक्टोरिया होटलको छोड़नेके बाद ऐसे भोजनालयमे जानेका यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटलका अनुभव तो योही था, क्योकि उस समय तो मै कर्त्तव्य-मूढ़ था। अस्तु, सैकड़ों लोगोंके बीच हम दो मित्रोंने एक मेजपर आसन जमाया। मित्रने पहला खाना मंगाया। वह 'सूप' या शोरवा होता है। मै दुविधामे पड़ा। मित्रसे क्या पूछता ? मैंने परोसनेवालेको नजदीक बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर बोले—

'क्या मामला है ?"

मैंने धीमेसे सकोचके साथ कहा—

"मै जानना चाहता हूं कि इसमे मास है या नही ?"

"ऐसा जंगलीपन इस भोजनालयमे नही चल सकता। यदि तुमको अब भी यह चख-चख करना हो तो बाहर जाकर किसी ऐरे-गैरे भोजनालयमे खा लो और वही बाहर मेरी राह देखो।"

मुझे उस प्रस्तावसे बड़ी खुशी हुई; और मैं तुरंत दूसरे भोजनालयकी खोजमें चला। पास ही एक अन्नाहारवाला भोजनालय था तो, पर वह बंद हो गया था। तब क्या करना चाहिए? कुछ न सूझ पड़ा। अंतको भूखा ही रहा। हम लोग नाटक देखने गये। पर मित्रने उस घटनाके बारेमें एक शब्दतक न कहा। मुझे तो कुछ कहना ही क्या था?

परंतु हमारे दरमियान यह आखीरी मित्र-युद्ध था। इससे हमारा संबंध न तो टूटा, न उसमें कटुता ही आई। मैं उनके तमाम प्रयत्नोंके मूलमें उनके प्रेमको देख रहा था, इससे विचार और आचारकी भिन्नता रहते हुए भी मेरा आदर उनके प्रति बढ़ा, घटा रत्तीभर नहीं।

पर अब मेरे मनमें यह आया कि मुझे उनकी भीति दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं अपनेको जंगली न कहलाने दूंगा, सभ्योंके लक्षण प्राप्त करूंगा और दूसरे उपायोंसे समाजमें सम्मिलित होनेके योग्य बनकर अपनी अन्नाहारकी विचित्रताको ढक लूंगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखनेका रास्ता अख्तियार तो किया, पर वह था मेरी पहुंचके परे और बहुत सकड़ा। अस्तु।

मेरे कपड़े थे तो विलायती; परंतु बंबईकी काटके थे। अतएव वे अच्छे अंग्रेजी समाजमें न फबेंगे, इस विचारसे 'आर्मी और नेवी स्टोर'में दूसरे कपड़े बनवाये। उन्नीस शिलिंगकी (यह दाम उस जमानेमें बहुत था) 'चिम्नी' टोपी लाया। इससे भी संतोष न हुआ। बांड स्ट्रीटमें शौकीन लोगोंके कपड़े सिये जाते थे। वहां शामके कपड़े, दस पौंडपर बत्ती रखकर, बनवाये। अपने भोले और दरियादिल बड़े भाईसे खास तौरपर सोनेकी चेन बनवाकर मंगवाई, जो दोनों जेबोंमें लटकाई जा सकती थी। बंधी-बंधाई तैयार टाई पहननेका रिवाज न था। इसलिए टाई बांधनेकी कला सीखी। देशमें तो आइना सिर्फ बाल बनवानेके दिन देखते हैं; पर यहां तो बड़े आइनेके सामने खड़े रहकर टाई ठीक-ठीक बांधनेमें और बालोंमें पट्टियां पाड़ने और ठीक-ठीक मांग निकालनेमें रोज दसेक मिनट बरबाद होते। फिर बाल मुलायम न थे। उन्हें ठीक-ठीक संवारे

रखनेके लिए ब्रुश (यानी झाड़ू ही न ?)के साथ रोज लड़ाई होती। और टोपी देते और उतारते तो हाथ मानो माग-सवारनेके लिए सिरपर चढ़े रहते और बीच-बीचमे जब कभी समाजमे बैठे हों तब मांगपर हाथ फेरकर बालोंको संवारते रहनेकी एक और सभ्य क्रिया होती रहती थी, सो अलग।

परतु इतनी तड़क-भड़क काफी न थी। अकेले सभ्य लिबास पहन लेनेसे थोड़े ही कोई सभ्य हो जाता है? इसलिए सभ्यताके और भी कितने ही ऊपरी लक्षण जान लिये थे। अब उनके अनुसार करना बाकी था। सभ्य पुरुषको नाचना आना चाहिए; फिर फ्रेंच भाषा ठीक-ठीक जानना चाहिए। क्योंकि फ्रेंच एक तो इंग्लैडके पड़ोसी फ्रांसकी भाषा थी, और दूसरे सारे यूरोपकी राष्ट्र-भाषा भी थी। मुझे यूरोप-भ्रमण करनेकी इच्छा थी। फिर सभ्य पुरुषको लच्छेदार व्याख्यान देनेकी कलामे भी निपुण होना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेनेका निश्चय किया। नाचनेके एक विद्यालयमे भरती हुआ। एक सत्रकी फीस कोई तीनेक पौड दी होगी। कोई तीन सप्ताहमे पांच-छ: पाठ पढे होंगे। पर ठीक-ठीक तालपर पाव नही पड़ता था। पियानो तो बजता था, पर यह न जान पड़ता था कि यह क्या कह रहा है, 'एक, दो, तीन'का क्रम चलता, पर इनके बीचका अतर तो वह बाजा ही दिखाता था, सो कुछ समझ न पड़ता। तो अब? अब तो बाबाजीकी लगोटीवाला किस्सा हुआ। लंगोटीको चूहोसे बचानेके लिए बिल्ली, और बिल्लीके लिए बकरी—इस तरह बावाजीका परिवार बढा। सोचा, वायोलिन बजाना सीख लू तो सुर और तालका ज्ञान हो जावेगा। तीन पौड वायोलिन खरीदनेमे बिगड़े और उसे सीखनेके लिए भी कुछ दक्षिणा दी। व्याख्यान-कला सीखनेके लिए एक और शिक्षकका घर खोजा। उसे भी एक गिन्नी भेट की। उसकी प्रेरणासे 'स्टैंडर्ड एलोक्युशनिस्ट' खरीदा। पिटके भाषणसे श्रीगणेश हुआ।

पर, इन बेल साहबने मेरे कानमें 'बेल' (घंटा) बजाया। मैं जगा, सचेत हुआ।

मैंने कहा, "मुझे सारी जिंदगी तो इंग्लैंडमें बिताना है नहीं, लच्छेदार व्याख्यान देना सीखकर भी क्या करूंगा ? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूंगा ? वायोलिन तो देशमें भी सीख सकता हूं। फिर मैं तो ठहरा विद्यार्थी। मुझे तो विद्या-धन बढ़ाना चाहिए; मुझे अपने पेशेके लिए आवश्यक तैयारी करनी चाहिए; अपने सद्व्यवहारके द्वारा यदि मैं सभ्य समझा जाऊं तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।"

इस विचारकी धुनमें पूर्वोक्त आशयका पत्र मैंने व्याख्यान-शिक्षकको भेज दिया। उससे मैंने दो या तीन पाठ पढ़े थे। नाच-शिक्षिकाको भी ऐसा ही पत्र लिख दिया। वायोलिन-शिक्षिकाके यहां वायोलिन लेकर पहुंचा और उसे कह आया कि जो दाम मिले लेकर बेच दो। उससे कुछ मित्रता-सी हो गई थी, इसलिए उससे मैंने अपनी बेवकूफीका जिक्र भी कर दिया। नाच इत्यादिके जंजालसे छूट जानेकी बात उसे भी पसंद हुई। खैर।

सभ्य बननेकी मेरी यह सनक तो कोई तीन महीने चली होगी किंतु कपड़ोंकी तड़क-भड़क बरसोंतक चलती रही। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया था।

: १६ :

परिवर्त्तन

कोई यह न समझे कि नाच आदिके मेरे प्रयोग मेरी उच्छृंखलताके युगको सूचित करते हैं। पाठकोंने देखा ही होगा कि उसमें कुछ विचारको अंश था। इस मूर्च्छाके समयमें भी कुछ अंशतक मैं सावधान था। एक-एक पाईका हिसाब रखता। खर्चका अंदाजा था। यह निश्चय कर लिया था कि १५ पौंड प्रति माससे अधिक खर्च न हो। बस (मोटर) किराया

और डाकखर्च भी हमेशा लिखता और सोनेके पहले हमेशा हिसाबका मेल मिला लेता। यह टेव अनतक कायम रही; और मैंने देखा कि उसके बदौलत सार्वजनिक कार्योंमे मेरे हाथसे जो लाखो रुपये खर्च हुए उनमे मैं किफायतसे काम ले सकता हू, और जितनी हलचले मेरी देख-रेखमे चली है उनमे मुझे कर्ज नही करना पडा। उलटा हरेकमें कुछ-न-कुछ बचत ही रही है। यदि हरेक नवयुवक अपने थोड़े रुपयोंका भी हिसाब चिंताके साथ रखेगा, तो उसका लाभ उसे अवश्य मिलेगा, जैसा कि मेरी इस आदतके कारण आगे चलकर मूझे और समाज दोनोंको मिला।

अपनी रहन-सहनपर मेरी कडी नजर थी। इसलिए मैं देख सकता था कि मुझे कितना खर्च करना चाहिए। अब मैंने खर्च आधा कर डालनेका विचार किया। हिसाबको गौरसे देखा तो मालूम हुआ कि गाड़ी-भाड़ेका खर्च काफी बैठता था। फिर एक कुटुंबके साथ रहनेके कारण कुछ-न-कुछ खर्च प्रति सप्ताह लग ही जाता। कुटुंबके लोगोंको एक-न-एक दिन भोजनके लिए बाहर ले जानेके शिष्टाचारका पालन करना जरूरी था। फिर उनके साथ कई बार दावतोमे जाना पड़ता और उसमें गाड़ी-भाडा लगता ही। मालकिनकी लड़की यदि साथ हो, तो उसको अपना खर्च न देने देकर खुद ही देना उचित था। और दावतमे बाहर जानेपर घर खाना न होता; उसके भी पैसे देने पड़ते और बाहर भी खर्च करना पड़ता। मैंने देखा कि यह खर्च बचाया जा सकता है; और यह भी ध्यानमे आया कि लोक-लाजसे जो कितना ही खर्च करना पड़ता है वह भी बच सकता है।

अब कुटुंबके साथ रहना छोड़कर अलग कमरा लेकर रहनेका निश्चय किया, और यह भी तय किया कि कामके अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करनेके लिए अलग-अलग मुहल्लोमें घर लेने चाहिए। घर ऐसी जगह पसंद किया कि जहासे कामके स्थानपर पैदल जा सके और गाड़ी-भाड़ा बच जाय। इससे पहले जानेके लिए एक तो गाड़ी-भाड़ा खरचना पडता और, दूसरे, घूमने जानेके लिए अलग वक्त निकालना पड़ता। अब ऐसी तजवीज की गई कि जिससे कामपर जानेके साथ ही घूमना भी हो

जाया करता। आठ-दस मील तो मैं सहज घूम-फिर डालता। प्रधानत-इसी एक आदतके कारण मैं विलायतमें शायद ही बीमार पड़ा होऊं। शरीर ठीक-ठीक सुगठित हुआ। कुटुंबके साथ रहना छोड़कर दो कमरे किरायेपर लिये, एक सोनेके लिए और एक बैठनेके लिए। इस परिवर्त्तन-को दूसरा युग कह सकते हैं। तीसरा परिवर्त्तन अभी आनेवाला था।

इस तरह आधा खर्च बचा। पर समय ? मैं जानता था कि बैरिस्टरी परीक्षाके लिए बहुत पढनेकी जरूरत नहीं है। इसलिए मैं बेफिकर था। मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे खला करती थी। लेली साहबके शब्द बी० ए० होकर मेरे पास आना, मुझे चुभा करते थे। इसलिए मैंने सोचा-बैरिस्टर होनेके अतिरिक्त मुझे कुछ और अध्ययन भी करना चाहिए। आक्सफर्ड, केंब्रिजमें पता लगाया। कितने ही मित्रोंसे मिला। देखा कि वहां जानेसे खर्च बहुत पड़ेगा और पाठ्य-क्रम भी लंबा है। मैं तीन वर्षसे ज्यादा वहां रह नहीं सकता था। किसी मित्रने कहा, "यदि तुम कोई कठिन परीक्षा ही देना चाहते हो तो लंदनकी प्रवेश-परीक्षा पास कर लो। उसमें परिश्रम काफी करना पड़ेगा और सामान्य ज्ञान भी बढ जायगा। साथ ही खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा।" यह बात मुझे पसंद हुई। पर परीक्षाके विषय देखकर मेरे कान खड़े हुए। लैटिन और एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। अब लैटिनकी तैयारी कैसे हो ? पर मित्रने सुझाया "वकीलको लैटिनका बड़ा काम पड़ता है। लैटिन जाननेवालेको कानूनकी पुस्तकें समझने मे सहूलियत होती है। फिर रोमन लॉकी परीक्षामें एक प्रश्न-पत्र तो केवल लैटिन भाषाका ही होता है, और लैटिन जान लेनेसे अंग्रेजी भाषापर ज्यादा अधिकार हो जाता है।" इन बातोंका असर मेरे दिलपर हुआ। चाहे मुश्किल भले ही हो, पर लैटिन जरूर सीखना चाहिए। फ्रेंच जो शुरू की थी उसे भी पूरा करना चाहिए। अतः दूसरी भाषा फ्रेंच लेनेका निश्चय किया। एक खानगी मैट्रिक्युलेशन क्लास खुला था, उसमें भरती हुआ। परीक्षा हर छठे महीने होती। मुश्किलसे पांच महीनेका समय मिला था। यह काम मेरे बूतेके बाहर था,

किंतु परिणाम यह हुआ कि सभ्य बननेकी धुनमें मै अत्यंत उद्यमी विद्यार्थी बन गया। टाइम-टेबल बनाया। एक-एक मिनट बचाया। परंतु मेरी बुद्धि और स्मरण-शक्ति ऐसी न थी कि दूसरे विषयोंके उपरांत लैटिन और फ्रेंचको भी सम्हाल सकता। परीक्षा दी, पर लैटिनमें फेल हुआ, इससे दु:ख तो हुआ, पर हिम्मत न हारा। इधर लैटिनका स्वाद लग गया था। सोचा कि फ्रेंच ज्यादा अच्छी हो जायगी और विज्ञानमें नया विषय ले लूगा। रसायनशास्त्र, जिसमें मै अब देखता हू कि खूब मन लगना चाहिए, प्रयोगोंके अभावमे, मुझे अच्छा ही न लगा। देशमे यह विषय मेरे पाठ्यक्रममे रहा ही था। इसलिए लंदन-मैट्रिकके लिए भी पहली बार इसीको पसद किया था। इस बार 'प्रकाश और उष्णता' (Light and Heat) को लिया। यह विषय आसान समझा जाता था और मुझे भी आसान ही मालूम हुआ।

फिर परीक्षा देनेकी तैयारीके साथ ही रहन-सहनमें और भी सादगी दाखिल करनेकी कोशिशे की। मुझे लगा कि अभी मेरे जीवनमे इतनी सादगी नही आई है, जो मेरे खानदानकी गरीबीको शोभा दे। भाई साहबकी तगदस्ती और उदारताका खयाल आतेही मुझे बड़ा दु:ख होता। जो १५पौड और ८पौंड प्रति मास खरचते थे उन्हें तो छात्रवृत्ति मिलती थी। मुझसे अधिक सादगीसे रहनेवालोंको भी मै देखता था। ऐसे गरीब विद्यार्थी काफी तादादमें मेरे संपर्कमें आते थे। एक विद्यार्थी लंदनके गरीब मुहल्लेमे प्रति सप्ताह दो शिलिंग देकर एक कोठरीमे रहता था, और लोकार्टकी सस्ती कोकोकी दुकानमे दो पेनीका कोको और रोटी खाकर गुजारा करता था। उसकी प्रतिस्पर्द्धा करनेकी तो मेरी हिम्मत न हुई; पर इतना जरूर समझा कि मैं दोकी जगह एक ही कमरेसे काम चला सकता हूं और आधी रसोई हाथसे भी पका सकता हूं। ऐसा करनेपर ४ या ५ पौड मासिकपर रह सकता था। सादी रहन-सहन संबंधी पुस्तकें भी पढी थी। दो कमरे छोड़कर ८ शिलिंग प्रति सप्ताहका एक कमरा किरायेपर लिया। एक स्टोव खरीदा, और सुबह हाथसे पकाने लगा।

२० मिनटसे अधिक पकानेमें नही लगता था। ओट-मीलकी लपसी और कोकोके लिए पानी उबालनेमें कितना समय जा सकता था ? दोपहरको बाहर कही खा लिया करता और शामको फिर कोको तैयार करके रोटीके साथ खा लिया करता। इस तरह मै रोज एकसे सवा शिलिगमें भोजन करने लगा। मेरा यह समय अधिक-से-अधिक पढ़ाईका था। जीवन सादा हो जानेसे समय ज्यादा बचने लगा। दुवारा परीक्षा दी और उत्तीर्ण हुआ।

पाठक यह न समझें कि सादगीसे जीवन नीरस होगया हो। उलटा इन परिवर्त्तनोंसे मेरी आंतरिक और बाह्य स्थितिमे एकता पैदा हुई। कौटुंबिक स्थितिके साथ मेरी रहन-सहनका मेल मिला। जीवन अधिक सारमय बना। मेरे आत्मानंदका पार न रहा।

: १७ :

भोजनके प्रयोग

जैसे-जैसे मै जीवनके विषयमें गहरा विचार करता गया तैसे-तैसे बाहरी और भीतरी आचारमें परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता मालूम होती गई। जिस गतिसे रहन-सहनमें अथवा खर्च-वर्चमें परिवर्त्तन आरंभ हुआ, उसी गतिसे अथवा उससे भी अधिक वेगसे भोजनमें परिवर्त्तन आरंभ हुआ। अन्नाहार-विषयकी अंग्रेजी पुस्तकोंमें मैंने देखा कि लेखकोंने बड़ी छान-बीनके साथ विचार किया है। अन्नाहारपर उन्होंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यककी दृष्टिसे विचार किया था। नैतिक दृष्टिसे उन्होने यह दिखाया कि मनुष्यको जो सत्ता पशु-पक्षीपर प्राप्त हुई है वह उनको मार खानेके लिए नहीं; बल्कि उनकी रक्षाके लिए है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरेका उपयोग करता है परंतु एक-दूसरेको

खाता नही, उसी प्रकार पशु-पक्षी भी ऐसे उपयोगके लिए है, खाडालनेके लिए नही। फिर उन्होंने यह भी दिखाया कि खाना भी भोगके लिए नही, वल्कि जीनेके लिए ही है। इसपरसे कुछ लोगोंने भोजनमें मांस ही नही, अंडे और दूधतकको निषिद्ध वताया और खुद भी परहेज किया। विज्ञानकी तथा मनुष्यकी शरीर-रचनाकी दृष्टिसे कुछ लोगोंने यह अनुमान निकाला कि मनुष्यको खाना पकानेकी विलकुल आवश्यकता नही। उसकी सृष्टि तो सिर्फ डाल-पके फलोंको ही खानेके लिए हुई है। दूध पिये भी तो वह सिर्फ माताका ही। दात निकलनेके वाद उसे ऐसाही खाना खाना चाहिये, जो चवाया जा सके। वैद्यककी दृष्टिसे उन्होने मिर्च-मसाले-को त्याज्य ठहराया और व्यावहारिक तथा आर्थिक दृष्टिसे वताया कि सस्ते-से-सस्ता भोजन अन्न ही है। इन चारों दृष्टि-विंदुओंका असर मुझपर हुआ और अन्नाहारवाले भोजनालयोंमे चारों दृष्टि-विंदु रखनेवाले लोगोंसे मेल-मुलाकात वढाने लगा। विलायतमे ऐसे विचार रखनेवालोंकी एक संस्था थी। उसकी ओरसे एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। मै उसका ग्राहक वना और सस्थाका भी सभासद हुआ। थोड़े ही समयमें मै उसकी कमेटीमें ले लिया गया। यहा मेरा उन लोगोंसे परिचय हुआ, जो अन्नाहारियोके स्तंभ माने जाते है। अव मै अपने भोजन-संवंधी प्रयोगोंमे निमग्न होता गया।

घरसे जो मिठाई, मसाले आदि मंगाये थे उन्हें मना कर दिया, और अव मन दूसरी ही तरफ दौड़ने लगा। इससे मिर्च मसालेका शौक मंद पड़ता गया और जो साग रिचमंडमे मसाले बिना फीका मालूम होता था वह अव केवल उवाला हुआ होनेपर भी स्वादिष्ट लगने लगा। ऐसे अनेक अनुभवोंसे मैंने जाना कि स्वादका सच्चा स्थान जीभ नहीं, बल्कि मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उस समय एक ऐसा दल भी था, जो चाय-काफीको हानिकारक मानता और कोकोका समर्थन करता। केवल शरीर-व्यापारके लिए जो चीज जरूरी है उसीको खाना चाहिए,

यह मैं समझ चुका था। इसलिए चाय-काफी मुख्यत: छोड़ दी और कोकोको उनका स्थान दिया।

भोजनालयमे दो विभाग थे। एक में जितनी चीज खाते उतने ही दाम देने पड़ते। इसमे एक वारमें एक-दो शिलिंग भी खर्च हो जाते। इसमे अच्छी स्थितिके लोग आते। दूसरे विभागमें छः पेनीमें तीन चीजें और डबल रोटीका एक टुकड़ा मिलता। जब मैंने खूब किफायतशारी इख्तियार की तब ज्यादातर मै छः पेनीवाले विभागमें भोजन करता।

इन प्रयोगोंमे उप-प्रयोग तो बहुतेरे हो गये। कभी स्टार्चवाली चीजे छोड़ देता। कभी सिर्फ रोटी और फलपर ही रहता। कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेता।

यह अखीरी प्रयोग लिखने लायक है। यह पंद्रह दिन भी न चला। जो बिना स्टार्चकी चीजे खानेका समर्थन करते थे, उन्होंने अंडोंकी तारीफके खूब पुल बांधे थे और यह सावित किया था कि अंडे मांस नहीं हैं। हां, इतनी बात तो थी कि अंडे खानेसे किसी जीवित प्राणीको कष्ट नहीं होता था। सो इस दलीलके चक्करमें आकर अपनी प्रतिज्ञाके रहते हुए भी मैंने अंडे खाये। पर मेरी यह मूर्च्छा थोड़ी ही देर ठहरी। प्रतिज्ञाका नया अर्थ करनेका मुझे अधिकार न था। अर्थ तो वही ठीक है, जो प्रतिज्ञा दिलानेवाला करे। मैं जानता था कि जिस समय मांने मांस न खानेकी प्रतिज्ञा दिलाई थी, उस समय उसे यह खयाल नही हो सकता था कि अंडा मांससे अलग समझा जा सकेगा। इसलिए ज्योंही प्रतिज्ञाका यह रहस्य मेरे ध्यानमे आया, मैंने अंडे छोड़ दिये और यह प्रयोग वंद कर दिया।

यह रहस्य सूक्ष्म और ध्यानमें रखने योग्य है। विलायतमें मैंने मांसकी तीन व्याख्याये पढ़ी थी। एकमें मांसका अर्थ था पशु-पक्षीका मांस। इसलिए इस व्याख्याके कायल लोग उसको तो न छूते; परंतु मछली खाते और अंडे तो खाते ही। दूसरी व्याख्याके अनुसार जिन्हें आमतौरपर प्राणी या जीव कहते थे उनका मांस वर्जित था। इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, परंतु अंडे ग्राह्य थे। तासरी व्याख्यामे आम-

तौरपर प्राणीमात्र और उनमेंसे बननेवाली चीजें निषिद्ध मानी गई थी। इस व्याख्याके अनुसार अंडे और दूध भी छोड़ देना लाजिमी था। इसमें यदि पहली व्याख्याको मै मानता तो मैं मछली भी खा सकता था। परंतु मैने अच्छी तरह समझ लिया कि मेरे लिए तो माताजीकी व्याख्या ही ठीक थी। इसलिए यदि मुझे उनके सामने की गई प्रतिज्ञाका पालन करना हो तो मै अडे नही ले सकता था। इसलिए अंडे छोड़ दिये, पर इससे कठिनाईमे पडगया; क्योंकि बारीकीसे जब मैने खोज की तो पता लगा कि अन्नाहारवाले भोजनालयोंमें भी बहुत-सी चीजें ऐसी बना करती थी, जिनमें अंडे पडा करते थे। फलतः यहां भी परोसनेवालेसे पूछ-ताछ करना मेरे नसीबमें बदा रहा, जबतक कि मै खूब वाकिफ न हो गया था; क्योंकि बहुतेरे पुडिंग और केकमे अंडे जरूर ही रहते है। इस कारण एक तरहसे तो मै जजालसे छूट गया; क्योंकि फिर तो मै बिलकुल सादी और मामूली चीजे ही ले सकता था। हां, दूसरी तरफ दिलको कुछ धक्का अलबत्ता लगा, क्योंकि ऐसी कितनी ही वस्तुएं छोड़नी पड़ी, जिनका स्वाद जीभको लग गया था। पर यह धक्का क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालनका स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वादसे अधिक प्रिय मालूम हुआ।

परंतु सच्ची परीक्षा तो अभी आगे आनेवाली थी, उसका सबंध था दूसरे व्रतसे। परंतु—

'जाको राखे साइयां मार सके ना कोय'।

इस प्रकरणको पूरा करनेके पहले प्रतिज्ञाके अर्थके सबधमे कुछ कहना जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा मातासे किया हुआ एक इकरार था। दुनियामें बहुतेरे झगड़े इकरारोंके अर्थकी खींचातानीसे पैदा होते है। आप चाहे कितनी और स्पष्ट भाषामे इकरारनामा लिखिए, फिर भी भाषा-शास्त्री उसे तोड़-मरोड़कर अपने मतलबका अर्थ निकाल ही लेगे। इसमे सभ्या-सभ्यका भेद नही रहता। स्वार्थ सबको अंधा बना डालता है। राजासे लेकर रंकतक इकरारोंके अर्थ अपने मनके मुआफिक लगाकर दुनियाको,

अपनेको और ईश्वरको धोखा देते है। इस प्रकार जिस शब्द अथवा वाक्यका अर्थ लोग अपने मतलबका लगाते है उसे न्यायशास्त्र 'द्विअर्थी मध्यमपद' कहता है। ऐसी दशामें स्वर्ण-न्याय तो यह है कि प्रतिपक्षीने हमारी बातका जो अर्थ समझा हो वही ठीक समझना चाहिए, हमारे मनमे जो अर्थ रहा हो वह झूठा और अधूरा समझना चाहिए। और ऐसा दूसरा स्वर्ण-न्याय यह है कि, जहां दो अर्थ निकलते हों वहां वह अर्थ ठीक मानना चाहिए, जिसे कमजोर पक्ष ठीक समझता हो। इन दो स्वर्ण मार्गो पर न चलनेके कारण ही वहुत-कुछ झगड़े होते है और अधर्म चला करता है। और इस अन्यायकी जड़ है असत्य। जो सत्यके ही रास्ते चलना चाहता है, उसे स्वर्ण-मार्ग सहज ही प्राप्त होजाता है। उसे शास्त्रों-की पोथिया नही उलटनी पड़ती। माताजीने मांस शब्दका जो अर्थ माना था और जो मैं उस समय समझता था, वही मेरे लिए सच्चा अर्थ था। और जो अर्थ मैंने अपनी विद्वत्ताके मदमें किया अथवा यह मान लिया कि अधिक अनुभवसे सीखा, वह सच्चा न था।

अबतक मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्यकी दृष्टिसे होते थे। विलायतमे उन्हें धार्मिक स्वरूप प्राप्त नही हुआ था। धार्मिक दृष्टिसे तो कठोर प्रयोग दक्षिण अफ्रिकामें हुए, जिनका जिक्र आगे आयेगा। पर हां, यह जरूर कह सकते हैं कि उनका बीजारोपण विलायतमें हुआ।

मसल मशहूर है कि 'नया मुसलमान जोरसे बांग देता है।' अन्नाहार विलायतमें एक नया धर्म ही था, और मेरे लिए तो वह नया था ही : क्योंकि बुद्धिसे मांसाहारका हिमायती बननेके बाद ही मै विलायत गया था। समझ-बूझकर अन्नाहार तो मैने विलायत में ही स्वीकार किया था। इसलिए मेरी हालत 'नये मुसलमान'की-सी थी। नवीन धर्मको ग्रहण करनेवालेका उत्साह मुझमे आ गया था, अतएव जिस मुहल्लेमे मै रहता था वहां अन्नाहारी-मंडल स्थापित करनेका प्रस्ताव मैने किया। मुहल्लेका नाम था 'बेज़-वाटर'। उसमे सर एडविन एर्नाल्ड रहते थे। उन्हें उपाध्यक्ष बनानेका यत्न किया और वह हो भी गये। डाक्टर ओल्डफील्ड

अध्यक्ष बनाये गये, और मंत्री बना मै। थोडे समय तो यह संस्था कुछ चली; परंतु कुछ महीनोंके बाद उसका अंत आ गया। क्योंकि अपने दस्तूरके मुताबिक उस मुहल्लेको कुछ समयके बाद मैंने छोड़ दिया। परंतु इस छोटे और थोड़े समयके अनुभवसे मुझे संस्थाओंकी रचना और संचालनका कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

: १८ :

झेंप—मेरी ढाल

अन्नाहारी-मंडलकी कार्य-समितिमे मै चुना तो जरूर गया, उसमें हर समय हाजिर भी जरूर होता; परतु बोलनेको मुह ही न खुलता था। डाक्टर ओल्डफील्ड कहते—"तुम मेरे साथ तो अच्छी तरह बातें करते हो; परतु समितिकी बैठकमें कभी मुंह नहीं खोलते। तुम्हें 'नर-मक्खी' क्यों न कहना चाहिए ?" मै इस विनोदका भाव समझा। मक्खियां तो निरंतर काम करती रहती है; परंतु नर-मक्खी कुछ काम नहीं करता—हां, खाता-पीता अलबत्ता रहता है। समितिमें और लोग तो अपने-अपने मत प्रदर्शित करते; पर मैं मुंह सीकर चुपचाप बैठा रहूं—यह भद्दा मालूम होता था। यह बात नहीं कि बोलनेके लिए मेरा दिल न होता, पर समझ ही नही पडता कि बोलूं कैसे ? सभी सदस्य मुझे अपनेसे अधिक जानकार दिखाई देते। फिर ऐसा भी होता कि कोई विषय मुझे बोलने योग्य मालूम हुआ और मैं बोलनेकी हिम्मत करने लगता कि इतनेमें ही दूसरा विषय चल निकलता।

बहुत दिनोंतक ऐसा चलता रहा। एक बार समितिमें एक गंभीर विषय निकला। उसमें योग न देना मुझे अनुचित या अन्याय जैसा लगा। चुपचाप मत देकर खामोश हो रहना दब्बूपन मालूम हुआ। मंडलके

अध्यक्ष 'टेम्स आयर्न वर्क्स'के मालिक मिस्टर हिल्स थे। वह कट्टर नीतिवादी थे। प्राय: उन्हींके द्रव्यपर मंडल चल रहा था। समितिके बहुतेरे लोग उन्हींकी छत्रछायामें निभ रहे थे। इस समितिमें डाक्टर एलिन्सन भी थे। इन दिनों संतति-निग्रहके लिए कृत्रिम उपाय काममें लानेकी हलचल चल रही थी। डा० एलिन्सन कृत्रिम उपायोंके हामी थे और मजदूरोंमें उनका प्रचार करते थे। मि० हिल्सको ये उपाय नीति-नाशक मालूम होते थे। उनके नजदीक अन्नाहारी-मंडल केवल भोजन-सुधारके ही लिए नहीं था, बल्कि एक नीति-वर्धक मंडल भी था, और इस कारण उनकी यह राय थी कि डा० एलिन्सन जैसे समाज-घातक विचार रखनेवाले लोग इस मंडलमें न होने चाहिएं। इसलिए डा० एलिन्सनको समितिसे हटानेका प्रस्ताव पेश हुआ। मै इस चर्चामें दिलचस्पी लेता था। डा० एलिन्सनके कृत्रिम उपायोंवाले विचार मुझे भयंकर मालूम हुए। उनके मुकाबलेमें मि० हिल्सके विरोधको में शुद्ध नीति मानता था। मि० हिल्सको मै बहुत मानता था। उनकी उदारताको मै आदरकी दृष्टिसे देखता था। परंतु एक अन्नाहार-वर्धक-मंडलमें से एक ऐसे पुरुषका निकाला जाना जो कि शुद्धनीतिका कायल न हो, मुझे बिलकुल अन्याय दिखाई पड़ा। मेरा मत हुआ कि स्त्री-पुरुष-संबंध-विषयक हिल्स साहबके विचारोंसे अन्नाहारी-मंडलके सिद्धांतका कोई संबंध न था, वे उनके अपने विचार थे। मंडलका उद्देश्य तो था केवल अन्नाहारका प्रचार करना, किसी नीति-नियमका प्रचार नहीं। इसलिए मेरा यह मत था कि दूसरे कितने ही नीति-नियमोंका अनादर करनेवाले मनुष्यके लिए भी मंडलमें स्थान हो सकता है।

यद्यपि समितिमें और लोग भी मुझ जैसे विचार रखते थे, परंतु इस बार मुझे अपने विचार प्रदर्शित करनेकी भीतर-ही-भीतर तीव्र प्रेरणा हो रही थी। मगर सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि यह हो कैसे? बोलनेकी मेरी हिम्मत नहीं थी। इसलिए मैने अपने विचार लिखकर अध्यक्षको दे देनेका निश्चय किया। मै अपना वक्तव्य लिखकर ले गया। जहांतक

मुझे याद है, उस समय लेखको पढ सुनानेका भी साहस मुझे न हुआ। अध्यक्षने दूसरे सदस्यसे उसे पढवाया। अतको डा० एलिन्सनका पक्ष हारा। अर्थात् इस तरहके इस पहले युद्धमे मैं हारनेवालोंकी तरफ था। परंतु मुझे इस बातसे अपने दिलमे पूरा सतोष था कि उनका पक्ष था सच्चा। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि उसके बाद मैंने समितिसे स्तीफा दे दिया था।

मेरी झेंप विलायतमे अततक कायम रही। किसीसे यदि मिलने जाता और वहां पांच-सात आदमी इकट्ठे हो जाते, तो वहां मेरी जबान न खुलती।

एक बार मैं वेटनर गया। मजमुदार भी साथ थे। वहां एक अन्नाहारी घर था, उसमे हम दोनों रहते। 'एथिक्स आफ डायट'के। लेखक इसी बंदरमें रहते थे। हम उनसे मिले। यहां अन्नाहारको उत्तेजन देनेके लिए एक सभा हुई। उसमें हम दोनोंको बोलनेके लिए कहा गया। दोनोने 'हां' कर लिया। मैंने यह जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढनेमे वहा कोई आपत्ति न थी। मैं देखता था कि अपने विचारोंको सिलसिलेवार और थोडेमें प्रकट करनेके लिए कितने ही लोग लिखित भाषण पढ़ते थे। मैंने अपना व्याख्यान लिख लिया। बोलनेकी हिम्मत नही थी, पर जब पढने खड़ा हुआ तो बिलकुल न पढ सका। 'आंखोंके सामने अंधेरा छा गया और हाथ-पैर कांपने लगे। भाषण मुश्किलसे फुलसकेपका एक पन्ना रहा होगा। उसे मजमुदारने पढ सुनाया। मजमुदारका भाषण तो बढिया हुआ, श्रोतागण करतल-ध्वनिसे उनके वचनोंका स्वागत करते जाते थे। इससे मुझे बड़ी शर्म मालूम हुई और अपने बोलनेकी अक्षमतापर बड़ा दुःख हुआ।

विलायतमें सार्वजनिक रूपमें बोलनेका अंतिम प्रयत्न मुझे तब करना पड़ा, जबकि विलायत छोड़नेका अवसर आया, परंतु उसमें मेरी बुरी तरह फजीहत हुई। विलायतसे विदा होनेके पहले अपने अन्नाहारी मित्रोंको ह्लॉबर्न भोजनालयमें मैंने भोजनके लिए निमंत्रित किया था। मैंने विचार

किया कि अन्नाहारी भोजनालयोंमे तो अन्नाहार दिया ही जाता है; परंतु मांसाहारवाले भोजनालयोंमें अन्नाहारका प्रवेश हो तो अच्छा। यह सोचकर मैंने इस भोजनालयके व्यवस्थापकसे खास तौरपर प्रबंध करके अन्नाहारकी तजवीज की। यह नया प्रयोग अन्नाहारियोंको बड़ा अच्छा मालूम हुआ। यों तो सभी भोज भोगके ही लिए होते है; परंतु पश्चिममें उसे एक कलाका रूप प्राप्त हो गया है। भोजनके समय खास सजावट और धूम-धाम होती है। बाजे बजते है और भाषण होते है सो अलग। इस छोटे-से भोजनमें भी यही सारा आडंबर हुआ। अब मेरे भाषणका समय आया। मै खूब सोच-सोचकर बोलनेकी तैयारी करके गया था। थोड़े ही वाक्य तैयार किये थे, परंतु पहले ही वाक्यसे आगे न बढ़ सका। एडिसनवाली गत हुई। उनके झेंपूपनका हाल मै पहले कहीं पढ़ चुका था। हाउस आफ कामंसमे वह व्याख्यान देने खड़ा हुआ। 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है'—यही तीन बार कहा; परंतु उसके आगे न बढ़ सका। अंग्रेजी शब्द जिसका अर्थ धारण करना है, 'गर्भ-धारण'के अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। इसलिए जब एडिसन आगे न बोल सका तब एक मसखरा सभ्य बोल उठा—'इन साहबने तीन बार गर्भ धारण किया, पर पैदा कुछ न हुआ?' इस घटनाको मैंने ध्यानमे रख छोड़ा था, और एक छोटी-सी विनोदयुक्त वक्तृता देनेका विचार किया था। मैंने अपने भाषणका श्रीगणेश इसी कहानीसे किया, पर वहीं अटक गया। जो सोचा था सब भूल गया। और विनोद तथा हास्य-युक्त भाषण करने जाते हुए मैं खुद ही विनोदका पात्र बन गया। "सज्जनो, आपने जो मेरा निमंत्रण स्वीकार किया इसके लिए मैं आपका उपकार मानता हू।" कहकर मुझे बैठ जाना पड़ा।

यह झेंपूपन जाकर ठेठ दक्षिण अफ्रिकामें टूटा। बिलकुल टूट गया हो सो तो अब भी नही कह सकते। अब भी बोलते हुए विचारना तो पड़ता ही है। नये समाजमें बोलते हुए सकुचाता हूं। बोलनेसे पीछा छूट सके तो जरूर छुड़ा लू। और यह हालत तो आज भी नही है कि

यदि किसी संस्था या समाजमे बैठा होऊं तो खास बात कर ही सकूं या बात करनेकी इच्छा ही हो।

परतु इस झेंपू स्वभावके कारण मेरी फजीहत होनेके अलावा और कुछ नुकसान न हुआ—कुछ फायदा ही हुआ है। बोलनेके संकोचसे पहले तो मुझे दुःख होता था; परंतु अब सुख होता है। बड़ा लाभ तो यह हुआ कि मैंने शब्दोंकी किफायत-शारी सीखी। अपने विचारोंको काबूमे रखनेकी आदत सहज ही हो गई। अपनेको मै यह प्रमाण-पत्र आसानीसे दे सकता हूं कि मेरी जबान अथवा कलमसे बिना विचारे अथवा बिना तौले शायद ही कोई शब्द निकलता हो। मुझे याद नही पड़ता कि अपने भाषण या लेखके किसी अंशके लिए शर्मिंदा होने या पछतानेकी आवश्यकता मुझे कभी हुई हो। इसके बदौलत अनेक खतरोंसे मै बच गया और बहुतेरा समय भी बच गया, यह लाभ अलग है।

अनुभवने यह भी बताया कि सत्यके पुजारीको मौनका अवलंबन करना उचित है। जान-अनजानमे मनुष्य बहुत-बार अत्युक्ति करता है, अथवा कहने योग्य बातको छिपाता है, या दूसरी तरहसे कहता है। ऐसे संकटोंसे बचनेके लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलनेवाला बिना विचारे नही बोलता; वह अपने हरेक शब्दको तौलेगा। बहुत बार मनुष्य बोलनेके लिए अधीर हो जाता है। 'मै भी बोलना चाहता हू' ऐसी चिट किस सभापतिको न मिली होगी? फिर दिया हुआ समय भी उन्हे काफी नही होता, और बोलनेकी इजाजत चाहते है, एव फिर भी बिना इजाजतके बोलते रहते है। इन सबके इतने बोलनेसे संसारको लाभ होता हुआ तो शायद ही दिखाई देता है। हां, यह अलबत्ता हम स्पष्ट देख सकते हैं कि इतना समय व्यर्थ जा रहा है। इसलिए यद्यपि आरंभमे मेरा झेंपूपन मुझे अखरता था; पर आज उसका स्मरण मुझे आनंद देता है। यह झेंपूपन मेरी ढाल था। उससे मेरे विचारोंको परिपक्व होनेका अवसर मिला। सत्यकी आराधनामे उससे मुझे सहायता मिली।

: १६ :

असत्य-रूपी जहर

चालीस साल पहले विलायत जानेवालोंकी संख्या अबसे कम था। उनमे ऐसा रिवाज पड़ गया था कि खुद विवाहित होते हुए भी अपनेको अविवाहित बताते। वहां हाईस्कूल अथवा कालेजमें पढ़नेवाले सब अविवाहित होते है। वहां विवाहितके लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहां तो प्राचीन समयमें विद्यार्थीका नाम ही ब्रह्मचारी था। बाल-विवाहकी चाल तो इसी जमानेमें पड़ी है। बाल-विवाहका नामनिशान विलायतमें नही। इस कारण वहांके भारतीय नवयुवकको यह बताते शरम मालूम होती है कि हमारा विवाह हो गया है। विवाहकी बात छिपानेका दूसरा मतलब यह है कि यदि यह बात मालूम हो जाय तो जिन कुटुंबोंमें वे रहते है उनकी युवती- लड़कियोंके साथ घूमने-फिरने और आमोद-प्रमोद करनेकी स्वतंत्रता न मिल पावेगी। यह आमोद-प्रमोद बहुतांशमें निर्दोष होता है और खुद मां-बाप भी ऐसे मेलजोलको पसंद करते हैं। युवक और युवतियोंमे ऐसे सहवासकी आवश्यकता भी समझी जाती है; क्योंकि वहां तो हरेक नवयुवकको अपनी सह-धर्मचारिणी खोज लेनी पड़ती है। इस कारण जो संबंध विलायतमे स्वाभाविक समझा जा सकता है वही यदि हिंदुस्तानके नवयुवक वहां जाकर बांधने लगें तो परिणाम भयंकर हुए बिना नही रह सकता। ऐसे कितने ही भीषण परिणाम सुने भी गये है। फिर भी इस मोहिनी-मायामें हमारे नवयुवक फंसे हुए थे। जो संबंध अंग्रेजोके लिए चाहे कितना निर्दोष हो, पर जो हमारे नजदीक सर्वथा त्याज्य है, उसके लिए वे असत्याचरण पसंद करते थे। मै भी इस जालमें फंस गया। पांच-छः वर्षसे विवाहित होते हुए और एक लड़केका बाप होते हुए भी मै अपनेको अविवाहित कहते न हिचका! पर इस 'कुवांरेपन' का स्वाद मै बहुत न चख पाया। मेरे झेंपूपनने और

मौनने मुझे बहुत बचाया। भला जब मै बात ही नही कर सकता था, तो कौन लड़की ऐसी फाजिल होती, जा मुझसे बातचीत करने आती ? शायद ही कोई लड़की मेरे साथ घूमने निकलती।

मै जैसा झेंपू था, वैसा ही डरपोक भी था। वेंटनरमें जैसे घरमे रहता था वहां यह रिवाज था कि घरकी लड़की मुझ जैसे अतिथिको साथ घूमने ले जाय। तदनुसार मुझे मकान-मालकिन की लड़की वेंटनरके आसपासकी सुदर पहाड़ियोंपर घूमने ले गई। मेरी चाल यों धीमी न थी, परतु उसकी चाल मुझसे भी तेज थी। मै तो एक तरह उसके पीछे खिचता-घिसटता जाता था। वह तो रास्तेमे बातोंके फव्वारे उड़ाती चलती और मेरे मुंहसे सिर्फ कभी 'हां' और कभी 'ना' की ध्वनि निकल पड़ती। मै बहुत-से-बहुत बोलता तो इतना ही कि—'वाह कैसा सुदर !' वह तो हवाकी तरह उड़ती चली जाती और मै यह सोचता कि कब घर पहुंचेगे। फिर भी यह कहनेकी हिम्मत न पड़ती कि चलो वापस लौट चलें। इतनेमें ही हम एक पहाड़ीकी चोटीपर आ खड़े हुए। अब उतरे कैसे ! मगर ऊंची एड़ीके बूट होते हुए भी यह २०-२५ वर्षकी रमणी बिजलीकी तरह नीचे उतर गई और मै शर्मिंदा होकर यह सोच ही रहा हूं कि कैसे उतरें ! वह नीचे उतरकर कहकहा लगाती है और मुझे हिम्मत दिलाती है। कहती है—'ऊपर आकर हाथ पकड़कर नीचे खीच ले चलू ?' मै अपनेको ऐसा बोदा कैसे साबित करता ? अंतको सम्हल-सम्हलकर पैर रखता और कही-कही बैठता हुआ नीचे उतरा। इधर वह मजाकमे 'शा. . .बाश' कहकर मुझ शरमाये हुएको और भी शर्मिंदा करने लगी। मैं मानता हूं कि इस तरह मजाकमे शर्मिंदा करनेका उसे हक था।

परंतु हर जगह मै इस तरह कैसे बच सकता था ? ईश्वरको मजूर था कि असत्यका जहर मेरे अंदरसे निकल जाय। वेंटनरकी तरह ब्रायटन भी समुद्रतटपर हवाखोरीका मुकाम है। वहा मैं एक बार गया। जिस होटलमे मै ठहरा था, वहां एक मामूली दरजेकी अच्छी हैसियतवाली विधवा बुढ़िया घूमने आई थी। यह मेरे पहले सालकी बात है—वेंटनरके पहलेकी

घटना है। यहां भोज्य पदार्थोंके नाम फ्रेंच भाषामें लिखे हुए थे। मैं उन्हें नही समझ पाया। बुढ़िया और मै एक ही मेजपर बैठे हुए थे। बुढ़ियाने देखा कि मै अजनबी हूं और कुछ दुविधामे हूं। उसने बात छेड़ी, तुम अजनवी मालूम होते हो? किस फिक्रमे पड़े हो? तुमने खानेके लिए अबतक कुछ नही मंगाया? मै खानेके पदार्थोंकी नामावली पढ़ रहा था और परोसनेवालोसे पूछनेका विचार कर ही रहा था। मैंने इस भली देवीको धन्यवाद दिया और कहा—"ये नाम मेरी समझमें नहीं आते। मै अन्नाहारी हूं और मै जानना जाहता हूं कि इनमे कौन-सी चीजें मेरे कामकी है?"

यह देवी बोली—"तो लो, मै तुम्हारी मदद करती हूं और तुम्हें बताये देती हूं कि इनमेंसे कौन-कौन-सी चीजें ले सकते हो।"

मैंने उसकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार की। यहां से जो परिचय उसके साथ हुआ, सो मेरे विलायत छोड़नेके बाद भी बरसों कायम रहा। उसने लंदनका अपना पता मुझे दिया और हर रविवारको अपने यहां भोजनके लिए निमंत्रित किया था। इसके सिवा भी जब-जब अवसर आता मुझे बुलाती। चाहकर मेरी शरम तुड़वाती। युवती स्त्रियोंसे पहचान करवाती और उनके साथ बातें करनेके लिए ललचाती। एक बाई उसीके यहां रहती थी। उसके साथ बहुत बातें करवाती। कभी-कभी हमें अकेले भी छोड़ देती।

पहले-पहल तो मुझे यह बहुत अटपटा मालूम हुआ। सूझ ही न पड़ता कि बातें क्या करूं! हंसी-दिल्लगी भी भला क्या करता, पर वह बाई मेरा हौसला बढ़ाती। मैं इसमें ढलने लगा। हर रविवारकी राह देखता। अब तो उसकी बातोंमें भी मन रमनें लगा।

इधर बुढ़िया भी मुझे लुभाये जाती। वह हमारे इस मेल-जोलको बड़ी दिलचस्पीसे देखती। मै समझता हूं उसने तो हम दोनोंका भला ही सोचा होगा।

"अब क्या करूं? अच्छा होता यदि पहले से ही इस बाईसे अपने

विवाहकी बात कह दी होती। क्योंकि फिर भला वह क्यों मुझ-जैसेके साथ विवाह करना चाहती ? अब भी कुछ बिगड़ा नहीं। समय है, सच कह देनेसे अधिक संकटमें न पड़ूंगा।" यह सोचकर मैंने उसे चिट्ठी लिखी। अपनी स्मृतिके अनुसार उसका सार नीचे देता हूं—

"जबसे ब्रायटनमें आपसे भेंट हुई, तबसे आप मुझे स्नेहकी दृष्टिसे देखती आ रही है। मां जिस प्रकार अपने बेटेकी संभाल रखती है उसी प्रकार आप मेरी सम्हाल रखती है। आपका खयाल है कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए और इसलिए आप युवतियोंके साथ मेरा परिचय कराता है। इसके पहले कि ऐसे संबधकी सीमा और आगे बढ़े, मुझे आपको यह कह देना चाहिए कि मै आपके प्रेमके योग्य नहीं। मैं विवाहित हूं और यह बात मुझे उसी दिन करनी चाहिए थी, जिस दिनसे मैं आपके घर आने-जाने लगा। हिंदुस्तानके विवाहित विद्यार्थी यहां अपने विवाहकी बात जाहिर नहीं करते, और इसीलिए, मै भी उसी ढर्रेपर चल पड़ा; पर अब मै महसूस करता हूं कि मुझे अपने विवाहकी बात बिलकुल ही न छिपानी चाहिए थी। मुझे तो आगे बढ़कर यह भी कह देना चाहिए कि मेरी शादी बचपनमें ही हो गई थी और मेरे एक लड़का भी है। यह बात जो मैंने आपसे अबतक छिपा रखी थी, इसपर मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। परंतु अब भी ईश्वरने मुझे सत्य कह देनेकी हिम्मत दे दी, इसके लिए साथ ही मुझे आनंद भी हो रहा है। आप मुझे माफ तो कर देंगी न ? जिस बहनसे आपने मेरा परिचय कराया है, उसके साथ मैंने कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया है, इसका मै आपको विश्वास दिलाता हूं। मैं अपनी स्थितिको अच्छी तरह जानता था, अतएव मै तो कोई अनुचित बात कर ही नहीं सकता था; पर आप चूंकि उससे नावाकिफ थीं इसलिए आपकी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि मेरा विवाह संबंध किसीके साथ हो जाय। अतः आपके मनमें यह विचार और आगे न बढें, इसलिए भी मुझे सच बात आपपर अवश्य प्रकट कर देनी चाहिए।

"यह पत्र मिलनेके बाद यदि आप अपने यहां आनेके योग्य मुझे न समझें तो मुझे बिलकुल बुरा न मालूम होगा। आपकी इस ममताके लिए तो मैं सदाके लिए आपका ऋणी हो चुका हूं। इतना होने पर भी यदि आप मुझे अपनेसे दूर न हटावे, तो बड़ी प्रसन्नता होगी। यदि अब भी आप मुझे अपने यहां आने योग्य समझेंगी, तो इसे मैं आपके प्रेमका एक नया चिह्न समझूंगा और उसके योग्य बननेके लिए प्रयत्न करता रहूंगा।"

यह पत्र मैंने चट-पट नही लिख डाला। न जाने कितने मसविदे बनाये होंगे। पर हां, यह बात जरूर है कि यह पत्र भेज देने पर मेरे दिलसे बड़ा बोझ उतर गया। लगभग लौटती डाकसे उस विधवा मित्रका जवाब आया। उसमे लिखा था—

"तुमने दिल खोलकर जो पत्र लिखा, वह मिल गया। हम दोनों पढ़कर खुश हुए और खिलखिलाकर हंसे। ऐसा असत्याचरण तो क्षंतव्य ही हो सकता है। हां, यह अच्छा किया, जो तुमने अपनी सच्ची कथा लिख दी। मेरे निमंत्रणको ज्यों-का-त्यों कायम समझना। इस रविवार-को हम दोनों तुम्हारी राह अवश्य देखेंगी। तुम्हारे बाल-विवाहकी बातें सुनेंगी और तुमसे हंसी-दिल्लगी करनेका आनंद प्राप्त करेंगी। विश्वास रखो, अपनी मित्रतामे फर्क न आने पावेगा।"

इस तरह अपने अंदर छिपा यह असत्यका जहर मैंने निकाला; और फिर तो, कही भी अपने विवाह इत्यादिकी बातें करते हुए मुझे पशोपेश न होता।

: २० :

धार्मिक परिचय

विलायतमे रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियो-सोफिस्ट मित्रोंसे मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित

थे। उन्होंने मुझसे गीताकी बात निकाली। उन दिनों ये एड्विन एर्नाल्ड-कृत गीताके अंग्रेजी अनुवादको पढ़ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृतमें गीता पढ़नेके लिए कहा। मैं लज्जित हुआ; क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृतमें न प्राकृतमें ही पढ़ी थी! यह बात झेंपते हुए मुझे उनसे कहनी पड़ी। पर साथ ही यह भी कहा कि "मैं आपके साथ पढ़नेके लिए तैयार हूं। यों तो मेरा संस्कृत ज्ञान नहींके बराबर है, फिर भी मैं इतना समझ सकूंगा कि अनुवाद कहीं गड़बड़ होगा तो वह बता सकूं।" इस तरह इन भाइयोंके साथ मेरा गीता-वाचन आरंभ हुआ। दूसरे अध्यायके अंतिम श्लोकोंमें

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[1]

इन श्लोकोंका मेरे दिलपर गहरा असर हुआ। बस, कानोंमें उनकी ध्वनि दिन-रात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई—और, अब तो तत्त्वज्ञानके लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशाके समयमें इस ग्रंथने मेरी अमूल्य सहायता की है। यों इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूं। परंतु एडविन एर्नाल्डका अनुवाद सबमें श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रंथके भावोंकी अच्छी रक्षा की है और तिस पर भी वह अनुवाद-जैसा नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं

---

[1] विषयका चिंतन करनेसे, पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है और संगसे कामकी उत्पत्ति होती है। कामनाके पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मृतिभ्रम और स्मृतिभ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और अंतमें पुरुष खुद ही नष्ट हो जाता है।

कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीताका अच्छा अध्ययन कर लिया हो। उसका रोज-मर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

इन्ही भाइयोंने मुझे एर्नाल्ड लिखित बुद्ध-चरित्र पढ़नेकी सिफारिश की। अबतक मैं तो सिर्फ यही जानता था कि सिर्फ गीताका ही अनुवाद एर्नाल्डने किया है, परंतु बुद्ध-चरितको मैंने भगवद्गीतासे भी अधिक चावके साथ पढा। पुस्तक जो एक बार हाथमें ली सो खतम करके ही छोड़ सका।

ये भाई मुझे एक बार ब्लेवेट्स्की-लॉजमे भी ले गये। वहां मैडम ब्लेवेट्स्की तथा मिसेज बेसेंटके दर्शन मुझे कराये। मिसेज बेसेंट उन्ही दिनों थियोसोफिकल सोसायटीमें आई थीं; और इस विषयकी चर्चा अखबारोंमें चल रही थी। मैं उसे चावसे पढ़ता था। इन भाइयोंने मुझे थियोसोफिकल सोसायटीमे आनेके लिए कहा। मैंने विनयपूर्वक 'न' करके कहा—"मुझे अभी किसी धर्मका कुछ भी ज्ञान नही, इसलिए मेरा दिल नहीं होता कि अभी किसी भी संप्रदायमे मिल जाऊं।" मुझे कुछ ऐसा खयाल पड़ता है कि इन्ही भाइयोंके कहनेसे मेडम ब्लेवेट्स्की रचित 'की टु थियोसोफी' पुस्तक भी मैंने पढ़ी। उससे हिंदू-धर्म-संबंधी पुस्तकोंके पढ़नेकी इच्छा हुई। पादरी लोगोंके मुहसे जो यह सुना करता था कि हिंदू-धर्म तो अंध विश्वासोंसे भरा हुआ है, यह खयाल दिलसे निकल गया।

इसी अरसेमे एक अन्नाहारी-छात्रालयमें मैंचेस्टरके एक भले ईसाईसे मुलाकात हुई। उन्होंने ईसाई-धर्मकी बात मुझसे छेड़ी। मैंने अपना राजकोटका अनुभव उन्हें सुनाया। उन्हें बहुत दुःख हुआ। कहा—"मैं खुद अन्नाहारी हूं। शराबतक नहीं पीता। बहुतेरे ईसाई मांस खाते हैं, शराब पीते हैं, यह सच है। पर ईसाई-धर्ममे दोनोंमेंसे एक चीज भी लाजिमी नही। आप बाइबिल पढ़ें तो मालूम होगा।" मैंने उनकी सलाह मानी। उन्होंने एक बाइबिल भी खरीदकर ला दी। मुझे कुछ-कुछ ऐसा याद पड़ता है कि वह सज्जन खुद ही बाइबिल बेचते थे। उन्होंने जो बाइबिल मुझे दी उसमें कई नक्शे और अनुक्रमणिका इत्यादि थी। पढ़ना

शुरू तो किया; परंतु 'ओल्ड टेस्टामेंट' तो पढ ही न सका। जेनिसेस—'सृष्टि-उत्पत्ति'—वाले प्रकरणके बाद तो पढते-पढ़ते नींद आने लगती। केवल इसी खयालसे कि यह कह सकूं कि 'हां बाइबिल पढ़ ली' मैंने बे-मन और बे-समझे आगेके प्रकरणोंको बड़े कष्टसे पढ़ा। 'नंबर्स' नामक प्रकरण पढ़कर तो उलटी अरुचि हो गई। पर जब 'न्यू टेस्टामेंट' तक पहुचा तो कुछ और ही असर हुआ। हजरत ईसाके गिरि-प्रवचनका असर बहुत ही अच्छा हुआ। वह तो सीधा ही हृदयमें पैठ गया। बुद्धिने गीताजीके साथ उसकी तुलना की। 'जो तेरा कुरता मांगे उसे तू अंगरखा दे डाल। जो तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे उसके आगे बाया गाल कर दे।' यह पढ़कर मुझे अपार आनंद हुआ। श्यामल भट्टका वह छप्पय याद आया। मेरे युवक मनने गीता, एर्नाल्ड-कृत बुद्ध-चरित्र और ईसाके वचनोंका एकीकरण किया। 'त्यागमें धर्म है' यह बात दिलको जंच गई।

इन पुस्तकोंके पठनसे दूसरे धर्माचार्योंके जीवन-चरित्र पढनेकी इच्छा हुई। किसी मित्रने सुझाया—कार्लाईलकी 'विभूतियां और विभूति-पूजा' पढ़ो। उसमें मैंने हजरत मुहम्मद-विषयक अंश पढा और मुझे उनकी महत्ता,वीरता और उनकी तपश्चर्याका परिचय मिला।

बस, इतने धार्मिक परिचयसे आगे मैं न बढ़ सका; क्योंकि परीक्षा संबंधी पुस्तकोंके अलावा दूसरी पुस्तकें पढ़नेकी फुरसत न निकाल सका। मगर मेरे दिलमें यह भाव जम गया कि मुझे भी धर्म-पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिएं और समस्त मुख्य-मुख्य धर्मोका आवश्यक परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

भला, यह कैसे संभव था कि विलायतमें रहकर नास्तिकताके सबंधमें कुछ न जानता ? उन दिनों ब्रेडलाका नाम समस्त भारतवासी जानते थे। ब्रेडला नास्तिक माने जाते थे। इस कारण नास्तिकवादके विषयमें भी एक पुस्तक पढ़ी। नाम इस समय याद नहीं पडता। मेरे मनपर उसकी कुछ छाप न पड़ी। क्योंकि नास्तिकतारूपी सहाराका रेगिस्तान अब मैं पार कर चुका था। मिसेज बेसेटकी कीर्त्ति तो उस समय भी बहुत

फैली हुई थी। वह नास्तिकसे आस्तिक बनी थी, इस बातने भी मुझे नास्तिकताकी ओरसे उदासीन बनाया। बेसेंटकी 'मैं थियोसोफिस्ट कैसे हुई ?' पुस्तिका मैं पढ़ चुका था। इन्हीं दिनों ब्रेडलाका देहांत हुआ। उनकी अंत्येष्टि-क्रिया वोकिंगमें हुई थी। मैं भी वहां गया था। मेरा खयाल है कि शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा, जो वहां न गया हो। कितने ही पादरी भी उनके सम्मानमे उपस्थित हुए थे। लौटते समय हम सब एक जगह ट्रेनकी राह देख रहे थे। वहांभी भीड़मेंसे एक पहलवान नास्तिकता-वादीने एक पादरीसे जिरह करना शुरू की—

"क्यों जी, आप कहते हैं न कि ईश्वर है ?"

उस भले पादरीने धीमी आवाजमें जवाब दिया—"हां भाई, कहता तो हूं।"

पहलवान हंसा, और इस भावसे कि मानो पादरीको पराजित कर दिया हो, बोला—"अच्छा, आप यह तो मानते है न, कि पृथ्वीकी परिधि २८००० मील है ?"

"हां, अवश्य।"

"तब बताओ तो देखें, ईश्वरका कद कितना बड़ा है और वह कहां रहता होगा ?"

"यदि हम समझें तो वह हम दोनोंके हृदयमें वास करता है।"

चारों ओर खड़े हुए हम लोगोंकी ओर यह कहकर उसने विजयीकी तरह देखकर कहा—"किसी बच्चेको फुसलाइए किसी बच्चेको।"

पादरीने नम्रताके साथ मौन धारण कर लिया।

इस संवादने नास्तिकवादकी ओरसे मेरा मन और भी हटा दिया।

: २१ :

'निर्बलके बल राम'

इस तरह मुझे धर्म-शास्त्रोका तथा दुनियाके धर्मोका कुछ परिचय तो मिला, लेकिन इतना ज्ञान मनुष्यको बचानेके लिए काफी नही होता। आपत्तिके समय जो वस्तु मनुष्यको बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान ही रहता है, न ज्ञान ही। नास्तिक जब बच जाता है, तो कहने लगता है कि मैं तो अचानक बच गया। आस्तिक ऐसे समय कहेगा कि मुझे ईश्वरने बचाया। परिणामके बाद वह ऐसा अनुभव कर लेता है कि धर्मोके अध्ययनसे, संयमसे, ईश्वर हृदयमे प्रकट होता है। इस प्रकारका अनुमान करनेका उसे अधिकार है। लेकिन बचते समय वह नही जानता कि उसे उसका संयम बचाता है या और कोई। जो अपने संयम-बलका गर्व करता है, उसका संयम भ्रष्ट नही हुआ, ऐसा किसने अनुभव नही किया ? ऐसे समय शास्त्र-ज्ञान तो व्यर्थ-सा मालूम होता है।

इस बौद्धिक धर्म-ज्ञानके मिथ्यात्वका अनुभव मुझे विलायतमे हुआ। पहले जो इस प्रकारके भयोंसे मै बचा, उसका विश्लेषण करना असंभव है। उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी। लेकिन अब तो मै बीस वर्षका हो गया था। गृहस्थाश्रमका अनुभव खूब प्राप्त कर चुका था।

बहुत करके विलायतमे मेरे आखीरी वर्षमें, अर्थात् १८९० मे, पोर्टस्मथमे अन्नाहारियोंका एक सम्मेलन हुआ। उसमें मुझे तथा एक और भारतीय मित्रको निमंत्रण मिला था। हम दोनों वहां गये। हम दोनों एक बाईके यहां ठहराये गये।

पोर्टस्मथ मल्लाहोंका बंदर कहा जाता है। वहां दुराचारिणी स्त्रियोंके बहुत-से घर है। वे स्त्रियां वेश्या तो नही कही जा सकती; लेकिन साथ ही उन्हें निर्दोष भी नही कह सकते। ऐसे ही एक घरमें हम ठहराये गये थे। कहनेका आशय यह नही है कि स्वागत-समितिने जान-बूझकर

ऐसे घर चुने थे । लेकिन पोर्टस्मथ-जैसे बंदरमे जब मुसाफिरोंके ठहरनेके लिए घर खोजनेकी जरूरत पड़ती है, तब यह कहना कठिन होजाता है कि कौन घर अच्छा और कौन बुरा ।

रात हुई । सभासे हम घर लौटे । भोजनके बाद हम ताश खेलने बैठे । विलायतमें अच्छे घरोंमें भी गृहिणी मेहमानोंके साथ इस प्रकार ताश खेला करती है । ताश खेलते समय सब लोग निर्दोष मजाक करते है। परंतु यहां गंदा विनोद शुरू हुआ ।

मै नही जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण है । मुझे इस विनोदमें दिलचस्पी होने लगी । मै भी सम्मिलित हुआ । विनोदके वाणीसे चेष्टामें परिणत होनेकी नौबत आ गई । ताश एक ओर रखनेका अवसर आ गया; पर मेरे उस भले साथीके हृदयमें भगवान् जगे । वह बोले, "तुम और यह कलियुग—यह पाप ? यह तुम्हारा काम नही ! भागो यहांसे ।"

मै गरमिंदा हुआ । चेता । हृदयमे इस मित्रका उपकार माना । मातासे कीहुई प्रतिज्ञा याद आई । मैं भागा । कांपता हुआ अपने कमरेमें पहुंचा । कलेजा धड़कता था । मेरी ऐसी स्थिति हो गई मानो कातिलके हाथसे छूटा शिकार ।

पर-स्त्रीको देखकर विकाराधीन होनेका और उसके साथ खेलनेकी इच्छा होनेका यह पहला प्रसंग मेरे जीवनमें था । रात-भर मुझे नींद न आई । अनेक तरहसे विचारोंने मुझे आ घेरा । 'क्या करूं ? घर छोड़दू ! यहांसे भाग निकलूं । मै कहां हूं ? यदि मैं सावधान न रहूं तो मेरे क्या हाल होंगे ?' मैंने खूब सचेत रहकर जीवन बितानेका निश्चय किया । सोचा कि घर तो अभी न छोड़ूं; पर पोर्टस्मथ तुरंत छोड़देना चाहिए। सम्मेलन दो ही दिनतक होनेवाला था । इसलिए जहांतक मुझे याद है, दूसरे ही दिन मैंने पोर्टस्मथ छोड़दिया, मेरे साथी वहां कुछ दिन रहे ।

उस समय मै 'धर्म क्याहै, ईश्वर क्या चीज है, वह हमारे अंदर किस

तरह काम करता है' ये बाते नही जानता था : लौकिक अर्थमें मै समझा कि ईश्वरने मुझे बचाया। परंतु जीवनके विविध क्षेत्रोमे भी मुझे ऐसे ही अनुभव हुए है। 'ईश्वरने बचाया' इस वाक्यका अर्थ मै आज बहुत अच्छी तरह समझता हू। पर यह भी जानता हूं कि अभी इसकी कीमत मैं ठीक-ठीक नही आक सका हू। यह तो अनुभवसे ही आंकी जा सकती है। पर हां, कितने ही आध्यात्मिक अवसरोंपर, वकालतके सिलसिलेमें, संस्थाओंका संचालन करते हुए, राजनैतिक मामलोंमें, मै कह सकता हूं कि 'ईश्वरने मुझें बचाया है।' मैने अनुभव किया है कि जब चारों ओरसे आशायें छोड़ बैठनेका अवसर आ जाता है, हाथ-पांव ढीले पड़ने लगते है, तब कही-न-कहीसे सहायता अचानक आ पहुंचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना, अधविश्वास नही, बल्कि उतनी अथवा उससे भी अधिक सच बाते है, जितना कि हम खाते है, पीते है, चलते है, बैठते है, ये सच है। बल्कि यों कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं कि यही एकमात्र सच है; दूसरी सब बाते झूठ है, मिथ्या है।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना वाणीका वैभव नही है। उसका मूल कंठ नही, बल्कि हृदय है। अतएव यदि हम हृदयको निर्मल बना ले, उसके तारोंका सुर मिला ले, तो उसमेंसे जो सुर निकलता है वह गगन-गामी हो जाता है। उसके लिए जीभकी आवश्यकता नही। यह तो स्वभावतः ही अद्भुत वस्तु है। विकाररूपी मल की शुद्धिके लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जड़ी है, इस विषयमें मुझे जरा भी सदेह नही। परंतु इस प्रसादीको पानेके लिए हमारे अंदर पूरी-पूरी नम्रता होनी चाहिए।

: २२ :

नारायण हेमचंद्र

लगभग इसी दरमियान स्वर्गीय नारायण हेमचंद्र विलायत आये थे। मैं सुन चुका था कि वह एक अच्छे लेखक हैं। नेशनल इंडियन एसोसियेशनवाली मिस मैंनिगके यहां उनसे मिला। मिस मैंनिग जानती थीं कि सबसे हिलमिल जाना मैं नही जानता। जब कभी मैं उनके यहां जाता तब चुपचाप बैठा रहता। तभी बोलता, जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होंने नारायण हेमचंद्रसे मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचंद्र अंग्रेजी नही जानते थे। उनका पहनावा विचित्र था। बेढंगी पतलून पहने थे। उसपर था एक बादामी रंगका मैला-कुचैला-सा पारसी काटका बेडौल कोट। न नेकटाई, न कालर। सिरपर ऊनकी गुथी हुई टोपी और नीचे लंबी दाढ़ी।

बदन इकहरा, कद नाटा कह सकते हैं। चेहरा गोल था, उसपर चेचकके दाग थे। नाक न नोकदार थी न चपटी। हाथ दाढ़ीपर फिरा करता था।

वहांके लाल-गुलाल फैशनेबल लोगोमें नारायण हेमचंद्र विचित्र मालूम होते थे। वह औरोंसे अलग छटक पड़ते थे।

"आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े है। आप मेरे घर चलिए न?"

नारायण हेमचंद्रकी आवाज जरा भर्राई हुई थी। उन्होने हंसते हुए जवाब दिया——

"आप कहां रहते है?"

"स्टोर स्ट्रीटमें।"

"तब तो हम पड़ोसी है। मुझे अंग्रेजी सीखना है। आप सिखा देंगे?"

मैंने जवाब दिया——"यदि मैं किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर

सकूं तो मुझे बड़ी खुशी होगी। मैं अपनी शक्ति-भर कोशिश करूंगा। यदि आप चाहें, तो मै आपके यहां भी आ सकता हू।"

"जी नही, मैं खुद ही आपके पास आऊंगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊंगा।"

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनोमे बड़ा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचद्र व्याकरण जरा भी नही जानते थे। 'घोड़ा' क्रिया और 'दौड़ना' संज्ञा बन जाती है। ऐसे मजेदार उदाहरण तो मुझे कई याद है। परंतु नारायण हेमचद्र ऐसे थे, जो मुझे भी हजम कर जायं। वह मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञानसे अपनेको भुला देनेवाले जीव न थे। व्याकरण न जाननेपर वह किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

"मै आपकी तरह किसी पाठशालामे नही पढ़ा हू। मुझे अपने विचार प्रकट करनेमे कहीं व्याकरणकी सहायताकी जरूरत नहीं दिखाई दी। अच्छा, आप बंगला जानते है? मै तो बंगला भी जानता हूं। मै बगालमे भी घूमा हूं। महर्षि देवेद्रनाथ टैगोरकी पुस्तकोंका अनुवाद तो गुजराती जनताको मैंने ही दिया है। अभी कई भाषाओंके सुदर ग्रंथोंके अनुवाद करने हैं। अनुवाद करनेमे भी शब्दार्थपर नही चिपटा रहता। भाव-मात्र दे देनेसे मुझे संतोष हो जाता है। मेरे बाद दूसरे लोग चाहे भले ही सुदर वस्तु दिया करे। मै तो बिना व्याकरण पढ़े मराठी भी जानता हूं, हिंदी भी जानता हूं और अब अंग्रेजी भी जानने लग गया हू। मुझे तो सिर्फ शब्द-भंडारकी जरूरत है। आप यह न समझ ले कि अकेली अंग्रेजी जान लेनेभरसे मुझे संतोष हो जायगा। मुझे तो फ्रांस जाकर फ्रेंच भी सीख लेनी है। मै जानता हू कि फ्रेच-साहित्य बहुत विशाल है। यदि हो सका तो जर्मन जाकर जर्मन भाषा भी सीख लूंगा।"

इस तरह नारायण हेमचंद्रकी वाग्धारा बे-रोक बहती रही। देश-देशांतरोंमें जाने व भिन्न-भिन्न भाषा सीखनेंका उन्हें असीम शौक था।

"तब तो आप अमेरिका भी जरूर ही जावेगे?"

"भला इसमे भी कोई संदेह हो सकता है ? इस नवीन दुनियाको देखे बिना कहीं वापस लौट सकता हू ?"

"पर आपके पास इतना धन कहां है ?"

"मुझे धनकी क्या जरूरत पड़ी है ? मुझे आपकी तरह तड़क-भड़क तो रखना है ही नही । मेरा खाना कितना और पहनना क्या ? मेरी पुस्तकोंसे कुछ मिल जाता है और थोड़ा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते है, वह काफी है । मै तो सर्वत्र तीसरे दर्जेमे ही सफर करता हूं । अमेरिका तो डेकमे जाऊंगा ।"

नारायण हेमचद्रकी सादगी बस उनकी अपनी थी; हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था । अभिमान छूतक नहीं गया था । लेखकके नाते अपनी क्षमतापर उन्हे आवश्यकतासे भी अधिक विश्वास था ।

हम रोज मिलते । हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था । दोनों अन्नाहारी थे । दोपहरको कई वार साथ ही भोजन करते । यह मेरा वह समय था, जब मै प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंगमे ही अपना गुजर करता और खाना खुद पकाया करता था । कभी मैं उनके मकानपर जाता तो कभी वह मेरे मकानपर आते । मैं अंग्रेजी ढंगका खाना पकाता था, उन्हें देसी ढंगके विना संतोष नही होता था । उन्हें दाल जरूरी थी । मैं गाजर इत्यादिका रसा बनाता । इसपर उन्हें मुझपर बड़ी दया आती । कहींसे वह मूग ढूढ लाये थे । एक दिन मेरे लिए मूग पकाकर लाये, जो मैंने बड़ी रुचिपूर्वक खाये । फिर तो हमारा इस तरहका देने-लेनेका व्यवहार बहुत बढ़ गया । मै अपनी चीजों का नमूना उन्हें चखाता और वह मुझे चखाते ।

इस समय कार्डिनल मैनिंगका नाम सबकी जबानपर था । डाकके मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी । जॉन बर्न्स और कार्डिनल मैनिंगके प्रयत्नोंसे हड़ताल जल्दी बंद हो गई । कार्डिनल मैनिंगकी सादगीके विषयमे जो डिसरैलीने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचंद्रको सुनाया ।

"तव तो मुझे उस साधु पुरुषसे जरूर मिलना चाहिए !"

"वह तो बहुत बड़े आदमी है, आपसे क्योंकर मिलेगे ?"

"इसका रास्ता मैं बता देता हूं। आप उन्हें मेरे नामसे एक पत्र लिखिए कि मै एक लेखक हूं। आपके परोपकारी कार्योपर आपको धन्य-वाद देनेके लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूं। उसमें यह भी लिख दीजिएगा कि मैं अंग्रेजी नही जानता, इसलिए—आपका नाम लिखिए—बतौर दुभाषियाके मेरे साथ रहेंगे।"

मैंने इस मजमूनका पत्र लिख दिया। दो-तीन दिनमे कार्डिनल मैंनिंगका कार्ड आया। उन्होंने मिलनेका समय दे दिया था।

हम दोनों गये। मैंने तो, जैसा कि रिवाज था, मुलाकाती कपड़े पहन लिए। नारायण हेमचंद्र तो ज्यों-के-त्यों, सनातन! वही कोट और वही पतलून। मैंने जरा मजाक किया, पर उन्होंने उसे साफ हंसीमे उड़ा दिया और बोले—

"तुम सब सुधारप्रिय लोग डरपोक हो। महापुरुष किसीकी पोशाककी तरफ नहीं देखते। वे तो उसके हृदयको देखते है।"

कार्डिनलके महलमें हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि एक दुबलेसे ऊंचे कदवाले वृद्ध पुरुषने प्रवेश किया। हम दोनोंसे हाथ मिलाया। उन्होंने नारायण हेमचंद्रका स्वागत किया।

"मै आपका अधिक समय लेना नही चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रखी थी। आपने हड़तालमें जो शुभ काम किया है, उनके लिए आपका उपकार मानना था। संसारके साधु पुरुषोंके दर्शन करनेका मेरा अपना रिवाज है। इसलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्योंका तरजुमा करके उन्हें सुनानेके लिए हेमचंद्रने मुझसे कहा।

"आपके आगमनसे मै बड़ा प्रसन्न हुआ हूं। मैं आशा करता हूं कि आपको यहांका निवास अनुकूल होगा, और यहांके लोगोंसे आप अधिक परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करे।" यों कहकर कार्डिनल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचंद्र मेरे यहां धोती और कुरता पहनकर आये। भली मकान-मालकिनने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौड़कर मेरे पास आई (पाठक यह तो जानते ही हैं कि मैं बार-बार मकान बदलता ही रहता था) और बोली—"एक पागल-सा आदमी आपसे मिलना चाहता है।" मै दरवाजेपर गया और नारायण हेमचंद्रको देखकर दंग रह गया। उनके चेहरेपर वही नित्यका हास्य चमक रहा था।

"पर आपको लड़कोंने नहीं सताया ?"

"हां, मेरे पीछे पड़े जरूर थे, लेकिन मैंने कोई ध्यान नहीं दिया, तो वापस लौट गये।"

नारायण हेमचंद्र कुछ महीने इंग्लैंडमें रहकर पेरिस चले गये। यहां फ्रेंचका अध्ययन किया और फ्रेंच पुस्तकोंका अनुवाद करना शुरू कर दिया। मै इतनी फ्रेंच जान गया था कि उनके अनुवादोंको जांच लूं। मैंने देखा कि वह तर्जुमा नहीं, भावार्थ था।

अंतमें उन्होंने अमेरिका जानेका अपना निश्चय भी निबाहा। बड़ी मुश्किलसे डेक या तीसरे दर्जे का टिकट प्राप्त कर सके थे। अमेरिकामे जब वह धोती और कुरता पहनकर निकले तो असभ्य पोशाक पहननेका जुर्म लगाकर वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। पर जहांतक मुझे याद है, बादमें वह छूट गये।

: २३ :

महाप्रदर्शिनी

१८९० ई०में पेरिसमे एक महाप्रदर्शिनी हुई थी। उसकी तैयारियोंकी बातें मैं अखबारोंमें खूब पढ़ता था। इधर पेरिस देखनेकी तीव्र इच्छा तो थी ही। सोचा कि इस प्रदर्शिनीको देखनेके लिए चला जाऊंगा तो

दुहेरा लाभ हो जायगा। प्रदर्शिनीमे एफिल टावर देखनेका आकर्षण बहुत भारी था। यह टावर बिल्कुल लोहेका बना हुआ है। एक हजार फीट ऊंचा है। इसके पहले लोगोंका खयाल था कि इतनी ऊंची इमारत खड़ी ही नही रह सकती। और भी अनेक बाते प्रदर्शिनीमे देखने लायक थी।

मैंने कही पढ़ा था कि पेरिसमें अन्नाहारके लिए एक स्थान है। मैंने उसमें एक कमरा ले लिया। पेरिसतकका सफर गरीबीसे किया और वहां पहुंचा। सात दिन रहा। बहुत-कुछ तो पैदल ही चलकर देखा। पासमें पेरिस और उस प्रदर्शिनीकी गाइड तथा नक्शा भी रखता था। उसकी सहायतासे रास्ते ढूंढकर मुख्य-मुख्य चीजे देख ली।

प्रदर्शिनीकी विशालता और विविधताके सिवा अब मुझे उसकी किसी चीजका स्मरण नही है। एफिल टावरपर तो दो-तीन बार चढा था, इसलिए उसकी याद ठीक-ठीक है। पहली मंजिलपर खाने-पीनेकी सुविधा भी थी। इसलिए यह कहनेको कि इतनी ऊंचाईपर हमने खाना खाया, मैंने वहां भोजन किया और उसके लिए साढे सात शिलिंगको दियासलाई लगाई।

पेरिसके प्राचीन मंदिरोंकी याद अबतक कायम है। उनकी भव्यता और भीतरकी शान्ति कभी नहीं भुलाई जा सकती। नाट्रेडमकी कारीगरी और भीतरकी चित्रकारी मेरे स्मृति-पटपर अंकित है। यह प्रतीत हुआ कि जिन्होंने लाखों रुपये ऐसे स्वर्गीय मंदिरोंके बनानेमे खर्च किये, उनके हृदयके अंतस्तलमे कुछ-न-कुछ ईश्वर-प्रेम जरूर रहा होगा।

पेरिसका फैशन, वहांका स्वेच्छाचार और भोग-विलासका वर्णन खूब पढ़ा था और उसकी प्रतीति वहाकी गली-गलीमे होती जाती थी। परंतु ये मंदिर उन भोग-सामग्रियोंसे अलग छटक जाते थे। उनके अंदर जाते ही बाहरकी अशांति भूल जाती थी। लोगोंका बर्ताव ही बदल जाता था। वे अदबके साथ बरतने लग जाते थे। वहा शोर-गुल नहीं हो सकता। कमारिका मरियमकी मूर्तिके सामने कोई-न-कोई जरूर

प्रार्थना करता हुआ दिखाई देता। यह सब देखकर चित्त पर यही असर पड़ा कि यह सब वहम नहीं, हृदयका भाव है; और यह भाव दिन-ब-दिन बराबर पुष्ट होता गया। कुमारिकाकी मूर्तिके सामने घुटने टेककर प्रार्थना करनेवाले वे उपासक संगमरमरके पत्थर को नहीं पूज रहे थे; बल्कि उसके अंदर निवास करनेवाली अपनी मनोगत शक्तिको पूजते थे। मुझे आज भी कुछ-कुछ याद है कि उस समय मेरे चित्तपर इस पूजाका ऐसा असर पड़ा कि वे पूजन-द्वारा ईश्वरकी महिमाको घटाते नहीं, बल्कि बढ़ाते हैं।

एफिल टॉवरके विषयमें एक-दो बातें लिख देना ज़रूरी है। मुझे पता नहीं कि एफिल टॉवर आज किस मतलबको पूरा कर रहा है। प्रदर्शिनीमें जानेपर उसके वर्णन तो जरूर ही पढ़नेमें आते थे। उनमें उसकी स्तुति थी और निंदा भी थी। मुझे याद है कि निंदा करनेवालोंमें टॉल्स्टॉय मुख्य थे। उन्होंने लिखा था कि एफिल टॉवर मनुष्यकी मूर्खता-का चिह्न है, उसके ज्ञानका परिणाम नहीं। उन्होंने अपने लेखमें बताया था कि संसारके अनेक प्रचलित नशोंमें तंबाकूका व्यसन सबसे खराब है। जो कुकर्म करनेकी हिम्मत शराबके पीनेसे नहीं होती, वह बीड़ी पीकर आदमीको हो जाती है। शराब आदमीको पागल बना देती है, परंतु बीड़ीसे तो उसकी बुद्धि पर कोहरा छा जाता है और वह हवाई किले बांधने लग जाता है। टॉल्स्टॉयने अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि एफिल टॉवर ऐसे ही व्यसनका परिणाम है।

एफिल टॉवरमें सौंदर्यका तो नाम भी नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उससे प्रदर्शिनीकी शोभा जरा भी बढ़ गई हो। एक नई भारी-भरकम चीज थी। और इसीलिए उसे देखने हजारों आदमी गये थे। यह टॉवर प्रदर्शिनीका एक खिलौना था। और वह इस बातको बड़ी अच्छी तरह सिद्ध कर रहा था कि जबतक हम मोहाधीन हैं तबतक हम भी बालक ही हैं। बस, इसे भले ही हम उसकी उपयोगिता कह लें।

: २४ :

बैरिस्टर तो हुए—लेकिन आगे ?

परंतु जिस कामके लिए, अर्थात् बैरिस्टर बननेके लिए मैं विलायत गया था, उसका क्या हुआ ? मैंने उसका वर्णन आगेके लिए छोड़ रक्खा था। पर अब उसके संबंधमे कुछ लिखनेका समय आ पहुंचा है।

बैरिस्टर बननेके लिए दो बाते आवश्यक थी—एक तो 'टर्म' भरना, अर्थात् सत्रोंमे आवश्यक हाजिरी होना; और दूसरे कानूनकी परीक्षामे शरीक होना। सालमे चार सत्र होते थे। वैसे बारह सत्रोंमे हाजिर रहना जरूरी था। सत्रमें हाजिर रहनेके मानी है 'भोजोंमे उपस्थित रहना।' हरेक सत्रमे लगभग २४ भोज होते है, जिनमेसे छःमे हाजिर रहना जरूरी था। भोजमें जानेसे यह मतलब नही कि वहां कुछ खाना ही चाहिए; सिर्फ निश्चित समयपर वहा हाजिर हो जाना और जबतक वह चलता रहे वहां उपस्थित रहना काफी था। आमतौरपर तो सभी विद्यार्थी उसमे खाते-पीते है। भोजनमे अच्छे-अच्छे पकवान होते और पेयमे ऊंचे दर्जेकी शराब। दाम अलबत्ता देने पड़ते थे। पर यह ढाई या तीन शिलिंगके करीब, अर्थात् दो या तीन रुपयेसे ज्यादा नही होता था। यह रकम वहां बहुत ही कम समझी जाती थी; क्योंकि बाहरके किसी भी भोजनालयमें भोजन करनेवालेको तो सिर्फ शराबके लिए ही इतने दाम देने पड़ते थे। भोजनके खर्चकी बनिस्वत शराब पीनेवालेको शराबके ही दाम अधिक लगते है। हिंदुस्तानमें—यदि हम नये ढगके सुधारक न हों तो—हमे यह बड़ा ही आश्चर्यजनक मालूम होगा। विलायत जानेपर जब यह बात मालूम हुई तो मेरे दिलको बड़ी चोट पहुची। मै नही समझ सका कि शराबके पीछे इतने रुपये खर्च करनेको लोगोंका जी कैसे होता है। पर पीछे मै उनका रहस्य समझने लगा। शुरूमें तो मै ऐसे भोजोंमे कुछ भी नही खाता था; क्योंकि मेरे कामकी चीज तो

वहा केवल रोटी, उबाले हुए आलू या गोभी ही हो सकती थी। शुरूमें तो वे भी अच्छे न लगते थे, इसलिए मैं नहीं खाता था। बादको जब वे मुझे स्वादिष्ट लगने लगे तब तो मुझे दूसरी चीजें प्राप्त करनेका भी सामर्थ्य प्राप्त हो चुका था।

विद्यार्थियोंके लिए एक प्रकारका खाना होता था और बेंचरों (विद्या-मंदिर के अध्यापको) के लिए दूसरे प्रकारका और भारी खाना होता था। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी थे। वह भी निरामिष भोजी बन गये थे। हम दोनोंने मिलकर बेंचरोके भोजनके पदार्थोंमेंसे निरामिष भोजियों के खाने योग्य पदार्थ प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना की। वह मंजूर हुई, और हमे बेंचरोंके टेबलसे फलादि और दूसरे शाक भी मिलने लगे।

शराबको तो मै छूता तक न था। चार-चार विद्यार्थियोंमें शराब की दो-दो बोतले दी जाती थीं। इसलिए ऐसी चौकड़ियो मे मेरी बड़ी मांग होती थी। क्योकि मै शराब नही पीता था, इसलिए शेष दो बोतले तीनों में उड़ सकती थी! फिर इन सत्रोंमे एक बड़ी रात (ग्रैंड नाइट) भी होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी'के अलावा 'शेंपेन' भी मिलती थी। शेंपेनका मजा कुछ और ही समझा जाता है। इसलिए इस बड़ी रातको मेरी कीमत अधिक आंकी जाती थी, और उस रातको हाजिर रहनेके लिए मुझे निमंत्रण भी दिया जाता।

इस खाने-पीने से बैरिस्टरीकी पढाईमे क्या अधिकता हो सकती है, यह मै न तब समझ सका था और न आज ही समझ सका हूं। हां ऐसा एक समय अवश्य था कि जब ऐसे भोजो मे बहुत ही थोड़े विद्यार्थी होते थे। तब उनमे और बेंचरों मे वार्तालाप होता और व्याख्यान भी दिये जाते थे। इसमे उन्हे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो सकता था, भली-बुरी पर एक प्रकारकी सभ्यता वे सीख सकते थे और व्याख्यान देनेकी शक्तिका विकास कर सकते थे। किन्तु मेरे समयमे तो यह सब असभव हो गया था। बेंचर तो दूर अछूत होकर बैठते थे। इस पुराने रिवाजका बादमे

कुछ भी अर्थ नही रह गया था, फिर भी प्राचीनता-प्रेमी—धीमे— इग्लैडमे वह अभीतक चला आ रहा है ।

कानूनकी पढ़ाई आसान थी। बैरिस्टर विनोदमे 'डिनर बैरिस्टर'के नामसे पुकारे जाते थे। सभी जानते थे कि परीक्षाका मूल्य नहींके बराबर है। मेरे समयमे दो परीक्षाए होती थी। रोमन-लॉकी और इंग्लैडके कानूनोंकी। यह परीक्षा दो बार करके दी जाती थी। परीक्षाके लिए पुस्तके नियत थी, परतु उन्हे शायद ही कोई पढता होगा। रोमन लॉके लिए तो छोटे-छोटे 'नोट्स' लिखे हुए मिलते थे। उन्हे पद्रह दिनमे पढकर पास होनेवालोंको भी मैंने देखा है। इग्लैंडके कानूनोंके विषयमे भी यही बात होती थी। उनके 'नोट्स' दो-तीन महीनेमे पढकर पास होनेवाले विद्यार्थियोंको भी मैंने देखा है। परीक्षाके प्रश्न आसान और परीक्षक भी उदार। रोमन लॉमें ९५से ९९ प्रति सैकड़ा विद्यार्थी पास होते थे, और अतिम परीक्षामे ७५ अथवा उससे भी कुछ अधिक। इसलिए फेल होनेका भय बहुत ही कम रहता था। और परीक्षा भी वर्षमे एक नही बल्कि चार बार होती थी। ऐसी सुविधाजनक परीक्षा किसीको भी बोझ नही मालूम हो सकती थी।

परंतु मैने अपने लिए उसे एक बोझ बना लिया था। मैंने सोचा कि मुझे तो मूल पुस्तके सब पढ़ लेनी चाहिएं। उन्हे न पढना अपने-आपको धोखा देना प्रतीत हुआ। इसलिए काफ़ी खर्च करके मूल पुस्तके खरीद ली। रोमन लॉको लैटिनमे पढ जानेका निश्चय किया। विलायतकी प्रवेश-परीक्षामे मैंने लैटिन पढी थी। उससे यह अच्छा फायदा हुआ। यह मिहनत व्यर्थ न गई। दक्षिण अफ्रिकामें रोमन-डच लॉ प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझनेमे मुझे जस्टीनियनका अध्ययन बड़ा ही उपयोगी साबित हुआ।

इग्लैडके कानूनोंका अध्ययन मै काफी मिहनत करने पर नौ महीनेमें पूरा कर सका था। क्योकि ब्रूमकी 'कॉमन लॉ' नामक बडी परतु सरस पुस्तक पढ़नेमे ही बहुत समय लगा था। स्नेलकी 'इक्विटी'मे दिल तो

लगा; परंतु समझनेमें दम निकल गया। व्हाइट और टयूडरके मुख्य मुकदमोंमें जो-जो पढ़नेके थे उन्हे पढ़नेमें आनंद भी आया और ज्ञान भी मिला। विलियम्स और एडवर्ड्सको स्थावर-संपत्ति संबंधी और गुडीकी जंगम संबंधी पुस्तक मैं बड़ी दिलचस्पीके साथ पढ़ सका था। विलियम्सकी पुस्तक तो मुझे उपन्यासके जैसी मालूम हुई। उसे पढ़ते हुए छोड़नेको जी नही चाहता। कानूनी पुस्तकोंमे हिंदुस्तान आनेके बाद, मैं मेइनका 'हिंदू लॉ' उतनी ही दिल्चस्पीके साथ पढ़ सका था, परंतु हिंदुस्तानके कानूनोंकी बात करनेके लिए यह स्थान नही है।

परीक्षाये पास की। १० जून १८९१ ई०को मै बैरिस्टर हुआ ग्यारहवी तारीखको इंग्लैड-हाईकोर्टमें ढाई शिलिग देकर अपना नाम रजिस्टर कराया। बारह जूनको हिंदुस्तान लौट आनेके लिए रवाना हुआ।

परंतु मेरी निराशा और भीतिका कुछ ठिकाना न था। कानून मैंने पढ़ तो लिया, परंतु मेरा दिल यही कहता था कि अभीतक मुझे कानूनका इतना ज्ञान नहीं हुआ कि वकालत कर सकूं।

इस व्यथाका वर्णन करनेके लिए एक दूसरे अध्यायकी आवश्यकता होगी।

: २५ :

मेरी दुविधा

बैरिस्टर कहलाना तो आसान मालूम हुआ, परंतु बैरिस्टरी करना बड़ा मुश्किल जान पड़ा। कानूनकी किताबे तो पढ़ डालीं, पर वकालत करना न सीखा। कानूनकी पुस्तकोंमें कितने ही धर्म-सिद्धांत मुझे मिले, जो मुझे पसद हुए। परंतु यह समझमे न आया कि वकालतके पेशेमें उनसे कैसे फायदा उठाया जा सकेगा। 'अपनी चीजका इस्तेमाल इस तरह करो कि जिससे दूसरोंकी चीजको नुकसान न पहुंचे', यह धर्म-वचन

मुझे कानूनमें मिला। परंतु यह समझमें न आया कि वकालत करते हुए मुवक्किलके मुकदमेमें उसका व्यवहार किस तरह किया जाता होगा। जिन मुकदमोंमें इस सिद्धांतका उपयोग किया गया था, मैंने उनको पढ़ा। परंतु उनसे इस सिद्धांतको व्यवहारमे लानेकी तरकीब हाथ न आई।

दूसरे, जिन कानूनोंको मैंने पढ़ा उनमें भारतवर्षके कानूनोंका नाम तक न था। न यह जाना कि हिंदू-शास्त्र तथा इस्लामी कानून क्या चीज है। अर्जी-दावातक लिखना न जानता था! मै बड़ी दुविधामे पडा। फीरोजशाह मेहताका नाम मैंने सुना था। वह अदालतमें सिंह-समान गर्जना करते है। यह कला वह इंग्लैंडमें किस प्रकार सीखे होंगे? उनके जैसी निपुणता इस जन्ममें तो नही आने की, यह तो दूरकी बात है; किंतु मुझे तो यह भी जबरदस्त शक था कि एक वकीलकी हैसियतसे मै पेट पालनेतकमे भी समर्थ हो सकूंगा या नही!

यह उथल-पुथल तो तभी चल रही थी, जब मैं कानूनका अध्ययन कर रहा था। मैंने अपनी यह कठिनाई अपने एक-दो मित्रोंके सामने रखी। एकने कहा, दादाभाईकी सलाह लो। यह पहले ही लिख चुका हूं कि मेरे पास दादाभाईके नाम एक परिचय-पत्र था। उस पत्रका उपयोग मैंने देरसे किया। ऐसे महान् पुरुषसे मिलने जानेका मुझे क्या अधिकार है? कही यदि उनका भाषण होता तो मै सुनने चला जाता और एक कोनेमे बैठकर आंख-कानको तृप्त करके वापिस लौट आता। उन्होंने विद्यार्थियोंके संपर्कमे आनेके लिए एक मंडलकी भी स्थापना की थी। उसमे मै जाया करता। दादाभाईकी विद्यार्थियों के प्रति चिंता और दादाभाईके प्रति विद्यार्थियोंका आदर-भाव देखकर मुझे बड़ा आनद होता। आखिर हिम्मत बांधकर वह पत्र एक दिन दादाभाईको दिया। उनसे मिला। उन्होंने कहा—"तुम जब कभी मिलना चाहो और सलाह मशवरा लेना चाहो, जरूर मिलना।" लेकिन मैंने उन्हे कभी तकलीफ न दी। बगैर जरूरी कामके उनका समय लेना मुझे पाप मालूम हुआ।

इसलिए, उस मित्रकी सलाहके अनुसार, दादाभाईके सामने अपनी कठिनाइयोंको रखनेकी मेरी हिम्मत न हुई।

उसी अथवा और किसी मित्रने मुझे मि० फ्रेडेरिक पिंकटसे मिलनेकी सलाह दी। मि० पिंकट कंजरवेटिव दलके थे, लेकिन भारतीयोंके प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। बहुत-से विद्यार्थी उनसे सलाह लेते। इसलिए मैंने एक पत्र लिखकर मिलनेको समय मांगा। उन्होंने मुझे समय दिया। मैं मिला। यह मुलाकात मैं आजतक न भूल सका। एक मित्रकी तरह वह मुझसे मिले। मेरी निराशाको तो उन्होंने हंसकर ही उड़ा दिया—"तुम क्यों ऐसा मानते हो कि हर आदमीके लिए फीरोजशाह होना जरूरी है? फीरोजशाह और बदरुद्दीन तो बिरले ही होते हैं। यह तो तुम निश्चय जानो कि एक मामूली मनुष्य प्रामाणिकता तथा उद्योगशीलतासे वकालतका पेशा अच्छी तरह चला सकता है। सब-के-सब मुकदमे कठिन और उलझे हुए नही होते। अच्छा, तुम्हारा सामान्य ज्ञान कैसा-क्या है?"

मैंने उसका जब परिचय दिया तब मुझे वह कुछ निराश-से मालूम हुए। किंतु वह निराशा क्षणिक थी। तुरंत ही फिर उनके चेहरेपर एक हंसीकी रेखा दौड़ गई और बोले—

"तुम्हारी कठिनाईको अब मैं समझ पाया। तुम्हारा सामान्य ज्ञान बहुत ही कम है। तुम्हे दुनियाका ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकीलका काम नही चलता। तुमने तो भारतका इतिहास भी नही पढ़ा। वकीलको मनुष्य-स्वभावका परिचय होना चाहिए। उसे तो चेहरा देखकर आदमीको पहचानना आना चाहिए। दूसरे, हर भारतवासीको भारतवर्षके इतिहासका भी ज्ञान होना जरूरी है। यों वकालतके साथ इसका कोई संबंध नही है; किंतु उसका ज्ञान तुम्हे होना चाहिए। मैं देखता हूं कि तुमने 'के' तथा 'मैलेसन'की १८५७के गदरपर लिखी पुस्तक भी नही पढ़ी है। उसे तो फौरन ही पढ़ लेना। मैं दो पुस्तकोंके नाम और बतलाता हूं। उन्हे मनुष्योंको पहचाननेके लिए जरूर पढ़ डालना। यह कहकर

उन्होंने लॅवेटर तथा शेमलपेनिककी 'मुख सामुद्रिक विद्या' (फिजियॉग्नामी) विषयक दो पुस्तकोंके नाम लिख दिये।

इन बुजुर्ग मित्रका मैंने खूब अहसान माना। उनके सामने तो एक क्षणके लिए मेरा डर भाग गया, किंतु बाहर निकलते ही फिर चिंता शुरू हुई। 'चेहरा देखकर आदमीको पहचान लेना' इस वाक्यको गुनगुनाता और उन दो पुस्तकोंका विचार करता-करता घर पहुचा। दूसरे ही रोज लॅवेटरकी पुस्तक खरीद ली। शेमलपेनिककी किताब उस दुकानपर न मिली। लॅवेटरकी पुस्तक पढ़ी तो सही; किंतु वह तो स्नेलकी 'इक्विटी'-की अपेक्षा भी कठिन मालूम हुई। दिलचस्प भी बहुत कम थी। शेक्सपियरके चेहरेका अध्ययन किया, लेकिन लदनकी सड़कोंपर घूमते-फिरते शेक्सपियरोंको पहचाननेकी शक्ति बिल्कुल न आई।

लॅवेटरकी पुस्तकसे मुझे ज्ञान नही मिला। मि० पिंकटकी सलाहकी अपेक्षा उनके स्नेहसे बहुत लाभ हुआ। उनकी हंसमुख तथा उदार मुख-मुद्राने मेरे दिलमे जगह कर ली। उनके इस वचनपर, कि वकालत करनेके लिए फीरोजशाह मेहताके समान निपुणता, स्मरणशक्ति आदिकी आवश्यकता नही होती, प्रामाणिकता व श्रमशीलतासे काम चल जायगा, मेरा विश्वास बैठ गया। इन दो चीजोंकी पूजी तो मेरे पास काफी थी। अतः दिलकी गहराईमे कुछ आशा बधी।

'के' तथा 'मैलेसन'की पुस्तकको मै विलायतमे न पढ पाया। किंतु मैंने समय मिलते ही पहले उसीको पढ डालनेका निश्चय कर लिया था। दक्षिण अफ्रिकामे जाकर मेरा यह मनोरथ पूरा हुआ।

यों निराशामे आशाका थोड़ा-सा मिश्रण लेकर मै कांपते पैरोसे 'आसाम' स्टीमरसे बंबई बंदरपर उतरा। बंदर पर समुद्र क्षुब्ध था। लाञ्चमें बैठकर किनारेपर पहुंचना था।

भाग पहला समाप्त

दूसरा भाग

: १ :

रायचंदभाई

पिछले अध्यायमें मै लिख चुका हूं कि वंबई-वंदरपर समुद्र क्षुब्ध था। जून-जुलाईमे हिंद-महासागरमें यह कोई नई वात नहीं होती। अदनसे ही समुद्रका यह हाल था। सव लोग बीमार पड़ गये थे—अकेला मैं मौजमें रहा था। तूफान देखनेके लिए डेकपर रहता और भीग भी जाता। सुवह भोजनके समय यात्रियोंमें हम एक ही दो नजर आते। हमे ओटकी पतली लपसीकी रकावीको गोदमें रखकर खाना पड़ता था; वर्ना हालत ऐसी थी कि लपसी गोदमें ही ढुलक पड़ती।

यह वाहरी तूफान मेरे लिए तो अंदरके तूफानका चिह्न-मात्र था। परंतु वाहरी तूफानके रहते हुए भी मैं जिस प्रकार अपनेको शांत रख सकता था, वही वात आंतरिक तूफानके संवंधमें भी कही जा सकती है। जातिवालोंका सवाल तो सामने था ही। वकालतकी चिंताका हाल पहले ही लिख चुका हूं। फिर मै ठहरा सुधारक। अतः मनमे कितने ही सुधार करनेके मनसूवे वांध रखे थे। उनकी भी चिंता थी। एक और अकल्पित चिंता खड़ी हो गई।

माताजीके दर्शन करनेके लिए मै अधीर हो रहा था। जब हम डॉक-पर पहुंचे तो मेरे वड़े भाई वहां मौजूद थे। उन्होंने डाक्टर मेहता तथा उनके बड़े भाईसे जान-पहचान कर ली थी। डाक्टर चाहते थे कि मैं उन्हींके घर ठहरूं, सो वह मुझे वहीं लिवा ले गये। इस तरह विलायतमें

जो संबंध बंधा था वह देशमें भी कायम रहा। यही नहीं, बल्कि अधिक दृढ़ होकर दोनों परिवारोंमें फैला।

माताजीके स्वर्गवासके बारेमे मै बिलकुल बेखबर था। घर पहुंचनेपर मुझे यह समाचार सुनाया और स्नान कराया गया। यह खबर मुझे विलायतमें भी दी जा सकती थी; पर इस विचारसे कि मुझे आघात कम पहुंचे मेरे बड़े भाईने बंबई पहुंचने तक मुझे खबर न पहुंचानेका ही निश्चय किया, अपने इस दुःखपर मैं परदा डालना चाहता हूं। पिताजीकी मृत्युसे अधिक आघात मुझे इस समाचारको पाकर पहुंचा। मेरे कितने ही मनसूबे मिट्टीमे मिल गये। पर मुझे याद है कि इस समाचारको सुनकर मैं रोने-चीखने नही लगा था। आंसूतकको प्रायः रोक पाया था। और इस तरह व्यवहार शुरू रखा, मानो माताजीकी मृत्यु हुई ही न हो।

डाक्टर मेहताने अपने घरके जिन लोगोंसे परिचय कराया, उनमेंसे एकका जिक्र यहा किये बिना नही रह सकता। उनके भाई रेवाशकर जगजीवनके साथ तो जीवन-भरके लिए स्नेह-गाठ बंध गई। परतु जिसकी बात मै कहना चाहता हूं वह तो हैं कवि रायचंद्र अथवा राजचंद्र। वह डाक्टर साहबके बड़े भाईके दामाद थे और रेवाशकर जगजीवनकी दूकानके भागीदार तथा कार्यकर्त्ता थे। उनकी अवस्था उस समय २५ वर्षसे अधिक न थी। फिर भी पहली ही मुलाकातमें मैंने यह देख लिया कि वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शतावधानी माने जाते थे। डाक्टर मेहताने कहा कि इनके शतावधानका नमूना देखना। मैंने अपने भाषा-ज्ञानका भंडार खाली कर दिया और कविजीने मेरे कहे तमाम शब्दोंको उसी नियमसे कह सुनाया, जिस नियमसे मैंने कहा था। इस सामर्थ्यपर मुझे ईर्ष्या तो हुई; किंतु उसपर मै मुग्ध न हो पाया। जिस चीजपर मै मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ। वह था उनका विशाल शास्त्र-ज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शन करनेकी उनकी भारी उत्कठा। मैंने आगे चलकर तो यह भी जाना कि केवल आत्म-दर्शन करनेके लिए वह अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

हसतां रमतां प्रगट हरि देखूं रे
मारुं जीव्युं सफल तव लेखूं रे;
मुक्तानंद नो नाथ विहारी रे
ओधा जीवनदोरी अमारी रे।[1]

मुक्तानंदका यह वचन उनकी जबानपर तो रहता ही था; पर उनके हृदयमें भी अंकित हो रहा था ।

खुद हजारोंका व्यापार करते, हीरे-मोतीकी परख करते, व्यापारकी गुत्थियां सुलझाते, पर वे बाते उनका विषय न थी। उनका विषय—उनका पुरुषार्थ तो—आत्म-साक्षात्कार—हरिदर्शन था। दुकानपर और कोई चीज हो या न हो, एक-न-एक धर्म-पुस्तक और डायरी जरूर रहा करती। व्यापारकी वात जहां खतम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोजनामचेपर कलम चलने लगती। उनके लेखोंका संग्रह गुजरातीमे प्रकाशित हुआ है, उसका अधिकांश इस रोजनामचेके ही आंधारपर लिखा गया है। जो मनुष्य लाखोंके सौदेकी वात करके तुरंत आत्म-ज्ञानकी गूढ़ बाते लिखने बैठ जाता है वह व्यापारीकी श्रेणीका नहीं, वल्कि शुद्ध ज्ञानीकी कोटिका है। उनके संवंधमे यह अनुभव मुझे एक बार नही अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हें कभी गाफिल नही पाया। मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था। मैं उनके वहुत निकट समागममें आया हू। मै उस वक्त एक ठलुआ वैरिस्टर था। पर जव मै उनकी दुकानपर पहुंच जाता तो वह धर्म-वार्ताके सिवा दूसरी कोई वात न करते। इस समयतक मै अपने जीवनकी दिशा न देख पाया था, यह भी नही कह सकते कि धर्म-वार्ताओंमे मेरा मन लगता था। फिर भी मै कह सकता हूं कि रायचंदभाईकी धर्म-वार्ता मै चावसे सुनता था। उनके वाद मै कितने

[1] भावार्थ यह कि मै अपना जीवन तभी सफल समझूँगा, जब म हंसते-खेलते ईश्वरको अपने सामने देखूंगा। निश्चय-पूर्वक वही मुक्तानंदकी जीवन—डोरी है। —अन०

ही धर्माचार्योंके संपर्कमें आया हूं, प्रत्येक धर्मके आचार्योंसे मिलनेका मैंने प्रयत्न भी किया है; पर जो छाप मेरे दिलपर रायचंदभाईकी पड़ी, वह किसी-की न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अंतस्तलतक पहुंच जाती। उनकी बुद्धिको मैं आदरकी दृष्टिसे देखता था। उनकी प्रामाणिकतापर भी मेरा उतना ही आदर-भाव था। और इसमें मैं जानता था कि वह जान-बूझकर उल्टे रास्ते नही ले जायंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे, जिसे वह अपने जीमें ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयोंमे उनकी सहायता लेता।

रायचंदभाईके प्रति इतना आदर-भाव रखते हुए भी मै उन्हे धर्म-गुरुका स्थान अपने हृदयमें न दे सका। धर्म-गुरुकी तो खोज मेरी अबतक चल रही है।

हिंदू-धर्ममें गुरुपदको जो महत्त्व दिया गया है उसे मै मानता हूं। 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांशमें सच है। अक्षर-ज्ञान देनेवाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है, परतु आत्म-दर्शन करानेवाले अधूरे शिक्षकसे हरगिज काम नही चलाया जा सकता। गुरुपद तो पूर्ण ज्ञानीको ही दिया जा सकता है। सफलता गुरुकी खोजमें ही है; क्योंकि गुरु शिष्यकी योग्यताके अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधकको योग्यता-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका पूरा-पूरा अधिकार है। परतु इस प्रयत्नका फल ईश्वराधीन है।

इसीलिए रायचंदभाईको मै यद्यपि अपने हृदयका स्वामी न बना सका, तथापि हम आगे चलकर देखेंगे कि उनका सहारा मुझे समय-समयपर कैसा मिलता रहा है। यहां तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवनपर गहरा असर डालनेवाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं—रायचदभाईने अपने सजीव संसर्गसे, टॉल्सटायने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदयमें है' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किनने 'अनटु दिस लास्ट'—सर्वोदय—नामक पुस्तकसे मुझे चकित कर दिया है। इन प्रसंगोंका वर्णन अपने-अपने स्थानपर किया जायगा।

: २ :

संसार-प्रवेश

बड़े भाईने तो मुझपर बहुतेरी आशायें बांध रखी थी। उन्हें धनका, कीर्तिका, और ऊंचे पदका लोभ बहुत था। उनका हृदय बादशाहके जैसा था। उदारता उड़ाऊपनतक उन्हें ले जाती। इससे तथा उनके भोलेपनके कारण मित्र बनाते उन्हें देर न लगती। उन मित्रोंके द्वारा उन्होंने मेरे लिए मुकदमे लानेकी तजवीज कर रखी थी। उन्होने यह भी मान लिया था कि मै खूब रुपया कमाने लगूंगा और इस भरोसेपर उन्होंने घरका खर्च भी खूब बढ़ा लिया था। मेरे लिए वकालतका क्षेत्र तैयार करनेमें भी उन्होंने कसर न उठा रखी थी।

इधर जातिका झगड़ा अभी खड़ा ही था। उसमें दो दल हो गये थे। एक दलने मुझे तुरंत जातिमें ले लिया। दूसरा न लेनेके पक्षमें अटल रहा। जातिमें ले लेनेवाले दलको संतुष्ट करनेके लिए, राजकोट पहुंचनेके पहले, भाईसाहब मुझे नासिक ले गये। वहां गंगा-स्नान कराया और राजकोटमें पहुंचते ही जाति-भोज दिया गया।

यह बात मुझे रुचिकर न हुई। बड़े भाईका मेरे प्रति अगाध प्रेम था। मेरा खयाल है कि मेरी भक्ति भी वैसी ही थी। इसलिए उनकी इच्छाको आज्ञा मानकर मै यंत्रकी तरह बिना समझे, उसके अनुकूल होता चला गया। जातिकी समस्या तो इतना करनेसे सुलझ गई।

जिस दलसे मैं पृथक् रहा, उसमे प्रवेश करनेके लिए मैने कभी कोशिश न की, और न मै कभी जातिके मखियापर मनमें क्रुद्ध ही हुआ। उसमें ऐसे लोग भी थे जो मुझे तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते थे। उनसे मैं नमता-झुकता रहता। जातिके बहिष्कार-विषयक नियमका पूरा पालन करता। अपने सास-ससुर अथवा बहनके यहां पानीतक न पीता। वे

छिपे-छिपे पिलानेको तैयार होते थे; पर जिस बातको चार आदमियोंके सामने नही कर सकते, उसे छिपकर करनेको मेरा जी न चाहता।

मेरे इस व्यवहारका परिणाम यह हुआ कि मुझे याद नही आता कि जातिवालोने कभी किसी तरह मुझे सताया हो। यही नही, बल्कि मै आज भी जातिके एक विभागसे नियमके अनुसार बहिष्कृत माना जाता हूं, फिर भी मैंने अपने प्रति उनकी तरफसे मान और उदारताका ही अनुभव किया है। उन्होंने मुझे मेरे काममे मदद भी की है, और मुझसे इस बातकी जरा भी आशा न रखी कि मैं जातिके लिहाजसे कोई काम करूं। मेरी यह धारणा है कि इस मधुर फलका कारण है केवल मेरा अप्रतिकार। यदि मैंने जातिमे जानेकी कोशिश की होती, अधिक दलबदी करनेकी चेष्टा की होती, जातिवालोंको छेड़ा और उकसाया होता, तो वे मेरे खिलाफ उठ खड़े होते और मै विलायतसे आते ही, उदासीन और अलिप्त रहनेके बदले, कुचक्रके फदेमें पड़कर केवल मिथ्यात्वका पोषक बन जाता।

पत्नीके साथ मेरा सबध अभी जैसा मै चाहता था वैसा न हुआ। विलायत जानेपर भी अपने द्वेष-दुष्ट स्वभावको मै न छोड़ सका था। हर बातमे मेरी दोष देखनेकी वृत्ति और वहम जारी रहा। इससे मैं अपने मनोरथोंको पूरा न कर सका। सोचा था कि पत्नीको लिखना-पढ़ना सिखाऊंगा; परतु मेरी विषयाशक्तिने मुझे यह काम बिलकुल न करने दिया और अपनी इस कमीका गुस्सा मैंने पत्नीपर निकाला। एक बार तो यहांतक नौबत आ पहुची कि मैंने उसे नैहर भेज दिया और बहुत कष्ट देनेके बाद ही फिर साथ रहने देना स्वीकार किया। आगे चलकर मै देख सका कि यह महज मेरी नादानी ही थी।

बालकोंकी शिक्षा-प्रणालीमे भी मुझे बहुत-कुछ सुधार करने थे। बड़े भाईके लड़के-बच्चे तो थे ही। मे भी एक बच्चा छोड़ गया था, जो कि अब चार सालका होने आया था। सोचा यह था कि इन बच्चोको कसरत कराऊंगा, हट्टा-कट्टा बनाऊंगा और अपने साथ रखूंगा। भाई

इससे सहमत थे। इसमें मैं कुछ-न-कुछ सफलता प्राप्त कर सका। लड़कों-का समागम मुझे बहुत प्रिय मालूम हुआ। और उनके साथ हंसी-मजाक करनेकी आदत आजतक बाकी रह गई है। तभीसे मेरी यह धारणा हुई है कि मै लड़कोंके शिक्षकका काम अच्छा कर सकता हूं।

भोजन-पानमें भी सुधार करनेकी आवश्यकता स्पष्ट थी। घरमें चाय-काफीको तो स्थान मिल ही चुका था। बड़े भाईने सोचा कि भाईके विलायतसे घर आनेके पहले, घरमें विलायतकी कुछ-न-कुछ हवा तो आही जानी चाहिए। इस कारण चीनीके बरतन, चाय आदि जो भी चीजे पहले महज दवा-दारूके लिए अथवा नई रोशनीके महमानोके लिए घरमें रहती थीं अब सबके लिए काम आने लगी। ऐसे वायु-मंडलमें मैं अपने 'सुधारों'को लेकर आया। अब ओटमीलकी पतली लपसी शुरू हुई; चाय-काफीकी जगह कोको आया। पर यह परिवर्तन नाममात्रका हुआ, वास्तवमें तो चाय-काफीमें कोको और आकर शामिल हो गया। बूट और मोजोंने अपना अड्डा पहलेसे जमा ही रखा था। मैंने अब कोट-पतलूनसे घरको पवित्र कर दिया।

इस तरह खर्च बढा। नवीनतायें बढ़ीं। घरपर सफेद हाथी बंधा। पर इतना खर्च आये कहांसे? यदि राजकोटमें आते ही वकालत शुरू करता तो हंसी होनेका डर था, क्योंकि मुझे तो अभी इतना भी ज्ञान न था कि राजकोटमें पास हुए वकीलोंके सामने खड़ा रह सकता—और तिसपर फीस उनसे दस गुनी लेनेका दावा! कौन मवक्किल ऐसा बेवकूफ था, जो मुझे अपना वकील बनाता? अथवा यदि कोई ऐसा मूर्ख मवक्किल मिल भी जाता, तो क्या यह उचित था कि मै अपने अज्ञानमें गुस्ताखी और धोखेबाजीकी जोड़ मिलाकर अपनेपर संसारका कर्ज बढ़ाता?

मित्रोंकी यह सलाह हुई कि पहले मै कुछ समय बंबई जाकर हाई-कोर्टमें अनुभव प्राप्त करूं और भारतके कानून-कायदोंका अध्ययन करूं। साथ ही मुकदमे मिल जायं तो वकालत भी करता रहूं। मै बंबई रवाना हुआ।

घर-बार रचा। रसोइया रखा। वह तकदीरसे मिला मुझ-जैसा ही। ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकरकी तरह नहीं रखा था। वह नहाता तो था, पर धोता न था। धोती मैली, जनेऊ मैला, शास्त्राध्ययनकी तो बात ही दूर। मगर और अधिक अच्छा रसोइया लाता कहा से ?

'क्यो रविशकर, रसोई बनाना तो जानते हो, पर सध्या वगैरा भी कुछ याद है ?'

'संध्या ? साहब, सध्या-तर्पण तो है हल और कुदाली है खटकरम। मै तो ऐसा ही बामन हूं। आप जैसे है, तो निबाह लेते है, नही तो खेती बनी-बनाई है ही।'

मै सब समझ गया। मुझे रविशकरका शिक्षक बनना होगा। समय तो बहुत था; आधी रसोई रविशकर पकाता और आधी मै। विलायतके अन्न-भोजनके प्रयोग यहा शुरू किये। एक स्टोव खरीदा। मै खुद तो पक्ति-भेद मानता ही न था। इधर रविशकरको भी पक्ति-भेदका आग्रह न था। सो हमारी खासी जोड़ी मिल गई। सिर्फ इतनी शर्त—अथवा मुसीबत कहिए—थी कि रविशकर ने मैले-कुचैलेपनसे नाता तोड़ने और रसोई साफ रखनेकी कसम खा रखी थी।

पर मै चार-पाच माससे अधिक बबई न रह सकता था। क्योंकि खर्च बढता ही जाता था और आमदनी कुछ न होती थी।

इस तरह जो मैने संसारमे प्रवेश किया तो अपनी बैरिस्टरी मुझे खलने लगी। आडबर बहुत, आमदनी कम। जिम्मेदारीका खयाल मुझे भीतर-ही-भीतर कुतरने-नोचने लगा।

: ३ :

पहला मुकदमा

बंबईमें एक ओर कानूनका अध्ययन शुरू हुआ, दूसरी ओर भोजनके प्रयोग। उसमे मेरे साथ वीरचंद गांधी सम्मिलित हुए। तीसरी ओर भाईसाहब मेरे लिए मुकदमे खोजनेमें लगे।

कानून पढनेका काम ढिलाईसे चला। 'सिविल प्रोसिजर कोड' किसी तरह आगे नही चल सका। हां, कानून-शहादत ठीक चला। वीरचंद गांधी सालिसिटरीकी तैयारी करते थे, इसलिए वकीलोंकी बाते बहुत करते—"फीरोजशाहकी योग्यता और निपुणताका कारण है उनका कानून-विषयक अगाध-ज्ञान। कानून-शहादत तो उन्हें बर-जबान है। दफा बत्तीसका एक-एक मुकदमा वह जानते है। बदरुद्दीन तैयबजीकी बहस करने और दलीलें देनेकी शक्ति ऐसी अद्भुत है कि जज लोग भी चकित हो जाते है।"

ज्यों-ज्यों मै ऐसे अतिरथी-महारथियोंकी बातें सुनता त्यो-त्यों मेरे छक्के छूटते।

"बैरिस्टर लोगोंका पांच-सात सालतक अदालतोमें मारे-मारे फिरना कोई गैर-मामूली बात नहीं है। इसीसे मैंने सालिसिटर होना ठीक समझा है। तीन सालके बाद यदि तुम अपने खर्च-भरके लिए पैदा कर सको तो बहुत समझना।"

खर्च हर महीने चढ़ रहा था। बाहर बैरिस्टरीकी तख्ती लगी रहती और अंदर बैरिस्टरीकी तैयारी होती रहती! मेरा दिल इन दोनों बातोंमें किसी तरह मेल न बैठा सकता था। इस कारण मेरा अध्ययन बड़ी परेशानीमे चलता। मै पहले कह चुका हूं कि कानून-शहादतमे कुछ मेरा दिल लगा। मेनका 'हिंदू-लॉ' बड़ी दिलचस्पीके साथ पढ़ा। परंतु पैरवी

करनेकी हिम्मत अभी न आई। किंतु अपना यह दुःख मैं किससे कहता ? ससुरालमें आई नई बहूकी तरह मेरी हालत हो गई ।

इतनेमें ही तकदीरसे ममीबाईका मुकदमा मुझे मिला। मामला स्माल कॉज कोर्टमें था। प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'दलालको कमीशन देना पडेगा।' मैंने साफ इन्कार कर दिया।

"परंतु फौजदारी अदालतके नामी वकील भी तो कमीशन देते है, जोकि तीन-चार हजार महीना कमा लेते है ।"

"मुझे उनकी बराबरी नही करनी। मुझे तो ३००) मासिक मिल जायं तो बस। पिताजीको कहा इससे ज्यादा मिलते थे ?"

"पर वह जमाना निकल गया। बंबईका खर्च कितना है ? जरा व्यवहारकी बातोंको भी देखना चाहिए ।"

पर मै टस-से-मस न हुआ। कमीशन बिलकुल न देने दिया। ममीबाईका मुकदमा तो मिला ही। मुकदमा था आसान। मुझे ३०)मिहनताना मिला था। एक दिनसे ज्यादाका काम न था।

स्माल कॉज कोर्टमे पहले-पहल मैं पैरवी करने गया। मैं मुद्दालेकी तरफसे था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी। मै खड़ा हुआ; पर पैर कापने लगे, सिर घूमने लगा। मुझे मालूम हुआ कि सारी अदालत घूम रही है। सवाल क्या पुछू, यह सूझ नही पड़ता था। जज हसा होगा। वकालोंको तो मजा आया ही होगा। पर उस समय मेरी आखे यह सब कहा देख सकती थीं ?

मै बैठ गया। दलालसे कहा कि मैं इस मामलेकी पैरवी न कर सकूगा। तुम पटेलको वकालतनामा दे दो और अपनी यह फीस वापिस ले लो। उसी दिन ५१) देकर पटेल साहबसे तय कर दिया। उनके लिए तो यह बाये हाथका खेल था।

मै वहासे सटका। पता नही, मुवक्किल हारा या जीता। मै बड़ा लज्जित हुआ। निश्चय किया कि जबतक पूरी-पूरी हिम्मत न आ जाय तबतक कोई मुकदमा न लूगा। और दक्षिण अफ्रिका जानेतक अदालतमे

न गया। इस निश्चयमे कोई बल न था। हारनेके लिए कौन अपना मुकदमा मुझे देता? अतः मेरे इस निश्चयके बिना भी कोई मुझे पैरवी करने आनेका कष्ट न देता।

पर बंबईमे अभी एक और मुकदमा मिलना बाकी था। इसमें सिर्फ अर्जी लिखनी थी। एक मुसलमानकी जमीन पोरबंदरमें जब्त हो गई थी। मेरे पिताका नाम वह जानता था। और इसलिए वह उनके बैरिस्टर पुत्रके पास आया था। मुझे उसका मामला कमजोर मालूम हुआ; परंतु मैने अर्जी लिख देना मंजूर कर लिया। छपाई का खर्च मुवक्किलसे ठहराकर मैने अर्जी तैयार की। मित्रोंको दिखाई। उन्होंने उसे पास किया; तब मुझे कुछ विश्वास हुआ कि हां, अब अर्जियां लिख लेने लायक हो जाऊंगा, और इतना तो हो भी गया था।

पर मेरा काम बढ़ता गया। यों मुफ्तमे अर्जिया लिखते रहनेसे अर्जियां लिखनेका मौका तो मिलता; पर उससे घर-गिरस्तीके खर्चका सवाल कैसे हल हो सकता था?

मैंने सोचा कि मै शिक्षकका काम तो अवश्य कर सकता हूं। अंग्रेजी गी अच्छी थी। इसलिए यदि किसी स्कूलमे मैट्रिक क्लासको अंग्रेजी पढ़ानेका अवसर मिले तो अच्छा हो। कुछ तो आमदनी हुआ करेगी।

मैंने अखबारोंमे पढ़ा—'चाहिए, अंग्रेजी शिक्षक। रोज एक घंटेके लिए। वेतन ७५)' यह एक प्रख्यात हाईस्कूलका विज्ञापन था। मैंने दरख्वास्त दी। रूबरू मिलनेका हुक्म मिला। मै बड़ी उमंगसे गया। पर जब आचार्यको मालूम हुआ कि मै बी० ए० नही हूं तब उन्होने मुझे दु:खके साथ वापस लौटा दिया।

"पर मैने लंदनसे मैट्रिक पास किया है। मेरी दूसरी भाषा लैटिन थी।"

"सो तो ठीक; पर हमें ग्रेजुएटकी ही जरूरत है।"

लाचार रहा। मेरे हाथ-पांव ठंडे हो गये। बड़े भाई भी चितामें पड़े। हम दोनोंने सोचा कि बंबईमें अधिक समय गंवाना फिजूल है।

मुझे राजकोटमे ही सिलसिला जमाना चाहिए। भाई खुद एक वकील थे। अर्जियां लिखनेका कुछ-न-कुछ तो काम दिला ही सकेंगे। फिर राजकोटमे घर भी था। वहां रहनेसे बंबईका सारा खर्च कम हो सकता था। मैंने इस सलाहको पसंद किया। पाच-छः महीने रहकर बंबईसे डेरा-डंडा उठाया।

बंबई रहते हुए मै रोज हाईकोर्ट जाता। पर यह नही कह सकता कि वहां कुछ सीख पाया। इतना ज्ञान न था कि सीख सकता। कितनी ही बार तो मुकदमेमें कुछ समझ हो नही पड़ता, न दिल ही लगता। बैठे-बैठे झोंके भी खाया करता। और भी झोंके खाने वाले यहां थे—इससे मेरी शर्मका बोझ हलका हो जाता। आगे चलकर मै यह समझने लगा कि हाईकोर्टमे बैठे-बैठे नीद के झोंके खाना एक फैशन ही समझ लेना चाहिए। फिर तो शर्मका कारण ही न रह गया।

यदि इस युगमे बंबईमे मुझ जैसे कोई बेकार बैरिस्टर हों तो उनके लिए एक छोटा-सा अनुभव यहां लिख देता हूं।

मेरा मकान गिरगावमें था। फिरभी कभी-कभी गाड़ी किराये करता। ट्राममे भी मुशकिलसे बैठता। गिरगांवसे नियम-पूर्वक बहुत करके पैदल ही जाता। उसमे खासे ४५ मिनट लगते। लौटता भी बिला नागा पैदल ही। दिनमे धूप सहनेकी आदत डाल ली थी। इससे मैंने खर्चमे किफायत भी बहुत की और मै एक दिन भी वहां बीमार न पड़ा, हालांकि मेरे साथी बीमार होते रहते थे। जब मै कमाने लगा था, तब भी मैं पैदल ही आफिस जाता। उसका लाभ मैं आजतक पा रहा हूं।

: ४ :

पहला आघात

बंबईसे निराश होकर राजकोट गया। अलहदा दफ्तर खोला। कुछ सिलसिला चला। अर्जियां लिखनेका काम मिलने लगा और प्रतिमास लगभग ३००) की आमदनी होने लगी। इन अर्जियोंके मिलनेका कारण मेरी योग्यता नही बल्कि जरिया था। बड़े भाई साहबके साथी वकीलकी वकालत अच्छी चलती थी। जो बहुत जरूरी अर्जियां आतीं अथवा जिन्हे वे महत्त्वपूर्ण समझते वे तो बैरिस्टरके पास जाती, मुझे तो सिर्फ उनके गरीब मवक्किलोंकी अर्जियां मिलतीं।

बंबईवाली कमीशन न देनेकी मेरी टेक यहां न निभ सकी। वहां और यहांकी स्थितिका भेद मुझे समझाया गया—बंबईमे तो दलालको कमीशन देनेकी बात थी; यहां वकीलको देनेकी बात है। मुझसे कहा गया कि बंबईकी तरह यहां भी तमाम बैरिस्टर, बिना अपवादके, कुछ-न-कुछ कमीशन अवश्य दिया करते हैं। भाई साहबकी दलीलका उत्तर मेरे पास न था। "तुम देखते हो कि मै एक दूसरे वकीलका साझी हूं। मेरे पास आनेवाले मुकदमोंमेंसे तुम्हारे लायक मुकदमे तुम्हें देनेकी ओर मेरी प्रवृत्ति स्वभावत रहती है और यदि तुम अपनी फीसका कुछ अंश मेरे साझीको न दो तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो सकती है? हम तो एक साथ रहते है, इसलिए मुझे तो तुम्हारी फीसका लाभ मिल ही जाता है; पर मेरे साझीदारको नही मिलता। किंतु यदि वही मुकदमा वह किसी दूसरेको दे दे तो उसका हिस्सा अवश्य मिलेगा।" मैं इस दलीलके चक्करमे आ गया और मेरे मनने कहा—"यदि मुझे बैरिस्टरी करना है, तो फिर ऐसे मुकदमोंमें कमीशन न देनेका आग्रह मुझे न रखना चाहिए।" मै झुक गया। अपने मनको फुसलाया अथवा स्पष्ट शब्दोंमें

कहे तो धोखा दिया। पर इसके सिवा दूसरे किसी मामले में कमीशन दिया हो, यह मुझे याद नही पड़ता।

इस तरह यद्यपि मेरा आर्थिक सिलसिला तो लग गया; परतु इसी अरसेमे मुझे अपने जीवनमे एक पहली ठेस लगी। मैंने सिर्फ कानोंसे सुन रखा था कि ब्रिटिश अधिकारी कैसे होते है। पर अब अपनी आखों देखनेका अवसर मिला।

पोरबंदरके भूतपूर्व राणा साहबका गद्दी मिलनेके पहले मेरे भाई उनके मंत्री और सलाहकार थे। उस समय उनपर यह तोहमत लगाई कि वह राणा साहबको उल्टी सलाह देते हैं। तात्कालिक पोलिटिकल एजेटसे उनकी शिकायत की गई थी और उनका ख्याल भाई साहबके प्रति खराब हो रहा था। इन साहबसे मै विलायतमे मिला था। वहा उनकी मेरी ठीक-ठीक मित्रता हो गई थी। भाई साहबने सोचा कि इस परिचयसे लाभ उठाकर मैं पोलिटिकल एजेटसे दो बातें कहूं और उनके दिलपर जो कुछ बुरा असर पैदा हो उसे दूर करनेकी चेष्टा करूं। मुझे यह बात बिलकुल पसंद न हुई। मैंने कहा—"विलायतकी ऐसी-वैसी मुलाकातका फायदा यहां न उठाना चाहिए। यदि भाई साहबने सचमुच ही कोई बुरा काम किया हो, तो फिर सिफारिशसे लाभ ही क्या ? यदि न किया हो तो फिर बाकायदा अपना वक्तव्य पेश करना चाहिए अथवा अपनी निर्दोषतापर विश्वास रखकर निर्भय हो रहना चाहिए।" पर भाई साहबको यह बात न पटी। "तुम काठियावाड़से परिचित नही हो। जिंदगीकी खबर तुम्हें अब पड़ेगी; यहां जरिया और मेल-मुलकातसे सब काम होता है। तुम्हारे जैसा भाई हो और तुम्हारे मुलाकाती हाकिम को थोड़ी-सी सिफारिश करनेका जब वक्त आवे तब तुम इस तरह पिंड छुड़ा लो, यह उचित नही।"

भाईकी मुरव्वत मै न तोड़ सका। अपनी इच्छा के खिलाफ मै गया। मुझे उस हाकिमके पास जानेका कोई अधिकार न था। मैं जानता था कि जानेमे मेरा आत्माभिमान जाता है। मैंने मिलनेका समय मांगा।

वह मिला और मैं गया। मैंने पुरानी पहचान निकाली, परंतु मैंने तुरंत देखा कि विलायत और काठियावाड़में भेद था। हुकूमतकी कुर्सीपर डंटे हुए साहब और विलायतमें छुट्टीपर गये हुए साहबमें भेद था। पोलिटिकल एजेंटको मुलाकात तो याद आई; पर साथ ही अधिक बेरुख भी हुए। उनकी बेरुखाईमें मैंने देखा, उनकी आंखोंमें मैंने पढ़ा—'उस परिचयसे लाभ उठाने तो तुम यहां नहीं आये हो ?' यह जानते-समझते हुए भी मैंने अपना सुर छेड़ा। साहब अधीर हुए—'तुम्हारे भाई कुचक्री हैं। मैं तुमसे ज्यादा बात नहीं सुनना चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाईको कुछ कहना हो तो बाकायदा अर्जी पेश करें।' यह उत्तर बस था; परंतु गरज बावली होती है। मैं अपनी बात कहता ही जा रहा था। साहब उठे। बोले—'अब तुमको चला जाना चाहिए।'

मैंने कहा—"पर, मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए !" साहब लाल-पीले हुए—'चपरासी, इसको दरवाजेके बाहर कर दो।'

'हुजूर' कहकर चपरासी दौड़ आया। मेरा चर्खा अभीतक चल ही रहा था। चपरासीने मेरा हाथ पकड़ा और दरवाजेके बाहर कर दिया।

साहब चले गये, चपरासी भी चला गया। मैं भी चला—झुंझलाया, खिसियाया। मैंने साहबको चिट्ठी लिखी—'आपने मेरा अपमान किया है, चपरासीसे मुझपर हमला कराया है। मुझसे माफी मांगो, नहीं तो बाकायदा मानहानिका दावा करूंगा'। चिट्ठी भेज दी। थोड़ी ही देरमें साहबका सवार जवाब ले आया।

'तुमने मेरे साथ असभ्यताका बर्ताव किया। तुमसे कह दिया था कि जाओ, फिर भी तुम न गये। तब मैंने जरूर चपरासीको कहा कि इन्हें दरवाजेके बाहर कर दो। और चपरासीके ऐसा कहनेपर भी तुम बाहर नहीं गये। तब उसने हाथ पकड़कर तुम्हें दफ्तरसे बाहर कर दिया। इसके लिए तुमको जो-कुछ करना हो, शौकसे करो।' जवाब का भाव यह था।

इस जवाबको जेबमें रख, अपना-सा-मुंह ले, मैं घर आया। भाईसे

सारा हाल कहा। उन्हें दुःख हुआ। पर वह मेरी सांत्वना क्या कर सकते थे ? वकील मित्रोंसे सलाह ली—क्योंकि खुद मैं दावा दायर करना कहा जानता था ? उस समय सर फीरोजशाह मेहता अपने किसी मुकदमेमे राजकोट आये थे। मुझ-जैसा नया बैरिस्टर भला उनसे कैसे मिल सकता था ? जिस वकीलकी मार्फत वह आये थे उनके द्वारा कागज-पत्र भेजकर सलाह ली। उत्तर मिला कि गांधीसे कहना—"ऐसी बातें तो तमाम वकील-बैरिस्टरोंके अनुभवमे आई होंगी। तुम अभी नये आये हो। तुमपर अभी विलायतकी हवा का असर है, तुम ब्रिटिश अधिकारीको पहचानते नहीं। यदि तुम चाहते हो कि सुखसे बैठकर दो पैसे कमा लें तो उस चिट्ठीको फाड़ डालो और अपमानकी यह घूंट पी डालो। मामला चलानेमे तुम्हें एक कौड़ी न मिलेगी और मुफ्तमे बरबादी हाथ आवेगी। जिंदगीका अनुभव तो तुम्हे अभी मिलना बाकी है।"

मुझे यह नसीहत जहरकी तरह कडुई लगी। परतु इस कडुई घूंटको पीये बिना चारा न था। मैं इस अपमानको भूल तो न सका; पर मैंने उसका सदुपयोग किया—"अबसे मैं अपनेको ऐसी हालतमे न डालूंगा। इस तरह किसीकी सिफारिश आगे न करूंगा।" इस नियमका भंग मैंने फिर कभी न किया। इस आघातने मेरे जीवनकी दिशा बदल दी।

: ५ :

दक्षिण अफ्रिकाकी तैयारी

पोलिटिकल एजेटके पास मेरा जाना अवश्य अनुचित था; परंतु उसकी अधीरता, उसका रोष, उसकी उद्धतताके सामने मेरा दोष बहुत छोटा हो गया। मेरे दोषकी सजा धक्का दिलाना न थी। मैं उसके पास पांच मिनट भी न बैठा होऊंगा। पर मेरा तो बात-चीत करना ही उसे

नागवार हो गया। वह मुझे सौजन्यके साथ जानेके लिए कह सकता था, परंतु हुकूमतके नशेकी सीमा न थी। बादको मुझे मालूम हुआ कि धीरज जैसी किसी चीजको यह शख्स जानता न था। मिलने जानेवालेका अपमान करना उसके लिए मामूली बात थी। जहां उसकी रुचिके खिलाफ कोई बात हुई कि फौरन् उसका मिजाज बिगड़ जाता।

मेरा ज्यादातर काम उसीकी अदालतमें था। इधर खुशामद मुझसे हो नहीं सकती थी। और उसे नाजायज तरीकेसे खुश करना मैं चाहता न था। नालिश करनेकी धमकी देकर नालिश न करना और उसे कुछ भी जवाब न देना मुझे अच्छा न लगा।

इस बीच काठियावाड़की अदरूनी खट-पटका भी मुझे कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्योंका प्रदेश है। वहां राजकाजी लोगोंकी बहुतायत होना स्वाभाविक था। राज्योंमें परस्पर गहरे षड्यंत्र, पद-प्रतिष्ठा पानेके लिए षड्यंत्र, राजा कच्चे कानके और पराधीन, साहबोंके चपरासियोंकी खुशामद, सरिश्तेदारको डेढ़ साहब समझिए—क्योंकि सरिश्तेदार साहबकी आंख, साहबके कान, और उसका दुभाषिया सब कुछ। सरिश्तेदार जो बता दे वही कायदा। सरिश्तेदारकी आमदनी साहबकी आमदनीसे ज्यादा मानी जाती थी। संभव है कि इसमें कुछ अत्युक्ति हो। पर यह बात निर्विवाद है कि सरिश्तेदारके थोड़े वेतनके मुकाबलेमें उसका खर्च ज्यादा रहता था।

वह वायुमंडल मुझे जहरके समान प्रतीत हुआ। दिन-रात मेरे मनमें यह विचार रहने लगा कि यहां अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा किस तरह कर सकूंगा?

होते-होते मैं उदासीन रहने लगा। भाईने मेरा यही भाव देखा। यह विचार आया कि कहीं कोई नौकरी मिल जाय तो इन षड्यंत्रोंसे पिंड छूट सकता है। परंतु बिना षड्यंत्रके न्यायाधीश अथवा दीवानका पद कहांसे मिल सकता था। और वकालत करनेके रास्तेमें साहबके साथ वाला झगड़ा खड़ा हुआ था।

पोरबंदरमें राणा साहबको अख्तियार न थे, उसके लिए अधिकार प्राप्त करनेकी तजवीज चल रही थी। मेर लोगों से ज्यादा लगान लिया जाता था। उसके संबंधमें भी मुझे वहांके एडमिनिस्ट्रेटर—मुख्य राज्याधिकारी—से मिलना था। मैंने देखा कि एडमिनिस्ट्रेटरके देशी होते हुए भी उनका रौब-दाब साहबसे भी ज्यादा था। वह थे तो योग्य; परंतु उनकी योग्यताका लाभ प्रजाजनको बहुत न मिलता था। अंतमें राणा साहबको तो थोड़े अधिकार मिले। परतु मेर लोगोके हाथ कुछ न आया। मेरा ख्याल है कि उनकी तो बात भी पूरी न सुनी गई।

इसलिए यहां भी मैं अपेक्षाकृत निराश हुआ। मुझे लगा कि इसाफ नहीं हुआ। इंसाफ पानेके लिए मेरे पास कोई साधन न था। बहुत हुआ तो बड़े साहबके यहा अपील कर दी। वह हुक्म लगा देता—'हम इस मामलेमें दखल नही दे सकते।' ऐसा फैसला यदि किसी कानून-कायदेके बलपर किया जाता हो तब तो आशा की जा सकती है। पर यहां तो साहबकी इच्छा ही कानून था।

आखिर मेरा जी ऊब उठा। इसी अवसरपर भाई साहबके पास पोरबंदरकी एक मेमन दूकानका संदेशा आया—"दक्षिण अफ्रिकामे हमारा व्यापार है। बड़ा कारोबार है। एक भारी मुकदमा चल रहा है। दावा चालीस हजार पौडका है। बहुत दिनोसे मामला चल रहा है। हमारी तरफसे अच्छे-से-अच्छे वकील-बैरिस्टर हैं। यदि आप अपने भाईको हमारे यहां भेजदें तो हमें भी मदद मिलेगी और उनकी भी कुछ मदद हो जायगी। वह हमारा मामला वकीलोंको अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा नये देश की यात्रा होगी और नये-नये लोगोंसे जान-पहचान होगी सो अलग।"

भाई साहबने मुझसे जिक्र किया। मैं सारी बात अच्छी तरह न समझ सका। मैं यह न जान सका कि सिर्फ वकीलोंको समझानेका काम है या मुझे अदालतमे भी जाना पड़ेगा। पर मेरा जी ललचाया जरूर।

दादा अब्दुल्लाके हिस्सेदार स्वर्गीय सेठ अब्दुलकरीम जवेरीकी मुलाकात भाईने कराई। सेठने कहा—"तुमको बहुत मिहनत नहीं करनी पड़ेगी। बड़े-बड़े गोरोंसे हमारी दोस्ती है। उनसे तुम्हारा परिचय होगा। हमारी दूकानके काममें भी मदद कर सकोगे। हमारे यहां अंग्रेजी चिट्ठी-पत्री बहुत होती है। उसमें भी तुम्हारी मदद मिल सकेगी। तुम्हारे रहनेका प्रबंध हमारे ही बंगलेमें रहेगा। इस तरह तुमपर कुछ भी खर्च न पड़ेगा।"

मैंने पूछा—"कितने दिनतक मुझे वहां काम करना पड़ेगा? मुझे वेतन क्या मिलेगा?"

"एक सालसे ज्यादा तुम्हारा काम न रहेगा। आने-जानेका फर्स्ट-क्लासका किराया और भोजन-खर्चके अलावा १०५ पौंड दे देंगे।"

यह वकालत नहीं, नौकरी थी। परंतु मुझे तो जैसे-तैसे हिंदुस्तान छोड़ देना था। सोचा कि नई दुनिया देखेंगे और नया अनुभव मिलेगा सो अलग। १०५ पौंड भाई साहबको भेज दूंगा तो घर-खर्चमें कुछ मदद हो जायगी। यह सोचकर मैंने तो वेतनके संबंधमें बिना कुछ खींचा-खींच किये सेठ अब्दुलकरीमकी बात मान ली और दक्षिण अफ्रिका जानेके लिए तैयार हो गया।

: ६ :

नेटाल पहुंचा

विलायत जाते समय जो वियोग-दुःख हुआ था, वह दक्षिण अफ्रिका जाते हुए न हुआ; क्योंकि माताजी तो चल बसी थीं और मुझे दुनियाका और सफरका अनुभव भी बहुत-कुछ हो गया था। राजकोट और बंबई तो आया-जाया करता ही था। इस कारण अबकी बार सिर्फ पत्नीका ही वियोग दुःखद था। विलायतसे आनेके बाद दूसरे एक बालकका जन्म

हो गया था। हम दंपतीके प्रेममें अभी विषय-भोगका अंश तो था ही। फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायतसे लौटनेके बाद हम बहुत थोड़ा समय एक साथ रहे थे और मै ऐसा-वैसा ही क्यों न हो, उसका शिक्षक बन चुका था। इधर पत्नीकी बहुतेरी बातोंमें बहुत-कुछ सुधार करा चुका था और उन्हें कायम रखनेके लिए भी साथ रहनेकी आवश्यकता हम दोनोंको मालूम होती थी। परंतु अफ्रिका मुझे आकर्षित कर रहा था। उसने इस वियोगको सहन करनेकी शक्ति दे दी थी। 'एक सालके बाद तो हम मिलेंगे ही' कहकर और दिलासा देकर मैने राजकोट छोड़ा, और बंबई पहुचा।

दादा अब्दुल्लाके बंबईके एजेटकी मार्फत मुझे टिकट लेना था। परंतु जहाजपर केबिन खाली न थी। यदि मै यह चूक जाऊं तो फिर मुझे एक मासतक बंबईमें हवा खानी पड़े। एजेटने कहा—"हमने तो खूब दौड़-धूप कर ली। हमें टिकट नही मिला। हा, डेकमें जाय तो बात दूसरी है। भोजनका इंतजाम सैलूनमे हो सकता है।" ये दिन मेरे फर्स्ट क्लासकी यात्राके थे। बैरिस्टर भला कही डेकमे सफर कर सकता है? मैंने डेकमें जानेसे इंकार कर दिया। मुझे एजेटकी बातपर शक भी हुआ। यह बात मेरे माननेमे न आई कि पहले दर्जेका टिकट मिल ही नही सकता। अतएव एजेटसे पूछकर खुद मै ही टिकट लाने चला। जहाजपर पहुंचकर बड़े अफसरसे मिला। पूछने पर उसने सरल भावसे उत्तर दिया—"हमारे यहां मुश्किलसे इतनी भीड़ होती है। परतु मोजांबिकके गवर्नर जनरल इसी जहाजसे जा रहे है। इससे सारी जगह भर गई है।"

"तब क्या आप किसी प्रकार मेरे लिए जगह नही कर सकते?" अफसरने मेरी ओर देखा, हसा और बोला—"एक उपाय है। मेरी केबिनमें एक बैठक खाली रहती है। उसमे हम आदमियोंको नही बैठने देते। पर आपके लिए मै जगह कर देनेको तैयार हूं।" मै खुश हुआ। अफसरको धन्यवाद दिया व सेठसे कहकर टिकट मंगाया। १८९३के अप्रैल मासमे मैं

बड़ी उमंगके साथ अपनी तकदीर आजमानेके लिए दक्षिण अफ्रिका रवाना हुआ।

पहला बंदर लामू मिला। कोई तेरह दिनमें वहां पहुंचे। रास्तेमें कप्तानके साथ खासा स्नेह हो गया था। कप्तानको शतरंज खेलनेका शौक था। पर वह अभी नौसिखिया था। उसे अपनेसे कम जानकार खिलाड़ीकी जरूरत थी और उसने मुझे खेलनेके लिए बुलाया। मैंने शतरंजका खेल कभी देखा न था। हां, सुन खूब रखा था। खेलनेवाले कहा करते कि इसमें बुद्धिका खासा उपयोग होता है। कप्तानने कहा—"मै तुम्हे सिखाऊंगा।" मैं उसे मनचाहा शिष्य मिला; क्योंकि मुझमें धीरज काफी था। मै हारता ही रहता। और ज्यों-ज्यों मैं हारता, कप्तान बड़े उत्साह और उमंगसे सिखाता। मुझे यह खेल पसंद आया। परंतु जहाजसे नीचे वह कभी साथ न उतरा। राजा-रानीकी चाले जाननेसे अधिक मै न सीख सका।

लामू बंदर आया। जहाज वहां तीन-चार घंटे ठहरनेवाला था। मै बदर देखनेको नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। पर उसने मुझे कह दिया था—"यहांका बंदर दगाबाज है। तुम जल्दी वापस आ जाना।'

गाव छोटा-सा था। वहां डाकघरमे गया तो हिंदुस्तानी आदमी देखे। मुझे खुशी हुई। उनके साथ बाते की। हबशियोंसे मिला। उनकी रहन-सहनमे दिलचस्पी पैदा हुई। उसमे कुछ समय चला गया। डेकके और यात्री भी वहा आ गये थे। उनसे परिचय हो गया था। वे भोजन पकाकर आरामसे खाना खाने नीचे उतरे थे। मै उनकी नावमे बैठा। समुद्रमे ज्वार भी खासा था। हमारी नावमें बोझ भी काफी था। तनाव इतने जोरका था कि नावकी रस्सी जहाजकी सीढ़ीके साथ किसी तरह न बंधती थी। नाव जहाजके पास जाकर फिर हट जाती। जहाज रवाना होनेकी पहली सीटी हुई। मै घबराया। कप्तान ऊपरसे देख रहा था। उसने जहाज ५ मिनट रोकने के लिए कहा। जहाजके पास एक मछवा था। उसे १०) देकर एक मित्रने किराये किया। मछवेने

मुझे नावमेंसे उठा लिया। जहाजकी सीढ़ी ऊपर चढ़ चुकी थी। रस्सीके बल मैं ऊपर खींचा गया और जहाज चलने लगा। दूसरे यात्री बेचारे रह गये। कप्तानकी उस चेतावनीका मतलब अब मैंने समझा।

लामूसे मोंबासा और वहांसे जंजीबार पहुंचे। जंजीबारमें बहुत ठहरना था—८ या १० दिन। यहांसे नये जहाजमें बैठना था।

कप्तानके प्रेमकी सीमा न थी। इस प्रेमने मेरे लिए विपरीत रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैर करनेके लिए बुलाया। उसका एक अंग्रेज मित्र भी साथ था। हम तीनों कप्तानके मछवेमें उतरे। इस सैरका मर्म मैं बिलकुल न जानता था। कप्तानको क्या खबर थी कि ऐसी बातोंमें मैं बिलकुल अनजान होऊंगा। हम तो हबशी औरतोंके मुहल्लोंमें जा पहुंचे। एक दलाल हमें वहां ले गया। तीनों एक-एक कमरेमें दाखिल हुए। पर मैं तो शर्मका मारा कमरेमें घुसा बैठा ही रहा। उस बेचारी बाईके मनमें क्या-क्या विचार आये होंगे, यह तो वही जानती होगी। थोड़ी देरमें कप्तानने आवाज लगाई। मैं तो जैसा अंदर घुसा था, वैसा ही वापस बाहर आ गया। यह देखकर कप्तान मेरा भोलापन समझ गया। शुरूमें तो मुझे बड़ी ही शर्म मालूम हुई; परंतु इस कामको तो मैं किसी तरह पसंद नहीं कर सकता था, इससे शर्म चली गई और मैंने ईश्वरका उपकार माना कि इस बहनको देखकर मेरे मनमें किसी प्रकारका विकार-तक उत्पन्न न हुआ। मुझे अपनी इस कमजोरीपर बड़ी ग्लानि हुई कि मैं कमरेमें प्रवेश करनेसे इंकार करनेका साहस क्यों न कर सका।

मेरे जीवनमें यह इस प्रकारकी तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरूआतमें निर्दोष होते हुए भी झूठी शर्मसे बुराईमें लिप्त हो जाते होंगे। मेरा बचाव मेरे पुरुषार्थके बदौलत नहीं हुआ था। यदि मैंने कमरेमें जानेसे साफ इंकार कर दिया होता तो पुरुषार्थ समझा जा सकता था। सो मेरे इस बचावके लिए तो एकमात्र ईश्वरका ही उपकार मानना चाहिए। इस घटनासे ईश्वरपर मेरी आस्था दृढ़ हुई और झूठी शर्म छोड़नेका साहस भी कुछ आया।

जंजीबारमें एक सप्ताह रहना था। इसलिए एक मकान किराये लेकर मैं शहरमें रहा। खूब घूम-फिरकर शहरको देखा। जंजीबारकी हरियालीकी कल्पना सिर्फ मलाबारमें ही हो सकती है। वहांके विशाल वृक्ष, बड़े-बड़े फल, इत्यादि देखकर मैं तो चकित रह गया।

जंजीबारसे मोजांबिक और वहांसे लगभग मईके अंतमें नेटाल पहुंचा।

: ७ :

कुछ अनुभव

नेटालका बंदर यों तो डरबन कहलाता है, पर नेटालको भी बंदर कहते हैं। मुझे बंदरपर लिवाने अब्दुल्ला सेठ आये थे। जहाज धक्केपर आया। नेटालके जो लोग जहाजपर अपने मित्रोंको लेने आये थे, उनके रंग-ढंगसे देखकर मैं समझ गया कि यहां हिंदुस्तानियोंका विशेष आदर नहीं। अब्दुल्ला सेठकी जान-पहचानके लोग उनके साथ जैसा बरताव करते थे उसमें एक प्रकारकी क्षुद्रता दिखाई देती थी, और वह मुझे चुभ रही थी। अब्दुल्ला सेठ इस फजीहतके आदी होगये थे। मुझपर जिनकी नजर पड़ती थी वे मुझे कुतूहलसे देखते थे; क्योंकि मेरा लिबास ऐसा था कि मैं दूसरे हिंदुस्तानियोंसे कुछ निराला मालूम होता था। उस समय फ्रॉक कोट आदि पहने था और सिरपर बंगाली ढंगकी पगड़ी लिये था।

मुझे घर लिवा ले गये। वहां अब्दुल्ला सेठके कमरेके पासका कमरा मुझे दिया गया। वह मुझे नहीं समझ पाते थे; मैं भी उन्हें नहीं समझ पाता था। उनके भाईकी दी हुई चिट्ठी उन्होंने पढ़ी और [illegible]। उन्होंने भी समझ लिया कि भाईने तो यह सफेद हाथी, घर बांधकर [illegible]। मेरी ठाट-बाट उन्हें बड़ा खर्चीला मालूम हुआ। [illegible] उस समय उनके पास कोई खास काम भी था

नही। मामला उनका चल रहा था ट्रांसवालमे। सो तुरंत ही वहा भेजकर वह क्या करते ? फिर यह भी एक सवाल था कि मेरी कार्बालियत और ईमानदारीका विश्वास भी किस हदतक किया जाय ? और प्रिटोरियामे खुद मेरे साथ वह रह नही सकते थे। मुद्दालेह प्रिटोरियामे रहते थे। कही उनका बुरा असर मुझपर होने लगे तो ? और यदि वह मामलेका काम मुझे न दे तो और काम तो उनके कर्मचारी मुझसे भी अच्छा कर सकते थे। फिर कर्मचारीसे यदि भूल हो जाय, तो कुछ कह-सुन भी सकते थे; मुझे तो कहनेसे भी रहे। काम या तो कारकुनीका था या मुकदमे का—तीसरा था नही। ऐसा हालतमे यदि मुकदमेका काम मुझे नही सौंपते है तो घर बैठे मेरा खर्च उठाना पड़ता था।

अब्दुला सेठ पढ़े-लिखे बहुत कम थे। अक्षर-ज्ञान कम था; पर अनुभव-ज्ञान बहुत बड़ा था। उनकी बुद्धि तेज थी; और वह खुद भी इस बातको जानते थे। रफ्तसे अंग्रेजी इतनी जान ली कि बोलचालका काम चला लेते। परंतु इतनी अंग्रेजीके बलपर वह अपना सारा काम चला लेते थे। बैंकमे मैनेजरोंसे बातें कर लेते, यूरोपियन व्यापारियोसे सौदा कर लेते, वकीलोंको अपना मामला समझा देते। हिंदुस्तानियोंमे उनका काफी मान था। उनकी पेढी उस समय हिंदुस्तानियों मे सबसे बड़ी नही तो, बड़ी पेढ़ियोंमे अवश्य थी। उनका स्वभाव वहमी था।

वह इस्लामका बड़ा अभिमान रखते थे। तत्त्वज्ञानकी बातोंके शौकीन थे। अरबी नही जानते थे; फिर भी कुरान-शरीफ तथा आमतौरपर इस्लामी-धर्म-साहित्यकी वाकफियत उन्हे अच्छी थी। दृष्टात तो जबानपर हाजिर रहते थे। उनके सहवाससे मुझे इस्लामका अच्छा व्यावहारिक-ज्ञान हुआ। जब हम एक-दूसरेको जान-पहचान गये, तब वह मेरे साथ बहुत धर्म-चर्चा किया करते।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन अदालत दिखाने ले गये। वहां कितने ही लोगोसे परिचय कराया। अदालतमें अपने वकीलके पास मुझे बिठाया।

मजिस्ट्रेट मेरे मुंहकी ओर देखता रहा। उसने कहा—"अपनी पगड़ी उतार लो।" मैंने इंकार किया और अदालतसे वाहर चला आया।

मेरे नसीवमे तो यहां भी लड़ाई लिखी थी।

पगड़ी उतरवानेका रहस्य मुझे अब्दुल्ला सेठने समझाया। मुसलमानी लिवास पहननेवाला अपनी मुसलमानी पगड़ी यहां पहन सकता है। दूसरे भारतवासियोंको अदालतमें जाते हुए अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

इस सूक्ष्म-भेदको समझानेके लिए यहां कुछ वातें विस्तारके साथ लिखनी होंगी।

मैंने इन दो-तीन दिनमे ही यहां देख लिया था कि हिंदुस्तानियोंने यहां अपने-अपने गिरोह वना लिये थे। एक गिरोह था मुसलमान व्यापारियोंका—वे अपनेको 'अरव' कहते थे। दूसरा गिरोह था हिंदू या पारसी कारकुन-पेशा लोगोंका। हिंदू-कारकुन अधरमें लटकता था। कोई अपनेको 'अरव'में शामिल कर लेता। पारसी अपनेको परशियन कहते। तीनों एक-दूसरेसे सामाजिक संवंध तो रखते थे। एक चौथा और वड़ा समूह था तामिल, तेलगू और उत्तरी भारतके गिरमिटिया अथवा गिरमिटयुक्त भारतीयोंका। गिरमिट 'एग्रिमेंट'का विगड़ा हुआ रूप है। इसका अर्थ है इकरारनामा, जिसके द्वारा गरीव हिंदुस्तानी पांच सालकी मजूरी करनेकी शर्तपर नेटाल जाते थे। गिरमिटसे गिरमिटिया वना है। इस समुदायके साथ औरोंका व्यवहार काम-संवंधी ही रहता था। इन गिरमिटियोंको अंग्रेज कुली कहते। कुलीकी जगह सामी भी कहते। सामी एक प्रत्यय है, जो वहुतेरे तामिल नामोंके अंतमें लगता है। 'सामी'का अर्थ है स्वामी। स्वामीका अर्थ हुआ पति। अतएव 'सामी' शब्दपर जव कोई भारतीय विगड़ पड़ता, और यदि उसकी हिम्मत पड़ी, तो उस अंग्रेजसे कहता—'तुम मुझे सामी तो कहते हो; पर जानते हो 'सामी'के माने क्या होते हैं? सामी 'पति'को कहते हैं, क्या मै तुम्हारा पति हूं?' यह सुनकर कोई अंग्रेज शर्मिंदा हो जाता, कोई खीझ उठता और ज्यादा गालियां देने लगता और मौका पड़े तो मार भी बैठता;

क्योंकि उनके नजदीक तो 'सामी' शब्द घृणा-सूचक होता था—उसका अर्थ 'पति' करना मानो उनका अपमान करना था।

इस कारण मुझे वे कुली-बैरिस्टर कहते। व्यापारी कुली-व्यापारी कहलाते। कुलीका मूल अर्थ 'मजूर' तो एक ओर रह गया। व्यापारी 'कुली' शब्दसे चिढ़कर कहता—'मै कुली नही, मै तो अरब हू;' अथवा 'मै व्यापारी हू।' कोई-कोई विनयशील अंग्रेज यह सुनकर माफी मांग लेते।

ऐसी स्थितिमे पगड़ी पहननेका सवाल विकट हो गया। पगड़ी उतार देनेका अर्थ था मान-भंग सहन करना। सो मैंने तो यह तरकीव सोची कि हिंदुस्तानी पगडीको उतारकर अंग्रेजी टोप पहना करू, जिससे उसे उतारनेमे मान-भंगका भी सवाल न रह जाय और मै इस झगड़ेसे भी बच जाऊ।

पर अब्दुल्ला सेठको यह तरकीब पसद न हुई। उन्होंने कहा—"यदि आप इस समय ऐसा परिवर्तन करेगे तो उसका उलटा अर्थ होगा। जो लोग देशी पगड़ी पहने रहना चाहते होंगे उनकी स्थिति विषम हो जायगी। फिर आपके सिरपर अपने ही देशकी पगड़ी शोभा देती है। आप यदि अंग्रेजी टोपी लगावेगे तो लोग 'वेटर' समझेगे।"

इन वचनोंमे दुनियाबी समझदारी थी, देशाभिमान था, और कुछ सकुचितता भी थी। समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमानके बिना पगड़ी पहननेका आग्रह नही हो सकता था। संकुचितताके बिना 'वेटर'की उपमा न सूझती। गिरमिटिया भारतीयोंमे हिंदू, मुसलमान और ईसाई तीन विभाग थे। जो गिरमिटिया ईसाई हो गये, उनकी संतति ईसाई थी। १८९३ ई०मे भी उनकी संख्या बड़ी थी। वे सव अंग्रेजी लिवासमे रहते। उनका अच्छा हिस्सा होटलमे नौकरी करके जीविका उपार्जन करता। इसी समुदायको लक्ष्य करके अंग्रेजी टोपीपर अब्दुल्ला सेठने यह टीका की थी। उसके अंदर वह भाव था कि होटलमे 'वेटर' बनकर रहना हलका काम है। आज भी यह विश्वास वहुतोंके मनमे कायम है।

कुल मिलाकर अब्दुल्ला सेठकी बात मुझे अच्छी मालूम हुई। मैंने पगड़ीवाली घटनापर पगड़ीका तथा अपने पक्षका समर्थन अखबारोंमें किया। अखबारोंमें उसपर खूब चर्चा चली। 'अनवेलकम विजिटर'—अनचाहा अतिथि—के नामसे मेरा नाम अखबारोंमें आया, और तीन ही चार दिनके अंदर अनायास ही दक्षिण अफ्रिकामें मेरी ख्याति हो गई। किसीने मेरा पक्ष-समर्थन किया, किसीने मेरी गुस्ताखीकी भरपेट निंदा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अंततक कायम रही। वह कब उतरी, यह बात हमे अंतिम भागमें मालूम होगी।

: ८ :

प्रिटोरिया जाते हुए

डरबनमे रहनेवाले ईसाई भारतीयोंके संपर्कमें भी मै तुरंत आ गया। वहांकी अदालतके दुभाषिया श्री पॉल रोमन कैथोलिक थे। उनसे परिचय किया और प्रोटेस्टेट मिशनके शिक्षक स्वर्गीय श्री सुभान गाडफ्रेसे भी मुलाकात की। उन्हींके पुत्र जेम्स गाडफ्रे पिछले साल यहांके दक्षिण अफ्रिकाके भारतीय प्रतिनिधि-मंडलमे आये थे। इन्ही दिनों स्वर्गीय पारसी रुस्तमजीसे जान-पहचान हुई। और इसी समय स्वर्गीय आदमजी मियांखानसे परिचय हुआ। ये सब लोग आपसमें बिना काम एक-दूसरे-से न मिलते थे। अब इसके बाद वे मिलने-जुलने लगेगे।

इस तरह मै परिचय बढ़ा रहा था कि इसी बीच दूकानके वकीलका पत्र मिला कि मुकदमेकी तैयारी होनी चाहिए तथा या तो अब्दुल्ला सेठको खुद प्रिटोरिया जाना चाहिए अथवा दूसरे किसीको वहां भेजना चाहिए।

यह पत्र अब्दुल्ला सेठने मुझे दिखाया और पूछा—"आप प्रिटोरिया जायंगे?" मैंने कहा—"मुझे मामला समझा दीजिए तो कह सकू। अभी

तो में नहीं जान सकता कि वहां क्या करना होगा।" उन्होंने अपने गुमाश्तोके जिम्मे मामला समझानेका काम किया।

मैने देखा कि मुझे तो अ-आ-इ-ईसे शुरुआत करनी होगी। जंजीबारमें उतरकर वहांकी अदालतें देखनेके लिए गया था। एक पारसी वकील किसी गवाहका बयान ले रहा था और जमा-नामेके सवाल पूछ रहा था। मुझे जमा-नामेकी कुछ खबर न पड़ती थी,क्योंकि बहीखाता न तो स्कूलमें सीखा था और न विलायतमे।

मैने देखा कि इस मुकदमेका तो दारोमदार बहीखातोंपर है। जिसे बहीखातेका ज्ञान हो वही मामलेको समझ-समझा सकता है। गुमाश्ता जमा-नामेकी बाते करता था और मै चक्करमें पड़ता चला जाता था। मै नही जानता था कि पी० ग्रोट क्या चीज होती है। कोषमे यह शब्द नही मिलता। मैने गुमाश्तोके सामने अपना अज्ञान प्रकट किया और उनसे जाना कि पा० नोटका अर्थ है प्रामिसरी नोट। अब मैने बहीखातेकी पुस्तक खरीदकर पढ़ी। तब जाकर कुछ आत्म-विश्वास हुआ और मामला समझमें आया। मैने देखा कि अब्दुल्ला सेठ नामा लिखना नही जानते; पर अनुभव-ज्ञान उनका इतना बढ़ा-चढ़ा था कि नामेकी उलझनें चटपट सुलझाते जाते। अंतको मैने उनसे कहा—"मै प्रिटोरिया जानेके लिए तैयार हूं।"

"आप कहां ठहरेगे?" सेठने पूछा।

"जहां आप ठहरेगे।" मैने उत्तर दिया।

'तो मै अपने वकीलको लिखूगा। वह आपके ठहरनेका इंतजाम कर दगे। प्रिटोरियामे मेरे मेमन मित्र हैं। उन्हें भी लिखूगा तो"—पर आपका उनके यहां ठहरना उचित न होगा। वहां अपने प्रतिपक्षीकी पहुंच बहुत है। आपको मै जो खानगी चिट्ठियां लिखूंगा वह यदि उनमेसे कोई पढ ले तो अपना सारा मामला बिगड़ सकता है। उनके साथ जितना कम सबंध हो उतना ही अच्छा।"

मैने कहा—"आपके वकील जहां ठहरावेगे वही ठहरूंगा। अथवा मै

कोई दूसरा मकान ले लूंगा। आप बेफिक्र रहिए, आपकी एक भी खानगी बात बाहर न जायगी। पर मैं मिलता-जुलता सबसे रहूंगा। मैं तो दूसरे पक्षवालोंसे भी मित्रता करना चाहता हूं। यदि हो सकेगा तो मैं मामलेको आपसमें भी निपटानेकी कोशिश करूंगा; क्योंकि आखिर तैयब सेठ हैं तो आपके ही रिश्तेदार न।"

प्रतिवादी स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खानमुहम्मद अब्दुल्ला सेठके नजदीकी रिश्तेदार थे।

मैंने देखा, मेरी इस बातसे अब्दुल्ला सेठ कुछ चौंके; पर अब मुझे डरबन पहुंचे छः-सात दिन हो गये थे और हम एक-दूसरेको जानने, समझने भी लगे थे। अब मैं 'सफेद हाथी' प्रायः नहीं रह गया था। वह बोले—

"हां....आ....आ" यदि समझौता हो जाय तो उससे बढ़कर उम्दा बात क्या हो सकती है? पर हम तो परस्परमें रिश्तेदार हैं, इसलिए एक-दूसरेको अच्छी तरह जानते हैं। तैयब सेठ आसानीसे मान लेने वाले शख्स नहीं हैं। हम यदि भोले-भाले बनकर रहें तो वह हमारे पेटकी बात निकालकर पीछेसे फंसा मारेंगे! ऐसी हालतमें आप जो कुछ करें बहुत सोच-समझकर होशियारीसे करें

"आप बिलकुल चिंता न करें। मुकदमे की बात तो तैयब सेठ क्या, किसीसे भी क्यों करने लगा? पर यदि दोनों आपसमें समझ लें तो वकीलोंके घर न भरने पड़ेंगे।"

सातवें या आठवें दिन मैं डरबनसे रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दरजेका टिकट लिया गया। सोनेकी जगहके लिए वहां ५ शिलिंगका एक अलहदा टिकट लेना पड़ता था। अब्दुल्ला सेठने आग्रहके साथ कहा कि सोनेका टिकट ले लो, पर मैंने कुछ तो हठमें, कुछ मदमें, और कुछ ५ शिलिंग बचानेकी नीयतसे इन्कार कर दिया।

अब्दुल्ला सेठने मुझे चेताया—"देखना यह मुल्क और है; हिंदुस्तान नहीं। खुदाकी मेहरबानी है, आप पैसेका खयाल न करना, अपने आरामका सब इन्तजाम कर लेना।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि आप मेरी चिंता न कीजिए।

नेटालकी राजधानी मेरित्सबर्गमें ट्रेन कोई ९ बजे पहुंची। यहां सोनेवालोंको बिछौने दिये जाते थे। एक रेलवेके नौकरने आकर पूछा—

"आप बिछौना चाहते है !"

मैंने कहा—"मेरे पास एक बिछौना है।"

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे 'काला आदमी' देखकर चकराया। बाहर गया और एक-दो कर्मचारियोंको लेकर आया। किसीने मुझसे कुछ न कहा। अंतको एक अफसर आया। उसने कहा—"चलो, तुमको दूसरे डिब्बेमें जाना होगा।"

मैंने कहा—"पर मेरे पास पहले दरजेका टिकट है।"

उसने उत्तर दिया—"परवा नही, मै तुमसे कहता हूं कि तुम्हे अखीरी डिब्बे में बैठना होगा।"

"मै कहता हू कि मै डरबनसे इसी डिब्बेमें विठाया गया हूं और इसीमें जाना चाहता हूं।"

अफसर बोला—"यह नही हो सकता। तुम्हें उतरना होगा, नही तो सिपाही आकर उतार देगा।"

मैंने कहा—"तो अच्छा, सिपाही आकर भले ही मुझे उतारे, मै अपने आप न उतरूंगा।"

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और धक्का मारकर मुझे नीचे गिरा दिया। मेरा सामान नीचे उतार लिया। मैंने दूसरे डिब्बेमे जानेसे इन्कार किया। गाड़ी चल दी। मै वेटिंग-रूममे जा बैठा। हैडबेग अपने साथ रखा। दूसरे सामानको मैंने हाथ न लगाया। रेलवेवालोंने सामान कहीं रखवा दिया।

मौसम जाड़ेका था। दक्षिण-अफ्रिकामे ऊंची जगहोंपर बड़े जोरका जाडा पडता है। मेरित्सबर्ग ऊंचाईपर था—इससे खूब जाड़ा लगा। मेरा ओवरकोट मेरे सामानमें रह गया था। सामान मांगनेकी हिम्मत न पड़ी कि कहीं फिर बेइज्जती न हो। जाड़ेमें सिकुड़ता और ठिठुरता

रहा। कमरेमें रोशनी न थी। आधी रातके समय एक मुसाफिर आया। ऐसा जान पड़ा मानो वह कुछ बात करना चाहता हो; पर मेरे मनकी हालत ऐसी न थी कि बातें करता।

मैंने सोचा, मेरा कर्तव्य क्या है। या तो मुझे अपने हकोंके लिए लड़ना चाहिए, या वापस लौट जाना चाहिए। अथवा जो बेइज्जती हो रही है, उसे बर्दाश्त करके प्रिटोरिया पहुंचूं और मुकदमेका काम खतम करके देश चला जाऊं। मुकदमेको अधूरा छोड़कर भाग जाना तो कायरता होगी। मुझपर जो-कुछ बीत रही है। वह तो ऊपरी चोट है—वह तो भीतरके महारोगका एक बाह्य लक्षण है। यह महारोग है रंग-द्वेष। यदि इस गहरी बीमारीको उखाड़ फेंकनेका सामर्थ्य हो तो उसका उपयोग करना चाहिए। उसके लिए जो-कुछ कष्ट और दुःख सहन करना पड़े, सहना चाहिए। इन अन्यायोंका विरोध उसी हदतक करना चाहिए, जिस हदतक उसका संबंध रंग-द्वेष दूर करनेसे हो।

ऐसा संकल्प करके मैंने जिस तरह हो दूसरी गाड़ीसे आगे जानेका निश्चय किया।

सुबह मैंने जनरल मैनेजरको तार-द्वारा एक लंबी शिकायत लिख भेजी। दादा अब्दुल्लाको भी समाचार भेजे। अब्दुल्ला सेठ तुरंत जनरल मैनेजरसे मिले। जनरल मैनेजरने अपने आदमियोका पक्ष तो लिया; पर कहा कि मैंने स्टेशनमास्टरको लिख दिया है कि गांधीको बिना खर-खशा अपने मुकामपर पहुंचा दो। अब्दुल्ला सेठने मेरित्सबर्गके हिंदू व्यापारियोंको भी मुझसे मिलने तथा मेरा प्रबंध करनेके लिए तार दिये तथा दूसरे स्टेशनोंपर भी ऐसे तार दे दिये। इससे व्यापारी लोग स्टेशनपर मुझसे मिलने आये। उन्होंने अपनेपर होनेवाले अन्यायोंका जिक्र मुझसे किया और कहा कि आपपर जो-कुछ बीता है यह कोई नई बात नहीं। पहले-दूसरे दरजेमें जो हिंदुस्तानी सफर करते हैं उन्हें क्या कर्मचारी और क्या मुसाफिर, दोनों सताते है। सारा दिन इन्ही बातोके सुननेमे गया। रात हुई, गाड़ी आई। मेरे लिए जगह तैयार थी। डरबनमें सोनेके लिए जिस

टिकटको लेनेसे इन्कार किया था, वही मेरित्सबर्गमें लिया। ट्रेन मझे चार्ल्सटाउन ले चली।

: ९ :

और कष्ट

चार्ल्सटाउन ट्रेन सुबह पहुचती है। चार्ल्सटाउनसे जोहासबगतक पहुंचनेके लिए उस समय ट्रेन न थी। घोड़ागाड़ी थी और बीचमें एक रात स्टैंडरटनमे रहना पड़ता था। मेरे पास घोड़ागाड़ीका टिकट था। मेरे एक दिन पिछड़ जानेसे यह टिकट रद्द न होता था। फिर अब्दुल्ला सेठने चार्ल्सटाउनके घोड़ागाड़ीवालेको तार भी दे दिया था। पर उसे तो बहाना बनाना था। इसलिए मुझे एक अनजान आदमी समझकर उसने कहा—'तुम्हारा टिकट रद्द हो गया है।' मैंने उचित उत्तर दिया। यह कहनेका कि टिकट रद्द हो गया है, कारण तो और ही था। मुसाफिर सब घोड़ागाड़ीके अदर बैठते हैं। पर मैं समझा जाता था 'कुली'; और अनजान मालूम होता था, इसलिए घोडागाडीवालेकी यह नीयत थी कि मुझे गोरे मुसाफिरोंके साथ न बैठाना पड़े तो अच्छा। घोड़ागाड़ीमे बाहर की तरफ, अर्थात् हांकनेवालेके पास, दायें-बाये दो बैठके थी। उनमेंसे एक बैठकपर घोड़ागाड़ी कंपनीका एक अफसर गोरा बैठता। वह अंदर बैठा और मुझे हांकनेवालेके पास बैठाया। मै समझ गया कि यह बिलकुल अन्याय है, अपमान है। परंतु मैंने इसे पी जाना उचित समझा। मैं जबरदस्ती तो अंदर बैठ नहीं सकता था। यदि झगड़ा छेड़ लूं तो घोड़ागाड़ी चल दे और फिर मुझे एक दिन देर हो, और दूसरे दिनका हाल परमात्मा ही जाने। इसलिए मैंने समझदारीसे काम लिया और बैठ गया। मनमें तो बड़ा खीझ रहा था।

कोई तीन बजे घोड़ागाड़ी पारडीकोप पहुंची। उस वक्त गोरे अफसरको मेरी जगह बैठनेकी इच्छा हुई। उसे सिगरेट पीना था। शायद खुली हवा भी खानी हो। सो उसने एक मैला-सा बोरा हांकनेवालेके पाससे लिया और पैर रखनेके तख्तेपर बिछाकर मुझसे कहा—"सामी, तू यहां बैठ, मैं हांकनेवालेके पास बैठूंगा।" इस अपमानको सहन करना मेरे सामर्थ्यके बाहर था, इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा—"तुमने मुझे जो यहां बैठाया, सो इस अपमानको तो मैंने सहन कर लिया। मेरी जगह तो थी अंदर; पर तुमने अंदर बैठकर मुझे यहां बैठाया; अब तुम्हारा दिल बाहर बैठने को हुआ, तुम्हें सिगरेट पीना है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरोंके पास बिठाना चाहते हो। मैं चाहे अंदर चला जाऊं; पर तुम्हारे पैरोंके पास बैठनेको तैयार नहीं।

यह मै किसी तरह कह ही रहा था कि मुझपर थप्पड़ोंकी वर्षा होने लगी और मेरे हाथ पकड़कर वह नीचे खीचने लगा। मैंने बैठकके पास लगे पीतलके सीखचोंको जोरसे पकड़े रखा, और निश्चय कर लिया कि कलाई टूट जानेपर भी सीखचे न छोड़ूंगा। मुझपर जो-कुछ बात रही थी, वह अंदरवाले यात्री देख रहे थे। वह मुझे गालियां दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था; फिर भी मै चुप था। वह तो था बलवान और मै बलहीन। कुछ मुसाफिरोंको दया आई और किसीने कहा—"अजी, बेचारेको वहां बैठने क्यों नही देते? फिजूल उसे क्यों पीटते हो? वह ठीक तो कहता है। वहां नही तो उसे हमारे पास अंदर बैठने दो।" वह बोल उठा—"हरगिज नही।" पर जरा सिटपिटा जरूर गया। पीटना छोड़ दिया, मेरा हाथ भी छोड़ दिया। हां, दो-चार गालियां अलबत्ता और दे डाली। फिर एक हाटेंटाट नौकरको, जो दूसरी तरफ बैठा था, अपने पांवके पास बैठाया और आप खुद बाहर बैठा। मुसाफिर अंदर बैठे। सीटी बजी और घोड़ागाड़ी चली। मेरी छाती धक्‌धक् कर रही थी। मुझे भय था कि मैं जीते-जी मुकामपर पहुंच सकूंगा या नही। गोरा मेरी ओर त्यौरी चढ़ाकर देखता रहता। अंगुलीका इशारा करके

बकता रहा—'याद रख,स्टैंडरटन तो पहुंचने दे,फिर तुझे मजा चखाऊंगा।' मै चुप साधकर बैठा रहा और ईश्वरसे सहायताके लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैंडरटन पहुंचे। कितने ही हिंदुस्तानियोके चेहरे दीखे। कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिंदुस्तानियोंने कहा—'हम आपको ईसा सेठकी दूकानपर ले जानेके लिए खड़े है। दादा अब्दुल्लाका तार आया था।' मुझे बड़ा हर्ष हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमारकी दूकानपर गया। सेठ तथा उनके गुमाश्ते मेरे आस-पास जमा हो गये। मुझपर जो-जो बीती, मैंने कह सुनाई। सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपने कड़ुए अनुभव सुना-सुनाकर मुझे आश्वासन देने लगे। मैं चाहता था कि घोड़ागाड़ी-कपनीके एजेंटको अपनी बीती सुना दू। मैंने उन्हे चिट्ठी लिखी। उस गोरेने जो धमकी दी थी, सो भी लिख दी और मैंने यह भी आश्वासन चाहा कि कल मुझे दूसरे यात्रियोंके साथ अदर बिठाया जाय। एजेंटने मुझे सदेशा भेजा—'स्टैंडरटनसे बड़ी घोड़ागाड़ी जाती है, और हाकनेवाले आदिकी बदली होती है। जिस शख्सकी शिकायत आपने की है, वह कल उसपर न रहेगा। आपको दूसरे यात्रियोंके साथ ही जगह मिलेगी।' इस बातसे मुझे कुछ राहत मिली। उस गोरेपर तो दावा-फर्याद करनेकी मेरी इच्छा ही न थी, इसलिए वह पिटाईका प्रकरण यहीं खतम हो गया। सुबह ईसा सेठके आदमी मुझे घोड़ागाड़ीपर ले गये। अच्छी जगह मिली। बिना किसी दिक्कतके रातको जोहांसबर्ग पहुचा।

स्टैंडरटन छोटा-सा गाव था। जोहांसबर्ग भारी शहर। वहा भी अब्दुल्ला सेठने तार तो दे दिया था। मुझे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकानका पता-ठिकाना लिख दिया था। उनका आदमी घोड़ागाड़ीके ठहरनेकी जगह तो आया था; पर न मैंने उसे देखा, न वही मुझे पहचान सका। मैंने होटलमे जानेका इरादा किया। दो-चार होटलोंके नाम-पते पूछ लिए थे। गाड़ीको ग्रैंड नैशनल होटलमे ले चलनेके लिए कहा। वहां पहुंचते ही मैनेजरके पास गया। जगह मांगी। मैनेजरने मझे नीचेसे ऊपरतक देखा। फिर शिष्टाचार और सौजन्यके साथ कहा,

"मुझे अफसोस है, तमाम कमरे भरे हुए है" और मुझे विदा किया। तब मैंने गाड़ीवालेसे कहा—"मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकानपर चलो।" वहां तो अब्दुलगनी सेठ मेरी राह देख ही रहे थे उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटलमें बीती कह सुनाई। वह एकबारगी हंस पड़े। 'भला होटलमें वह हमें ठहरने देंगे ?'

मैंने पूछा—"क्यों ?"

"यह तो आप तब जानेंगे, जब कुछ दिन यहां रह लेंगे। इस देशमें तो हम ही रह सकते है। क्योंकि हमें रुपया पैदा करना है, इसलिए बहुतेरे अपमान सहन करते है, और पड़े हुए हैं।" यह कहकर उन्होंने ट्रांसवालमें होनेवाले कष्टों और अन्यायोंका इतिहास कह सुनाया।

इन अब्दुलगनी सेठ का परिचय हमें आगे चलकर अधिक कराना पड़ेगा। उन्होंने कहा—"यह मुल्क आपके जैसे लोगोंके लिए नही है। देखिए न, आपको कल प्रिटोरिया जाना है। उसमें तो आपको तीसरे ही दरजेमे जगह मिलेगी ट्रांसवालमें नेटालसे ज्यादा कष्ट है। यहां तो हमारे लोगोंको दूसरे और पहले दरजेके टिकट बिल्कुल देते ही नहीं।"

मैंने कहा—"आप लोगोंने इसके लिए पूरी कोशिश न की होगी।"

अब्दुलगनी सेठ बोले—"हमने लिखा-पढ़ी तो शुरू की है; पर हमारे बहुतेरे लोग तो पहले-दूसरे दरजेमें बैठनेका इच्छा भी क्यों करने लगे ?"

मैंने रेलके कानून-कायदे मंगाकर देखे। उनमे कुछ गुंजाइश दिखाई दी। ट्रांसवालके पुराने कानून-कायदे बारीकीके साथ नहीं बनाये जाते थे। फिर रेलवेके कानूनोंका तो पूछना ही क्या ?

मैंने सेठसे कहा—"मै तो फर्स्ट क्लासमें ही जाऊंगा। और यदि इस तरह न जा सका तो फिर प्रिटोरिया यहांसे सैंतीस ही मील तो है। घोड़ागाड़ी करके चला जाऊंगा।"

अब्दुलगनी सेठने इस बातकी ओर मेरा ध्यान खींचा कि उसमे कितना तो खर्च लगेगा और कितना समय जायगा। पर अंतको उन्होंने मेरी बात मान ली और स्टेशन-मास्टरको चिट्ठी लिखी। पत्रमें उन्होंने लिखा

कि मै बैरिस्टर हूं; हमेशा पहले दरजेमें सफर करता हूं। तुरंत प्रिटोरिया पहुचनेकी ओर उनका ध्यान दिलाया और उन्हे लिखा कि पत्रके उत्तरकी राह देखनेके लिए समय न रह जायगा, अतएव मै खुद ही स्टेशनपर इसका जवाब लेने आऊंगा और पहले दरजेका टिकट मिलनेकी आशा रखूगा। ऐसी चिट्ठी लिखानेमें मेरी एक मसलहत थी। मैंने सोचा कि लिखित उत्तर स्टेशन-मास्टर 'ना' ही दे देगा। फिर उसको 'कुली' बैरिस्टरके रहन-सहनकी पूरी कल्पना न हो सकेगी। इसलिए यदि मै सोलहों आना अंग्रेजी वेश-भूषामें उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊंगा और उससे बात करूगा तो वह समझ जायगा और मुझे टिकट दे देगा। इसलिए मैं फ्राक कोट, नेकटाई इत्यादि डाटकर स्टेशन पहुचा। स्टेशन मास्टरके सामने गिन्नी निकालकर रखी और पहले दरजेका टिकट मांगा।

उसने कहा---"आपने ही वह चिट्ठी लिखी है ?"

मैंने कहा---"जी हा। मै बडा खुश होऊंगा, यदि आप मुझे टिकट दे देगे। मुझे आज ही प्रिटोरिया पहुंच जाना चाहिए।"

स्टेशन-मास्टर हंसा। उसे दया आई। बोला---"मै ट्रासवालर नही हूं; हालेंडर हूं। आपके मनोभावको समझ सकता हूं। आपके साथ मेरी सहानुभूति है। मै आपको टिकट देना चाहता हूं। पर एक शर्त है---यदि रास्तेमें आपको गार्ड उतार दे और तीसरे दरजेमे बिठा दे तो आप मुझे दिक न करें, अर्थात् रेलवे-कंपनीपर दावा न करें। मै चाहता हूं कि आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। मै देख रहा हूं कि आप एक भले आदमी है।" यह कहकर उसने टिकट दे दिया। मैंने उसे धन्यवाद दिया अपनी तरफसे निश्चित किया। अब्दुलगनी सेठ पहुंचाने आये थे। इस कौतुकको देखकर उन्हें हर्ष हुआ, आश्चर्य हुआ; पर मुझे चेताया---'प्रिटोरिया राजा-खुशी पहुच गये तो समझना गगा-पार हुए। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दरजेमे आरामसे न बैठने देगा; और उसने बैठने दिया तो मुसाफिर न बैठने देगे।

मै पहले दरजे के डिब्बेमे जा बैठा। ट्रेन चली। जर्मिस्टन पहुंचने-

पर गार्ड टिकट देखनेके लिए निकला। मुझे देखते ही झल्ला उठा। अंगुलीसे इशारा करके कहा—"तीसरे दर्जेमें जा बैठ।" मैंने अपना पहले दर्जेका टिकट दिखाया। उसने कहा—"इसकी परवा नहीं, चला जा तीसरे दर्जेमे।"

इस डिब्बेमे सिर्फ एक अंग्रेज यात्री था। उसने उस गार्डको डाटा—"तुम इनको क्यों सताते हो? देखते नहीं इनके पास पहले दरजेका टिकट है? मुझे इनके बैठनेसे जरा भी कष्ट नही।" यह कहकर उसने मेरी ओर देखा और कहा—"आप तो आरामसे बैठे रहिए।"

गार्ड गुनगुनाया—'तुझे कुलीके पास बैठना हो तो बैठ, मेरा क्या बिगड़ता है!' और चलता बना।

रातको कोई ८ वजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुंची।

: १० :

प्रिटोरियामें पहला दिन

मैंने आशा रखी थी कि प्रिटोरिया स्टेशनपर दादा अब्दुल्लाके वकीलकी तरफसे कोई-न-कोई आदमी मुझे मिलेगा। मै यह तो जानता था कि कोई हिंदुस्तानी तो मुझे लिवाने आवेगा नही; क्योंकि किसी भी भारतीयके यहां न ठहरनेका अभिवचन मैंने दिया था। वकीलने किसी भी आदमीको स्टेशनपर नही भेजा। पीछे मुझे मालूम हुआ कि जिस दिन मै पहुँचा, रविवार था। और वह बिना असुविधा उठाये उस दिन किसीको न भेज सकते थे। मै असमंजसमे पड़ा। कहां जाऊं? मुझे भय था कि होटलमें कहीं जगह मिलनेकी नही। १८९३का प्रिटोरिया स्टेशन १९१४के प्रिटोरिया स्टशनसे भिन्न था। मंद-मंद बत्तियां जल

रही थी। मुसाफिर भी बहुत न थे। मैंने सोचा कि जब सब यात्री चले जायंगे तब अपना टिकट टिकट-कलेक्टरको दूंगा और उससे किसी मामूली होटल अथवा मकानका पता पूछ लूगा; अन्यथा स्टेशनपर ही पड़कर रात काट दूंगा। इतनी पूछ-ताछ करनेको जी न होता था; क्योंकि अपमानित होनेका भय था। आखिर स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट-कलेक्टर को टिकट देकर पूछ-ताछ प्रारंभ की। उसने विनय-पूर्वक उत्तर दिये। पर मैंने देखा कि उससे अधिक सहायता न मिल सकती थी। उसके नजदीक एक अमेरिकन हबशी खड़ा था। वह मुझसे बातें करने लगा—'मालूम होता है, आप बिलकुल अनजान है और यहां आपका कोई साथी नही हैं। आइए, मेरे साथ चलिए, मैं आपको एक छोटे-से होटलमे ले चलता हू। उसका मालिक अमेरिकन है और उसे मै अच्छी तरह जानता हूं। मैं समझता हूं वह आपको जगह दे देगा।' मुझे कुछ शक तो हुआ; पर मैंने उसे धन्यवाद दिया और उसके साथ जाना स्वीकार किया। वह मुझे जान्स्टनके फेमिली होटलमे ले गया। पहले उसने मि० जान्स्टनको एक ओर ले जाकर कुछ बातचीत की। मि० जान्स्टनने मुझे एक रातके लिए जगह देना मंजूर किया—वह भी इस शर्तपर कि मेरा खाना मेरे कमरेमे पहुचा दिया जायगा।

"मै आपको यकीन दिलाता हूं कि मै तो काले-गोरेका भेदभाव नहीं रखता; पर मेरे ग्राहक सब गोरे लोग ही हैं। यदि मै आपको भोजनालयमें ही भोजन कराऊं तो मेरे ग्राहकोंको आपत्ति होगी और शायद मेरी गाहकी टूट जाय।" मि० जान्स्टनने कहा।

मैंने उत्तर दिया—"मै तो यह भी आपका उपकार समझता हूं, जो आपने एक रातके लिए भी रहनेका स्थान दिया। इस देशकी हालतसे मैं कुछ-कुछ वाकिफ हो गया हूं। आपकी कठिनाई मै समझ सकता हूं। आप मुझे खुशीसे मेरे कमरेमें खाना भिजवा दीजिएगा। कल तो मैं दूसरा प्रबंध कर लेनेकी आशा करता हूं।"

कमरा मिला। अदर गया। एकांत मिलते ही भोजनकी राह

देखता हुआ विचारोंमें लीन हो गया। इस होटलमें अधिक मुसाफिर नहीं रहते थे। थोड़ी ही देरमे वेटरको भोजन लाते हुए देखनेके बजाय मि० जान्स्टनको देखा। उन्होंने कहा—"मैंने आपसे यह कहा तो था कि खाना यही भिजवा दूगा; पर बादको मुझे शर्म मालूम हुई। इसलिए मैंने अपने ग्राहकोंसे आपके संबंधमे बातचीत की और उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि उनके भोजनालयमें आकर भोजन करनेमें हमें कोई एतराज नहीं है। इसलिए आप चाहें तो भोजनशाला में आकर भोजन करें और अब जबतक आप चाहें यहा रहें।"

मैंने दुबारा उनका उपकार माना और भोजनशालामें खाने गया। आरामसे भोजन किया।

दूसरे दिन सुबह वकीलके यहां गया। उनका नाम था ए० डबल्यू० बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठने उनका थोड़ा-बहुत परिचय दे रखा था, इसलिए उनकी पहली मुलाकातसे मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ। वह मुझसे बड़ी अच्छी तरह मिले और मुझसे अपना हाल-चाल पूछा, जो मैंने उन्हे बता दिया। उन्होंने कहा—"बैरिस्टरकी हैसियतसे तो आपका यहां कुछ भी उपयोग न हो सकेगा। हमने अच्छे-से-अच्छे बैरिस्टर इस मामलेमे कर लिये है। मुकदमा मुद्दततक चलेगा और उसमें कई गुत्थियां है। इसलिए आपसे तो मैं इतना काम ले सकूंगा कि आवश्यक वाकफियत वगैरा मुझे मिल जाय। हां, हमारे मवक्किलसे पत्रव्यवहार करना अब आसान हो जायगा। और जो बातें मुझे जाननी होंगी वे आपकी मार्फत उनसे मंगाई जा सकेंगी, यह लाभ जरूर है। आपके लिए मकान तो मैंने अबतक नही खोजा है। सोचा था कि आपसे मिल लेनेके बाद ही खोजना ठीक होगा। यहां रंग-भेद जबरदस्त है। इसलिए घर मिलना आसान भी नही है; परंतु एक बाईको मै जानता हूं। वह गरीब है। भटियारेकी औरत है। मै समझता हूं, वह आपको अपने यहां रहने देगी। उसे भी कुछ मिल जायगा। चलो वहीं चलें।

यह कहकर वह मुझे वहां ले गये। मि० बेकरने पहले बाईके साथ

अकेलेमें बातचीत की। उसने मुझे अपने यहां टिकाना स्वीकार किया। ३५ शिलिंग प्रति सप्ताह देना ठहरा।

मि० बेकर वकील और साथही कट्टर पादरी भी थे। अभी वह मौजूद है। अब तो सिर्फ पादरीका ही काम करते हैं। वकालत छोड़ दी हैं। खा-पीकर सुखी है। अबतक मुझसे चिट्ठी-पत्री करते रहते है। चिट्ठी-पत्रीका विषय एक ही होता है। ईसाई-धर्मकी उत्तमताकी चर्चा वह भिन्न-भिन्न रूपमें अपने पत्रोंमें किया करते है, और यह प्रतिपादन करते है कि ईसामसीहको ईश्वरका एकमात्र पुत्र तथा तारनहार माने बिना परमशांति कभी नही मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकातमे मि० बेकरने धर्म-संबंधी मेरी मनोदशा जान ली। मैंने उनसे कहा—"जन्मतः मै हिंदू हूं; पर मुझे उस धर्मका विशेष ज्ञान नही। दूसरे धर्मोंका ज्ञान भी कम है। मै कहां हूं, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब नही जानता। अपने धर्मका गहरा अध्ययन करना चाहता हू। दूसरे धर्मोका भी यथाशक्ति अध्ययन करनेका विचार है।"

यह सब सुनकर मि० बेकर प्रसन्न हुए और मुझसे कहा—"मै खुद "दक्षिण अफ्रिका जनरल मिशन'का एक डाइरेक्टर हूं। मैने अपने खर्चसे एक गिरजा बनाया है। उसमे मै समय-समयपर धर्म-संबंधी व्याख्यान दिया करता हू। मै रंग-भेद नही मानता। मेरे साथ और लोग भी काम करनेवाले है। हमेशा एक बजे हम कुछ समयके लिए मिलते है और आत्माकी शांति तथा प्रकाश (ज्ञानके उदय)के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमे आप आया करेंगे तो मुझे खुशी होगी। वहां अपने साथियोंका भी परिचय आपसे कराऊंगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे, और मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका समागम प्रिय होगा। आपको कुछ धर्म-पुस्तके भी मैं पढ़नेके लिए दूंगा। परतु सच्ची पुस्तक तो बाइबिल ही है। मै खास तौरपर सिफारिश करता हू कि आप इसे पढ़े।"

मैंने मि० बेकरको धन्यवाद दिया और कहा कि जहांतक हो सकेगा आपके मंडलमें एक बजे प्रार्थनाके लिए आया करूंगा।

"तो कल एक बजे आप यहीं आइयेगा, हम साथ ही प्रार्थना-मंदिर चलेंगे।"

हम अपने-अपने स्थानोंको विदा हुए। अधिक विचार करनेकी फुरसत मुझे न थी। मिस्टर जान्स्टनके पास गया। बिल चुकाया। नये घर गया और वहीं भोजन किया। मकान-मालकिन भलीमानुस थी। उसने मेरे लिए अन्न-भोजन तैयार किया था। इस कुटुंबके साथ हिलमिल जानेमें मुझे समय न लगा। खा-पीकर मैं दादा अब्दुल्लाके उन मित्र से मिलने गया, जिनके नाम उन्होंने पत्र दिया था। उनसे परिचय किया। उनसे हिंदुस्तानियोंके कष्टोंका और हाल मालूम हुआ। उन्होंने मुझे अपने यहां रहनेका आग्रह किया। मैंने उनको धन्यवाद दिया और अपने लिए जो प्रबंध होगया था उसका हाल सुनाया। उन्होंने जोर देकर मुझसे कहा कि जिस किसी बातकी जरूरत हो, मुझे खबर कीजिएगा।

शाम हुई। खाना खाया और अपने कमरेमें जाकर विचारके भंवरमें जा गिरा। मैंने देखा कि अभी हाल तो मेरे लिए कोई काम नहीं है। अब्दुल्ला सेठको खबर की। मि० बेकर जो मित्रता बढ़ा रहे हैं इसका क्या अर्थ है? इनके धर्म-बंधुओंके द्वारा मुझे कितना ज्ञान प्राप्त होगा? ईसाई-धर्मका अध्ययन मैं किस हदतक करूं। हिंदू-धर्मका साहित्य कहांसे प्राप्त करूं। उसे जाने बिना ईसाई-धर्मका स्वरूप मैं कैसे समझ सकूंगा? मैं एक ही निर्णय कर पाया। जो चीज मेरे सामने आजाय उसका अध्ययन मैं निष्पक्ष रहकर करूं और बेकरके समुदायको जिस समय ईश्वर जो बुद्धि दे वह उत्तर दे दिया करूं। जबतक मैं अपने धर्मका ज्ञान पूरा-पूरा न कर सकूं तबतक मुझे दूसरे धर्मको अंगीकार करनेका विचार न करना चाहिए। यह विचार करते-करते मुझे नींद आ गई।

: १३ :

ईसाइयोंसे परिचय

दूसरे दिन एक बजे में मि० बेकरके प्रार्थना-समाजमें गया। वहां कुमारी हैरिस, कुमारी गेब, मि० कोट्स आदिसे परिचय हुआ। सबने घुटने टेककर प्रर्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थनामें जिसका जो मन चाहता, ईश्वरसे मांगता। दिन शांतिके साथ बीते, ईश्वर हमारे हृदयके द्वार खोलो, इत्यादि प्रार्थना होती। उस दिन मेरे लिए भी प्रार्थना की गई। 'हमारे साथ जो यह नया भाई आया है, उसे तू राह दिखाना। तूने जो शांति हमें प्रदान की है, वह इसे भी देना। जिस ईसामसीहने हमें मुक्त किया है, वह इसे भी मुक्त करे। यह सब हम ईसामसीहके नामपर मांगते है।' इस प्रार्थनामे भजन-कीर्तन न होते। किसी विशेष बातकी याचना ईश्वरसे करके अपने-अपने घर चले जाते। यह समय सबके दोपहरके भोजनका होता था, इसलिए सब इस तरह प्रार्थना करके भोजन करने चले जाते। प्रार्थनामें पांच मिनटसे अधिक समय न लगता।

कुमारी हैरिस और कुमारी गेबकी अवस्था प्रौढ़ थी। मि० कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों महिलायें साथ रहती। उन्होंने मुझे हर रविवारको ४ बजे चाय पीनेके लिए अपने यहा आमंत्रित किया। मि० कोट्स जब मिलते तब हर रविवारको उन्हें मै अपना साप्ताहिक धार्मिक-रोजनामचा सुनाता। मैंने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ी, उनका क्या असर मेरे दिलपर हुआ, इसकी चर्चा होती। ये कुमारिकाये अपने मीठे अनुभव सुनाती और अपनेको मिली परम-शांतिकी बातें करतीं।

मि० कोट्स एक शुद्ध भाववाले कट्टर युवक क्वेकर थे। उनसे मेरा घनिष्ठ संबध हो गया। हम बहुत बार साथ घूमने भी जाते। वह मुझे दूसरे भाइयोंके यहां ले जाते।

कोट्सने मुझे किताबोंसे लाद दिया। ज्यों-ज्यों वह मुझे पहचानते जाते त्यों-त्यों जो पुस्तकें उन्हें ठीक मालूम होती, मुझे पढ़नेके लिए देते। मैंने भी केवल श्रद्धाके वशीभूत होकर उन्हें पढ़ना मंजूर किया। इन पुस्तकोंपर हम चर्चा भी करते।

ऐसी पुस्तके मैंने १८९३ मे बहुत पढ़ी। अब सबके नाम मुझे याद नही रहे है। कुछ ये थीं—सिटी टेपलवाले डा० पारकरकी टीका, पियर्सन-की 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स', बटलर कृत 'एनेलाजी' इत्यादि। कितनी ही बातें समझमे न आतीं, कितनी ही पसंद आती, कितनी ही न आतीं। यह सब मै कोट्ससे कहता। 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स' के मानी है 'बहुतसे दृढ़ प्रमाण', अर्थात् बाइबिलमे रचयिताने जिस धर्मका अनुभव किया उसके प्रमाण। इस पुस्तकका असर मुझपर बिलकुल न हुआ। पारकरकी टीका नीतिवर्द्धक मानी जा सकती है; परंतु वह उन लोगोंकी सहायता नही कर सकती जिन्हें ईसाई-धर्मकी प्रचलित धारणाओंपर संदेह है। बटलरकी 'एनेलाजी' बहुत क्लिष्ट और गंभीर मालूम हुई। उसे पांच-सात बार पढ़ना चाहिए। वह नास्तिक को आस्तिक बनानेके लिए लिखी गई मालूम हुई। उसमे ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए जो युक्तियां दी गई हैं, उनसे मुझे लाभ न हुआ; क्योंकि यह मेरी नास्तिकताका युग न था; और जो युक्तियां ईसामसीहके अद्वितीय अवतारके संबंधमें अथवा उसके मनुष्य और ईश्वरके बीच संधि-कर्त्ता होनेके विषयमे दी गई थी, उनकी भी छाप मेरे दिलपर न पड़ी।

पर कोट्स पीछे हटनेवाले आदमी न थे। उनके स्नेहकी सीमा न थी। उन्होंने मेरे गलेमें वैष्णवकी कंठी देखी। उन्हें यह वहम मालूम हुआ, और देखकर दुःख हुआ। "यह अंध-विश्वास तुम जैसोंको शोभा नही देता। लाओ तोड दूं।"

"यह कंठी-तोड़ी नही जा सकती। माताजीकी प्रसादी है।"

"पर तुम्हारा इसपर विश्वास है?"

"मै इसका गूढ़ार्थ नही जानता। यह भी नहीं भासित होता कि यदि

इसे न पहनू तो कोई अनिष्ट हो जायगा। परंतु जो माला मुझे माताजीने प्रेम-पूर्वक पहनाई है, जिसे पहनानेमे उसने मेरा श्रेय माना, उसे मै बिना प्रयोजन नही निकाल सकता। समय पाकर जीर्ण होकर जब वह अपने-आप टूट जायगी तब दूसरी मंगाकर पहननेका लोभ मुझे न रहेगा; पर इसे नही तोड़ सकता।"

कोट्स मेरी इस दलीलकी कद्र न कर सके; क्योंकि उन्हे तो मेरे धर्मके प्रति ही अनास्था थी। वह तो मुझे अज्ञान-कूपसे उबारनेकी आशा रखते थे। वह मुझे यह बताना चाहते थे कि अन्य धर्मोमे थोड़ा-बहुत सत्यांश भले ही हो; परंतु पूर्ण सत्य-रूप ईसाई-धर्मको स्वीकार किये बिना मोक्ष नही मिल सकता, और ईसामसीहकी मध्यस्थताके बिना पाप-प्रक्षालन नही हो सकता, तथा पुण्य कर्म सारे निरंथक है। कोट्सने जिस प्रकार पुस्तकोसे परिचय कराया उसी प्रकार उन ईसाइयोसे भी कराया, जिन्हें वह कट्टर समझते थे। इनमे एक प्लीमथ ब्रदर्सका भी परिवार था।

'प्लीमथ ब्रदरन्' नामक एक ईसाई-संप्रदाय है। कोट्सके कराये बहुतेरे परिचय मुझे अच्छे मालूम हुए। ऐसा जान पड़ा कि वे लोग ईश्वर-भीरु थे; परंतु इस परिवारवालोंने मेरे सामने यह दलील पेश की—"हमारे धर्मकी खूबी ही तुम नही समझ सकते। तुम्हारी बातोंसे हम देखते है कि तुम हमेशा बात-बातमे अपनी भूलोंका विचार करते हो, हमेशा उन्हें सुधारना पड़ता है, न सुधरें तो उनके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रियाकांडसे तुम्हें मुक्ति कब मिल सकती है? तुमको शाति तो मिल ही नही सकती। हम पापी है, यह तो आप कबूल ही करते है। अब देखो हमारे धर्म-मन्तव्यकी परिपूर्णता। वह कहता है मनुष्यका प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी उसे मुक्तिकी तो जरूरत है ही। ऐसी दशामे पापका बोझ उसके सिरसे उतरेगा किस तरह? इसकी तरकीब यह कि हम उसे ईसामसीहपर ढो देते है; क्योंकि वह तो ईश्वरका एकमात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो मुझे मानता है वह सब पापोंसे छूट जाता है। ईश्वरकी यह अगाध उदारता है। ईसामसीहकी इस

मुक्ति-योजनाको हमने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमें नहीं लगते। पाप तो मनुष्यसे होते ही हैं। इस जगत्मे बिना पापके कोई कैसे रह सकता है ? इसलिए ईसामसीहने सारे ससारके पापोंका प्रायश्चित्त एकबारगी कर लिया। उसके इस बलिदानपर जिसकी श्रद्धा हो वही शांति प्राप्त कर सकता है। कहां तुम्हारी शांति और कहां हमारी शांति !"

यह दलील मुझे बिलकुल न जंची। मैंने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—"यदि सर्वमान्य ईसाई-धर्म यही हो, जैसाकि आपने बयान किया है, तो इससे मेरा काम नहीं चल सकता। मैं पापके परिणामसे मुक्ति नहीं चाहता, मै तो पाप-प्रवृत्तिसे, पाप-कर्मसे मुक्ति चाहता हूं। जबतक वह न मिलेगी, मेरी अशांति मुझे प्रिय लगेगी।"

प्लीमथ ब्रदरने उत्तर दिया—"मै तुमको निश्चयसे कहता हूं कि तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बातपर फिरसे विचार करना।"

और इन महाशयने जैसा कहा था वैसा ही कर भी दिखाया—जान-बूझकर बुरा काम कर दिखाया।

परतु तमाम ईसाइयोंकी मान्यता ऐसी नहीं होती, यह बात तो मैं इनसे परिचय होनेके पहले भी जान चुका था। कोट्स खुद पाप-भीरु थे। उनका हृदय निर्मल था, वह हृदय-शुद्धिकी संभावनापर विश्वास रखते थे। वे बहनें भी इसी विचारकी थीं। जो-जो पुस्तकें मेरे हाथ आईं उनमें कितनी ही भक्ति-पूर्ण थीं, इसलिए प्लीमथ ब्रदर्सके परिचयसे कोट्सको जो चिंता हुई थी उसे मैंने दूर कर दिया और उन्हें विश्वास दिलाया कि प्लीमथ ब्रदरकी अनुचित धारणाके आधारपर मै सारे ईसाई-धर्मके खिलाफ अपनी राय न बना लूंगा। मेरी कठिनाइयां तो बाइबिल तथा उसके रूढ़ अर्थके संबंधमें थीं।

: १२ :

भारतीयोंसे परिचय

ईसाइयोंके परिचयोंके संबंधमें और अधिक लिखनेके पहले उन्हीं दिनों हुए अन्य अनुभवोंका वर्णन करना आवश्यक है।

नेटालमे जो स्थान दादा अब्दुल्लाका था, वही प्रिटोरियामे सेठ तैयब हाजी खानमुहम्मदका था। उनके बिना वहां एक भी सार्वजनिक काम नही हो सकता था। उनसे मैंने पहले ही सप्ताहमे परिचय कर लिया। प्रिटोरियाके प्रत्येक भारतीयके सपर्कमें आनेका अपना विचार मैंने उनपर प्रकट किया। भारतीयोंकी स्थितिका निरीक्षण करनेकी अपनी इच्छा उनपर प्रदर्शित करके इस कार्यमें उनकी सहायता मांगी। उन्होंने खुशीसे सहायता देना स्वीकार किया।

पहला काम जो मैंने किया, वह था समस्त भारतीयोंका एक सभा करना, जिसमें उनके सामने वहांकी स्थितिका चित्र रखा जाय। सेठ हाजी मुहम्मद हाजी जुसबके यहा, जिनके नाम मुझे परिचय-पत्र मिला था, सभा की गई। उनमें प्रधानतः मेमन व्यापारी शरीक हुए थे। कुछ हिंदू भी थे। प्रिटोरियामे हिंदुओंकी आबादी बहुत कम थी।

जीवनमें मेरा यह पहला भाषण था। मैंने तैयारी ठीक की थी। मुझे 'सत्य'पर बोलना था। व्यापारियोंके मुहसे मैं सुनता आया था कि व्यापारमें सच्चाईसे काम नही चल सकता। उस समय मै यह बात नही मानता था। आज भी नही मानता हूं। व्यापार और सत्य दोनों एकसाथ नहीं चल सकते, ऐसा कहनेवाले व्यापारी मित्र आज भी मौजूद हैं। वे व्यापारको व्यवहार कहते हैं, सत्यको धर्म कहते है और युक्ति पेश करते हैं कि व्यवहार एक चीज है और धर्म दूसरी। व्यवहारमें शुद्ध सत्यसे काम नहीं चल सकता। वे मानते हैं कि उसमें तो यथाशक्ति ही सत्य बोला और बरता जा सकता है। मैंने अपने भाषणमें इस बातका

प्रबल विरोध किया और व्यापारियोंको उनके दुहरे कर्त्तव्यका स्मरण दिलाया। मैंने कहा—"विदेशमे आनेके कारण आपकी जवाबदेही देशसे अधिक बढ़ गई है; क्योंकि मुट्ठी भर हिंदुस्तानियोंके रहन-सहनसे लोग करोड़ों भारतवासियोंका अंदाजा लगाते हैं।"

मैंने देख लिया था कि अंग्रेजोके रहन-सहनके मुकाबलेमें हिंदुस्तानी गंदे रहते है और उनको मैंने यह त्रुटि दिखाई।

हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मदरासी, पंजाबी, सिंधी, कच्छी, सूरती इत्यादि भेदोंको भुला देनेपर जोर दिया। और अंतको यह सूचित किया कि एक मंडलकी स्थापना करके भारतीयोंके कष्टों और दु:खोंका इलाज अधिकारियोंसे मिलकर, प्रार्थना-पत्र आदिके द्वारा, करना चाहिए। और अपनी तरफसे यह कहा कि इसके लिए मुझे जितना समय मिल सकेगा बिना वेतन देता रहूंगा।

मैंने देखा कि सभापर इसका अच्छा असर हुआ।

चर्चा हुई। कितनोंने ही कहा कि हम हकीकते ला-लाकर देंगे। मुझे हिम्मत आई। मैंने देखा कि सभामे अंग्रेजी जाननेवाले कम थे। मुझे लगा कि ऐसे प्रदेशमे यदि अंग्रेजीका ज्ञान अधिक हो तो अच्छा, इसलिए मैंने कहा कि जिन्हें फुर्सत हो उन्हें अंग्रेजी सीख लेनी चाहिए। बड़ी उम्रमे भी चाहें तो पढ़ सकते है, यह कहकर उन लोगोंकी मिसालें दी जिन्होंने प्रौढ़ावस्थामें पढ़ा था। कहा कि यदि कुछ लोग या एक वर्ग जितने लोग पढ़ना चाहें तो मैं पढ़ानेको तैयार हूं। वर्ग तो निकला परंतु तीन शख्स अपनी सुविधासे व उनके घर जाकर पढ़ाऊं तो पढ़नेके लिए तैयार हुए। इनमे दो मुसलमान थे, एक नाई था और एक था कारकुन। एक हिंदू छोटा-सा दुकानदार था। मै सबकी सुविधाके अनुकूल हुआ। अपनी पढ़ानेकी योग्यता और क्षमताके संबंधमे तो मुझे अविश्वास था ही नही। मेरे शिष्य भले ही थक गये हों; पर मैं न थका। कभी उनके घर जाता तो उन्हें फुरसत नही रहती। मैंने धीरज न छोड़ा। किसीको अंग्रेजीका पंडित तो होना ही न था; परंतु दो विद्यार्थियोंने कोई आठ

मासमे अच्छी प्रगति कर ली। दोनोंने बहीखातेका तथा चिट्ठी-पत्री लिखनेका ज्ञान प्राप्त कर लिया। नाईको तो इतना ही पढ़ना था कि वह अपने ग्राहकोंसे बातचीत कर सके। दो आदमी इस पढ़ाईकी बदौलत ठीक कमानेका भी सामर्थ्य प्राप्त कर सके।

सभाके परिणामसे मुझे संतोष हुआ। ऐसी सभा हर मास अथवा हर सप्ताह करनेका निश्चय हुआ।

न्यूनाधिक नियमित रूपमें यह सभा होती तथा विचार-विनिमय होता। इसके फलस्वरूप प्रिटोरियामे शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा, जिसे मैं पहचानता न होऊं या जिसकी स्थितिसे वाकिफ न होऊं। भारतीयोंकी स्थितिकी ऐसी जानकारी प्राप्त कर लेनेका परिणाम यह हुआ कि मुझे प्रिटोरिया-स्थित ब्रिटिश एजेंटसे परिचय करनेकी इच्छा हुई। मै मि० जेकोब्स डिवेटसे मिला। उनके मनोभाव हिंदुस्तानियोंकी ओर थे। पर उनकी पहुंच कम थी। फिर भी उन्होंने भरसक सहायता करनेका आश्वासन दिया और कहा— "जब जरूरत हो तो मिल लिया करो।" रेलवे-अधिकारियोंसे लिखा-पढ़ी की और उन्हें दिखाया कि उन्हीके कायदोंके अनुसार हिंदुस्तानियोंकी यात्रामे रोक-टोक नही हो सकती। उसके उत्तरमें यह पत्र मिला कि साफ-सुथरे और अच्छे कपड़े पहननेवाले भारतवासियोंको ऊपर दरजेके टिकट दिये जायंगे। इससे पूरी सुविधा तो न हुई; *क्योंकि अच्छे कपड़ोंका निर्णय तो आखिर स्टेशन-मास्टर ही करता न ?*

ब्रिटिश एजेंटने मुझे हिंदुस्तानियोंसे संबंध रखनेवाली चिट्ठियां दिखाईं। तैयब सेठने भी ऐसे पत्र दिये। उनसे मैंने जाना कि आरेंज फ्री स्टेटसे हिंदुस्तानियोंके पैर किस प्रकार निर्दयतासे उखाड़े गये। संक्षेपमें कहूं तो प्रिटोरियामे मैं भारतवासियोंकी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थितिका गहरा अध्ययन कर सका। मुझे इस समय यह बिलकुल पता न था कि यह अध्ययन आगे चलकर बड़ा काम आवेगा;

क्योंकि मैं तो एक साल बाद अथवा मामला जल्दी तय हो जाय तो उसके पहले देश चला जानेवाला था।

पर ईश्वरने कुछ और ही सोचा था।

: १३ :

कुलीपनका अनुभव

ट्रांसवाल तथा ऑरेंज फ्री स्टेटके भारतीयोंकी दशाका पूरा चित्र देनेका यह स्थान नहीं। उनके लिए पाठकोंको 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रह-का इतिहास' पढ़ना चाहिए; परंतु उसकी रूप-रेखा यहां देना आवश्यक है।

ऑरेंज फ्री स्टेटमें १८८२ ईस्वीमें अथवा उसके पहले एक कानून बनाकर भारतीयोंके तमाम अधिकार छीन लिये गये थे। सिर्फ होटलमें 'वेटर' बनकर रहनेकी आजादी भारतीयोंको रह गई थी। जो भारतीय व्यापारी वहां थे उन्हें नाम-मात्रके लिए मुआवजा देकर वहांसे हटा दिया गया। उन्होंने प्रार्थना-पत्र इत्यादि तो भेजे-भिजाये; पर नक्कारखाने में तूतीकी आवाज कौन सुनता!

ट्रांसवालमे १८८५में सख्त कानून बना। १८८६में उसमें कुछ सुधार हुआ; जिसके फलस्वरूप यह नियम बना कि तमाम हिंदुस्तानी प्रवेश-फीसके तौरपर ३ पौंड दें। जमीनकी मालिकी भी उन्हें उन्हीं जगहोंमें मिल सकती है, जो उनके लिए खास तौरपर बताई जाय। पर वास्तवमें तो किसीको मालिकी मिली न थी; और मताधिकार भी किसीको कुछ न था। ये तो कानून ऐसे थे, जिनका संबंध एशियावासियोंसे था; परंतु जो कानून श्यामवर्णके लोगोंके लिए थे वे भी एशियावासियोंपर लागू होते थे। उसके अनुसार भारतवासी फुटपाथपर अधिकार-पूर्वक न चल सकते थे, रातको नौ बजेके बाद बिना परवानेके बाहर न निकल

सकते थे। इस अंतिम कानूनका अमल भारतवासियोंपर कहीं कम होता, कही ज्यादा। जो अरब कहलाते थे, उनपर बतौर मेहरबानीके यह कानून लागू न भी किया जाता; पर यह बात थी पुलिसकी मरजीपर अवलंबित।

अब मुझे यह देखना था कि इन दोनों कानूनोंका अमल खुद मेरे साथ किस तरह होता है। मि० कोट्सके साथ मैं बहुत बार घूमनेके लिए जाता। घर पहुंचते कभी दस भी बज जाते। ऐसी अवस्थामें यह आशंका रहा करती कि कहीं मुझे पुलिस पकड़ न ले। पर मेरी अपेक्षा यह भय कोट्सको अधिक था; क्योंकि अपने हबशियोंको तो परवाने वही देते थे। पर मुझे कैसे दे सकते थे ? मालिकको परवाना देनेका अधिकार सिर्फ नौकरके ही लिए था। यदि मैं लेना चाहूं और कोट्स देनेको तैयार हों तो भी वह नही दे सकते थे; क्योंकि ऐसा करना दगा समझा जाता।

इस कारण मुझे कोट्स अथवा उनके कोई मित्र वहांके सरकारी वकील डा० क्राउज़के पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन'के बैरिस्टर निकले। यह बात, कि मुझे नौ बजेके बाद रातको परवाना लेनेकी जरूरत है, उन्हें बड़ी नागवार मालूम हुई। उन्होंने मेरे साथ समवेदना प्रदर्शित की। मुझे परवाना देनेके बदले अपनी तरफसे एक पत्र दे दिया। उसका आशय यह था कि मैं कहीं भी किसी समय चला जाऊं तो पुलिस मुझे रोक-टोक न करे। हमेशा मैं इस पत्रको अपने साथ रखता। उसका उपयोग तो किसी दिन भी न करना पड़ा; पर इसे एक दैव-योग ही समझना चाहिए।

डा० क्राउज़ने मुझे अपने घर चलनेका निमंत्रण दिया। हम दोनोंमें खासी मित्रता-सी हो गई। कभी-कभी मैं उनके घर जाने लगा। उनके द्वारा उनके अधिक प्रख्यात भाईसे मेरा परिचय हुआ। वह जोहांसबर्गमें पब्लिक प्रासीक्यूटर थे। उनपर बोअर-युद्धके समय अंग्रेज अधिकारीका खून करनेकी साजिशका अभियोग लगाया गया था और उन्हें सात साल

कैदकी सजा भी मिली थी। बेंचरोंने उनकी सनद भी छीन ली थी। लड़ाई खत्म होनेके बाद, डा० क्राउजे जेलसे छूटे, और फिर सम्मान-सहित ट्रांसवालकी अदालतमे वकालत करने लगे। इन परिचयोंसे मुझे बादको सार्वजनिक कार्योंमे खासा लाभ मिला और मेरा कितना ही सार्वजनिक काम बहुत सुगम हो गया।

फुटपाथपर चलनेका प्रश्न जरा मेरे लिए गंभीर परिणामवाला साबित हुआ। मै हमेशा प्रेसीडेंड-स्ट्रीटमे होकर एक खुले मैदानमे घूमने जाता। इस मुहल्लेमें प्रेसीडेंट क्रूगरका घर था। इस घरमे आडंबरका नाम-निशान न था। उसके आस-पास कंपाउंड तक न था। दूसरे पड़ोसी घरोंमें और इसमें कुछ फर्क न मालूम देता था। कितने ही लखपतियोंके घर, प्रिटोरियामें, इस घरसे भारी आलीशान और चहारदीवारीवाले थे। प्रेसीडेटकी सादगी प्रख्यात थी। यह घर किसी राज्याधिकारीका है, इसका अंदाज सिर्फ उस संतरीको देखकर हो सकता था, जो उसके सामने टहलता रहता। मै इस संतरीके नजदीकसे ही रोज निकला करता परंतु संतरी मुझे रोक-टोक नहीं करता था। उसकी बदली होती रहती। एक बार संतरीने, बिना चिताये, बिना यह कहे कि फुटपाथसे उतर जाओ, मुझे धक्का मार दिया, लात जमा दी और फुटपाथसे उतार दिया। मैं तो भौंचक रह गया। ज्योंही मैं लात जमानेका कारण पूछता हूं कोट्सने, जो घोड़ेपर सवार होकर उस समय उसी रास्तेसे जा रहे थे, आकर कहा—

"गांधी, मैने यह सब देख लिया है। तुम यदि मुकदमा चलाना चाहो तो मै गवाही दूंगा। मुझे बहुत अफसोस होता है कि तुमपर इस प्रकारका हमला हुआ।" मैने कहा—"इसमें अफसोसकी बात ही क्या है, संतरी बेचारा क्या पहचानता ? उसके नजदीक तो, काले-काले सब बराबर। हबशियोंको फुटपाथसे इसी तरह उतारता होगा। इसलिए मुझे भी धक्का मार दिया। मैने तो अपना यह नियम ही बना लिया है, कि मेरे जात खासपर जो भी कुछ बीते, उसकेलिए कभी अदालत न जाऊं; इसलिए मुझे इसे अदालतमे नही ले जाना है।"

"यह तो तुमने अपने स्वभावके अनुसार ही कहा है; पर और भी विचार कर देखना। ऐसे आदमीको, कुछ सबक तो जरूर सिखाना चाहिए।" यह कहकर उन्होने उस संतरीको दो-चार बाते कही। मै सारी बात समझ न सका। संतरी डच था और डच भाषामें उसके साथ बात-चीत हुई थी। संतरीने मुझसे माफी मांगी, मै तो अपने मनमें उसे माफी पहले ही दे चुका था।

पर उसके बादसे मैंने उस रास्ते जाना छोड़ दिया। दूसरे संतरी इस घटनाको क्या जानते? मै अपने-आप लात खाने क्यो जाऊं? इस-लिए मैंने दूसरे रास्ते होकर घूमने जाना पसद किया। इस घटनाने वहांके हिंदुस्तानी निवासियोंके प्रति मेरे मनोभाव और भी तीव्र कर दिये। उनसे मैंने दो बातोंकी चर्चा की। एक तो यह कि इन कानूनोंके लिए ब्रिटिश एजेंटसे बात कर ली जाय, और दूसरी बात यह कि मौका पड़ने पर बतौर नमूनेके एक मुकदमा चलाया जाय।

इस प्रकार मैंने, भारतवासियोंके कष्टोंको पढ़कर, सुनकर, तथा अनुभव करके अध्ययन किया। मैंने देखा कि आत्म-सम्मानकी रक्षा चाहनेवाले भारतवासीके लिए, दक्षिण अफ्रिका अनुकूल नही। यह दशा कैसे बदली जा सकती है? इसीके विचारमे मेरा मन दिन-दिन व्यग्र रहने लगा; पर अभी तो मेरा मुख्य धर्म था दादा अब्दुल्लाके मुकदमेको सम्हालना।

: १४ :

मुकदमेकी तैयारी

प्रिटोरियामे मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवनमे अमूल्य था। सार्वजनिक काम करनेकी अपनी शक्तिका कुछ अंदाज मुझे यहां हुआ, सार्वजनिक सेवाको सीखनेका अवसर मिला। धार्मिक भावना तीव्र

होने लगी। और सच्ची वकालत भी, कहना चाहिए, मैंने यहीं सीखी। नया बैरिस्टर पुराने बैरिस्टरके दफ्तरमे रहकर जो सीखता है वह मैं यहीं सीख सका। यहां मुझे इस बातपर विश्वास हुआ कि एक वकीलकी हैसियतसे मैं बिलकुल अयोग्य न रहूंगा। वकील होनेकी कुंजी भी मेरे हाथ यही आकर लगी।

दादा अब्दुल्लाका मामला छोटा न था। दावा ४०,००० पौंड अर्थात् ६ लाख रुपयेका था। यह व्यापारके सिलसिलेमे था और उसमें जमा-नामेकी बहुतेरी गुत्थियां थीं। उसके कुछ अंशका आधार था प्रामिसरी नोटोंपर और कुछका था नोट देनेके वचनका पालन करने पर। सफाईमें यह कहा जाता था कि प्रामिसरी नोट जालसाजी करके लिये गये थे और पूरा मुआवजा नहीं मिला था। इसमें हकीकतकी तथा कानूनी गुंजाइशें बहुतेरी थीं। वही-खातेकी उलझनें बहुत थीं।

दोनों ओरसे अच्छे-से-अच्छे सालिसिटर और बैरिस्टर खड़े हुए थे। इस कारण मुझे इन दोनोंके कामका अनुभव प्राप्त करनेका बढ़िया अवसर हाथ आया। मुद्दईका मामला सालिसिटरके लिए तैयार करनेका तथा हकीकतोंको ढूंढ़नेका सारा बोझ मुझीपर था। इससे मुझे यह देखनेका अवसर मिलता था कि मेरे तैयार किये काममेसे सालिसिटर अपने काममें कितनी बातें लेते हैं और सालिसिटरोंके तैयार किये मामलेमेसे बैरिस्टर कितनी बातोंको काममे लेते हैं। मैं समझ गया कि इस मामलेको तैयार करनेमे मुझे ग्रहण-शक्ति और व्यवस्था-शक्तिका ठीक अदाजा हो जायगा।

मैंने मुकदमा तैयार करनेमे पूरी-पूरी दिलचस्पी ली। मैं उसमें लवलीन होगया। आगे-पीछेके तमाम कागज-पत्रोंको पढ़ डाला। मवक्किलके विश्वास और होशियारीकी सीमा न थी। इससे मेरा काम बड़ा सरल हो गया। मैंने वही-खातोंका सूक्ष्म अध्ययन कर लिया। गुजराती कागजपत्र बहुतेरे थे। उनके अनुवाद भी मैं करता था। इससे उल्था करनेकी क्षमता भी बढ़ी।

मैंने खूब उद्योगसे काम किया। यद्यपि जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं, धार्मिक चर्चा आदिमे तथा सार्वजनिक कामोंमें मेरा दिल खूब लगता था, उनके लिए समय भी देता था, तथापि इस समय ये बातें गौण थीं। मुकदमेकी तैयारीको ही मे प्रधानता देता था। उसके लिए कानून वगैरा देखनेका अथवा दूसरा कुछ पढ़ना होता तो उसे मैं पहले कर लेता। इसके फलस्वरूप मामलेकी असली बातोंका मुझे इतना ज्ञान होगया कि खुद मुद्दई-मुद्दालेहको भी शायद न हो; क्योंकि मेरे पास तो दोनोंके कागजात थे।

मुझे स्वर्गीय मि० पिंकटके शब्द याद आये। उनका समर्थन बादको दक्षिण अफ्रिकाके सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्व० मि० लैनर्डने एक अवसरपर किया था। 'हकीकत तीन-चौथाई कानून है'—यह मि० पिंकटका वाक्य था। एक मामलेमे मैं जानता था कि न्याय सर्वथा मेरे मवक्किलके पक्षमें था; परंतु कानून उसके खिलाफ जाता हुआ दिखाई पड़ा। मै निराश होकर मि० लैनर्डसे सहायता लेनेके लिए दौड़ा। उन्हे भी हकीकतोंके आधारपर मामला मजबूत मालूम हुआ। वह बोल उठे, "गांधी, मैंने एक बात सीखी है। यदि हकीकतका ज्ञान हमें पूरा-पूरा हो, कानून अपने-आप हमारे अनुकूल हो जायगा। सो हम इस मामलेकी हकीकतको देखे।" यह कहकर उन्होंने सुझाया कि 'एक बार और हकीकतोंका खूब मनन कर लो और मुझसे मिलो।' उसी हकीकतको फिर छानबीन करते हुए, उसका मनन करते हुए, मुझे वह दूसरी तरह दिखाई दी और उससे संबंध रखनेवाला दक्षिण अफ्रिकामे हुआ एक पुराना मामला भी हाथ लग गया। मारे खुशीके मै मि० लैनर्डके यहां पहुंचा। वह खुश हो उठे और बोले—"बस अब हम इस मामलेको जीत लेंगे। बेंचपर कौन-से जज होंगे, यह जरा ध्यानमें रखना होगा।"

जब दादा अब्दुल्लाके मामले की तैयारी कर रहा था तब हकीकतकी महिमा मै इस दरजेतक न समझ सका था। हकीकतके मानी है सत्य बात; सत्य बातपर आरूढ़ रहनेसे कानून अपने-आप हमारी सहायताके लिए अनुकूल हो जाता है।

मैंने अंतको देखलिया था कि मेरे मवक्किलका पक्ष बहुत मजबूत है। कानूनको उसकी मददके लिए आना ही पड़ेगा।

पर साथ ही मैंने यह भी देखा कि मामला लड़ते-लड़ते दोनों रिश्तेदार, एक ही शहरके रहनेवाले, बरबाद हो जायंगे। मामलेका अंत क्या होगा, यह किसीको खबर न हो सकती थी। अदालतमें तो मामला जहांतक जी चाहे लंबा किया जा सकता है। लंबा करनेसे दोमेंसे किसीको लाभ न था। इस कारण दोनों पक्षवालोंकी इच्छा जरूर थी कि मामला जल्दी तय हो जाय तो अच्छा।

मैंने तैयब सेठसे अनुरोध किया और आपसमें निपटारा कर लेनेकी सलाह दी। मैंने कहा कि आप अपने वकीलसे मिलिए। दोनोंके विश्वास-पात्र पंचको यदि वे नियुक्त कर दें तो मामला जल्दी तय हो सकता है। वकीलके खर्चका बोझा इतना चढ़ रहा था कि उसमें बड़े-बड़े व्यापारी भी खप जायं। दोनों इतनी चितासे मुकदमा लड़ रहे थे कि कोई भी बेफिक्रीसे दूसरा कोई काम न कर पाते थे; और दोनोंमें मन-मुटाव जो बढ़ता जाता था सो अलग ही। यह देखकर मेरे मनमें वकालतपर घृणा उत्पन्न हुई। वकीलका तो यह कामही ठहरा कि एक-दूसरेको जितानेकी कानूनी गुंजाइशें ही खोज-खोजकर निकालते रहें। जीतनेवालेको सारा खर्च कभी नहीं मिलता, यह बात मैंने इस मामलेमें पहले-पहल जानी। वकील मवक्किलसे एक फीस लेता है; और मवक्किलको प्रतिवादीसे दूसरी रकम मिलती है। दोनों रकमें जुदा-जुदा होती हैं। मुझे यह सब बड़ा नागवार गुजरा। मेरी अंतरात्माने कहा कि इस समय मेरा धर्म है दोनोंमें मित्रता करा देना, दोनों रिश्तेदारोंमें मिलाप करा देना। मैंने समझौतेकेलिए जी तोड़कर मिहनत की। तैयब सेठने बात मान ली। अंतको पंच मुकर्रर हुए और मुकदमा चला। उसमें दादा अब्दुल्लाकी जीत हुई।

पर मुझे इतनेसे संतोष न हुआ। यदि पंचके फैसलेका अमल एक-बारगी हो तो तैयब हाजी खान मुहम्मद इतना रुपया एकाएक न दे सकते

थे। दक्षिण अफ्रिका-स्थित पोरबंदरके मेमन व्यापारियोंमें एक आपसका अलिखित कायदा था कि खुद चाहे मर जायं, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ ३७,००० पौंड और खर्च एकमुश्त नही दे सकते थे। वह एक पाई कम न देना चाहते थे। दिवाला भी नही निकालना था। ऐसी दशामें एक ही रास्ता था—दादा अब्दुल्ला उन्हें अदायगीके लिए काफी मियाद दें। दादा अब्दुल्लाने उदारतासे काम लिया और लबी मियाद दे दी। पंच मुकर्रर करनेमें जितना श्रम मुझे हुआ उससे कही अधिक लंबी किस्ते करानेमे हुआ। अंतको दोनों पक्ष खुश रहे। दोनोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे संतोषकी तो सीमा न रही। मैंने सच्ची वकालत करना सीखा। मनुष्यके गुण—उज्ज्वल पक्षको खोजना सीखा। मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकीलका कर्त्तव्य है, फरीकैनमें पड़ी खाईको पाट देना। यह शिक्षा मेरे हृदयमे इतने जोरके साथ अंकित हो गई कि अपने बीस सालके वकील-जीवनमें अधिक समय मेरा सैकड़ों फरीकैनमें समझौता करानेमें बीता। इसमे मैंने गंवाया कुछ नही। धन खोया हो यह भी नही कह सकते; और आत्माको तो किसी तरह नहीं खोया।

: १५ :

धार्मिक मंथन

अब फिर ईसाई-मित्रोंके संपर्कपर विचार करनेका समय आया है। मेरे भविष्यके संबंधमें मि० बेकरकी चिंता दिन-दिन बढती जा रही थी। वह मुझे वेलिंग्टन कन्वेंशनमे ले गये। प्रोटेस्टेंट ईसाइयोंमे, कुछ-कुछ वर्षो बाद, धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धिके लिए विशेष प्रयत्न किये जाते है। इसे धर्मका पुन:प्रतिष्ठा अथवा धर्मका पुनरुद्धार कहा करते है। ऐसा एक सम्मेलन वेलिंग्टनमे था। उसके सभापति वहांके प्रख्यात

धर्मनिष्ठ पादरी रेवरंड एंड्रू मरे थे। मि० बेकरको ऐसी आशा थी कि इस सम्मेलनमें होनेवाली जागृति, वहां आनेवाले लोगोंका धार्मिक उत्साह, उनका शुद्धभाव, मुझपर ऐसा गहरा असर डालेगा कि मैं ईसाई हुए बिना न रह सकूंगा।

परंतु मि० बेकरका अंतिम आधार था प्रार्थना-बल। प्रार्थनापर उनकी भारी श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अंतःकरण-पूर्वक की गई प्रार्थनाको ईश्वर अवश्य सुनता है। वह कहते, 'प्रार्थनाके ही बलपर मुलर (एक विख्यात भावुक ईसाई) जैसे लोगोंका काम चलता है।' प्रार्थनाकी यह महिमा मैंने तटस्थ भावसे सुनी। मैंने उनसे कहा कि मेरा अंतरात्मा पुकार उठे कि मुझे ईसाई हो जाना चाहिए तो दुनिया-की कोई शक्ति मुझे रोक नहीं सकती। अंतरात्माकी पुकारके अनुसार चलनेकी आदत तो मैं कितने ही वर्षोंसे डाल चुका था। अंतरात्माके अधीन होते हुए मुझे आनंद आता। उसके विपरीत आचरण करना मुझे कठिन और दुखदाई मालूम होता था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझ 'श्यामल साथी'को साथ रखना मि० बेकरके लिए भारी पड़ा। कई बार उन्हें मेरे कारण असुविधा भोगनी पड़ती। रास्तेमें हमें मुकाम करना पड़ा था; क्योंकि मि० बेकरका संघ रविवारको सफर न करता था और बीचमें रविवार पड़ गया था। बीचमें तथा स्टेशनपर मुझे होटलवालेने होटलमें ठहरनेसे तथा चख-चख होनेके बाद ठहरनेपर भी भोजनालयमें भोजन करने देनेसे इंकार कर दिया; पर मि० बेकर आसानीसे हार माननेवाले न थे। वह होटलमें ठहरनेवालोंके हकपर अड़े रहे; परंतु मैंने उनकी कठिनाइयोंका अनुभव किया। वेलिंग्टन-में भी मैं उनके पास ही ठहरा था। वहां उन्हें छोटी-छोटी-सी बातोंमें असुविधा होती थी। वह उन्हें ढांकनेका शुभ-प्रयत्न करते थे; फिर भी वे मेरे ध्यानमें आ जाया करती थीं।

सम्मेलनमें भावुक ईसाइयोंका अच्छा सम्मिलन हुआ। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे आनंद हुआ। मि० मरेसे परिचय हुआ। मैंने देखा

ईकि मेरे लिए बहुतेरे लोग प्रार्थना कर रहे थे। उनके कितने ही भजन मुझे बहुत ही मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिनतक हुआ। सम्मेलनमें सम्मिलित होनेवालोंकी धार्मिकताको तो मैं समझ सका, उसका कद्र भी कर सका; परंतु अपनी मान्यता—अपने धर्म—मे परिवर्तन करनेका कारण न दिखाई दिया। मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं अपनेको ईसाई कहलानेपर ही स्वर्गको जा सकता हूं या मोक्ष पा सकता हूं। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रोंसे कही तब उन्हें दुःख तो हुआ; पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयां गहरी थी। यह बात कि ईसामसीह ही एकमात्र ईश्वरका पुत्र है, जो उसको मानता है उसीका उद्धार होता ह, मुझ न पटी। ईश्वरके यदि कोई पुत्र हो सकता है तो फिर हम सब उसके पुत्र हैं। ईसामसीह यदि ईश्वर-सम है, ईश्वर ही है, तो मनुष्य-मात्र ईश्वरसम है, ईश्वर हा सकते हैं। ईसाकी मृत्युसे और उसके लहूसे संसारके पाप धुल जाते है, इस बातको अक्षरशः माननेके लिए बुद्धि किसी तरह तैयार न होती थी। रूपकके रूपमें यह सत्य भले ही हो। फिर ईसाई मतके अनुसार तो मनुष्यको ही आत्मा होता है, दूसरे जीवोंकी नही, और देहके नाशके साथ ही उसका भी सर्वनाश हो जाता है; पर मेरा मत इसके विपरीत था।

ईसाको मै त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक मान सकता था, परतु एक अद्वितीय पुरुष नहीं। ईसाकी मृत्युसे ससारको एक भारी उदाहरण मिला; परंतु उसकी मृत्युमे कोई गुह्य चमत्कार-प्रभाव था, इस बातको मेरा हृदय न मान सकता था। ईसाइयोके पवित्र जीवनमेसे मुझे कोई ऐसी बात न मिली जो दूसरे धर्मवालोंके जीवनमें न मिलती ी। उनकी तरह दूसरे धर्मवालोके जीवनमे भी परिवर्त्तन होता हुआ मैंने देखा था। सिद्धांतकी दृष्टिसे ईसाई-सिद्धांतोंमे मुझे अलौकिकता न दिखाई दी। त्यागकी दृष्टिसे हिंदू धर्मवालोंका त्याग मुझे बढकर मालूम हुआ। अत. ईसाई-धर्मको मै संपूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म न मान सका।

अपना यह हृदय-मंथन मैंने, समय पाकर, ईसाई मित्रोंके सामनें रखा। उसका जवाब वे संतोषजनक न दे सके।

परंतु एक ओर जहां मै ईसाई-धर्मको ग्रहण न कर सका वहां दूसरी ओर हिंदू-धर्मकी संपूर्णता अथवा सर्वोपरिताका भी निश्चय मैं इस समय तक न कर सका। हिंदू-धर्मकी त्रुटिया मेरी आंखोंके सामनें घूमा करती। अस्पृश्यता यदि हिंदू-धर्मका अंग हो तो वह मुझे सड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ मालूम हुआ। अनेक संप्रदायों और जात-पांतका अस्तित्व मेरी समझमें न आया। वेद ही ईश्वर प्रणीत हैं, इसका क्या अर्थ? वेद यदि ईश्वर-प्रणीत है, तो फिर कुरान और बाइबिल क्यों नही?

जिस प्रकार ईसाई मित्र मुझपर असर डालनेका उद्योग कर रहे थे; उसी प्रकार मुसलमान मित्र भी कोशिश कर रहे थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लामका अध्ययन करनेके लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियोंकी चर्चा तो वह हमेशा करते रहते।

मैंने अपनी दिक्कते रायचंदभाईको लिखी। हिंदुस्तानमे दूसरे धर्मशास्त्रियोसे भी पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर भी आये; परंतु रायचंदभाईके पत्रने मुझे कुछ शांति दी। उन्होंने लिखा कि धीरज रखो, और हिंदू-धर्मका गहरा अध्ययन करो। उनके एक वाक्यका भावार्थ यह था—'हिंदू-धर्ममे जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार है, जो आत्माका निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्ममें नही है—निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मै इस परिणामपर पहुंचा हूं।'

मैंने सेल-कृत कुरान खरीदी और पढ़ना शुरू किया। दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी मंगाई। विलायतके ईसाई मित्रोंसे लिखा-पढ़ी की। उनमेंसे एकने एडवर्ड मेटलैडसे जान-पहचान कराई। उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। उन्होंने एना किंग्सफर्डके साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढनेके लिए भेजी। प्रचलित ईसाई-धर्मका उसमें खंडन था। 'बाइबिलका नवीन अर्थ' नामक पुस्तक भी उन्होने मुझे भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसंद आईं। उनसे हिंदू-मतको

पुष्टि मिली। टॉलस्टायकी 'बैकुंठ तुम्हारे हृदयमें है' नामक पुस्तकने मुझे मुग्ध कर लिया। उसकी बड़ी गहरी छाप मुझपर पड़ी। इस पुस्तककी स्वतंत्र विचार-शैली, उसकी प्रौढ़ नीति, उसके सत्यके सामने मि० कोट्सकी दी हुई तमाम पुस्तक शुष्क मालूम हुईं।

इस प्रकार मेरा यह अध्ययन मुझे ऐसी दिशामे ले गया जिसे ईसाई मित्र न चाहते थे। एडवर्ड मेटलेंडके साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी समय-तक रहा। कवि (रायचंद) के साथ तो अंततक रहा। उन्होंने कितनी ही पुस्तके भेजी। उन्हें भी पढ़ गया। उनमे 'पंचीकरण', 'मणिरत्नमाला', 'योगवासिष्ठ' का मुमुक्षु-प्रकरण, हरिभद्र सूरिका 'षड्दर्शन-समुच्चय' इत्यादि थे।

इस प्रकार यद्यपि मै ऐसे रास्ते चल पड़ा, जिसका खयाल ईसाई मित्रोंने न किया था, फिर भी उनके समागमने जो धर्म-जिज्ञासा मुझमे जागृत कर दी थी उसके लिए तो मै उनका चिर-कालीन ऋणी हूं। उनसे मेरा यह संबंध मुझे हमेशा याद रहेगा। ऐसे मीठे और पवित्र संबंध आगे और भी बढ़ते गये, घटे नही है।

: १६ :

'को जाने कलकी ?'

'खबर नहिं इस जुगमें पलकी
समझ मन ! 'को जाने कलकी ?'

मुकदमा खत्म हो जानेके बाद मेरे प्रिटोरियामें रहनेका कोई प्रयोजन न रहा था। सो मै डरबन गया। वहां जाकर घर (भारतवर्ष) लौटनेकी तैयारी की; पर अब्दुल्ला सेठ भला मुझे आदर-सत्कार किये विना क्यों जाने देने लगे ? उन्होंने सिडनहॅममे मेरे लिए खान-पानका एक जलसा किया। सारा दिन उसमे लगनेवाला था।

मेरे पास कितने ही अखबार रखे हुए थे। उन्हें मैं देख रहा था एक अखबारके कोनेमे एक छोटी-सी खबर छपी थी—'इंडियन फ्रैंचाइज'। इसका अर्थ हुआ—'हिंदुस्तानी मताधिकार।' खबरका भावार्थ यह था कि नेटालकी धारा-सभाके सभ्योंको चुननेका जो अधिकार हिंदुस्तानियोंको था वह छीन लिया जाय। इसके विषयमें एक कानून धारा-सभामे पेश था और उसपर चर्चा हो रही थी। मैं उस कानूनके बारेमें कुछ न जानता था। जलसेमे किसीको इस मसविदेकी खबर न थी, जोकि भारतीयोके अधिकारोंको छीननेके लिए तैयार हुआ था।

मैंने अब्दुल्ला सेठसे इसका जिक्र किया। उन्होंने कहा—"इन बातोंको हम लोग क्या समझें? हमारे तो व्यापार पर अगर कोई आफत आवे तो खबर पड़ सकती है। देखिए, आरेंज फ्री स्टेटमे हमारे व्यापारकी सारी जड़ उखड़ गई। उसके लिए हमने कोशिश भी की; पर हम तो ठहरे अपंग। अखबार पढ़ते है—पर अपने भाव-तावकी बाते ही समझ लेते है। कानून-कायदेकी बातोंका हमे क्या पता चले? हमारे आंख-कान जो-कुछ है, गोरे वकील है।"

"पर यही पैदा हुए और अंग्रेजी पढ़े-लिखे इतने नौजवान हिंदुस्तानी जो यहां है?" मैंने कहा।

"अजी भाई साहब!" अब्दुल्ला सेठने सिरपर हाथ मारते हुए कहा—"उनसे क्या उम्मीद की जाय? वे बेचारे इन बातोंमे क्या समझें? वे तो हमारे पासतक फटकते नही; और सच पूछिए तो हम भी उन्हें नही पहचानते। वे है ईसाई, इसलिए पादरियोंके पंजेमें है और पादरी लोग गोरे, वे सरकारके तावेदार है।"

सुनकर मेरी आंखें खुली। सोचा कि इस दलको अपनाना चाहिए ईसाई-धर्मके क्या यही मानी है? क्या ईसाई हो जानेसे उनका नाता देशसे टूट गया, और वे विदेशी हो गये?

पर मुझे तो देश वापस लौटना था, अतएव इन विचारोंको मूर्त रूप न दिया। अब्दुल्ला सेठसे कहा—

"पर यदि यह बिल ज्यों-का-त्यों पास हो गया तो आप लोगोंके लिए बहुत भारी पड़ेगा। यह तो भारतवासियोंके अस्तित्वको मिटा डालनेका पहला कदम है। इससे हमारा स्वाभिमान नष्ट होगा।"

"जो-कुछ हो। इस 'फ्रेंचाइज' (इस तरह अंग्रेजीके कितने ही शब्द देशी भाषामें रूढ़ हो गये थे। 'मताधिकार' कहनेसे कोई नहीं समझता) का थोड़ा इतिहास सुन लीजिए। इस मामलेमें हमारी समझ काम नहीं देती; पर हमारे बड़े वकील मि० ऐस्कंबको तो आप जानते ही है, वह जबरदस्त लड़वैये हैं। उनकी तथा यहांके फुरजाके इंजीनियरकी खूब चख-चख चला करती है। मि० ऐस्कंबके धारा-सभामे जानेमे यह लड़ाई बाधक हो रही थी। इसलिए उन्होंने हमे हमारी स्थितिका ज्ञान कराया। उनके कहनेसे हमने अपने नाम मताधिकार-पत्रमें दर्ज करा लिये और अपने तमाम मत मि० ऐस्कंबको दिये। अब आप समझ जायंगे कि हम इस मताधिकारकी कीमत आपके इतनी क्यों नहीं आंकते हैं; पर आपकी बात अब हमारी समझमे आ रही है—अच्छा तो अब आप क्या सलाह देते हैं?"

यह बात दूसरे मेहमान लोग गौरसे सुन रहे थे। इनमेसे एकने कहा—"मैं आपसे सच्ची बात कह दू? यदि आप इस जहाजसे न जाय और एकाध महीना यहा रह जाय, तो आप जिस तरह बतायें हम लड़नेको तैयार हे।"

एक दूसरेने कहा—"यह बात ठीक है। अब्दुल्ला सेठ, आप गाधीजीको रोक लीजिए।"

अब्दुल्ला सेठ थे उस्ताद आदमी। वह बोले—"अब इन्हें रोकनेका अख्तियार मुझे नही। अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको भी है; पर आपकी बात है ठीक। हम सब मिलकर इन्हे रोक लें; पर यह तो बैरिस्टर है। इनकी फीसका क्या होगा?"

फीसकी बातसे मुझे दुःख हुआ। मैं बीचमे ही बोला—

"अब्दुल्ला सेठ, इसमे फीसका क्या सवाल? सार्वजनिक सेवामें फीस किस बातकी? यदि मैं रहा तो एक सेवककी हैसियतमे रह सकता

हूं। इन सब भाइयोंसे मेरा पूरा परिचय नही है; पर यदि आप यह समझते हों कि ये सब लोग मेहनत करेंगे तो मै एक महीना ठहर जानेके लिए तैयार हूं; पर एक बात है। मुझे तो आपको कुछ देना-लेना नही पड़ेगा; पर ऐसे काम बिना रुपये-पैसेके नही चल सकते। हमें तार वगैरा देने पड़ेंगे।—कुछ छापना भी पड़ेगा। इधर-उधर जाना-आना पड़ेगा, उसका किराया आदि भी लगेगा। मौका पड़नेपर यहांके वकीलोंको भी सलाह लेनी पड़ेगी। मै यहांके सब कानून-कायदोंको अच्छी तरह नहीं जानता। कानून की पुस्तकें देखनी होंगी; फिर ऐसे काम अकेले हाथों नही हो सकते। कई लोगोंके सहयोगकी जरूरत होगी।"

बहुत-सी आवाज एक साथ सुनाई दी—"खुदा की मेहर है। रुपये-पैसेकी फिक्र मत कीजिये। आदमी भी मिल जायंगे। आप सिर्फ ठहरना मंजूर कर ले तो बस है।"

फिर क्या था, वह जलसा कार्यकारिणी-समितिके रूपम परिणत हो गया। मैंने सुझाया कि खा-पीकर जल्दी फारिग होकर हम लोग घर पहुंचें। मैंने मनमें लड़ाईकी रूप-रेखा बांधी। यह जान लिया कि मताधिकार कितने लोगोको है। मैंन एक मास ठहर जानेका निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वरने दक्षिण अफ्रिकामे मेरे स्थायी रूपसे रहनेकी नीव डाली और आत्म-सम्मानके संग्रामका बीजारोपण हुआ।

: १७ :

बस गया

१८९३ ईस्वीमें सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा नेटालकी भारतीय जातिके अग्रगण्य नेता माने जाते थे। सांपत्तिक स्थितिमें सेठ अब्दुल्ला हाजी आदि मुख्य थे; परंतु वह तथा दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामोंमें सेठ हाजी मुहम्मदको ही प्रथम स्थान देते थे। इसलिए उनकी अध्यक्षतामें

अब्दुल्ला सेठके मकानमें, एक सभा की गई। उसमें फ्रेंचाइज बिलका विरोध करनेका प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। स्वयंसेवकोंकी सूची भी बनी। इस सभामें नेटालमें जन्मे हिंदुस्तानी, अर्थात् ईसाई नवयुवक भी बुलाये गये थे। मि० पॉल डरबनकी अदालतके दुभाषिया थे। मि० सुभान गाडफ्रे मिशन स्कूलके हेडमास्टर थे। वे भी सभामें उपस्थित हुए थे; और उनके प्रभावसे ईसाई नवयुवक अच्छी सख्यामें आये थे। इन सब लोगोंने स्वयसेवकोंमें अपना नाम लिखाया। सभामें व्यापारी भी बहुतेरे थे। उनमे जानने योग्य नाम ये है—सेठ दाऊद मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियां खान, ए० कोलंदावेल्लूपिल्ले, सी० लछीराम, रंगस्वामी पड़ियाची, आमद जीवा इत्यादि। पारसी रुस्तमजी तो थे ही। कारकुन लोगोमे पारसी माणेकजी, जोशी, नरसीराम इत्यादि, दादा अब्दुल्लाकी तथा दूसरी बड़ी दूकानोंके कर्मचारी थे। पहले-पहल सार्वजनिक काममे पड़ते हुए इन लोगोंको जरा अटपटा मालूम हुआ। इस तरह सार्वजनिक काममें निमंत्रित तथा सम्मिलित होनेका उन्हे यह पहला अनुभव था। सिर आई विपत्तिके मुकाबलेके लिए नीच-ऊच, छोटे-बड़े, मालिक-नौकर, हिंदू-मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मदरासी, सिंधी इत्यादि भेद-भाव जाते रहे। उस समय सब भारतकी सतान और सेवक थे।

फ्रेंचाइज बिल दुबारा पढ़ा जा चुका था अथवा पढा जानेवाला था। उस समय धारा-सभामे जो भाषण हुए, उनमे यह बात कही गई कि कानून इतना सख्त था, फिर भी हिंदुस्तानियोंकी ओरसे उसका कुछ विरोध न हुआ। यह भारतीय प्रजाकी लापरवाही और मताधिकार-सबंधी उनकी अपात्रताका प्रमाण था।

मैंने सभाको सारी हकीकत समझा दी। पहला काम तो यह हुआ कि धारा-सभाके अध्यक्षको तार दिया जाय कि वह बिलपर आगे विचार करना स्थगित कर दे। ऐसा ही तार मुख्य प्रधान सर जान राबिसनको भी भेजा, तथा एक और तार दादा अब्दुल्लाके मित्रके नाते मि० ऐस्कंबको

गया। तारका जवाब मिला कि बिलकी चर्चा दो दिनतक स्थगित रहेगी। इससे सब लोगोंको खुशी हुई।

अब दरख्वास्तका मसविदा तैयार हुआ। उसकी तीन प्रतियां भेजी जानेवाली थीं। अखबारोंके लिए भी एक प्रति तैयार करनी थी। उस पर जितनी अधिक सहियां ली जा सकें, लेनी थी। यह सब काम एक रातमे पूरा करना था। वे शिक्षित स्वयंसेवक तथा दूसरे लोग लगभग सारी रात जगे। उनमे एक मि० आर्थर थे, जो बहुत बूढ़े थे और जिनका खत अच्छा था। उन्होंने सुंदर हरफोंमें दरख्वास्तकी नकल की। औरोंने उसकी और नकले की। एक बोलता जाता और पांच लिखते जाते। इस तरह पाच नकलें एक साथ हो गईं। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाड़ियां लेकर या अपने खर्चेसे गाड़ियां किराया करके सहियां देने दौड़ पड़े।

दरख्वास्त गई। अखबारोंमे छपी। उसपर अनुकूल टिप्पणियां निकली। धारा-सभापर भी उसका असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। दरख्वास्तमें जो दलीलें पेश की गई थी, उनपर आपत्तिया उठाई गईं; परंतु खुद उठानेवालोंको ही वे लचर मालूम हुईं। इतना करनेपर भी बिल तो आखिर पास हो ही गया।

सब जानते थे कि यही होकर रहेगा; पर इतने आंदोलनसे हिंदुस्तानियोंमें नवीन जीवन आ गया। सब लोग इस बातको समझ गये कि हम सबका समाज एक है। अकेले व्यापारी अधिकारोंके लिए ही नहीं; बल्कि अपने कौमी अधिकारोंके लिए भी लड़ना सबका धर्म है।

इस समय लार्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। प्रस्ताव हुआ कि उन्हे एक भारी दरख्वास्त लिखकर पेश की जाय। इसपर जितनी अधिक मिलें सहियां ली जायं। यह काम एक दिनमें नही हो सकता था। स्वयंसेवक तैनात हुए और सबने थोड़ा-थोड़ा कामका बोझ उठा लिया।

दरख्वास्त तैयार करनेमें मैने बड़ा परिश्रम किया। जितना साहित्य मेरे हाथ लगा, सब पढ़ डाला। हिंदुस्तानमें हमे एक तरहका मताधिकार

है, इस सिद्धातकी बातका तथा हिंदुस्तानियोंकी आबादी बहुत थोड़ी है, इस व्यावहारिक दलीलको मैंने अपना मध्यबिंदु बनाया।

दरख्वास्तपर दस हजार आदमियोंके दस्तखत हुए। एक सप्ताहमें दरख्वास्त भेजनेके लिए आवश्यक सहिया प्राप्त हो गईं। इतने थोड़े समयमें नेटालमे दस हजार दस्तखत प्राप्त करनेको पाठक ऐसा-वैसा काम न समझे। सारे नेटालमेंसे दस्तखत प्राप्त करने थे। लोग इस कामसे अपरिचित थे। इधर यह निश्चय किया गया था कि तबतक किसीकी सही न ली जाय, जबतक कि वे दस्तखतका आशय न समझ ले इसलिए खास तौरपर स्वयंसेवकोंको भेजनेसे ही सहियां मिल सकती थी। गांव दूर-दूर थे। ऐसी अवस्थामें ऐसे काम उसी हालतमें जल्दी हो सकते हैं, जब बहुतेरे काम करनेवाले निश्चय-पूर्वक काममें जुट पड़े। ऐसा ही हुआ भी। सबने उत्साह-पूर्वक काम किया। इनमेंसे सेठ दाऊद मुहम्मद, पारसी रुस्तमजी, आदमजी मियां खान और आमद जीवाकी मूर्तिया आज भी मेरी आंखोंके सामने आ जाती हैं। वे बहुतेरोंके दस्तखत लाये थे। दाऊद सेठ दिन-भर अपनी गाड़ी लिये-लिये घूमते। किसीने जेब-खर्चतक न मांगा।

दादा अब्दुल्लाका मकान तो धर्मशाला अथवा सार्वजनिक कार्यालय-जैसा हो गया था। शिक्षित भाई तो मेरे पास डटे ही रहते। उनका तथा दूसरे कर्मचारियोंका खाना-पीना दादा अब्दुल्लाके ही यहां होता। इस तरह सब लोगोंने काफी खर्च बरदाश्त किया।

दरख्वास्त गई, उसकी एक हजार प्रतियां छपवाई गई थी। उस दरख्वास्तने हिंदुस्तानके देश-सेवकोंको नेटालका पहली बार परिचय कराया। जितने अखबारों तथा देशके नेताओंका नाम-ठाम मैं जानता था, सबको दरख्वास्तकी नकल भेजी गई थी।

'टाइम्स आफ इंडिया' ने उसपर अग्रलेख लिखा और भारतीयोंकी मांगका खासा समर्थन किया। विलायतमे भी प्रार्थना-पत्रकी नकलें तमाम दलके नेताओंको भेजी गई थी। वहां 'लंदन टाइम्स' ने उनकी

पुष्टि की। इस कारण बिलके मंजूर न होनेकी आशा होने लगी।

अब ऐसी हालत होगई कि मैं नेटाल न छोड़ सकता था। लोगोंने मुझे चारों ओरसे आ घेरा और बड़ा आग्रह करने लगे कि अब मैं नेटालमें ही स्थायी रूपसे रह जाऊं। मैंने अपनी कठिनाइयां उनपर प्रकट की। अपने मनमें मैंने यह निश्चय कर लिया था कि मैं यहां सर्व-साधारणके खर्चपर न रहूंगा।

अपना अलग इंतजाम करनेकी आवश्यकता मुझे दिखाई दी। घर भी अच्छा और अच्छे मुहल्लेमें होना चाहिए—इस समय मेरा यही मत था। मेरा खयाल था कि दूसरे बैरिस्टरोंकी तरह ठाट-बाटसे रहनेमें अपने समाजका मान-गौरव बढ़ेगा। मैंने देखा कि इस तरह तो मैं ३०० पौंड सालके बिना काम न चला सकूंगा। तब मैंने निश्चय किया कि यदि यहांके लोग इतनी आमदनीके लायक वकालतका इंतजाम करा देनेका जिम्मा लें तो रह जाऊंगा। और मैंने लोगोंको इसकी इत्तिला दे दी।

"पर इतनी रकम तो यदि आप सार्वजनिक कामोंके लिए ले तो कोई बात नही, और इतनी रकम जुटाना हमारे लिए कोई कठिन बात भी नहीं है। वकालतमें जो कुछ मिल जाय वह आपका।" साथियोंने कहा।

"इस तरह मैं आर्थिक सहायता लेना नही चाहता। अपने सार्वजनिक कामका मैं इतना मूल्य नही समझता। इसमे मुझे वकालतका आडंबर थोड़े ही रचना है—मुझे तो लोगोंसे काम लेना है। इसका मुआवजा मैं द्रव्यके रूपमें कैसे ले सकता हूं? फिर आप लोगोंसे भी तो मुझे सार्वजनिक कामोंके लिए धन लेना है। यदि मैं अपने लिए रुपया लेने लगूं तो आपसे बड़ी-बड़ी रकमें लेते हुए मुझे संकोच होगा, और अपनी गाड़ी रुक जायगी। लोगोसे तो मैं हर साल ३०० पौंडसे अधिक ही खर्च करा दूंगा।" मैंने उत्तर दिया।

"पर हम तो आपको अब अच्छी तरह जान गये है। आप अपने लिए थोड़े ही चाहते है। आपके रहनेका खर्चा तो हमी लोगोंको न देना चाहिए?"

"यह तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह आपसे कहलवा रहा है। यह कैसे मान लें कि यही उत्साह सदा कायम रह सकेगा ? मुझे तो आपको कभी कड़ुई बातें भी कहनी पड़ेगी। उस समय भी मैं आपके स्नेहका पात्र रह सकूंगा या नहीं, सो ईश्वर जाने; पर असली बात यह है कि सार्वजनिक-कामके लिए रुपया पैसा मैं न लूं। आप लोग सिर्फ अपने मामले मुकदमे मुझे देते रहनेका वचन दें तो मेरे लिए काफी है। यह भी शायद आपको भारी मालूम होगा; क्योंकि मैं कोई गोरा बैरिस्टर तो हूं नहीं, और यह भी पता नहीं कि अदालत मुझ-जैसेको दाद देगी या नहीं। यह भी नहीं कह सकता कि पैरवी कैसी कर सकूंगा। इसलिए मुझे पहलेसे मेहनताना देनेमें भी आपको जोखिम उठानी पड़ेगी। और इतनेपर भी यदि आप मुझे मेहनताना दें तो यह तो मेरी सेवाओंकी बदौलत ही न होगा ?"

इस चर्चाका नतीजा यह निकला कि कोई २० व्यापारियोंने मिलकर मेरे एक वर्षकी आयका प्रबंध कर दिया। इसके अलावा दादा अब्दुल्ला जो विदाईके समय मुझे रकम भेट करनेवाले थे उसके बदले उन्होंने मुझे आवश्यक फर्नीचर ला दिया और मैं नेटालमें रह गया।

: १८ :

वर्ण-द्वेष

अदालतोंका चिह्न है तराजू। उसे पकड़ रखनेवाली एक निष्पक्ष, अंधी, परंतु समझदार बुढ़िया है। उसे विधाताने अंधा बनाया है कि जिससे वह मुंह देखकर तिलक न लगावे; बल्कि योग्यताको देखकर लगावे। इसके विपरीत नेटालकी अदालतसे तो मुंह देखकर तिलक लगवानेके लिए वहांकी वकील-सभाने कमर कसी थी; किंतु अदालतने इस अवसर पर अपने चिह्नकी लाज रख ली।

मुझे वकालतकी सनद लेनी थी। मेरे पास बंबई हाईकोर्टका तो प्रमाण-पत्र था; पर विलायतका प्रमाण-पत्र बंबई-अदालतके दफ्तरमें था; वकालतकी मंजूरीकी दरख्वास्तके साथ नेकचलनीके दो प्रमाण-पत्रोंकी आवश्यकता समझी जाती थी। मैंने सोचा कि यदि ये प्रमाण-पत्र गोरे लोगोंके हों तो ठीक होगा। इसलिए अब्दुल्ला सेठकी मार्फत मेरे संपर्कमें आये दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियोंके प्रमाण-पत्र लिये। दरख्वास्त किसी वकीलकी मार्फत दी जानी चाहिए। मामूली कायदा यह था कि ऐसी दरख्वास्त एटर्नी-जनरल बिना फीसके पेश करता है। मि० एस्कंब एटर्नी-जनरल थे। हम जानते ही हैं कि अब्दुल्ला सेठके वह वकील थे। अतएव मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशीसे मेरी दरख्वास्त पेश करना मंजूर कर लिया।

इतनेमें अचानक वकील-सभाकी तरफसे मुझे नोटिस मिला। नोटिसमें मेरे वकालत करनेके खिलाफ विरोधकी आवाज उठाई गई थी। इसमें एक कारण यह बताया गया था कि मैंने वकालतकी दरख्वास्तके साथ असल प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया था; परंतु विरोधकी असली बात यह थी कि जिस समय अदालतमें वकीलोंको दाखिल करनेके संबंधमें नियम बने, उस समय किसीने भी यह खयाल न किया होगा कि वकालतके लिए कोई काला या पीला आदमी आकर दरख्वास्त देगा। नेटाल गोरोंके साहसका फल है और इसलिए यहां गोरोंकी प्रधानता रहनी चाहिए। उनको भय हुआ कि यदि काले वकील भी अदालतमें आने लगेंगे तो धीरे-धीरे गोरोंकी प्रधानता चली जायगी और उनकी रक्षाकी दीवारें टूट जायंगी।

इस विरोधके समर्थनके लिए वकील-सभाने एक प्रख्यात वकीलको अपनी तरफसे खड़ा किया था। इस वकीलका भी संबंध दादा अब्दुल्लासे था। उनकी मार्फत उन्होंने मुझे बुलाया। उन्होंने शुद्ध-भावसे मुझसे बातचीतकी। मेरा इतिहास पूछा। मैंने सब कह सुनाया। तब वह बोले—

"मुझे आपके खिलाफ कुछ नहीं कहना। मुझे यह भय था कि आप कोई यहींके पैदा हुए धूर्त आदमी होंगे। फिर आपके पास असली प्रमाण-पत्र नही है, इससे मेरे शकको और पुष्टि मिल गई। और ऐसे लोग भी होते हैं, जो दूसरोंके प्रमाण-पत्रोंको इस्तेमाल कर लेते है। और आपने जो गोरोंके प्रमाण-पत्र पेश किये हैं उनका असर मेरे दिलपर न हुआ। यहांके गोरे लोग भला आपको क्या पहचाने? आपके साथ उनका परिचय ही कितना?"

"पर यहां तो मेरे लिए सभी नये है। अब्दुल्ला सेठसे भी मेरी पहचान यहीं हुई।" मै बीचमे बोला।

"हां, पर आप कहते है कि वह आपके गांवके है। और आपके पिता वहांके दीवान थे, अतएव आपके परिवारके लोगोंको तो वह पहचानते ही हैं। यदि उनका हलफिया बयान पेश कर दें तो मुझे कुछ भी उज्र न होगा। मैं वकील-सभाको लिख भेजूंगा कि गांधीका विरोध मुझसे न होगा।"

मुझे गुस्सा आया; पर मैंने रोका। मुझे लगा—'यदि मैंने अब्दुल्ला सेठका ही प्रमाण-पत्र पेश किया होता तो उसकी कोई परवा न करता और गोरोंकी जान-पहचान मांगी जाती। फिर मेरे जन्मके साथ वकालत-संबंधी मेरी योग्यताका क्या संबध हो सकता है? यदि मैं दुष्ट या गरीब मां-बापका पुत्र होऊं तो यह बात मेरी लियाकतकी जांचमे मेरे खिलाफ किसलिए कही जाय?' पर मैंने इन सब विचारोंको रोककर उत्तर दिया—

"हालांकि मै यह नही मानता कि इन सब बातोंके पूछनेका अधिकार वकील-सभाको है, फिर भी जैसा आप चाहते है, दादा अब्दुल्लाका हलफिया बयान मै पेश करा देनेको तैयार हूं।"

अब्दुल्ला सेठका हलफिया बयान लिखा और वह वकीलको दिया। उन्होंने तो संतोष प्रकट कर दिया; पर वकील-सभाको संतोष न हुआ। उसने अपना विरोध अदालतमे भी उठाया। अदालतने मि० एस्कंबका

जवाब सुने बिना ही सभाका विरोध नामंजूर कर दिया। प्रधान न्यायाधीशने कहा—

"इस दलीलमें कुछ जान नहीं कि प्रार्थीने असली प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया। यदि उसने झूठी सौगंध खाई होगी तो उसपर अदालतमें झूठी कसम खानेका मुकदमा चल सकेगा और उसका नाम वकीलोंकी सूचीसे हटा दिया जायगा। अदालतकी धाराओंमें काले-गोरे का भेद-भाव नहीं है। हमे मि० गांधीको वकालत करनेसे रोकनेका कोई अधिकार नही। उनकी दरख्वास्त मंजूर की जाती है। मि० गांधी, आप आकर शपथ ले सकते हैं।"

मैं उठा। रजिस्ट्रारके पास जाकर शपथ ली। शपथ लेते ही प्रधान न्यायाधीशने कहा। "अब आपको अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिए। वकीलकी हैसियतसे, वकीलकी पोशाकके संबंधमे अदालतका जो नियम है, उसका पालन आपको करना होगा।"

मैंने अपनी मर्यादा समझ ली। डरबनके मजिस्ट्रेटकी अदालतमें पगड़ी पहने रहनेकी बातपर जो मैं अड़ा रहा था, सो वहां न रह सका। पगड़ी उतारी। यह बात नहीं कि पगड़ी उतारनेके विरोधमें दलील न थी; पर मुझे तो अब बड़ी लड़ाइयां लड़नी थी। पगड़ी पहने रहनेकी हठमें मेरी युद्ध-कलाकी समाप्ति न होती थी। उलटा इससे उसमें बट्टा लग जाता।

अब्दुल्ला सेठ तथा दूसरे मित्रोंको मेरी यह नरमी (या कमजोरी ?) अच्छी न लगी। वह चाहते थे कि वकीलकी हैसियतसे भी मैं पगड़ी पहन रखनेकी टेक कायम रखता। मैंने उन्हें समझानेकी भरसक कोशिश की। 'जैसा देस वैसा भेस' वाली कहावतका रहस्य समझाया। हिंदुस्तानमें यदि वहांके गोरे अधिकारी अथवा जज पगड़ी उतारनेपर मजबूर करें तो उसका विरोध किया जा सकता है। नेटाल-जैसे देशमें, और फिर अदालतके एक सदस्यकी हैसियतसे, मुझे अदालतके रिवाजका विरोध शोभा नहीं देता।'

यह तथा दूसरी दलीलें देकर मित्रोंको मैंने कुछ शांत तो किया; पर म नहीं समझता कि एक ही बातको भिन्न परिस्थितिमें भिन्न रीतिसे देखनेके औचित्यको मैं, इस समय, उनके हृदयपर इस तरह अंकित कर सका कि जिससे उन्हें संतोष हो; परंतु मेरे जीवनमे आग्रह और अनाग्रह दोनों सदा साथ-साथ चलते आते हैं। पीछे चलकर मैंने कई बार यह अनुभव किया है कि सत्याग्रहमे यह बात अनिवार्य है। अपनी इस समझौता-वृत्तिके कारण मुझे कई बार अपनी जान जोखिममें डालनी पड़ी है और मित्रोंके असंतोषको शिरोधार्य करना पड़ा है; पर सत्य तो वज्रकी तरह कठोर और कमलकी तरह कोमल है।

वकील-सभाके विरोधने दक्षिण अफ्रिकामें मेरे लिए एक विज्ञापनका काम कर दिया। कितने ही अखबारोंने मेरे खिलाफ उठाये गये विरोधकी निंदा की और वकीलोंपर ईर्ष्याका इलजाम लगाया। इस प्रसिद्धिसे मेरा काम कुछ अंशमे अपने-आप सरल हो गया।

: १९ :

नेटाल इंडियन कांग्रेस

वकालत करना मेरे नजदीक गौण बात थी और हमेशा गौण ही रही। नेटालमें अपना रहना सार्थक करनेके लिए मुझे सार्वजनिक काममे ही तन्मय हो जाना जरूरी था। भारतीय मताधिकार-प्रतिरोधक कानूनके विरोधमें आवाज उठाकर—महज दरख्वास्त भेजकर चुप न बैठा जा सकता था। उसका आंदोलन होते रहनेसे ही उपनिवेशोंके मंत्रीपर असर हो सकता था। इसके लिए एक संस्था स्थापित करनेकी आवश्यकता दिखाई दी। अतः मैंने अब्दुल्ला सेठके साथ मशविरा किया। दूसरे साथियोंसे भी मिला और हम लोगोंने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करनेका निश्चय किया।

उसका नाम रखनेमें कुछ धर्म-संकट आया। यह संस्था किसी पक्षका पक्षपात नहीं करना चाहती थी। महासभा (कांग्रेस) का नाम कंजरवेटिव (प्राचीन) पक्षमें अरुचिकर था, यह मुझे मालूम था; परंतु महासभा तो भारतका प्राण थी। उसकी शक्तिको बढ़ाना जरूरी था। उसके नामको छिपानेमें अथवा धारण करते हुए संकोच रखनेमें कायरताकी गंध आती थी। इसलिए मैंने अपनी दलीलें पेश करके संस्थाका नाम 'कांग्रेस' ही रखनेका प्रस्ताव किया। और २२ मई, १८९४को 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' का जन्म हुआ।

दादा अब्दुल्लाका बैठकखाना लोगोंसे भर गया था। उन्होंने उत्साहके साथ इस संस्थाका स्वागत किया। विधान बहुत सादा रखा था; पर चंदा भारी रखा गया था। जो हर मास कम-से-कम पांच शिलिंग देता वही सभ्य हो सकता था। धनिक लोग राजी-खुशीसे जितना अधिक दे सकें, चंदा दें, यह तय हुआ। अब्दुल्ला सेठसे हर मास दो पौंड लिखाये। दूसरे दो सज्जनोंने भी इतना ही चंदा लिखाया। खुद भी सोचा कि मैं इसमें संकोच कैसे करूं? इसलिए मैंने भी प्रतिमास एक पौंड लिखाया। यह मेरे लिए बीमा करने-जैसा था; पर मैंने सोचा कि जहां मेरा इतना खर्च-वर्च चलेगा वहां प्रतिमास एक पौंड क्यों भारी पड़ेगा? और ईश्वरने मेरी नाव चलाई। एक पौंडवालोंकी संख्या खासी हो गई। दस शिलिंग-वाले उससे भी अधिक हुए। इसके अलावा बिना सभ्य हुए भेटके तौरपर जो लोग दे दे सो अलग।

अनुभवने बताया कि उगाही किये बिना कोई चंदा नहीं दे जाता। डरबनसे बाहरवालोंके यहां बार-बार जाना असंभव था। इससे मुझे हमारी 'आरंभ-शूरता' का परिचय मिला। डरबनमें भी बहुत चक्कर खाने पड़ते, तब कहीं जाकर चंदा मिलता। मैं मंत्री था, रुपया वसूल करनेका जिम्मा मुझपर था। मुझे अपने मुंशीको सारा दिन चंदा वसूलीमें लगाये रहनेकी नौबत आ गई। वह बेचारा भी ऊकता उठा। मैंने सोचा कि मासिक नहीं, वार्षिक चंदा होना चाहिए और वह भी सबको

पेशगी दे देना चाहिए। बस, सभा की गई और सबने इस बातको पसंद किया। तय हुआ कि कम-से-कम तीन पौंड वार्षिक चंदा लिया जाय। इससे वसूलीका काम आसान होगया।

आरंभमे ही मैंने यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज लेकर नहीं चलाना चाहिए। और बातोंमें भले ही लोगोंका विश्वास कर ले; पर पैसेकी बातमे नही किया जा सकता। मैंने देख लिया था कि वादा कर चुकने पर भी देनेके धर्मका पालन कही भी नियमित रूपसे नही होता। नेटालके हिंदुस्तानी इसके अपवाद न थे। इस कारण 'नेटाल इंडियन कांग्रेस'ने कभी कर्ज करके कोई काम नही किया।

सभ्य बनानेमे साथियोंने असीम उत्साह प्रकट किया था। उसमे उनकी बड़ी दिलचस्पी होगई थी। उसके कार्यसे अनमोल अनुभव मिलता था। बहुतेरे लोग खुशी-खुशी नाम लिखवाते और चंदा दे देते। हां, दूर-दूरके गांवोमे जरा मुश्किल पेश आती। लोग सार्वजनिक कामकी महिमा नही समझते थे। कितनी ही जगह तो लोग अपने यहां आनेका न्यौता भेजते, अग्रसर व्यापारीके यहां ठहरते; परतु इस भ्रमणमें हमें एक जगह शुरुआतमे ही दिक्कत पेश हुई। यहांसे छः पौंड मिलने चाहिए थे; पर वह तीन पौंडसे आगे न बढ़ते थे। यदि उनसे इतनी ही रकम लेते तो औरोंसे इससे अधिक न मिलती। ठहराये हम उन्हींके यहां गये थे। सबको भूख लग रही थी; पर जबतक चंदा न मिले तबतक भोजन कैसे करते? खूब मिन्नत-खुशामद की गई; पर वह टस-से-मस न हुए। गांवके दूसरे व्यापारियोने भी उन्हे समझाया। सारी रात इसी खींचा-तानी में गई। गुस्सा तो कई साथियोंको आया; पर किसीने अपना सौजन्य न छोड़ा। ठेठ सुबह जाकर वह पसीजे और छः पौंड दिये। तब जाकर हम लोगोंको खाना नसीब हुआ। यह घटना टोंगाटकी है। इसका असर उत्तर किनारे पर ठेठ स्टेंगरतक तथा अंदर ठेठ चार्ल्सटाउन तक पड़ा और चंदा-वसूलीका हमारा काम बड़ा सरल हो गया।

परंतु प्रयोजन केवल इतना ही न था कि चंदा एकत्र किया जाय।

आवश्यकतासे अधिक रुपया जमा न करनेका तत्त्व भी मैंने मान लिया था।

सभा प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास आवश्यकताके अनुसार होती। उसमें पिछली सभाकी कार्रवाई पढ़ी जाती और अनेक बातोंपर चर्चा होती। चर्चा करनेकी तथा थोड़ेमे मतलबकी बात कहनेकी आदत लोगोंको न थी। लोग खड़े होकर बोलनेमें सकुचाते। मैंने सभाके नियम उन्हें समझाये और लोगोंने उन्हें माना। इससे होनेवाला लाभ उन्होंने देखा और जिन्हें सभाओंमे बोलनेका रफ्त न था वे सार्वजनिक कामोंके लिए बोलने और विचारने लगे।

सार्वजनिक कामोंमें छोटी-छोटी बातोंमे बहुत-सा खर्च हो जाया करता है, यह मै जानता था। शुरूमे तो रसीद-बुकतक न छपानेका निश्चय रखा था। मेरे दफ्तरमे साईक्लोस्टाइल था, उसपर रसीदे छपा लीं। रिपोर्ट भी इसी तरह छपती। जब रुपया-पैसा काफी आ गया, सभ्योंकी संख्या बढ़ गई, तभी रसीदे इत्यादि छपाई गई। ऐसी किफायतशारी हर संस्थामें आवश्यक है। फिर भी मै जानता हूं कि सब जगह ऐसा नही होता है। इसलिए इस छोटी-सी उगती हुई संस्थाके परवरिशकी समयका इतना वर्णन करना मैंने ठीक समझा। लोग रसीद लेनेकी परवा न करते, फिर भी उन्हें आग्रह-पूर्वक रसीद दी जाती। इस कारण हिसाब शुरूसे ही पाई-पाईका साफ रहा, और मै मानता हूं कि आज भी नेटाल-कांग्रेसके दफ्तरमें १८९४के बही-खाते ब्योरेवार मिल जायंगे। किसी भी संस्थाका सविस्तर हिसाब उसकी नाक है। उसके बिना वह संस्था अंतको जाकर गंदी और प्रतिष्ठा-हीन हो जाती है। शुद्ध हिसाबके बिना शुद्ध सत्यकी रखवाली असंभव है।

कांग्रेसका दूसरा अंग था—वहां जन्मे और शिक्षा पाये भारतीयोंकी सेवा करना। उनके लिए 'कालोनियल बॉर्न एंड इडियन एजुकेशनल एसोसिएशन' की स्थापना की। उसमें मुख्यत: ये नवयुवक ही सभ्य थे। उनके लिए चंदा बहुत थोड़ा रखा था। इस सभाकी बदौलत उनकी आवश्यकताये मालूम होती, उनकी विचार-शक्ति बढ़ती, व्यापारियोंके

साथ उनका संबंध बंधता, और खुद उन्हें भी सेवाका स्थान मिलता। यह संस्था एक वाद-विवाद-समिति जैसी थी। उसकी नियमपूर्वक बैठकें होतीं; भिन्न-भिन्न विषयोंपर भाषण होते, निबंध पढ़े जाते। उसके सिलसिलेमे एक छोटा-सा पुस्तकालय भी स्थापित हुआ।

कांग्रेसका तीसरा अंग था बाहरी आंदोलन। इसके द्वारा दक्षिण अफ्रिकाके अंग्रेजोंमें तथा बाहर इंग्लैंडमे और हिंदुस्तानमे वास्तविक स्थिति प्रकट की जाती थी। इस उद्देश्यसे मैंने दो पुस्तिकाये लिखी। पहली पुस्तिका थी—'दक्षिण अफ्रिका-स्थित प्रत्येक अंग्रेजसे अपील'। उसमे नेटालवाले भारतीयोंकी सामान्य स्थितिका दिग्दर्शन सप्रमाण कराया गया था। दूसरी थी—'भारतीय मताधिकार—एक अपील।' इसमें भारतीय मताधिकारका इतिहास अंकों और प्रमाणों सहित दिया गया था। इन दोनों पुस्तिकाओंको बड़े परिश्रम और अध्ययनके बाद मैंने लिखा था। उसका परिणाम भी वैसा ही निकला। पुस्तिकाओंका काफी प्रचार किया गया। इस हल-चलके फलस्वरूप दक्षिण अफ्रिकामें भारतीयोंके मित्र उत्पन्न हुए। इंग्लैंडमें तथा हिंदुस्तानमे सब दलोकी ओरसे मदद मिली और आगे कार्य करनेकी नीति और मार्ग निश्चित हुआ।

: २० :

बालासुंदरम्

जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसको फल मिला करता है। अपनेपर यह नियम घटा हुआ मैंने अनेक बार देखा है। लोगोकी, अर्थात् गरीबोकी, सेवा करनेकी मेरी प्रबल इच्छाने गरीबोके साथ मेरा सबध हमेशा अनायास बांध दिया है।

'नेटाल इडियन कांग्रेस'मे यद्यपि उपनिवेशोंमें जन्मे भारतीयोंने

प्रवेश किया था, कारकुन लोग शरीक हुए थे, फिर भी उसमें अभी मजूर गिरमिटिया लोग सम्मिलित न हुए थे। कांग्रेस अभी उनकी न हुई थी। वे चंदा देकर, उसके सदस्य होकर, उसे अपना न सके थे। कांग्रेसके प्रति उनका प्रेम पैदा तभी हो सकता था, जब कांग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा अवसर अपने-आप आ गया; और सो भी ऐसे समय, जबकि खुद मैं अथवा कांग्रेस उसके लिए मुश्किलसे तैयार थी; क्योंकि अभी मुझे वकालत शुरू किये दो-चार महीने भी मुश्किलसे हुए होंगे। कांग्रेस भी बाल्यावस्थामें ही थी। इन्ही दिनों एक दिन एक मदरासी हाथमे फेंटा रखकर रोता हुआ मेरे सामने आकर खडा होगया। कपड़े उसके फटे-पुराने थे। उसका शरीर कांप रहा था। सामनेके दो दांत टूटे हुए थे और मुंहसे खून बह रहा था। उसके मालिकने उसे बेदर्दीसे पीटा था। मैंने अपने मुंशीसे, जो तामिल जानता था, उसकी हालत पुछवाई। बालासुंदरम् एक प्रतिष्ठित गोरेके यहां मजूरी करता था। मालिक किसी बातपर उसपर बिगड़पड़ा और आग-बबूला होकर उसने उसे बुरी तरह पीट डाला, जिससे बालासुंदरम्के दो दांत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टरके यहां भेजा। उस समय गोरे डाक्टर भी वहां थे। मुझे चोट-संबंधी प्रमाण-पत्रकी जरूरत थी। उसे लेकर मैं बालासुंदरम्को अदालतमें ले गया। बालासुंदरम्ने अपना हलफिया बयान लिखवाया। पढ़कर मजिस्ट्रेटको मालिकपर बड़ा गुस्सा आया। उसने मालिकको तलब करनेका हुक्म दिया।

मेरी इच्छा यह न थी कि मालिकको सजा हो जाय। मुझे तो सिर्फ बालासुंदरम्को उसके यहांसे छुड़वाना था। मैंने गिरमिट-संबंधी कानूनको अच्छी तरह देख लिया। मामूली नौकर यदि नौकरी छोड़दे तो मालिक उसपर दीवानी दावा कर सकता है, फौजदारीमें नहीं ले जा सकता। गिरमिट और मामूली नौकरोंमे यों बड़ा फर्क था; पर उसमें मुख्य बात यह थी कि गिरमिटिया यदि मालिकको छोड़ दे तो वह फौजदारी जुर्म समझा जाता था और इसलिए उसे कैद भोगनी पड़ती। इसी कारण सर

विलियम विलसन हंटरने इस हालतको 'गुलामी'-जैसा बताया है। गुलाम-की तरह गिरमिटिया मालिककी संपत्ति समझा जाता। बालासुंदरम्को मालिकके चंगुलसे छुड़ानेके दो ही उपाय थे—या तो गिरमिटियोंका अफसर, जो कानूनके अनुसार उनका रक्षक समझा जाता था, गिरमिट रद कर दे, या दूसरेके नाम पर चढ़ा दे अथवा मालिक खुद उसे छोड़नेके लिए तैयार हो जाय। मै मालिकसे मिला और उससे कहा—"मै आपको सजा कराना नही चाहता। आप जानते है कि उसे सख्त चोट पहुची है। यदि आप उसकी गिरमिट दूसरेके नाम चढ़ानेको तैयार होते हों तो मुझे संतोष हो जायगा।" मालिक भी यही चाहता था। फिर मै उस रक्षक अफसरसे मिला। उसने भी रजामदी तो जाहिर की; पर इस शर्तपर कि मै बालासुंदरम्के लिए नया मालिक ढूंढ़ दूं।

अब मुझे नया अंग्रेज मालिक खोजना था। भारतीय लोग गिर-मिटियोंको रख नही सकते थे। अभी थोड़े ही अंग्रेजोसे मेरी जान-पहचान हो पाई थी। फिर भी एकसे जाकर मिला। उसने मुझपर मेहरबानी करके बालासुंदरम्को रखना मंजूर कर लिया। मैने कृतज्ञता प्रदर्शित की। मजिस्ट्रेटने मालिकको अपराधी करार दिया और यह बात नोट कर ली कि मुजरिमने बालासुंदरम्की गिरमिट दूसरोके नामपर चढ़ा देना स्वीकार किया है।

बालासुंदरम्के मामलेकी बात गिरमिटियोंमे चारों ओर फैल गई और मै उनके बंधुके नामसे प्रसिद्ध हो गया। मुझे यह संबंध प्रिय हुआ। फलत: मेरे दफ्तरमे गिरमिटियोंकी बाढ़ आने लगी और मुझे उनके सुख-दु:ख जाननेकी बड़ी सुविधा मिल गई।

बालासुंदरम्के मामलेकी ध्वनि ठेठ मदरास तक जा पहुंची। उस इलाकेके जिन-जिन जगहोंसे लोग नेटालकी गिरमिटमें गये उन्हें गिरमिटियों-ने इस बातका परिचय कराया। मामला कोई इतना महत्त्वपूर्ण न था; फिर भी लोगोंको यह बात नई मालूम हुई कि उनके लिए कोई सार्वजनिक कार्यकर्ता तैयार होगया है। इस बातसे उन्हें तसल्ली और उत्साह मिला।

मैंने लिखा है कि बालासुंदरम् अपना फेंटा उतारकर उसे अपने हाथमें रखकर मेरे सामने आया था। इस दृश्यमें बड़ा ही करुण-रस भरा हुआ है। यह हमें नीचा दिखानेवाली बात है। मेरी पगड़ी उतारनेकी घटना पाठकोंको मालूम ही है। कोई भी गिरमिटिया तथा दूसरा नवागत हिंदुस्तानी किसी गोरेके यहां जाता तो उसके सम्मानके लिए पगड़ी उतार लेता—फिर टोपी हो, या पगड़ी, अथवा फेंटा हो। दोनों हाथोंसे सलाम करना काफी न था। बालासुंदरम्ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह जाया जाता होगा। बालासुंदरम्का यह दृश्य मेरे लिए पहला अनुभव था। मैं शर्मिंदा हुआ। मैंने बालासुंदरम्से कहा, "पहले फेंटा सिर पर बांध लो।" बड़े संकोचसे उसने फेंटा बांधा; पर मैंने देखा कि इससे उसे बड़ी खुशी हुई। मैं अबतक यह गुत्थी न सुलझा सका कि दूसरोंको नीचे झुकाकर लोग उसमें अपना सम्मान किस तरह मान सकते होंगे।

: २१ :

तीन पौंडका कर

बालासुंदरम्वाली घटनाने गिरमिटियोंके साथ मेरा संबंध जोड़ दिया; परंतु उनकी स्थितिका गहरा अध्ययन तो मुझे उनपर कर बैठानेको जो हल-चल चली उसके फलस्वरूप करना पड़ा।

१८९४में नेटाल-सरकारने गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंपर प्रतिवर्ष २५ पौंड अर्थात् ३७५)का कर बिठानेका बिल तैयार किया। इस मसविदे-को पढ़कर मैं तो भौंचक रह गया। मैंने उसे स्थानिक कांग्रेसमें पेश किया। और कांग्रेसने उसके लिए आवश्यक हलचल करनेका प्रस्ताव स्वीकार किया।

इस करका ब्योरा थोड़ा सुन लीजिए—

१८६० ईस्वीके लगभग, जबकि नेटालके गोरोंने देखा कि यहां

ईखकी खेती अच्छी हो सकती है, उन्होंने मजूरोंकी खोज करनी शुरू की। यदि मजूर न मिलें तो न गन्नेकी फसल हो सकती थी, न गुड़-शक्कर बन सकता था। नेटालके हबशी इस कामको नही कर सकते थे। इसलिए नेटालवासी गोरोने भारत-सरकारसे लिखा-पढ़ी करके हिंदुस्तानी मजूरोंको नेटाल ले जानेकी इजाजत हासिल करली। उन्हें लालच दिया गया था कि तुम्हें पांच साल तो बंधकर हमारे यहां काम करना पड़ेगा, फिर आजाद हो, शौकसे नेटालमें रहो। उन्हें जमीनका हक मिल्कियत भी पूरा दिया गया था। उस समय गोरोंकी यह इच्छा थी कि हिंदुस्तानी मजूर पांच सालकी गिरमिट पूरी करनेके बाद खुशीसे जमीन जोते और अपनी मेहनतका लाभ नेटालको पहुंचावें।

भारतीय कुलियोंने नेटालको यह लाभ आशासे अधिक दिया। तरह-तरहकी साग-तरकारियां बोईं। हिंदुस्तानकी कितनी ही मीठी तरकारियां बोईं। जो साग-तरकारी वहां पहलेसे मिलती थी उन्हे सस्ता कर दिया। हिंदुस्तानसे आम लाकर लगाया; पर इसके साथ ही वे व्यापारभी करने लगे। घर बनानेके लिए जमीनें खरीदी और मजूरसे अच्छे जमींदार और मालिक बनने लगे। मजूरकी दशासे मालिककी दशाको पहुंचनेवाले लोगोके पीछे स्वतंत्र व्यापारी वहा आये। स्वर्गीय सेठ अबुबकर आदम सबसे पहले व्यापारी थे, जो वहां गये। उन्होंने अपना कारबार खूब जमाया।

इससे गोरे व्यापारी चौंके। जब उन्होंने भारतीय कुलियोंको बुलाया और उनका स्वागत किया तब उन्हें उनकी व्यापार-क्षमताका अंदाज न हुआ था। उनके किसान बनकर आजादीके साथ रहनेमें तो उस समयतक उन्हें आपत्ति न थी; परंतु व्यापारमे उनकी प्रतिस्पर्धा उन्हे नागवार हो गई।

यह है हिंदुस्तानियोंके खिलाफ आवाज उठानेका मूल कारण।

अब इसमें और बात भी शामिल हो गई। हमारा भिन्न और विशिष्ट रहन-सहन, हमारी सादगी, हमें थोड़े मुनाफेसे होनेवाला संतोष, आरोग्यके

नियमोंके विषयमें हमारी लापरवाही, घर-आंगनको साफ रखनेका आलस्य, उसे साफ-सुथरा रखनेमें कंजूसी, हमारे जुदे-जुदे धर्म—ये सब बातें इस विरोधको बढ़ानेवाली थीं।

यह विरोध एक तो उस मताधिकारको छीन लेनेके रूपमें और दूसरा गिरमिटियोंपर कर बैठानेके रूपमें सामने आया। कानूनके अलावा भी तरह-तरहकी खुचरपट्टी चल रही थी सो अलग।

पहली तजवीज यह पेश हुई थी कि पांच साल पूरे होनेपर गिरमिटिया जबरदस्ती वापस लौटा दिया जाय। वह इस तरह कि उसकी गिरमिट हिंदुस्तानमें जाकर पूरी हो; पर इस तजवीजको भारत-सरकार मंजूर न कर सकती थी। तब ऐसी तजवीज हुई कि—

१—मजदूरीका इकरार पूरा होनेपर गिरमिटिया वापस हिंदुस्तान चला जाय। अथवा—

२—दो-दो वर्षकी गिरमिट नये सिरेसे कराता रहे और ऐसी हर गिरमिटके समय उसके वेतनमें कुछ वृद्धि होती रहे।

३—यदि वापस न जाय और फिरसे मजदूरीका इकरार भी न करे तो उसे हर साल २५ पौंड देना चाहिए।

इस तजवीजको मंजूर करानेके लिए सर हेनरी बीन्स तथा मि० मेसनका शिष्ट-मंडल हिंदुस्तान भेजा गया। उस समय लार्ड एल्गिन वायसराय थे। उन्होंने पच्चीस पौंडका कर नामंजूर कर दिया; पर यह मान लिया कि सिर्फ तीन पौंड कर लिया जाय। मुझे उस समय भी लगा और आज भी लगता है कि वायसरायने यह जबरदस्त भूल की थी। उन्होंने इस बातमें हिंदुस्तानके हितका बिलकुल खयाल न किया। उनका यह धर्म कतई न था कि वह नेटालके गोरोंको इतनी सुविधा दे दें। यह भी तय हुआ कि तीन-चार वर्ष बाद ऐसे हिंदुस्तानीकी स्त्रीसे, उनके हर १६ वर्ष तथा उससे अधिक उम्रके प्रत्येक पुत्रसे और १३ वर्ष तथा उससे अधिक उम्रवाली लड़कीसे भी कर लिया जाय। इस तरह पति-पत्नी और दो बच्चोंके परिवारसे, जिसमें पतिको मुश्किलसे बहुत-से-बहुत

१४ शिलिंग मासिक मिलते हों, १२ पौंड अर्थात् १८०) कर लेना महान् अत्याचार है। दुनियामे कही भी ऐसा कर ऐसी स्थितिवाले लोगोसे नही लिया जाता था।

इस करके विरोधमे घोर लड़ाई छिड़ी। यदि नेटाल-इंडियन-कांग्रेस-की ओरसे बिल्कुल आवाज न उठी होती तो वायसराय शायद २५ पौंड भी मंजूर कर लेते। २५ पौंडके ३ पौंड होना भी, बिलकुल संभव है, काग्रेसके आंदोलनका ही परिणाम हो। पर मेरे इस अंदाजमें भूल होना सभव है। संभव है, भारत-सरकारने अपने-आप ही २५ पौंडको अस्वीकार कर दिया हो और बिना काग्रेसके विरोधके ३ पौंडका कर स्वीकार कर लिया हो। फिर भी वह हिंदुस्तानके हितका तो भग था ही। हिंदुस्तानके हित-रक्षककी हैसियतसे ऐसा अमानुष कर वायसरायको हरगिज न बैठाना चाहिए था।

पच्चीससे तीन पौड (३७५ रु० से ४५ रु०) होनेके लिए कांग्रेस भला श्रेय भी क्या ले ? कांग्रेसको तो यही बात खली कि वह गिरमिटियोंके हितकी पूरी-पूरी रक्षा न कर सकी, और कांग्रेसने अपना यह निश्चय कि तीन पौंडका कर तो अवश्य रद्द हो जाना चाहिए, कभी ढीला न किया था। इस निश्चयको पूरा हुए आज २० वर्ष हो गए। उसमे अकेले नेटालके ही नही, वरन् सारे दक्षिण अफ्रिकाके भारतवासियोंको जूझना पड़ा था। इसमे गोखलेको भी निमित्त बनना पड़ा था। उसमे गिर-मिटियोंको पूरा-पूरा योग देना पड़ा। कितनोंको ही गोलीका शिकार होना पडा। दस हजारसे ऊपर हिंदुस्तानियोंको जेल भोगनी पड़ी।

पर अंतमे सत्य विजयी हुआ। हिंदुस्तानियोंकी तपश्चर्याके रूपमे सत्य प्रत्यक्ष प्रकट हुआ। उसके लिए अटल श्रद्धा, धीरज और सतत आंदोलनकी आवश्यकता थी। यदि लोग हारकर बैठ जाते, कांग्रेस लड़ाईको भूल जाती, और करको अनिवार्य समझकर घुटने टेक देती, तो आजतक यह कर गिरमिटियोंसे लिया जाता होता और इसके अपयशका टीका सारे दक्षिण अफ्रिकाके भारतवासियोंको तथा सारे भारतवर्षको लगता।

: २२ :

धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार जो मैं लोक-सेवामें तल्लीन हो गया था, उसका कारण था आत्म-दर्शनकी अभिलाषा। यह समझकर कि सेवाके द्वारा ही ईश्वरकी पहचान हो सकती है, मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। मैं भारतकी सेवा करता था, क्योंकि वह मुझे सहज प्राप्त थी, उसमें मेरी रुचि थी। उसकी खोज मुझे न करनी पड़ी थी। मैं तो सफर करने, काठियावाड़के षड्यंत्रोंसे छूटने और आजीविका प्राप्त करनेके लिए दक्षिण अफ्रिका गया था; पर पड़ गया ईश्वरकी शोधमें—आत्म-दर्शनके प्रयत्नमें। ईसाई-भाइयोंने मेरी जिज्ञासा बहुत तीव्र कर दी थी। वह किसी प्रकार शांत न हो सकती थी और मैं शांत होना चाहता भी तो ईसाई भाई-बहन ऐसा न होने देते; क्योंकि डरबनमें मि० स्पेंसर वाल्टनने, जोकि दक्षिण अफ्रिकाके मिशनके मुखिया थे, मुझे खोज निकाला। मैं भी उनका एक कुटुंबीजन-सा हो गया। इस संबंधका मूल है प्रिटोरियामें उनसे हुआ समागम। मि० वाल्टनका तर्ज कुछ और ही था। मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने कभी ईसाई बननेकी बात मुझसे कही हो; बल्कि उन्होंने तो अपना सारा जीवन खोलकर मेरे सामने रख दिया, अपना तमाम काम और हलचलके निरीक्षणका अवसर मुझे दे दिया। उनकी धर्म-पत्नी भी बड़ी नम्र, परंतु तेजस्वी थी।

मुझे इस दंपतीकी कार्य-पद्धति पसंद आती थी; परंतु हमारे अंदर जो मौलिक भेद थे, उन्हें हम दोनों जानते थे। चर्चाद्वारा उन भेदोंको मिटा-देना असंभव था। जहां-जहां उदारता, सहिष्णुता और सत्य है, वहां भेद भी लाभदायक होते हैं। मुझे इस दंपतीकी नम्रता, उद्यम-शीलता और कार्य-परायणता बड़ी प्रिय थी। इससे हम बार-बार मिला करते।

इस संबंधने मुझे जागरूक कर रखा। धार्मिक पठनके लिए जो

फुरसत प्रिटोरियामें मुझे मिल गई थी वह तो अब असंभव थी; परंतु जो कुछ भी समय मिल जाता उसका उपयोग मै स्वाध्यायमे करता; मेरा पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। रायचंदभाई मेरा पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। किसी मित्रने मुझे इस संबंधमें नर्मदाशकर[1]की 'धर्मविचार' नामक पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावनासे मुझे सहायता मिली। नर्मदाशंकरके विलासी जीवनकी बाते सुनी थी। प्रस्तावनामे उनके जीवनमे हुए परिवर्तनोंका वर्णन मैंने पढा और उसने मुझे आकर्षित किया, जिससे कि उस पुस्तकके प्रति मेरा आदर-भाव बढ़ा। मैंने उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा। मैक्समूलरकी पुस्तक 'हिंदुस्तानसे हमे क्या शिक्षा मिलती है?' मैंने बड़ी दिलचस्पीसे पढी। थियोसोफिकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदोंका अनुवाद पढ़ा। उससे हिंदू-धर्मके प्रति मेरा आदर बढा। उसकी खूबी मै समझने लगा, परतु इससे दूसरे धर्मोके प्रति मेरे मनमें अभाव न उत्पन्न हुआ। वाशिंगटन इरविंग-कृत मुहम्मदका चरित और कार्लाइल-रचित 'मुहम्मद-स्तुति' पढ़ी। फलत: पैगंबर साहबके प्रति भी मेरा आदर बढ़ा। 'जरथुस्तके वचन' नामक पुस्तक भी पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न संप्रदायोंका कम-ज्यादा ज्ञान प्राप्त किया। इससे आत्म-निरीक्षण बढा। जो-कुछ पढ़ा या पसद हुआ उसपर चलनेकी आदत बढ़ी। इससे हिंदू-धर्ममें वर्णित प्राणायाम विषयक कितनी ही क्रियाये, पुस्तके पढ़कर मै जैसी समझ सका था, शुरू की; पर कुछ सिलसिला जमा नहीं। मै आगे न बढ सका। सोचा कि जब भारत लौटूगा तब किसी शिक्षकसे सीख लूगा; पर वह अबतक पूरा न हो पाया।

टाल्स्टायकी पुस्तकोंका स्वाध्याय बढ़ाया। उनकी 'गोस्पेल इन ब्रीफ', 'ह्वाट-टु डू'[2] इत्यादि पुस्तकोंने मेरे दिलपर गहरी छाप डाली।

---

[1]गुजरातके एक प्रसिद्ध कवि।

[2]'मण्डल'से इसका अनुवाद 'क्या करें?' नामसे प्रकाशित हुआ है।

विश्व-प्रेम मनुष्यको कहांतक ले जाता है, यह मै उससे अधिकाधिक समझने लगा।

इन्ही दिनो एक दूसरे ईसाई-कुटुबके साथ मेरा संबध बंधा। उन लोगोंकी इच्छासे मैं वेस्लियन गिरजेमे हर रविवारको जाता। प्रायः हर रविवारको मेरा शामका खाना भी उन्हींके यहां होता। वेस्लियन गिरजेका मुझपर अच्छा असर न हुआ। वहां जो प्रवचन हुआ करते थे मुझे नीरस मालूम हुए। उपस्थित जनोमे मुझे भक्ति-भाव न दिखाई दिया। ग्यारह बजे एकत्र होनेवाली यह मडली मुझे भक्तोंकी नहीं; बल्कि कुछ तो मनोविनोदके लिए और कुछ प्रथाके प्रभावसे एकत्र होनेवाले संसारी जीवोकी टोली मालूम हुई। कभी तो इस सभामें बरबस मुझे नीदके झोंके आने लगते, जिससे मै लज्जित होता; पर जब मैं अपने आस-पासवालोंको भी झोंके खाते देखता, तो मेरी लज्जा हलकी पड़ जाती। अपना यह स्थिति मुझे अच्छी न मालूम हुई। अंतको मैंने गिरजा जाना ही छोड़ दिया।

जिस परिवारके यहा मे हर रविवारको जाता था, वहांसे भी मुझे इस तरहसे छुट्टी मिली। गृह-स्वामिनी भोली, भली, परंतु संकुचित विचारवाली मालूम हुई। उसके साथ हर वक्त कुछ-न-कुछ धार्मिक चर्चा हुआ करती। उन दिनों मै घरपर 'लाइट आफ एशिया' पढ़ रहा था। एक दिन हम ईसा और बुद्धकी तुलनाके फेरमें पड़ गये—

"बुद्धका दयाको देखिए। मनुष्य-जातिसे आगे बढ़कर वह दूसरे प्राणियोंतक जा पहुंची। उसके कंधेपर किलोल करनेवाले मेमनेका दृश्य आंखोंके सामने आते ही आपका हृदय प्रेमसे नही उमड़ पड़ता? प्राणि-मात्रके प्रति यह प्रेम मुझे ईसाके जीवनमे कहीं दिखाई नही देता।"

मेरे इस कथनसे उस बहनको दुःख हुआ। मै उनकी भावनाको समझ गया व अपनी बात आगे न चलाई। बादको हम भोजन करने गये। उसका कोई पांच सालका हंसमुख बच्चा हमारे साथ था। बालक मेरे साथ होनेपर मुझे फिर किस बातकी जरूरत? उसके साथ

मैंने दोस्ती तो पहले ही कर ली थी। मैंने उसकी थालीमे पड़े मासके टुकड़ेका मजाक किया। और अपनी रकाबीमें शोभित नासपातीकी स्तुति शुरू की। भोलाभाला बालक रीझा और नासपातीकी स्तुतिमे शरीक हो गया।

परंतु माता? वह तो बेचारी दुःखमें पड़ गई।

मै चेता। चुप हो रहा और बातका विषय बदल दिया।

दूसरे सप्ताह मै सावधान रहकर उसके यहा गया तो, पर मेरा पाव मुझे भारी मालूम हो रहा था। अपने-आप उसके यहा जाना बद कर देना मुझे न सूझा, न उचित मालूम हुआ; पर उस भली बहनने ही मेरी कठिनाई हल कर दी। वह बोली—"मि० गांधी, आप बुरा न माने, आपकी सोहबतका असर मेरे लड़केपर बुरा होने लगा है। अब वह रोज मांस खानेमें आनाकानी करने लगा है और उस दिनकी आपकी बातचीतकी याद दिलाकर फल मांगता है। मुझे यह गवारा न हो सकेगा। मेरा बच्चा यदि मांस खाना छोड़ दे तो चाहे बीमार न हो; पर कमजोर जरूर हो जायगा। मै यह कैसे देख सकती हू? आपकी चर्चा हम प्रौढ़ लोगोंमें तो फायदेमंद हो सकती है; पर बच्चोंपर तो उसका असर बुरा ही पड़ता है।"

"मिसेज—मुझे खेद है। आपके, माताके, मनोभावको मैं समझ सकता हूं। मेरे भी बाल-बच्चे है। इस आपत्तिका अंत आसानीसे हो सकता है। मेरी बातचीतकी अपेक्षा मेरे खान-पानका और उसको देखनेका असर बालकोंपर बहुत ज्यादा होता है। इसलिए सीधा रास्ता यह है कि अबसे रविवारको मै आपके यहां न आया करूं। हमारी मित्रतामें इससे किसी प्रकार फर्क न आवेगा।"

: २३ :

गृह-व्यवस्था

बंबईमें तथा विलायतमे मैंने जो घर-गृहस्थी सजाई थी, उसमें और नेटालमें जो घर बसाना पड़ा उसमें भिन्नता थी । नेटालमें कितना ही खर्च तो महज प्रतिष्ठाके लिए मैं उठा रहा था । मैंने यह मान लिया था कि भारतीय बैरिस्टर और भारतीयोंके प्रतिनिधिकी हैसियतसे नेटालमें मुझे अपना रहन-सहन खर्चीला रखना चाहिए । इस कारण अच्छे मुहल्लेमें बढ़िया घर लिया था । घरको सजाया भी अच्छी तरह था । खान-पान तो सादा था; परंतु अंग्रेज मित्रोंको भोजनके लिए बुलाया करता था और हिंदुस्तानी साथियोंको भी निमंत्रण दिया करता था, इसलिए आप ही खर्च और भी बढ़ गया था ।

नौकरकी तंगी सभी जगह रहा करती । किसीको नौकर बनाकर रखना आजतक मैंने जाना ही नहीं ।

मेरे साथ एक साथी था । एक रसोइया भी रखा था । वह कुटुंबी ही बन गया था । दफ्तरके कारकुनोंमेंसे भी जो रखे जा सकते थे, उन्हें घरमें ही रखा था ।

मेरा विश्वास है कि यह प्रयोग ठीक सफल हुआ; परंतु मुझे संसारके कटु अनुभव भी काफी मिले ।

वह साथी बहुत होशियार और मेरी समझके अनुसार वफादार था; पर मैं उसे पहचान न सका । दफ्तरके एक कारकुनको मैंने घरमें रखा था । इस साथीको उसकी ईर्ष्या हुई । उसने ऐसा जाल रचा कि जिससे मै कारकुनपर शक करने लगू । यह कारकुन बड़ी आजाद तबीयतके थे । उन्होंने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये । इससे मुझे दुःख हुआ । उनके साथ कहीं अन्याय न हुआ हो, यह खयाल भीतर-ही-भीतर मुझे नोच रहा था ।

इसी बीच मेरे रसोइयेको किसी कारणसे दूसरी जगह जाना पड़ा। मैंने उसे अपने मित्रकी सेवा-शुश्रूषाके लिए रखा था, इसलिए उसकी जगह दूसरा रसोइया लाया गया। बादको मैंने देखा कि वह शख्स उड़ती चिड़िया भांपनेवाला था; पर वह मुझे इस तरह उपयोगी हो गया, मानो मुझे उसकी जरूरत रही हो।

इस रसोइयेको रखे मुश्किलसे दो-तीन ही दिन हुए होंगे कि इतनेमें उसने मेरे घरकी एक भयंकर बुराईको ताड़ लिया, जो मेरे ध्यानमें न आई थी, और उसने मुझे सचेत करनेका निश्चय किया। मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूं, यह धारणा लोगोंको हो रही थी, इस कारण रसोइयेको मेरे ही घरमे फैली गंदगी भयानक मालूम हुई।

मैं दोपहरके भोजनके लिए दफ्तरसे एक बजे घर जाता था। कोई बारह बजे होंगे कि वह रसोइया हांफता हुआ दौड़ा आया और मुझसे कहा—"आपको अगर कुछ देखना हो तो अभी मेरे साथ घर चलिए।"

मैंने कहा—"इसका क्या मतलब ? कहो भी आखिर क्या काम है ? ऐसे वक्त मेरे घर आनेकी क्या जरूरत, और देखना भी क्या है ?"

"न आओगे तो पछताओगे। आपको इससे ज्यादा नहीं कहना चाहता।" रसोइया बोला।

उसकी दृढ़ताने मुझपर असर किया। अपने मुशीको साथ लेकर घर गया। रसोइया आगे चला।

घर पहुंचते ही वह मुझे दुमजिलेपर ले गया। जिस कमरेमे वह साथी रहता था, उसकी ओर इशारा करके कहा—"इस कमरेको खोलकर देखो।"

अब मैं समझा, मैंने दरवाजा खटखटाया। जवाब क्या मिलता ? मैंने बड़े जोरसे दरवाजा ठोका। दीवार कांप उठा। दरवाजा खुला। अंदर एक बदचलन औरत थी। मैंने उससे कहा—"बहन, तुम तो यहांसे इसी दम चल दो। अब भूलकर यहां कदम मत रखना।"

साथीसे कहा—"आजसे आपका-मेरा संबंध टूटा। मैं अबतक

खूब धोखेमें रहा और बेवकूफ बना। मेरे विश्वासका बदला यही मिलना चाहिए था ?"

साथी बिगड़ा। मुझे धमकी देने लगा —"तुम्हारी सब बातें प्रकट कर दूंगा।"

मेरे पास कोई गुप्त बात है ही नहीं। मैंने जो-कुछ किया हो उसे खुशीसे प्रकट कर देना; पर तुम्हारा संबंध आजसे खत्म है।"

साथी अधिक गर्म हुआ। मैंने नीचे खड़े मुशीसे कहा—"तुम जाओ; पुलिस सुपरिंटेंडेंटसे मेरा सलाम कहो और कहो कि मेरे एक साथीनें मेरे साथ दगा किया है। उसे मै अपने घरमें रखना नहीं चाहता। फिर भी वह निकलनेसे इंकार करता है। मेहरबानी करके मदद भेजिए।"

अपराधीके बराबर दीन नहीं। मेरे इतना कहते ही वह ठंडा पड़ा। माफी मांगी। आजिजीसे कहा—"सुपरिंटेंडेंटके यहां आदमी न भेजिए।" और तुरंत घर छोड़ देना स्वीकार किया।

इस घटनाने ठीक समयपर मुझे सावधान किया। वह साथी मेरे लिए मोहरूप और अनिष्ट था, यह बात अब जाकर मैं स्पष्ट रूपसे समझ सका। इस साथीको रखकर मैंने अच्छा काम करनेके लिए बुरे साधनको अपनाया था। कडुए-करेलेकी बेलमें मैंने सुगंधित बेलेके फूलकी आशा रखी थी। साथीका चाल-चलन अच्छा न था, फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेरे साथ बेवफा न होगा। उसे सुधारनेका प्रयत्न करते हुए मुझे खुद छींटे लगते-लगते बचे। अपने हितैषियोंकी सलाहका मैंने अनादर किया। मोहने ने मुझे अंधा बना दिया था।

यदि इस दुर्घटनासे मेरी आंख न खुली होती, मुझे सत्यकी खबर न पड़ी होती तो संभव है कि मैं कभी वह स्वार्पण न कर सकता, जो आज कर पाया हूं। मेरी सेवा हमेशा अधूरी रहती; क्योंकि यह साथी मेरी प्रगतिको रोके बिना नहीं रहता। मुझे उसके लिए बहुतेरा समय देना पड़ता। मुझे अंधेरेमें रखनेकी, कुमार्गमें ले जानेकी शक्ति उसमें थी। पर 'जाको राखे साइयां मारि सके नहिं कोय।' मेरी निष्ठा शुद्ध थी।

इसलिए भूलें करते हुए भी मैं बच गया और मेरे पहले अनुभवने ही मुझे सावधान किया।

कौन जाने, ईश्वरने ही उस रसोइयेको प्रेरणा की हो! वह रसोई बनाना न जानता था; परंतु उसके आये बिना मुझे कोई सजग न कर पाता। वह बाई पहली ही बार मेरे घरमें न आई थी; परंतु इस रसोइयेकी तरह दूसरेकी हिम्मत नहीं पड़ती; क्योंकि सब जानते थे कि मैं उस साथीपर बेहद विश्वास रखता था।

इतनी सेवा करके रसोइया उसी दिन और उसी क्षण चला गया। उसने कहा—"मैं आपके यहां नहीं रह सकता। आप ठहरे भोले आदमी; यहां मुझ जैसोंका काम नहीं।" मैंने भी उससे रहनेका आग्रह नहीं किया।

उस कारकुनपर शक पैदा करानेवाला यह साथी ही था, यह बात मुझे अब जाकर मालूम हुई। मैंने उस कारकुनके साथ न्याय करनेका बहुत उद्योग किया; पर मैं उसे पूरी तरह संतोष न दे सका। मुझे इस बातका सदा दुःख रहा। फूटा बरतन कितना ही झाला जाय, वह झाला हुआ ही माना जायगा; ज्यों-का-त्यों साबित न होने पायेगा।

: २४ :

देशकी ओर

अब दक्षिण अफ्रिकामें रहते हुए मुझे तीन साल हो गये थे। लोगोंसे मेरी जान-पहचान हो गई थी। वे मुझे जानने-बूझने लगे थे। १८९६ ई०में मैंने छः महीनेके लिए देश जानेकी इजाजत चाही। मैंने देखा कि दक्षिण अफ्रिकामें मुझे बहुत समयतक रहना होगा। मेरी वकालत ठीक-ठीक चल निकली थी। सार्वजनिक कामोंके लिए लोग मेरी वहां आवश्यकता समझते थे। मैं भी समझता था। इसलिए मैंने दक्षिण अफ्रिकामें

सकुटुंब रहनेका निश्चय किया और इसके लिए देश जाना ठीक समझा। फिर यह भी देखा कि देश जानेसे कुछ यहांका काम भी हो जायगा। देशमे लोगोंके सामने यहाके प्रश्नकी चर्चा करनेसे उनकी अधिक दिलचस्पी पैदा हो सकेगी। तीन पौंडका कर एक वहता हुआ घाव था। जवतक वह उठ न जाता, जीको चैन नही हो सकती थी।

पर यदि मै देश जाऊ तो फिर कांग्रेसका और शिक्षा-मंडलके कामका कौन जिम्मा ले ? दो साथियोंपर नजर गई। आदमजी मियां खान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी-वर्गमेसे वहुतेरे काम करनेवाले ऊपर उठ आये थे; पर उनमे प्रथम पंक्तिमे आने योग्य यही दो सज्जन ऐसे थे जो मंत्रीका काम नियमित रूपसे कर सकते थे, और जो दक्षिण अफ्रिकामें जन्मे भारतवासियोंका मन हरण कर सकते थे। मंत्रीके लिए मामूली अंग्रेजी जानना तो आवश्यक था ही। मैंने इनमेसे स्वर्गीय आदमजी मियां खानको मंत्री-पद देने की सिफारिश की और वह स्वीकृत हुई। अनुभवसे यह पसंदगी बहुत ही अच्छी सावित हुई। अपनी उद्योगशीलता, उदारता, मिठास और विवेकके द्वारा सेठ आदमजी मियां खानने अपना काम संतोषजनक रीतिसे किया और सबको विश्वास हो गया कि मंत्रीका काम करनेके लिए वकील-बैरिस्टरकी अथवा पदवीधारी बड़े अंग्रेजीदाकी जरूरत न थी।

१८९६के मध्यमें मै पोगोला जहाजसे देशको रवाना हुआ। यह कलकत्ता जानेवाला जहाज था।

जहाजमें यात्री बहुत कम थे। दो अंग्रेज अफसर थे। उनका-मेरा अच्छा मेल बैठ गया। एकके साथ तो रोज १ घंटा शतरंज खेला करता था। जहाजके डाक्टरने मुझे एक 'तामिल-शिक्षक' दिया था और मैंने उसका अभ्यास शुरू कर दिया था।

नेटालमे मैंने देखा कि मुसलमानोंके निकट परिचयमें आनेके लिए मुझे उर्दू सीखनी चाहिए, तथा मदरासियोंसे संबंध बांधनेके लिए तामिल जान लेना चाहिए। उर्दूके लिए मैंने अंग्रेज मित्रके कहनेसे डेकके यात्रियों-

मेंसे एक अच्छा मुंशी खोज निकाला था, और हम लोगोंकी पढ़ाई अच्छी चलने लगी थी। अंग्रेज अफसरकी स्मरण-शक्ति मुझसे तेज थी। उर्दू अक्षरोंको पहचाननेमें मुझे दिक्कत पड़ती थी; पर वह तो एक बार शब्द देख लेनेके बाद उसे भूलता ही न था। मैंने अपनी मेहनतकी मात्रा बढ़ाई भी; पर उसका मुकाबला न कर सका।

तामिलकी पढ़ाई भी ठीक चली। उसमे किसीकी मदद न मिल सकती थी। पुस्तक लिखी भी इस तरह गई थी कि बहुत मददकी जरूरत न थी।

मुझे आशा थी कि देश जानेके बाद यह पढ़ाई जारी रह सकेगी; पर ऐसा न हो पाया। १८९३के बाद मुझे पुस्तके पढ़नेका अवसर प्रधानतः जेलोंमे ही मिला है। इन दोनों भाषाओंका ज्ञान मैंने बढ़ाया तो; पर वह सब जेलमें ही हुआ—तामिलका दक्षिण अफ्रिकाकी जेलमे और उर्दूका यरवडामें; पर तामिल बोलनेका अभ्यास कभी न हुआ। पढ़ना तो ठीक-ठीक आ गया था; किंतु पढ़नेका अवसर न आनेसे उसका अभ्यास छूटता जाता है, इस बातका मुझे बराबर दुःख बना रहता है। दक्षिण अफ्रिकाके मदरासी भाइयोंसे मैंने खूब प्रेम-रस पिया है। उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण रहता है। जब-जब मैं किसी तामिल-तेलगूको देखता हूं, तो उनकी श्रद्धा, उनकी उद्योगशीलता, बहुतोंका निःस्वार्थ त्याग, याद आये बिना नही रहता, और ये सब लगभग निरक्षर थे। जैसे पुरुष, वैसी ही स्त्रियां। दक्षिण अफ्रिकाकी लड़ाई ही निरक्षरोंकी थी और निरक्षर ही उसके लड़नेवाले थे। वह गरीबोंकी लड़ाई थी और गरीब ही उसमें जूझे।

इन भोले और भले भारतवासियोंका चित्त चुरानेके लिए भाषाकी भिन्नता कभी बाधक न हुई। वे टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी जानते थे और उससे हम अपना काम चला लेते थ; पर मै तो इस प्रेमका बदला चुकानेके लिए तामिल सीखना चाहता था। अतः तामिल तो कुछ-कुछ सीख ली। तेलगू जाननेका प्रयत्न हिंदुस्तानमें किया; परंतु वर्णमालासे आगे न बढ़ सका।

इस तरह तामिल-तेलगू न पढ़ पाया और अब शायद ही पढ़ पाऊं। इसलिए मैं यह आशा रख रहा हूं कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिंदुस्तानी सीख लेंगे। दक्षिण अफ्रिकाके द्राविड़—'मद्रासी' तो अवश्य थोड़ी-बहुत हिंदी बोलते हैं, मुश्किल है अंग्रेजी पढ़े-लिखोंकी। ऐसा मालूम होता है, मानो अंग्रेजीका ज्ञान हमें अपनी भाषायें सीखनेमें बाधक हो रहा है।

पर यह तो विषयांतर होगया। हमें अपनी यात्रा पूरी करनी चाहिए। अभी पोंगोलाके कप्तानका परिचय कराना बाकी है। अस्तु। हम दोनों मित्र हो गये थे। यह कप्तान प्लीमथ ब्रदरके संप्रदायका था। इसलिए जहाज-विद्याकी अपेक्षा आध्यात्मिक विद्याकी ही बातें हम दोनोंमें अधिक हुईं। उसने नीति और धर्म-श्रद्धामें फर्क बताया। उसकी दृष्टिसे बाइबिलकी शिक्षा लड़कोंका खेल थी। उसकी खूबी उसकी सरलता है। बालक, स्त्री-पुरुष सब ईसाको और उसके बलिदानको मान लें कि बस, उनके पाप धुल जावेंगे। इस प्लीमथ ब्रदरने मेरे प्रिटोरियाके 'ब्रदर की पहचान ताजा कर दी। जिस धर्ममें नीतिकी चौकीदारी करनी पड़ती हो वह उसे नीरस मालूम हुआ। इस मित्रता और आध्यात्मिक चर्चाकी तहमें था मेरा 'अन्नाहार'। मैं मांस क्यों नहीं खाता? गो-मांसमें क्या बुराई है? वनस्पतिकी तरह क्या पशु-पक्षियोंको भी ईश्वरने मनुष्यके आनंद तथा आहारके लिए नहीं बनाया है? ऐसी प्रश्न-माला आध्यात्मिक वार्तालाप उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती थी।

पर हम दोनों एक-दूसरेको न समझा सके। मैं अपने इस विचारपर दृढ़ हुआ कि धर्म और नीति एक ही वस्तुके वाचक हैं। इधर कप्तानको भी अपनी धारणाकी सत्यतापर संदेह न था।

चौबीस दिनके अंतमें यह आनंददायक यात्रा पूरी हुई, और मैं हुगलीका सौंदर्य निहारता हुआ कलकत्ता उतरा। उसी दिन मैंने बम्बई जानेके लिए टिकट कटाया।

: २५ :

हिंदुस्तानमें

कलकत्तासे बंबई जाते हुए रास्तेमें प्रयाग पड़ता था। वहां ४५ मिनट गाड़ी खड़ी रहती थी। मैंने सोचा कि इतने समयमें जरा शहर देख आऊं। मुझे दवाफरोशके यहांसे दवा भी लेनी थी। दवाफरोश ऊंघता हुआ बाहर आया। दवा देनेमे बड़ी देर लगा दी। ज्योंही मैं स्टेशन पर पहुंचा, गाड़ी चलती हुई दिखाई दी। भले स्टेशन मास्टरने गाड़ी एक मिनट रोकी भी; पर फिर मुझे वापस न आता देखकर मेरा सामान उतरवा लिया।

मै केलनरके होटलमें उतरा और यहांसे अपना काम शुरू करनेका निश्चय किया। यहांके 'पायोनियर' पत्रकी ख्याति मैंने सुनी थी। भारतकी आकांक्षाओंका वह विरोधी था, यह मैं जानता था। मुझे याद पड़ता है कि उस समय मि० चेज़नी (छोटे) उसके संपादक थे। मैं तो सब पक्षके लोगोंसे मिलकर सहायता प्राप्त करना चाहता था। इसलिए मि० चेज़नीको मैंने मिलनेके लिए पत्र लिखा। अपनी ट्रेन छूट जानेका हाल लिखकर सूचित किया कि कल ही मुझे प्रयागसे चला जाना है। उत्तरमें उन्होंने तुरत मिलनेके लिए बुलाया। मै खुश हुआ। उन्होंने गौरसे मेरी बाते सुनी। 'आप जो कुछ लिखेंगे, मैं उसपर तुरंत टिप्पणी करूंगा', यह आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा—"पर मैं आपसे यह नहीं कह सकता कि आपकी सब बातोंको मै स्वीकार कर सकूंगा। औपनिवेशिक दृष्टिबिंदु भी तो हमें समझना और देखना चाहिए न?"

मैंने उत्तर दिया—"आप इस प्रश्नका अध्ययन करें और अपने पत्रमे इसकी चर्चा करते रहें, यही मेरे लिए काफी है। शुद्ध न्यायके अलावा मैं और कुछ नहीं चाहता।"

शेष समय प्रयागके भव्य त्रिवेणी-संगमके दर्शन और अपने कामके विचारमें गया।

इस आकस्मिक मुलाकातने नेटालमें मुझपर हुए हमलेका बीजारोपण किया।

बंबईसे बिना कहीं रुके सीधा राजकोट गया और एक पुस्तिका लिखने की तैयारी की; उसे लिखने तथा छपानेमें कोई एक महीना लग गया। उसका मुखपृष्ठ हरे रंगका था; इस कारण वह बादको 'हरी पुस्तिका'के नामसे प्रसिद्ध हो गई थी। उसमें मैंने दक्षिण अफ्रिका-के हिंदुस्तानियोंकी स्थितिका चित्र खींचा था; और सोच-समझकर उसमें न्यूनोक्तिसे काम लिया था। नेटालकी जिन पुस्तिकाओंका जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूं, इसमें उनसे नरम भाषा इस्तेमाल की गई थी; क्योंकि मैं जानता हूं कि छोटा दुःख भी दूरसे देखते हुए बड़ा मालूम होता है।

'हरी पुस्तिका' की दस हजार प्रतियां छपवाईं और सारे हिंदुस्तानके अखबारोंको तथा भिन्न-भिन्न दलोंके मशहूर लोगोंको भेजी। 'पायोनियर' में उसपर सबसे पहले लेख प्रकाशित हुआ। उसका सारांश विलायत गया और उस सारांशका सार फिर रूटरकी मार्फत नेटाल गया। यह तार सिर्फ तीन लाइनका था। वह नेटालके हिंदुस्तानियोंके दुःखोंके मेरे किये वर्णनका छोटासा संस्करण था। वह मेरे शब्दोंमें न था। उसका जो असर वहां हुआ वह हम आगे चलकर देखेंगे। धीरे-धीरे तमाम प्रतिष्ठित समाचार-पत्रोंमें इस प्रश्नपर टिप्पणियां हुईं।

इन पुस्तिकाओंको डाकमें डालनेके लिए तैयार कराना उलझनका और दाम देकर कराना तो खर्चका भी काम था। मैंने एक आसान तरकीब खोज निकाली। मुहल्लेके तमाम लड़कोंको इकट्ठा किया और सुबहके समय दो-तीन घंटे उनसे मांगे। लड़कोंने इतनी सेवा खुशीसे मंजूर की। अपनी तरफसे मैंने उन्हें डाकके रद्दी टिकट तथा आशीष देना स्वीकार किया। लड़कोंने खेल-खेलमें मेरा काम पूरा कर दिया। छोटे-छोटे

बालकों को स्वयंसेवक बनानेका मेरा यह पहला प्रयोग था। इस दलके दो बालक आज मेरे साथी हैं।

इन्हीं दिनों पहले-पहल प्लेग का दौरा हुआ। चारों ओर भगदड़ मच गई थी। राजकोटमें भी उसके फैल जानेका डर था। मैंने सोचा कि आरोग्य-विभागमें मै अच्छा काम कर सकूंगा। मैंने राज्यको लिखा कि मैं अपनी सेवायें अर्पित करनेको तैयार हूं। राज्यने एक समिति बनाई और उसमें मुझे भी रखा। पाखानोंकी सफाईपर मैंने जोर दिया और समितिने मुहल्लेमुहल्ले जाकर पाखानोंकी जांच करनेका निश्चय किया। गरीब लोग अपने पाखानोंकी जांच करनेमें बिलकुल आनाकानी न करते थे। यही नही, बल्कि जो सुधार बताये गये वे भी उन्होंने किये, पर जब हम राजकाजी लोगोंके घरोंकी जांच करने गये तब कितनी ही जगह तो हमे पाखाना देखने तककी इजाजत न मिली—सुधारकी तो बात ही क्या! आम तौरपर हमें यह अनुभव हुआ कि धनियोंके पाखाने अधिक गदे थे। खूब अधेरा, बदबू और अजहद गदगी थी। बैठनेकी जगह कीड़े कुलबुलाते थे। मानो रोज जीते जी नरकमे जाना था। हमने जो सुधार सुझाये थे, वे बिलकुल मामूली थे, मैला जमीनपर नही बल्कि कूड़ोंमें गिरा करे। पानी भी जमीनमे जज्ब होनेके बदले कूंडोंमे गिरा करे। बैठक और भंगीके आनेकी जगहके बीचमें जो दीवार रहती है वह तोड़ डाली जाय, जिससे भंगी सारा हिस्सा अच्छी तरह साफ कर सके; और पाखाना भी कुछ बड़ा हो जाय तो उसमें हवा-प्रकाश जा सके। बड़े लोगोंने इन सुधारोके रास्तेमें बड़े झगड़े खड़े किये और आखिर होने हीं नही दिये।

समितिको ढेड़ोंके मुहल्लोंमे भी जाना था; पर सिर्फ एक ही सदस्य मेरे साथ वहा जानेके लिए तैयार हुआ। एक तो वहां जाना और फिर उनके पाखाने देखना; परतु मुझे तो ढेड़वाड़ा देखकर सानंदाश्चर्य हुआ। अपनी जिदगीमें मै पहली ही बार ढेड़वाड़ा गया था। ढेड़ भाई-बहिन हमें देखकर आश्चर्य-चकित हुए। हमने कहा—"हम तुम्हारे पाखाने देखना चाहते है।"

उन्होंने कहा—"हमारे यहां पाखाने कहां ? हमारे पाखाने तो जंगलमें होते हैं। पाखाने तो होते हैं आप बड़े लोगोंके यहां।"

मैंने पूछा—"अच्छा तो अपने घर हमे देखने दोगे ?"

"हां साहब, जरूर ! हमें क्या उज्र हो सकता है ? जहाँ जी चाहे आइए। हमारे तो ये ऐसे ही घर है।"

मैं अंदर गया। घर तथा आंगनकी सफाई देखकर खुश हो गया। घर साफ-सुथरा लिपा-पुता था। आंगन बुहारा हुआ था; और जो थोड़े-बहुत बरतन थे वे साफ मंजे हुए चमकदार थे।

एक पाखानेका वर्णन किये बिना नही रह सकता। मोरी तो हर घरमे रहती ही है, पानी भी उसमें बहता है और पेशाब भी किया जाता है। अतएव कोई कमरा मुश्किलसे बिना बदबूवाला होगा। पर एक घरमें तो सोनेके कमरेमे मोरी और पाखाना दोनों देखे और यह सारा मैला नलमेंसे नीचे उतरता था। इस कमरेमे खड़ा होना मुश्किल था। अब पाठक ही इस बातका अंदाजा कर लें कि उसमें घरवाले सो कैसे सकते होंगे ?

समिति हवेली—वैष्णव-मंदिर—देखने भी गई थी। हवेलीके मुखियाजीसे गांधी-कुटुंबका अच्छा संबंध था। मुखियाजीने हवेली देखने देना तथा जितना हो सके सुधार करना स्वीकार किया। उन्होंने खुद उस हिस्सेको कभी न देखा था; हवेलीकी पत्तलें और जूठन आदि पीछेकी छतसे फेंक दिये जाते। वह हिस्सा कौओं और चीलोंका घर बन गया था। पाखाने तो गंदे थे ही। मुखियाजीने कितना सुधार किया, यह मैं न देख पाया। हवेलीकी गंदगी देखकर दुःख तो बहुत हुआ। जिस हवेलीको हम पवित्र स्थान समझते हैं, वहां तो आरोग्यके नियमोंका काफी पालन होनेकी आशा रखते है। स्मृतिकारोंने जो बाह्यान्तर शौचपर बहुत जोर दिया है, यह बात मेरे ध्यानसे बाहर उस समय भी न थी।

: २६ :

राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठाका अनुभव मैंने जितना अपने अंदर किया है उतना शायद ही दूसरोंमें किया हो। मैंने देखा कि इस राजनिष्ठाका मूल है मेरा सत्यके प्रति स्वाभाविक प्रेम। राजनिष्ठाका अथवा किसी दूसरी चीजका ढोंग मुझसे आजतक न हो सका। नेटालमें जिस किसी सभामें मै जाता, 'गॉड सेव दि किंग' बराबर गाया जाता। मैंने सोचा, मुझे भी गाना चाहिए। यह बात नहीं कि उस समय मुझे ब्रिटिश राज्य-नीतिमें बुराइयां न दिखाई देती थी। फिर भी आमतौरपर मुझे वह नीति अच्छी मालूम होतीथी। मै उस समय यह मानता था कि ब्रिटिश-राज्य तथा राज्यकर्त्ताओं-की नीति कुल मिलाकर प्रजा-पोषक है।

पर दक्षिण अफ्रिकामें उलटी नीति दिखाई देती; रंग-द्वेष नजर आता। मै समझता कि यह क्षणिक और स्थानिक है। इस कारण राज-निष्ठामे मै अंग्रेजोंकी प्रतिस्पर्द्धा करनेकी चेष्टा करता। बड़े श्रमके साथ अंग्रेजोके राष्ट्र-गीत 'गॉड सेव दि किंग'का स्वर मैंने साधा। सभाओंमें जब वह गाया जाता, तब अपना सुर उसमे मिलाता। और बिना आडंबर किये वफादारी दिखानेके जितने अवसर आते सबमें शरीक होता।

अपनी जिंदगीमे कभी मैंने इस राजनिष्ठाकी दूकान नही लगाई। अपना निजी मतलब साध लेनेकी कभी इच्छातक न हुई। वफादारीका एक तरहका कर्ज समझकर मैंने उसे अदा किया है।

जब भारत आया, तब महारानी विक्टोरियाकी डायमंड जुबलीकी तैयारियां हो रही थीं। राजकोटमे भी एक समिति बनाई गई। उसमे मै निमंत्रित किया गया। मैंने निमंत्रण स्वीकार किया ; पर मुझे उसमे ढकोसलेकी बू आई। मैंने देखा कि उसमे बहुतेरी बाते महज दिखावेके लिए का जाती है। यह देखकर मझे दुःख हुआ। मैं सोचने लगा कि

ऐसी दशामें समितिमें रहना चाहिए, या नहीं ? अंतको यह निश्चय किया कि अपने कर्तव्यका पालन करके संतोष मान लेना ही ठीक है।

एक तजवीज यह थी कि पेड़ लगाये जायं। इसमें मुझे पाखंड दिखाई दिया। मालूम हुआ कि यह महज साहब लोगोंको खुश करनेके लिए किया जाता है। मैंने लोगोंको यह समझानेकी कोशिश की कि पेड़ लगाना लाजिमी नहीं किया गया है, सिर्फ सिफारिश भर की गई है। यदि लगाना ही हो तो फिर सच्चे दिलसे लगाना चाहिए, नहीं तो मुतलक नहीं। मुझे कुछ-कुछ ऐसा याद पड़ता है कि जब मैं ऐसी बात कहता तो लोग उसे हंसीमें उड़ा देते थे। जो हो, अपने हिस्सेका पेड़ मैंने अच्छी तरह बोया और उसकी परवरिश भी की, यह अच्छी तरह याद है।

'गॉड सेव दि किंग' मैं अपने परिवारके बच्चोंको सिखाता था। मुझे याद है कि ट्रेनिंग कालेजके विद्यार्थियोंको मैंने यह सिखाया था; पर मुझे यह ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता कि यह इसी मौकेपर सिखाया था, अथवा सप्तम एडवर्डके राज्यारोहणके प्रसंगपर। आगे चलकर मुझे यह गीत गाना अखरा। ज्यों-ज्यों मेरे मनमें अहिंसाके विचार प्रबल होते गये, त्यों-त्यों मैं अपनी वाणी और विचारकी अधिक चौकीदारी करने लगा। इस गीतमे ये दो पंक्तियां भी है—

'उसके शत्रुओंका नाश कर;
उनकी चालोंको विफल कर।'

यह भाव मुझे खटका। अपने मित्र डा० बूथके सामने मैंने अपनी कठिनाई पेश की। उन्होंने भी स्वीकार किया कि हां, अहिंसावादी मनुष्यको यह गान शोभा नहीं देता। जिन्हें हम शत्रु कहते है, वे दगाबाजी ही करते हैं, यह कैसे मान लें ? यह कैसे कह सकते हैं कि जिन्हे हमने शत्रु मान लिया है वे सब बुरे ही है। ईश्वरसे तो हम न्यायकी ही याचना कर सकते हैं। डा० बूथको यह दलील जंची। उन्होंने अपने समाजमें गानेके लिए एक नये ही गीतकी रचना की। डा० बूथका विशष परिचय आगे दूंगा।

जिस प्रकार वफादारीका स्वाभाविक गुण मुझमें था उसी तरह शुश्रूषाका भी था। बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषा का शौक, फिर बीमार चाहे अपने हों या पराये, मुझे था। राजकोटमें दक्षिण अफ्रिका-संबंधी काम करते हुए मैं एक बार बंबई गया। इरादा यह था कि बड़े-बड़े शहरोंमें सभायें करके लोकमत विशेष रूपसे तैयार किया जाय। इसी सिलसिलेमें मैं बंबई गया था। पहले न्यायमूर्ति रानडेसे मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यानसे सुनी और सर फिरोजशाहसे मिलनेकी सलाह दी। फिर मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजीसे मिला। उन्होंने भी मेरी बात सुनकर यही सलाह दी 'जस्टिस रानडेसे और मुझसे आपको बहुत कम सहायता मिल सकेगी। हमारी स्थिति आप जानते हैं। हम सार्वजनिक कामोंमें योग नही दे सकते; परंतु हमारे मनोभाव और सहानुभूति आपके साथ रहेंगे हैं। हां, सर फिरोजशाह आपकी सच्ची सहायता करेंगे।'

सर फिरोजशाहसे तो मै मिलनेहीवाला था। परंतु इन दो बुजुर्गोंको यह राय जानकर कि उनकी सलाहसे चलो, मुझे इस बातका ज्ञान हुआ कि सर फिरोजशाहका कितना अधिकार लोगों पर है।

मै सर फिरोजशाहसे मिला। मैं उनसे चकाचौंध होनेके लिए तैयार ही था। उनके नामके साथ लगे बड़े-बड़े विशेषण मैंने सुन रख थे। 'बंबईके शेर', 'बंबईके बेताजके बादशाह'से मिलना था। परतु बादशाहने मुझे भयभीत नही किया। जिस प्रकार पिता अपने जवान पुत्रसे प्रेमके साथ मिलता है, उसी प्रकार वह मुझसे मिले। उनके चेंबरमे उनसे मिलना था। अनुयायियोंसे तो वह सदा घिरे हुए रहते ही थे। वाच्छा थे; कामा थे। उनसे मेरा परिचय कराया। वाच्छाका नाम मैंने सुना था, वह फिरोजशाहके दाहिने हाथ माने जाते थे। अंक-शास्त्री के नामसे वीरचन्द गांधीने मुझे उनका परिचय कराया था। उन्होने कहा—"गांधी हम फिर भी मिलेंगे।"

कुल दो ही मिनटमें यह सब हो गया। सर फिरोजशाहने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजीसे मिलनेकी भी बात मैंने कही।

उन्होंने कहा—"गांधी, तुम्हारे कामके लिए मुझे एक सभा करनी होगी। तुम्हारे काममें जरूर मदद देनी चाहिए।" मुंशीकी ओर देखकर सभाका दिन निश्चय करनेके लिए कहा। दिन तय हुआ और मुझे छुट्टी मिली। कहा—"सभाके एक दिन पहले मुझसे मिल लेना।" मैं निश्चंत होकर मनमें फूलता हुआ अपने घर गया।

मेरे बहनोई बंबईमें रहते थे, उनसे मिलने गया। वह बीमार थे। गरीब हालत थी। बहन अकेली उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सकती थी। बीमारी सख्त थी। मैंने कहा—'मेरे साथ राजकोट चलिए।' वह राजी हुए। बहन-बहनोईको लेकर मैं राजकोट गया। बीमारी अंदाजसे बाहर भीषण हो गई थी। मैंने उन्हें अपने कमरेमें रखा। दिन भर मैं उनके पास ही रहता। रातको भी जागना पड़ता। उनकी सेवा करते हुए दक्षिण अफ्रिकाका काम मैं कर रहा था। अंतमें बहनोईका स्वर्गवास हो गया; पर मुझे इस बातसे कुछ संतोष रहा कि अंत समय उनकी सेवा करनेका अवसर मुझे मिल गया।

शुश्रूषाके इस शौकने आगे चलकर व्यापक रूप धारण किया। वह यहांतक कि उसमें मैं अपना काम-धंधा छोड़ बैठता। अपनी धर्मपत्नीको भी उसमें लगाता और सारे घरको भी शामिल कर लेता था। इस वृत्तिको मैंने 'शौक' कहा है; क्योंकि मैंने देखा कि गुण तभी निभता है, जब आनंददायक हो जाता है। खींचा-तानी करके दिखावे या मुलाहिजेके लिए जब ऐसे काम होते हैं, तब वह मनुष्यको कुचल डालते हैं और उनको करते हुए भी मनुष्य मुरझा जाता है। जिस सेवासे चित्तको आनंद नहीं मालूम होता, वह न सेवकको फलती है, न सेव्यको सुहाती है। जिस सेवासे चित्त आनंदित होता है उसके सामने ऐशोआराम या धनोपार्जन इत्यादि बातें तुच्छ मालूम होती हैं।

: २७ :

बंबईमें सभा

बहनोईके देहांतके दूसरे ही दिन मुझे सभाके लिए बंबई जाना था। मुझे इतना समय न मिला था कि अपने भाषणकी तैयारी कर रखता। जागरण करते-करते थक रहा था। आवाज भी भारी हो रही थी। यह विचार करता हुआ कि ईश्वर किसी तरह निबाह लेगा, मैं बंबई गया। भाषण लिखकर ले जानेका तो मुझे स्वप्न में भी खयाल न हुआ था।

सभा की तिथिके एक दिन पहले शामको पांच बजे आज्ञानुसार मैं सर फिरोजशाहके दफ्तरमें हाजिर हुआ।

"गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है न ?" उन्होंने पूछा।

"नहीं, तो, मैंने जबानी ही भाषण देनेका इरादा कर रखा है।" मैंने डरते-डरते उत्तर दिया।

"बंबईमें ऐसा न चलेगा। यहांका रिपोर्टिंग खराब है, और यदि तुम चाहते हो कि इस सभासे लाभ हो तो तुम्हारा भाषण लिखित ही होना चाहिए और रातों-रात छपा लेना चाहिए। रात ही को भाषण लिख सकोगे न ?"

मैं पसोपेशमें पड़ा; परंतु मैंने लिखनेकी कोशिश करना स्वीकार किया।

"तो मुंशी तुमसे भाषण लेने कब आवें ?" बंबईके सिंह बोले।

"ग्यारह बजे।" मैंने उत्तर दिया।

सर फिरोजशाहने मुंशीको हुक्म दिया कि उतने बजे जाकर मुझसे भाषण ले आवे और रातों-रात उसे छपा ले। इसके बाद मुझे विदा किया।

दूसरे दिन मैं सभामें गया। मैंने देखा कि उनकी लिखित भाषण पढ़नेकी सलाह कितनी बुद्धिमत्तापूर्ण थी। फ्रामजी कवासजी इंस्टीट्यूटके हालमें सभा थी। मैंने सुन रखा था कि सर फिरोजशाहके भाषणमें सभा-

भवनमें खड़े रहनेको जगह न मिलती थी। इस में विद्यार्थी लोग खूब दिलचस्पी लेते थे।

ऐसा सभाका मुझे यह पहला अनुभव था। मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज लोगोंतक नहीं पहुंच सकती। कांपते-कांपते मैंने अपना भाषण शुरू किया। सर फिरोजशाह मुझे उत्साहित करते जाते—'हां, जरा और ऊंची आवाजमें!' ज्यों-ज्यों वह ऐसा कहते त्यों-त्यों मेरी आवाज गिरती जाती थी।

मेरे पुराने मित्र केशवराव देशपांडे मेरी मददके लिए दौड़े। मैंने उनके हाथमें भाषण सौंपकर छुट्टी पाई। उनकी आवाज थी तो बुलन्द; पर प्रेक्षक क्यों सुनने लगे? 'वाच्छा', 'वाच्छा' की पुकारसे हाल गूंज उठा। अब वाच्छा उठे। उन्होंने देशपांडेके हाथसे कागज लिया और मेरा काम बन गया। सभामें तुरंत सन्नाटा छा गया और लोगोंने अथसे इतितक भाषण सुना। मामूलके मुताबिक प्रसंगानुसार 'शर्म'-'शर्म' की अथवा करतल-ध्वनि हुई। सभाके इस फलसे मैं खुश हुआ।

सर फिरोजशाहको भाषण पसंद आया। मुझे गंगा नहानेके बराबर संतोष हुआ।

इस सभाके फल-स्वरूप देशपांडे तथा एक पारसी सज्जन ललचाये। पारसी सज्जन आज एक पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए हिचकता हूं। जब खुरशेदजीने उनके निश्चयको डांवाडोल कर दिया। उसकी तहमें एक पारसी बहन थी। विवाह करें या दक्षिण अफ्रिका जायं? यह समस्या उनके सामने थी। अंतको विवाह कर लेना ही उन्होंने अधिक उचित समझा; परन्तु इन पारसी मित्रकी तरफसे पारसी रुस्तमजीने इसका प्रायश्चित्त किया। और उस पारसी बहनकी ओरसे दूसरी पारसी बहनें, सेविका बनकर, खादीके लिए वैराग्य लेकर, प्रायश्चित्त कर रही हैं। इस कारण इस दंपतिको मैंने माफ कर दिया है। देशपांडेको विवाहका प्रलोभन तो न था; पर वह भी न आ सके। इसका प्रायश्चित्त अब वह खुद ही कर रहे हैं। लौटती बार रास्तेमें जंजी-

बार पड़ता था। वहां एक तैयबजीसे मुलाकात हुई। उन्होंने भी आनेकी आशा दिलाई थी; पर वे भला दक्षिण अफ्रिका क्यों आने लगे ? उनके न आनेके गुनाहका बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं; परंतु बैरिस्टर मित्रोंको दक्षिण अफ्रिका आनेके लिए लुभानेके मेरे प्रयत्न इस तरह विफल हुए।

यहां मुझे पेस्तनजी पादशाह याद आते हैं। विलायतसे ही उनका मेरा मधुर संबंध हो गया था। पेस्तनजीसे मेरा परिचय लंदनके अन्नाहारी भोजनालयमें हुआ था। उनके भाई बरजोरजी एक 'सनकी' आदमी थे। मैंने उनकी ख्याति सुनी थी; पर मिला न था, परंतु मित्र लोग कहते, वह 'चक्रम' (सनकी) है। घोड़ेपर दया खाकर ट्राममें नही बैठते, शतावधानकी तरह स्मरण-शक्ति होते हुए भी डिग्रीके फेरमें नहीं पड़ते। इतने आजाद मिजाज कि किसीके दम-झांसेमें नहीं आते और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी ! पेस्तनजीकी डिग्री इतनी बढ़ी हुई नहीं समझी जाती थी; पर फिर भी उनका बुद्धि-वैभव प्रसिद्ध था। विलायतमें भी उनकी ऐसी ही ख्याति थी; परंतु उनके-मेरे संबंधका मूल तो था उनका अन्नाहार। उनके बुद्धि-वैभवका मुकाबला करना मेरे सामर्थ्यके बाहर था।

बंबईमें मैंने पेस्तनजीको खोज निकाला। वह प्रोथोनोटरी थे। जब मैं मिला तब वह बृहद् गुजराती शब्द-कोषके काममे लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रिकाके काममें मदद लेनेके संबंधमें मैंने एक भी मित्रको टटोले बिना नहीं छोड़ा था। पेस्तनजी पादशाहने तो मुझे ही उलटे दक्षिण अफ्रिका न जानेकी सलाह दी। मै तो भला आपको क्या मदद दे सकता हूं; पर मुझे तो आपका ही वापस लौटना पसंद नहीं। यही, अपने देशमें ही, क्या कम काम है ? देखिए, अभी अपनी मातृ-भाषाकी सेवाका ही कितना क्षेत्र सामने पड़ा हुआ है ? मुझे विज्ञान-संबंधी शब्दोंके पर्याय खोजने हैं। यह हुआ एक काम। देशकी गरीबीका विचार कीजिए। हां, दक्षिण अफ्रिकामें हमारे लोगोंको कष्ट है; पर उसमे आप जैसे लोग खप जायं, यह मुझे बरदाश्त नहीं हो सकता। यदि हम यही राज-सत्ता

अपने हाथमें ले सके तो वहां उनकी मदद अपने-आप हो जायगी। आपको शायद मैं न समझा सकूंगा; परंतु दूसरे सेवकोंको आपके साथ ले जानेमें मैं आपको हरगिज सहायता न दूंगा। ये बातें मुझे अच्छी तो न लगीं; परंतु पेस्तनजी पादशाहके प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देश-प्रेम व भाषा-प्रेम देखकर मैं मुग्ध हो गया। उस प्रसंगकी बदौलत मेरा उनकी प्रेम-गांठ मजबूत हो गई। उनके दृष्टि-बिंदुको मैं ठीकठीक समझ गया, परंतु दक्षिण अफ्रिका के कामको छोड़नेके बदले, उनकी दृष्टिसे भी, मुझे तो उसीपर दृढ़ होना चाहिए—यह मेरा विचार हुआ। देश-प्रेमी एक भी अंगको, जहांतक हो, न छोड़ेगा। और मेरे सामने तो गीताका श्लोक तैयार ही था—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥[1]

बढ़े-चढ़े पर-धर्मसे घटिया स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्ममें मौत भी उत्तम है; किंतु पर-धर्म तो भयकर्त्ता है।

: २८ :

पूना और मदरासमें

सर फिरोजशाहने मेरा रास्ता सरल कर दिया। बंईसे मैं पूना गया। मैं जानता था कि पूनामें दो पक्ष थे; पर मुझे सबकी सहायताकी जरूरत थी। पहले मैं लोकमान्यसे मिला। उन्होंने कहा—

[1] गीता अध्याय ३ श्लोक ३५

"सब दलोंकी सहायता प्राप्त करनेका आपका विचार बिलकुल ठीक है। आपके प्रश्नके संबंधमें मत-भेद हो नहीं सकता; परंतु आपके कामके लिए किसी तटस्थ सभापतिकी आवश्यकता है। आप प्रोफेसर भांडारकरसे मिलिए। योंतो वह आजकल किसी हलचलमें पड़ते नहीं हैं; पर शायद इस कामके लिए 'हां' कर लें। उनसे मिलकर नतीजेकी खबर मुझे कीजिएगा। मैं आपको पूरी-पूरी सहायता देना चाहता हूं। आप प्रोफेसर गोखलेसे भी अवश्य मिलिएगा। मुझसे जबकभी मिलनेकी इच्छा हो जरूर आइएगा।"

लोकमान्यके यह मुझे पहले दर्शन थे। उनकी लोक-प्रियताका कारण मैं तुरंत समझ गया।

यहांसे मै गोखलेके पास गया। वह फर्ग्यूसन कालेजमें थे। वे बड़े प्रेमसे मुझसे मिले और मुझे अपना बना लिया। उनका भी यह प्रथम ही परिचय था; पर ऐसा मालूम हुआ मानो हम पहले मिल चुके हों। सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय-जैसे मालूम हुए; लोकमान्य समुद्रकी तरह मालूम हुए। गोखले गंगाकी तरह मालूम हुए; उसमें मैं नहा सकता था। हिमालयपर चढ़ना मुश्किल है, समुद्रमें डूबनेका भय रहता है; पर गंगाकी गोदामें खेल सकते है, उसमें डोंगीपर चढ़कर तैर सकते हैं। गोखलेनें खोद-खोदकर बातें पूछीं—जैसी कि मदरसेमें भरती होते समय विद्यार्थियोंसे पूछी जाती हैं। किस-किससे मिलूं और किस प्रकार मिलूं, यह बताया और मेरा भाषण देखनेके लिए मांगा। मुझे अपनें कालेजकी व्यवस्था दिखाई। कहा—"जब मिलना हो, खुशीसे मिलना और डाक्टर भांडारकरका उत्तर मुझे जताना।" फिर मुझे विदा किया। राजनीतिक क्षेत्रमें गोखलेने जीते-जी जैसा आसन मेरे हृदयमें जमाया और जो उनके देहातके बाद अब भी जमा हुआ है वैसा फिर कोई न जमा सका।

रामकृष्ण भांडारकर मुझसे उसी तरह पेश आये, जिस तरह पिता पुत्रसे पेश आता है। मैं दोपहरके समय उनके यहां गया था। ऐसे समय

भी मैं अपना काम कर रहा था, यह बात इस परिश्रमी शास्त्रज्ञको प्रिय हुई और तटस्थ अध्यक्ष बनानेके मेरे आग्रहपर ('दैट्स इट' 'दैट्स इट') 'यही ठीक है', 'यही ठीक है' उद्‌गार सहज ही उनके मुंहसे निकल पड़े।

बातचीतके अंतमें उन्होंने कहा—"तुम किसीसे भी पूछोगे तो वह कह देगा कि आजकल मैं किसी भी राजनीतिक काममें नहीं पड़ता हूं; परंतु तुमको मैं विमुख नहीं कर सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभामें आनेसे इन्कार नहीं कर सकता। श्रीयुत तिलक और श्रीयुत गोखलेसे तुम मिल ही लिये हो, यह अच्छा हुआ। उनसे कहना कि दोनों पक्ष जिस सभामें मुझे बुलावेंगे, मैं आ जाऊंगा और अध्यक्ष का स्थान ग्रहण कर लूंगा। समयके बारेमें मुझसे पुछनेकी आवश्यकता नहीं। जो समय दोनों पक्षोंको अनुकूल होगा उसकी पाबंदी मैं कर लूंगा।" यह कहकर मुझे धन्यवाद और आशीर्वाद देकर उन्होंने विदा किया।

बिना कुछ गुल-गपाड़ेके, बिना कुछ आडंबरके एक सादे मकानमें पूनाके इस विद्वान् और त्यागी मंडलने सभा की और मुझे पूरा-पूरा प्रोत्साहन देकर विदा किया।

यहांसे मदरास गया। मदरास तो पागल हो उठा। बालासुंदरम्‌के किस्से का बड़ा गहरा असर सभा पर पड़ा। मेरा भाषण कुछ लंबा था; पर था सब छपा हुआ। एक-एक शब्द सभाने मन लगाकर सुना। सभाके अंतमें उस हरी पुस्तिका पर लोग टूट पड़े। मदरासम कुछ घटा-बढ़ाकर उसका दूसरा संस्करण दस हजारका छपवाया। उसका बहुतांश निकल गया; पर मैंने देखा कि दस हजारकी जरूरत न थी, लोगोंके उत्साहको मैंने अधिक आंक लिया था। मेरे भाषण का असर तो अंग्रेजी बोलनेवालों पर ही हुआ था और अकेले मदरासमें अंग्रेजीदां लोगोंके लिए दस हजार प्रतियोंकी आवश्यकता न थी।

यहां मुझे बड़ी-से-बड़ी सहायता स्वर्गीय जी० परमेश्वरन् पिल्लेसे

मिली। वह 'मदरास स्टैंडर्ड'के संपादक थे। उन्होंने इस प्रश्नका अच्छा अध्ययन कर लिया था। वह बार-बार अपने दफ्तरमें बुलाते और सलाह देते। 'हिंदू'के जी० सुब्रह्मण्यम्से भी मिला था। उन्होंने तथा डा० सुब्रह्मण्यम्ने भी पूरी-पूरी हमदर्दी दिखाई; परंतु जी० परमेश्वरन् पिल्लेने तो अपना अखबार इस कामके लिए मानो मेरे हवाले ही कर दिया और मैंने भी दिल खोलकर उसका उपयोग किया। सभा पाच्याप्पाहालमें हुई थी और डा० सुब्रह्मण्यम् अध्यक्ष हुए थे, ऐसा मुझे स्मरण है।

मदरासमें मैंने बहुतोंका प्रेम और उत्साह इतना देखा कि, यद्यपि वहां सबके साथ मुख्यतः अंग्रेजीमें ही बोलना पड़ता था फिर भी,मुझे घरके जैसा ही मालूम हुआ। सच है, प्रेम किन बंधनोंको नहीं तोड़ सकता।

: २९ :

'जल्दी लौटो'

मदराससे मैं कलकत्ता गया। कलकत्ते में मेरी कठिनाइयोंकी सीमा न रही। वहां 'ग्रेड ईस्टर्न' होटलमे उतरा। न किसीसे जान न पहचान। होटलमें 'डेली टेलीग्राफ'के प्रतिनिधि मि० एलर थार्पसे पहचान हुई। वह रहते थे बंगाल क्लबमें। वहां उन्होंने मुझे बुलाया। उस समय उन्हें पता न था कि होटलके दीवानखानेमें कोई हिंदुस्तानी नहीं जा सकता। बादको उन्हें इस रुकावट का हाल मालूम हुआ। इसलिए वह मुझे अपने कमरेमें ले गये। भारतवासियोंके प्रति स्थानीय अंग्रेजोंके इस हेय-भावको देखकर उन्हें खेद हुआ। दीवानखानेमें न ले जा सकनेके लिए उन्होंने मुझसे माफी मांगी।

'बंगाल के देव' सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से तो मिलना ही था। उनसे

जब मैं मिलने गया तब दूसरे मिलने वाले उन्हें घेरे हुए थे। उन्होंने कहा "मुझे अंदेशा है कि आपकी बात में यहांके लोग दिलचस्पी न लेंगे। आप देखते ही है कि यहां हम लोगोंको कम मुसीबतें नहीं है। फिर भी आपको तो भरसक कुछ-न-कुछ करना ही है। इस काममें आपको महाराजाओंकी मदद की जरूरत होगी। "ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन'के प्रतिनिधियोंसे मिलिएगा। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी और महाराजा टागोरसे भी मिलिएगा। दोनों उदार-हृदय हैं और सार्वजनिक कामोंमें अच्छा भाग लेते है।" मै इन सज्जनों से मिला; पर वहां मेरी दाल न गली। दोनोंने कहा—"कलकत्तामें सभा करना आसान बात नहीं; पर यदि करना ही हो तो उसका बहुत-कुछ दारोमदार सुरेंद्रनाथ बनर्जीपर है।"

मेरी कठिनाइयां बढ़ती जाती थीं। 'अमृतबाजार पत्रिका' के दफ्तरमें गया। वहां भी जो सज्जन मिले उन्होंने मान लिया कि मैं कोई रमताराम वहां आ पहुंचा होऊंगा। 'बंगवासी'वालोंने तो हद कर दी। मुझे एक घंटे तक तो बिठाये ही रखा। औरोंके साथ तो संपादक महोदय बातें करते जाते; पर मेरी ओर आंख उठाकर भी न देखते। एक घंटा राह देखनेके बाद मैने अपनी बात उनसे छेड़ी। तब उन्होंने कहा—"आप देखते नही, हमें कितना काम रहता है? आपके जैसे कितने ही यहां आते रहते है। आप चले जायं, यही अच्छा है। हम आपकी बात सुनना नहीं चाहते।" मुझे जरा देरके लिए रंज तो हुआ, पर मैं संपादकका दृष्टि-बिंदु समझ गया। 'बंगवासी'की ख्याति भी सुनी थी। मैं देखता था कि उनके पास आने-जानेवालोंका तांता लगा ही रहता था। ये सब उनके परिचित थे। उनके अखबारके लिए विषयोंकी कमी न थी। दक्षिण अफ्रिकाका नाम तो उन दिनांमें नया-ही-नया था। नित नये आदमी आकर अपनी कष्ट-कथा उन्हें सुनाते। अपना-अपना दुःख हरेकके लिए सबसे बड़ा सवाल था; परतु संपादकके पास ऐसे दुखियोंका झुण्ड लगा रहता। बेचारा सबको तसल्ली कैसे दे सकता है! फिर दुःखी आदमीके लिए

ता संपादककी सत्ता एक भारी बात होती है। यह दूसरी बात है कि संपादक जानता रहता है, कि उसकी सत्ता दफ्तरके दरवाजेके बाहर पैर नहीं रख सकती।

पर मैंने हिम्मत न हारी। दूसरे संपादकोंसे मिला। अपने मामूलके माफिक अंग्रेजोंसे भी मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' दोनों दक्षिण अफ्रिकाके प्रश्नका महत्व समझते थे। उन्होंने मेरी लंबी-लंबी बातचीत छापी 'इंग्लिशमैन'के मि० सांडर्सने मुझे अपनाया। उनका दफ्तर मेरे लिए खुला था; उनका अखबार मेरे लिए खुला था। अपने अग्रलेखमे कमी-बेशी करनेकी भी छूट उन्होंने मुझे दे दी। यह भी कहूं तो अत्युक्ति नहीं कि उनका-मेरा खासा स्नेह हो गया। उन्होंने भरसक मदद देनेका वचन दिया। मुझसे कहा कि दक्षिण अफ्रिका जानेके बाद भी मुझे पत्र लिखिएगा और वचन दिया कि मुझसे जो-कुछ हो सकेगा करूंगा। मैंने देखा कि उन्होंने अपना यह वचन अक्षरशः पाला; और जबतक कि उनकी तबीयत खराब न हो गई, उन्होंने मेरे साथ चिट्ठी-पत्री जारी रखी। मेरी जिंदगीमें ऐसे अकल्पित मीठे संबंध अनेक हुए हैं। मि० सांडर्स को मेरे अंदर जो सबसे अच्छी बात लगी वह थी अत्युक्तिका अभाव और सत्य-परायणता। उन्होंने मुझसे जिरह करनेमें कोई कसर न रखी थी। उसमें उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रिकाके गोरोंके पक्षको निष्पक्ष होकर पेश करनेमें तथा उनकी तुलना करनेमें मैंने कोई कमी नही रखी थी।

मेरा अनुभव कहता है कि प्रतिपक्षीके साथ न्याय करके हम अपने लिए जल्दी न्याय प्राप्त करते है।

इस प्रकार मुझे अकल्पित सहायता मिल जानेसे कलकत्तेमें भी सभा करनेकी आशा बंधी; पर इसी अरसेमें डरबनसे तार मिला—'पार्लमेंटकी बैठक जनवरीमें होगी, जल्दी लौटो।'

इस कारण अखबारोंमें इस आशयकी एक चिट्ठी लिखकर कि मुझे दक्षिण अफ्रिका चला जाना जरूरी है, मैंने कलकत्ता छोड़ा और दादा अब्दुल्लाके एजेंटको तार दिया कि पहले जहाजसे जानेका इंतजाम करो।

दादा अब्दुल्लाने खुद 'कुरलैंड' जहाज खरीद लिया था। उसमें उन्होंने मुझे तथा मेरे बाल-बच्चोंको मुफ्त ले जानेका आग्रह किया। मैंने धन्यवाद सहित स्वीकार किया और दिसंबरके आरंभमें 'कुरलैंड' में अपनी धर्म-पत्नी, दो बच्चे और स्वर्गीय बहनोईके इकलौते पुत्र को लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ्रिका रवाना हुआ। इस जहाज के साथ ही 'नादरी' नामक एक और जहाज डरबन रवाना हुआ। उसके एजेंट दादा अब्दुल्ला थे। दोनों जहाजोंमें मिलकर कोई ८०० यात्री थे। उनमें आधेसे अधिक यात्री ट्रांसवाल जाने वाले थे।

भाग दूसरा समाप्त

तीसरा भाग

: १ :

तूफ़ानके चिह्न

परिवारके साथ यह मेरी प्रथम जल-यात्रा थी। मैंने कई बार लिखा है कि हिन्दू-संसारमें विवाह बचपनमें हो जानेसे तथा मध्यमवर्गके लोगोंमें पतिके बहुतांशमे साक्षर और पत्नीके निरक्षर होनेके कारण 'पति-पत्नी'के जीवनमे बड़ा अंतर रहता है, और पतिको पत्नीका शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्म-पत्नीके तथा बालकोंके लिबासपर, खान-पानपर तथा बोल-चालपर ध्यान रखनेकी आवश्यकता थी। मुझे उन्हें रहन-सहन और रीति-नीति सिखानी थी। उस समयका कितनी बातें याद करके मुझे अब हंसी आ जाती है। हिंदू-पत्नी पति-परायणताको अपने धर्मकी पराकाष्ठा समझती है। हिन्दू पति अपनेको पत्नीका ईश्वर मानता है। इस कारण पत्नीको जैसा वह नचावे नाचना पड़ता है।

मैं जिस समयकी बात लिख रहा हूं उस समय मैं मानता था कि नई रोशनीका समझा जानेके लिए हमारा बाह्याचार जहांतक हो यूरोपियनोंसे मिलता-जुलता होना चाहिए। ऐसा करनेसे ही रौब पड़ता है और रौब पड़े बिना देश-सेवा नही हो सकती।

इस कारण पत्नी तथा बालकोंका पहनावा मैंने ही पसंद किया। बालकों इत्यादिको लोग कहें कि काठियावाड़के बनिये है, तो यह कैसे सुहा सकता था? पारसी अधिक-से-अधिक सुधरे हुए माने जाते है। इस कारण जहां यूरोपियन पोशाकका अनुकरण करना ठीक न मालूम हुआ

वहां पारसीका किया। पत्नीके लिए पारसी ढंगकी साड़ियां लीं। बच्चोंके लिए पारसी कोट-पतलून लिये। सबके लिए बूट-मोजे तो अवश्य चाहिएं। पत्नीको तथा बच्चोंको दोनों चीजें कई महीनोंतक पसंद न हुईं। बूट काटते, मोजे बदबू करते, पैर तंग रहते। इन अड़चनोंका उत्तर मेरे पास तैयार था। और उत्तरके औचित्यकी अपेक्षा हुक्मका बल तो अधिक था ही। इसलिए लाचार होकर पत्नी तथा बच्चोंने पोशाक-परिवर्तनको स्वीकार किया। उतनी ही बेबसी और उससे भी अधिक अनमने होकर भोजनके समय छुरी-कांटेका इस्तेमाल करने लगे। जब मेरा मोह उतरा तब फिर उन्हें बूट-मोजे, छुरी-कांटे इत्यादि छोड़ने पड़े। यह परिवर्तन जिस प्रकार दुःखदायी था उस प्रकार एक बार आदत पड़ जानेके बाद फिर उसको छोड़ना भी दुःखकर था; पर अब मैं देखता हूं कि हम सब सुधारोंकी केंचुलको छोड़कर हल्के हो गये हैं।

इसी जहाजमें दूसरे सगे-संबंधी तथा परिचित लोग भी थे। उनके तथा डेकके दूसरे यात्रियोंके परिचयमें मैं खूब आता। एक तो मवक्किल और फिर मित्रका जहाज, घरके जैसा मालूम होता और मैं हर जगह जहां जी चाहता जा सकता था।

जहाज दूसरे बंदरोंपर ठहरे बिना ही नेटाल पहुंचनेवाला था। इसलिए सिर्फ १८ दिनकी यात्रा थी। मानो हमारे पहुंचते ही भारी तूफानकी चेतावनी देनेके लिए, हमारे पहुंचनेके तीन-चार दिन पहले समुद्रमें भारी तूफान उठा। इस दक्षिण प्रदेशमें दिसंबर मासमें गरमी और बरसातका समय होता है। इस कारण दक्षिण समुद्रमें इन दिनों छोटे-बड़े तूफान अक्सर उठा करते हैं। तूफान इतने जोरका था और इतने दिनोंतक रहा कि मुसाफिर घबरा गये।

यह दृश्य भव्य था। दुःखमें सब एक हो गये। भेद-भाव भूल गये। ईश्वरको सच्चे हृदयसे स्मरण करने लगे। हिंदू-मुसलमान सब साथ मिलकर ईश्वरको याद करने लगे। कितनोंने मानतायें मानीं। कप्तान भी यात्रियोंमें आकर आश्वासन देने लगा कि यद्यपि तूफान जोरका है,

फिर भी इससे बड़े-बड़े तूफानोंका अनुभव मुझे है। जहाज यदि मजबूत हो तो एकाएक डूबता नही। इस तरह उसने मुसाफिरोंको बहुत समझाया; पर उन्हें किसी तरह तसल्ली न होती थी। जहाजमेंसे ऐसी-ऐसी आवाजें निकलतीं, मानो जहाज अभी कहीं-न-कहींसे टूट पड़ता है—अभी कहीं छेद होता है। डोलता इतना था कि मानो अभी उलट जायगा। डेकपर तो खड़ा रहना ही मुश्किल था। 'ईश्वर जो करे सो सही' इसके सिवा दूसरी बात किसीके मुंहसे न निकलती।

मुझे जहांतक याद है, ऐसी चिंता में चौबीस घंटे बीते होंगे। अंतको बादल बिखरे, सूर्यनारायणने दर्शन दिये। कप्तानने कहा—'अब तूफान जाता रहा।'

लोगोंके चेहरोंसे चिंता दूर हुई, और उसके साथ ही ईश्वर भी न जाने कहां चला गया। मौतका डर दूर हुआ और उसके साथ ही फिर गान-तान, खान-पान शुरू हो गया; फिर वही मायाका आवरण चढ़ गया। अब भी नमाज पढ़ी जाती, भजन होते; परन्तु तूफानके अवसरपर उसमें जो गंभीरता दिखाई देती थी, वह न रही।

परंतु इस तूफानकी बदौलत मैं यात्रियोंमें हिल-मिल गया था। यह कह सकते हैं कि मुझे तूफानका भय न था अथवा कम-से-कम था। प्रायः इसी तरहके तूफान मैं पहले देख चुका था। जहाजमें मेरा जी नहीं मिचलाता, चक्कर नहीं आते, इसलिए मुसाफिरोंमे मैं निर्भय होकर घूम-फिर सकता था। उन्हें आश्वासन दे सकता था और कप्तानके संदेश उनतक पहुंचाता था। यह स्नेह-गाँठ मुझे बहुत उपयोगी साबित हुई।

हमने १८ या १९ दिसंबरको डरबनके बंदरपर लंगर डाला और 'नादरी' भी उसी दिन पहुंचा। पर सच्चे तूफान का अनुभव तो अभी होना बाक़ी ही था।

: २ :

तूफान

अठारह दिसंबरके आस-पास दोनों जहाजोंने लंगर डाला। दक्षिण अफ्रिकाके बंदरोंमें यात्रियोंकी पूरी-पूरी डाक्टरी जांच होती है। यदि रास्तेमें किसीको कोई छूतका रोग हो गया हो तो जहाज सूतक में—क्वारंटीनमें—रखा जाता है। हमने जब बंबई छोड़ा तब वहां प्लेग फैल रहा था। इसलिए हमें सूतक बाधा होनेका कुछ तो भय था ही। बंदरमें लंगर डालनेके बाद सबसे पहले जहाज पीला झंडा फहराता है। डाक्टरी जांचके बाद जब डाक्टर छुट्टी देता है तब पीला झंडा उतरता है; फिर मुसाफिरोंके नाते-रिश्तेदारोंको जहाजपर आनेकी छुट्टी मिलती है।

इसके मुताबिक हमारे जहाजपर भी पीला झंडा लहरा रहा था। डाक्टर आये। जांच करके पांच दिनके सूतकका हुक्म दिया; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेगके जंतु २३ दिनतक कायम रहते हैं। इसलिए उन्होंने यह तय किया कि बबई छोड़नेके बाद २३ दिनतक जहाजों को सूतकमें रखना चाहिए।

परंतु इस सूतकके हुक्मका हेतु केवल आरोग्य न था। डरबन के गोरे हमें वापस लौटादेनेकी हलचल मचा रहे थे। इस हुक्ममें यह बात भी कारणीभूत थी।

दादा अब्दुल्लाकी ओरसे हमें शहरकी इस हलचलकी खबरें मिला करती थीं। गोरे एकके बाद एक विराट् सभायें कर रहे थे। दादा अब्दुल्लाको धमकियां भेज रहे थे। उन्हें लालच भी दिखाते थे। यदि दादा अब्दुल्ला दोनों जहाजोंको वापस लौटा दें तो उन्हें सारा हरजाना देनेको तैयार थे। पर दादा अब्दुल्ला किसीकी धमकियोंसे डरनेवाले न थे। इस समय वहां सेठ अब्दुलकरीम हाजी आदम दूकानपर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि चाहे जितना नुकसान हो, मैं जहाजको बंदरपर

लाकर मुसाफिरोंको उतरवाकर छोड़ूंगा। मुझे वह हमेशा सविस्तर पत्र लिखा करते। तकदीरसे इस बार स्वर्गीय मनसुखलाल हीरालाल नाज़र मुझे मिलने डरबन आ पहुँचे थे। वह बड़े चतुर और जवांमर्द आदमी थे। उन्होंने लोगों को नेक सलाह दी। उनके वकील मि० लाटन थे। वह भी वैसे ही बहादुर आदमी थे। उन्होंने गोरोंके कामकी खूब निंदा की, और लोगोंको जो सलाह दी वह केवल वकीलकी हैसियतसे फीस लेनेके लिए नहीं; बल्कि एक सच्चे मित्रके तौर पर दी थी।

इस तरह डरबन मे द्वंद्व-युद्ध छिड़ा। एक ओर बेचारे मुट्ठी-भर भारतवासी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र; तथा दूसरी ओर धन-बल, बाहु-बल, अक्षर-बल और संख्या-बलमें भरे-पूरे अंग्रेज। फिर इस बलशाली प्रतिपक्षीके साथ सत्ता-बल भी मिल गया; क्योंकि नेटाल—सरकारने प्रकट-रूपसे उसकी सहायता की। मि०हैरी एस्कम्ब ने जो प्रधान-मंडलमे थे और उसके कर्त्ता-धर्त्ता थे इस मंडलकी सभामें खुले तौरपर भाग लिया था।

इसलिए हमारा सूतक केवल आरोग्यके नियमोंका ही अहसानमंद न था। बात यह थी कि एजेंटको अथवा यात्रियोंको किसा-न-किसी बहाने तंग करके हमें वापस लौटानेकी तजवीज थी। एजेंटको तो धमकी दी ही गई थी। अब हमे धमकियां दी जाने लगीं—'यदि तुम लोग वापस न लौटोगे तो समुद्रमें डुबो दिये जाओगे। यदि लौट जाओगे तो शायद लौटनेका किराया भी मिल जायगा।' मैं मुसाफ़िरोंमें खूब घूमा-फिरा और उन्हें धीरज-दिलासा देता रहा। 'नादरी'के यात्रियोंको भी धीरजके सदेश भेजे। मुसाफिर शांत रहे और उन्होंने हिम्मत दिखाई।

मुसाफिरोंके मनोविनोदके लिए जहाजमें तरह-तरहके खेलोंकी व्यवस्था थी। क्रिसमसके दिन आये। कप्तानने उन दिनों पहले दरजेके मुसाफ़िरोंको भोज दिया। यात्रियों में मुख्यतः तो मैं और मेरे बाल-बच्चे हा थे। भोजनके बाद भाषण हुआ करते हैं। मैंने पश्चिमी सुधारोंपर व्याख्यान दिया। मैं जानता था कि यह अवसर गंभीर भाषणके अनुकूल

नहीं है; पर मैं दूसरी तरहका भाषण कर ही नहीं सकता था। विनोद और आमोद-प्रमोदकी बातोंमें मैं शरीक तो होता था; पर मेरा दिल तो डरबनमें छिड़े संग्रामकी ओर लग रहा था।

क्योंकि इस हमलेका मध्यबिंदु मैं ही था। मुझपर दो इलजाम थे—

(१) हिंदुस्तानमें मैंने नेटालके गोरोंकी अनुचित निंदा की है; और—

(२) मै नेटालको हिन्दुस्तानियोंसे भर देना चाहता हूं। और इसलिए 'कुरलैंड' और 'नादरी'में खासतौरपर नेटालमें बसानेके लिए हिंदुस्तानियोंको भर लाया हूं।

मुझे अपनी जिम्मेदारीका खयाल था। मेरे कारण दादा अब्दुल्लाने बड़ी जोखिम सिरपर ले ली थी। मुसाफिरोंकी भी जान जोखिममें थी; मैंने अपने बाल-बच्चोंको साथ लाकर उन्हें भी दुःखमें डाल दिया था। फिर भी मैं था सब तरह निर्दोष। मने किसीको नेटाल जानेके लिए ललचाया न था। 'नादरी'के यात्रियोंको तो मै जानतातक न था। 'कुरलैंड'में अपने दो-तीन रिश्तेदारोंके अलावा और जो सैकड़ों मुसाफिर थे, उनके तो नाम-ठामतक न जानता था। मैंने हिंदुस्तानमें नेटालके अंग्रेजोंके संबंधमें ऐसा एक भी अक्षर न कहा था, जो नेटालमें न कह चुका था; और जो मैंने कहा था उसके लिए मेरे पास बहुतेरे सबूत थे।

इस कारण उस संस्कृतिके प्रति जिसकी उपज नेटालके गोरे थे, जिसके वे प्रतिनिधि और हामी थे मेरे मनमें बड़ा खेद उत्पन्न हुआ। उसीका विचार करता रहा था। और इस कारण उसीके संबंधमें अपने विचार मैंने इस छोटी-सी सभामें पेश किये और श्रोताओंने उन्हें सहन भी किया। जिस भावसे मैंने उन्हें पेश किया था उसी भावमें कप्तान इत्यादिने उन्हें ग्रहण किया था। मै यह नहीं जानता कि उसके कारण उन्होंने अपने जीवनमें काई परिवर्तन किया या नहीं; पर इस भाषणके बाद कप्तान तथा दूसरे अधिकारियोंके साथ पश्चिमी संस्कृतिके संबंधमें मेरी बहुतेरी बातें हुईं। पश्चिमी संस्कृतिको मैंने प्रधानतः हिंसक बताया;

पूर्वकी संस्कृतिको अहिंसक। प्रश्नकर्ताओंने मेरे सिद्धांत मुझीपर घटाये। शायद, बहुत करके, कप्तानने पूछा—"गोरे लोग जैसी धमकियां दे रहे हैं उसीके अनुसार यदि वे आपको हानि पहुंचावें तो आप फिर अपने अहिंसा-सिद्धांतका पालन किस तरहसे करेंगे ?"

मैंने उत्तर दिया—"मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देनेकी तथा उनपर मुकदमा न चलानेकी हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे दे देगा। आज भी मुझे उनपर रोष नही है। उनके अज्ञान तथा उनकी संकुचित दृष्टिपर मुझे अफसोस होता है; पर मैं यह मानता हूं कि वे शुद्ध-भावसे यह मान रहे हैं कि हम जो-कुछ कर रहे हैं वह ठीक है; और इसलिए मुझे उनपर रोष करनेका कारण नही।"

पूछनेवाला हंसा। शायद उसे मेरी बातपर भरोसा न हुआ।

इस तरह हमारे दिन गुजरे और बढ़ते गये। सूतक बंद करनेकी मियाद अंततक मुकर्रर न हुई। इस विभागके कर्मचारीसे पूछता तो कहता—'यह बात मेरे इख्तियारके बाहर है। सरकार मुझे जब हुक्म देगी तब मैं उतरने दे सकता हूं।'

अंतको मुसाफिरोंके और मेरे पास अखीरी चेतावनियां आईं। दोनोंको धमकियां दी गई थी कि अपनी जानको खतरेमें समझो। जवाबमें हम लोगोंनें लिखा कि नेटालके बंदरमे उतरनेका हमे हक हासिल है; और चाहे जैसा खतरा क्यों न हो, हम अपने हकपर कायम रहना चाहते है।

अंतको तेईसवें दिन अर्थात् १३ जनवरीको जहाजको इजाजत मिली और मुसाफिरोंको उतरने देनेकी आज्ञा जारी हो गई।

: ३ :

कसौटी

जहाज किनारे लगा। मुसाफिर उतरे; परंतु मेरे लिए मि० एस्कंबने कप्तानसे कहला दिया था कि गांधीको तथा उनके बाल-बच्चोंको शामको उतारियेगा। गोरे उनके खिलाफ बहुत उभरे हुए हैं। और उनकी जान खतरेमें है। डॉकके सुपरिटेंडेंट टैटम उन्हें शामको लिवा ले जायंगे।

कप्तानने मुझे इस संदेशका समाचार सुनाया। मैंने उसके अनुसार करना स्वीकार किया; परंतु इस संदेशको मिले अभी आधा घंटा भी न हुआ होगा कि मि० लाटन आये और कप्तानसे मिलकर कहा—"यदि मि० गांधी मेरे साथ आना चाहें तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारीपर ले जाना चाहता हूं। जहाजके एजेंटके वकीलकी हैसियतसे मैं आपसे कहता हूं कि मि० गांधीके संबंधमें जो संदेश आपको मिला है उससे आप अपनेको बरी समझें।" इस तरह कप्तानसे बातचीत करके वह मेरे पास आये और कुछ इस प्रकार कहा—"यदि आपको जिंदगीका डर न हो तो मैं चाहता हूं कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके यहां चले जायं और मैं और आप आम रास्ते होकर पैदल चलें। रातको अंधेरा पड़ जानेपर चुपके-चुपके शहरमें जाना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मैं समझता हूं कि आपका बालतक बांका नहीं हो सकता। अब तो चारों ओर शांति है। गोरे सब इधर-उधर बिखर गये हैं। और जो भी हो, मेरा तो यही मत है कि आपका इस तरह छिपकर जाना उचित नहीं।"

मैं इससे सहमत हुआ। धर्म-पत्नी और बच्चे रुस्तमजी सेठके यहां गाड़ीमें गये और सही-सलामत जा पहुंचे। मैं कप्तानसे विदा मांगकर मि० लाटनके साथ जहाजसे उतरा। रुस्तमजी सेठका घर लगभग दो मील था।

जैसे ही हम जहाजसे उतरे, कुछ छोकरोंने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी-गांधी' चिल्लाने लगे। तत्काल दो-चार आदमी इकट्ठे हो गये और मेरा नाम लेकर जोरसे चिल्लानें लगे। मि० लाटनने देखा कि भीड़ बढ़ जायगी, उन्होंने रिक्शा मंगाई। मुझे रिक्शा में बैठना कभी अच्छा मालूम न होता था। मुझे उसका अनुभव यह पहली ही बार होनेवाला था। पर छोकरे क्यों बैठने देने लगे? उन्होंने रिक्शा वालेको धमकाकर भगा दिया।

हम आगे चले। भीड़ भी बढ़ती जाती थी। काफी मजमा होगया। सबसे पहले तो भीड़ने मुझे मि० लाटनसे अलग कर दिया। फिर मुझपर कंकड़ और सड़े अंड़े बरसने लगे। किसीने मेरी पगड़ी भी गिरा दी और मुझे लातें लगनी शुरू हुईं।

मुझे गश आ गया। नजदीकके घरके सींखचेको पकड़कर मैंने सांस लिया। खड़ा रहना तो असंभव ही था। अब थप्पड़ भी पड़ने लगे।

इतने में ही पुलिस सुपरिंटेंडेंटकी पत्नी जो मुझे जानती थी, उधर होकर निकलीं। मुझे देखते ही वह मेरे पास आ खड़ी हुईं, और धूपके न रहते हुए भी अपना छाता मुझपर तान दिया। इससे भीड़ कुछ दबी। अब अगर वे चोट करते भी तो श्रीमती अलेकजेंडरको बचाकर ही कर सकते थे।

इसी बीच कोई हिंदुस्तानी, मुझपर हमला होता हुआ देख, पुलिस-थानेपर दौड़ गया। सुपरिंटेंडेंट अलेकजेंडरने पुलिसकी एक टुकड़ी मुझे बचानेके लिए भेजी। वह समयपर आ पहुंची। मेरा रास्ता पुलिस-चौकीसे ही होकर गुजरता था। सुपरिंटेंडेंटने मुझे थानेमें ठहर जानेको कहा। मैंने इन्कार कर दिया, कहा—"जब लोग अपनी समझ से काम लेंगे तब शांत हो जायंगे। मुझे उनकी न्याय-बुद्धि पर विश्वास है।"

पुलिस की रक्षामें मैं सही सलामत पारसी रुस्तमजीके घर पहुंचा। पीठपर मुझे अंदरूनी चोट पहुंची थी। जख्म सिर्फ एक ही जगह हुआ था।

जहाजके डाक्टर दादी बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा की।

इस तरह जहां अंदर शांति थी, वहां बाहरसे गोरोंने घरको घेर लिया। शाम हो गई थी। अंधेरा हो गया था। हजारों लोग बाहर शोर मचा रहे थे और पुकार रहे थे—'गांधीको हमारे हवाले कर दो।' मामला संगीन देखकर सुपरिटेंडेंट अलेक्जेंडर वहां पहुंच गये थे और भीड़को डरा-धमकाकर नहीं; बल्कि हंसी-मजाक करते हुए काबूमें रख रहे थे।

फिर भी वह चिंता-मुक्त न थे। उन्होंनें मुझे इस आशयका संदेश भेजा—'यदि आप अपने मित्रके जान-मालको, मकानको तथा अपनें बाल-बच्चोंको बचाना चाहते हों, तो मैं जिस तरह बताऊं, आपको छिपकर इस घरसे निकल जाना चाहिए।' एक ही दिन मुझे एक-दूसरेसे विपरीत दो काम करनेका समय आया। जब कि जान जानेका भय केवल कल्पित मालूम होता था तब मि० लाटनने मुझे खुले आम बाहर चलनेकी सलाह दी और मैंनें उसे माना; पर जब खतरा आंखोंके सामने था, तब दूसरे मित्रने इससे उलटी सलाह दी और उसे भी मैंने मान लिया। अब कौन बता सकता है कि मै अपने जानकी जोखिमसे डरा, अथवा मित्रके जान-मालकी या अपने बाल-बच्चोंको हानि पहुंचनेके डरसे, या तीनोंके? कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है कि मेरा जहाजसे हिम्मत दिखाकर उतरना और फिर खतरेके प्रत्यक्ष होते हुए छिपकर भाग जाना उचित था? परंतु जो बातें हो चुकी हैं उनकी इस तरह चर्चा ही फिजूल है। उसमें कामकी बातें सिर्फ इतनी है कि जो-कुछ हुआ, उसे समझ लें। उससे जो नसीहत मिल सकती हो, उसे ले लें। किस मौकेपर कौन मनुष्य क्या करेगा, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। उसी तरह हम यह भी देख सकते है कि मनुष्यके बाह्याचारसे उसके गुणकी जो परीक्षा होती है वह अधूरी होती है और अनुमान मात्र होती है।

जो कुछ हो। भागनेकी तैयारीमें मैं अपनी चोटोंको भूल गया।

मैंने हिंदुस्तानी सिपाहीकी वर्दी पहनी। कहीं सिरपर चोट न लगे, इस अंदेशेसे सिरपर एक पीतलकी तश्तरी रख ली और उसपर मदरासियोंका लंबा साफा लपेटा। साथमें दो जासूस थे, जिनमें एकने हिंदुस्तानी व्यापारीका रूप बनाया था; अपना मुंह हिंदुस्तानीकी तरह रंग लिया था। दूसरेने क्या स्वांग बनाया था यह मैं भूल गया हूं। हम नजदीक की गलीसे होकर पड़ौसकी एक दुकान में पहुंचे, और गोदाममें रखे बोरोंके ढेरके अंधेरेमें बचते हुए दुकानके दरवाजे से निकल भीड़में होकर बाहर चले गये। गलीके मुंहपर गाड़ी खड़ी थी, उसमें बैठकर हम उसी थानेपर पहुंचे जहां ठहरनेके लिए सुपरिंटेंडेंट अलेकजेंडरने पहले कहा था। मैंने सुपरिंटेंडेंट का तथा खुफिया पुलिसके अफसरका एहसान माना।

इस तरह एक ओर जब मैं दूसरी जगह ले जाया जा रहा था, तब दूसरी ओर सुपरिंटेंडेंट भीड़को गीत सुना रहा था, उसका हिंदी-भाव यह है—

'चलो, इस गांधीको हम इस इमलीके पेड़पर फांसी लटका दें।'

जब सुपरिंटेंडेंट को खबर मिल गई कि मैं सही-सलामत मुकामपर पहुंच गया, तब उन्होंने भीड़से कहा—"लो, तुम्हारा शिकार तो इस दुकानसे होकर सही-सलामत बाहर सटक गया।" यह सुनकर भीड़में से कुछ लोग बिगड़े, कुछ हंसे, और बहुतेरोंने तो उनकी बात ही न मानी।

"तो तुममेंसे कोई जाकर अंदर देख ले। अगर गांधी यहां मिल जाय, तो उसे मैं तुम्हारे हवाले कर दूंगा; न मिले तो तुमको अपने-अपने घर चले जाना चाहिए। मुझे इतना तो विश्वास है कि तुम पारसी रुस्तम-जीके मकानको न जलाओगे और गांधीके बाल-बच्चोंको नुकसान न पहुंचाओगे।' सुपरिंटेंडेटने कहा।

भीड़ने प्रतिनिधि चुने। प्रतिनिधियोंने भीड़को निराशा-जनक समाचार सुनाये। सब सुपरिंटेडेंट अलेकजेंडरकी समय-सूचकता और चतुराई-की स्तुति करते हुए, और कुछ लोग मन-ही मन कुढ़ते हुए घर चले गये।

स्वर्गीय मि० चेम्बरलेनने तार दिया कि गांधीपर हमला करनेवालों-पर मुकदमा चलाया जाय और ऐसा किया जाय कि गांधीको इन्साफ मिले। मि० ऐस्कंबने मुझे बुलाया। मुझे जो चोटें पहुंची थी, उसके लिए दुःख प्रदर्शित किया, और कहा—"आप यह तो अवश्य मानेंगे कि आपको जरा-भी कष्ट पहुचनेसे मुझे खुशी नहीं हो सकती। मि० लाटनकी सलाह मानकर आपने जो उतर जानेका साहस किया, उसका आपको हक था; पर यदि मेरे संदेशके अनुसार आपने किया होता तो यह दुःखद घटना न हुई होती। अब यदि आप आक्रमणकारियोंको पहचान सकें, तो मैं उन्हें गिरफ्तार करके मुकदमा चलानेके लिए तैयार हूं। मि० चेम्बरलेन भी ऐसा ही चाहते है।"

मैंने उत्तर दिया—"मैं किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। हमलाइयोंमें एक-दोको मै पहचान भी लूं तो उन्हें सजा करानेसे मुझे क्या लाभ? फिर मैं तो उन्हें दोषी भी नहीं मानता हूं; क्योंकि उन बेचारोंको तो यह कहा गया कि हिंदुस्तानमें मैंने नेटालके गोरोंकी भरपेट और बढ़ा-बढ़ाकर निंदा की है। इस बातपर यदि वे विश्वास कर लें और बिगड़ पड़ें तो इसमें आश्चर्यकी कौन बात है? कुसूर तो ऊपरके लोगोंका और मुझे कहने दें तो आपका, माना जा सकता है। आप लोगोंको ठीक सलाह दे सकते थे; पर आपने राग्टरके तारपर विश्वास किया और कल्पना कर ली कि मैंने अत्युक्तिसे काम लिया होगा। मैं किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। जब असली और सच्ची बात लोगोंपर प्रकट हो जायगी और लोग जान जायगे तब अपने-आप पछतायंगे।"

"तो आप मुझे यह बात लिखकर दे देंगे? मुझे मि० चेम्बरलेनको इस आशयका तार देना पड़ेगा। मै नहीं चाहता कि आप जल्दीमें कोई बात लिख दें। मि० लाटनसे तथा अपने दूसरे मित्रोंसे सलाह करके जो उचित मालूम हो, वही करें। हां, यह बात मै जानता हूं कि यदि आप हमलाइयोंपर मामला न चलावेंगे तो सब बातोंको ठंडा करनेमें मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो बहुत ही बढ़ जायगी।"

मैंने उत्तर दिया—"इस संबंधमे मेरे विचार निश्चित हो चुके है। यह तय है कि मै किसीपर मुकदमा चलाना नही चाहता, इसलिए मैं यहीं-का-यही आपको लिखे देता हूं।"

यह कहकर मैंने वह आवश्यक पत्र लिख दिया।

: ४ :

शांति

हमलेके दो-एक दिन बाद जब मैं मि० ऐस्कंबसे मिला तब मैं पुलिसथानेमे ही था। मेरे साथ मेरी रक्षाके लिए एक-दो सिपाही रहते थे। पर वास्तवमें देखा जाय तो जब मैं मि० एस्कंबके पास ले जाया गया था, तब इस तरह रक्षा करनेकी जरूरत ही नही रह गई थी।

जिस दिन मै जहाजसे उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झंडा उतरते ही, तुरंत 'नेटाल एडवरटाइजर' का प्रतिनिधि मुझसे आकर मिला था। उसने कितनी ही बातें पूछी थीं। और उसके प्रश्नोंके उत्तरमे मैंने एक-एक बातका पूरा-पूरा जवाब दिया था। सर फिरोजशाहकी नेक सलाहके अनुसार उस समय मैंने भारतवर्षमे एक भी भाषण अलिखित नही दिया था। अपने इन तमाम लेखों और भाषणोंका संग्रह मेरे पास था ही। वे सब मैंने उसे दें दिये, और यह साबित कर दिया कि भारतमें मैंने ऐसी एक भी बात नही कही थी, जो उससे तेज शब्दोंमें दक्षिण अफ्रिकामें न कही हो। मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि 'कुरलैंड' तथा 'नादरी'के मुसाफिरोंको लानेमें मेरा हाथ बिलकुल नही है। उनमेंसे बहुतेरे तो नेटालके ही पुराने बाशिंदे थे, और शेष नेटाल जानेवाले नही, बल्कि ट्रांसवाल जानेवाले थे। उस समय नेटालमें रोजगार मंदा था। ट्रांसवालमें काम-धंधा

खूब चलता था, और आमदनी भी अच्छी होती थी। इसलिए अधिकांश हिंदुस्तानी वही जाना पसंद करते थे।

इस स्पष्टीकरणका तथा आक्रमणकारियोंपर मुकदमा न चलानेका प्रभाव इतना जबरदस्त हुआ कि गोरोंको शर्मिंदा होना पड़ा। अखबारोंने मुझे निर्दोष बताया और हुल्लड़ करनेवालोंको बुरा-भला कहा। इस तरह अंतको जाकर इस घटनासे लाभ ही हुआ। और जो मेरा लाभ था वह हमारे कार्यका ही लाभ था। इससे हिंदुस्तानी लोगोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी, और मेरा रास्ता अधिक सुगम हो गया।

तीन या चार दिनमें मैं घर गया और थोड़े ही दिनोंमें मैं अपना काम-काज देखने-भालने लगा। इस घटनाके कारण मेरी वकालत भी चमक उठी।

परंतु इस तरह एक ओर हिंदुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढी, तो इसके साथ ही दूसरी ओर उनके प्रति द्वेष भी बढा। लोगोंको यह निश्चय हो गया कि इनमें दृढ़ता के साथ लड़नेका सामर्थ्य है और इस कारण उनका भय भी बढ़ गया। नेटालकी धारा-सभामें दो बिल पेश हुए, जिनसे हिंदुस्तानियोंके कष्ट और बढ़ गये। एक से हिंदुस्तानी व्यापारियोंके धंधेको हानि पहुंचती थी और दूसरेसे हिंदुस्तानियोके जाने-आनेमें भारी रुकावटे होती थी। सदैवसे मताधिकारकी लड़ाई के समय यह फैसला हो गया था कि हिंदुस्तानियोके खिलाफ, उनके हिंदुस्तानी होनेकी हैसियतसे कोई कानून नही बनाया जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कानूनमें जाति-भेद और रंग-भेदको स्थान नही मिलना चाहिए। इस कारण पूर्वोक्त दोनों बिलोकी भाषा तो ऐसी रखी गई, जिससे वे सब लोगोंपर घटते हुए दिखाई दें; पर उनका असली हेतु था हिंदुस्तानियोंके हकों को कम कर देना।

इन बिलोंने मेरा काम बहुत बढ़ा दिया था और हिंदुस्तानियोंमें जागृति भी बहुत फैला दी थी। इन बिलोंकी बारीकियां इस तरह लोगोंको समझा दी गई थी कि कोई भी भारतवासी उनसे अनजान न रहने पावे

और उसके अनुवाद भी प्रकाशित किये गए। झगड़ा अतको विलायततक पहुँचा; परंतु बिल नामंजूर न हुए।

अब मेरा बहुतेरा समय सार्वजनिक कामोंमें ही जाने लगा। मै लिख चुका हूं कि मनसुखलाल नाजर नेटालमें थे। वह मेरे साथ हुए। जबसे वह सार्वजनिक कामोंमे अधिक योग देने लगे तब से मेरा बोझ कुछ हलका हुआ।

मेरी गैरहाजिरीमे आदमजी मियाखानने मंत्री-पदका काम सुचारु-रूपसे किया। उनके समयमे सभासदोंकी संख्या भी बढ़ी और लगभग एक हजार पौंड स्थानीय कांग्रेसके कोषमे बढ़े। इन मुसाफिरोंपर हुए उस हमलेकी बदौलत तथा पूर्वोक्त बिलोंके विरोधके फ़लस्वरूप जो जागृति हुई उसके द्वारा मैंने इस बढ़तीमे और भी बढ़ती करनेका विशेष उद्योग किया और अब हमारे कोषमें लगभग ५००० पौंड जमा हो गये। मुझे यह लोभ लग रहा था कि यदि कांग्रेसका कोष स्थायी हो जाय और जमीन ले ली जाय तो उसके किरायेसे कांग्रेस आर्थिक दृष्टिसे निश्चित हो जाय। सार्वजनिक संस्थाओंका यही मुझे पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार अपने साथियोंके सामने रखा। उसका स्वागत किया। मकान खरीदे गये और वे किरायेपर उठाये गये। जायदादका अच्छा ट्रस्ट बनाया गया। यह जायदाद आज भी मौजूद है; परंतु वह आपसके कलहका मूल हो गई और उसका किराया आज अदालतमे जमा हो रहा है।

यह दुःखद बात तो मेरे दक्षिण अफ्रिका छोड़ देनेके बाद हुई है; परंतु सार्वजनिक संस्थाओंके लिए स्थायी कोष रखनेके संबंधमें मेरे विचार दक्षिण अफ्रिकामें ही बदल गये। कितनी सार्वजनिक संस्थाओंको जन्म देने तथा उनका संचालन करनेकी जिम्मेदारी रह चुकनेके कारण मेरा यह दृढ़ निर्णय हुआ है कि किसी भी सार्वजनिक संस्थाको स्थायी कोषपर निर्वाह करनेका प्रयत्न न करना चाहिए, क्योंकि इसमें नैतिक अधोगतिका बीज समाया रहता है।

सार्वजनिक संस्थाका अर्थ है लोगोंकी मंजूरी और लोगोंके धनसे चलनेवाली संस्था। जब लोगोंकी मदद मिलनी बंद हो जाय तब उसे जीवित रहनेका अधिकार नही। स्थायी संपत्तिपर चलनेवाली संस्था लोकमतसे स्वतंत्र होती हुई देखी जाती है और कितनीही वार तो लोकमतके विपरीत भी आचरण करती है। इसका अनुभव भारतवर्षमें हमे कदम-कदमपर होता है। कितनी ही धार्मिक मानी जानेवाली संस्थाओंके हिसाव-किताबका कोई ठिकाना नही है। उनके प्रबंधक ही उनके मालिक बन बैठे है। और ऐसे बन गये है, मानो वे किसीके प्रति जवाबदेह ही नहीं थे। कुदरत जिस प्रकार नित्य पदा करती और नित्य खाती है उसी प्रकार सार्वजनिक संस्थाओका जीवन होना चाहिए। जिस संस्थाकी सहायता करनेके लिए लोग तैयार न हों उसे सार्वजनिक संस्थाकी हैसियतसे कायम रहनेका अधिकार नही। वार्षिक चंदा संस्थाकी लोकप्रियता और उसके संचालकोंकी ईमानदारीकी कसौटी है; और मेरा यह मत है कि प्रत्येक संस्थाका चाहिए कि वह अपने को इस कसौटीपर कसे।

इससे किसी तरहका ग़लतफहमी न होनी चाहिए। यह टीका उन सस्थाओंपर लागू नहीं होती जिन्हे मकान आदिकी जरूरत होती है। संस्थाका चालू खर्च लोगोंकी सहायतासे चलना चाहिए।

दक्षिण-अफ्रिकाके सत्याग्रहके समय मेरे ये विचार दृढ़ हुए। छः सालतक यह भारी लडाई विना स्थायी चंदेके चला, हालांकि उसके लिए लाखों रुपयेकी आवश्यकता थी। ऐसे समय मुझे याद है जबकि यह नहीं कह सकते थे कि कलके लिए खर्च कहांसे आवेगा? परंतु ये बातें आगे आने ही वाली है, इसलिए यहां इनका जिक्र न करूँगा।

: ५ :

बाल-शिक्षण

जनवरी १८९७में मैं जब डरबन उतरा तब मेरे साथ तीन बालक थे। एक मेरा १०सालका भानजा, दूसरे मेरे दो लड़के—एक नौ सालका और दूसरा पांच सालका। अब सवाल यह पेश हुआ कि इनकी पढ़ाई-लिखाईका क्या प्रबंध करें।

गोरोंकी पाठशालामें मैं अपने बच्चोंको भेज सकता था; पर वह उनकी मेहरबानीसे और बतौर छूटके। दूसरे हिन्दुस्तानियोंके लड़के उनमें न पढ़ सकते थे। हिंदुस्तानी बच्चोंको पढ़ानेके लिए ईसाई मिशनके मदरसे थे। उनमें अपने बच्चोंको पढानेके लिए मै तैयार न था। वहां की शिक्षा-दीक्षा मुझे पसंद न थी। और गुजरातीके द्वारा भला वहा पढ़ाई कैसे हो सकती थी। या तो अंग्रेजी द्वारा हो सकती थी, या बहुत प्रयास करनेपर टूटी-फूटी तामिल या हिंदीके द्वारा। इन तथा दूसरी त्रुटियोंको दर-गुजर करना मेरे लिए मुश्किल था।

मैं खुद बच्चोंको पढानेकी थोड़ी-बहुत कोशिश करता; परंतु पढ़ाई नियमित-रूपसे न चलती। इधर गुजराती शिक्षक भी मैं अपने अनुकूल न खोज सका।

मैं सोचमें पड़ा। मैंने एक ऐसे अंग्रेजी शिक्षकके लिए विज्ञापन दिया, जो मेरे विचारोंके अनुसार बालकोंको शिक्षा दे सके। सोचा कि इस तरह जो शिक्षक मिल जायगा, उससे कुछ तो नियमित पढाई होगी और कुछ मैं खुद जिस तरह बन पड़ेगा काम चलाऊँगा। सात पौंड वेतनपर एक अंग्रेज महिलाको रखा और किसी तरह काम आगे चलाया।

मैं बालकोंसे गुजरातीमें ही बातचीत करता। इससे उन्हें कुछ गुजरातीका ज्ञान हो जाता था। उन्हें देस भेज देनेके लिए मैं तैयार न था। उस समय भी मेरा यह विचार था कि छोटे बच्चोंको मां-बापसे

दूर न रखना चाहिए। सुव्यवस्थित घरमे बालक जो शिक्षा अपने-आप पा लेते हैं वह छात्रालयोंमें नहीं पा सकते हैं। अतएव अधिकांशमे वे मेरे पास रहे। हां, भानजे और बड़े लड़केको मैंने कुछ महीनोंके लिए देसके जुदा-जुदा छात्रालयोंमें भेज दिया था; पर शीघ्र ही वापस बुला लिया। बादको मेरा बड़ा लड़का, वयस्क हो जानेपर, अपनी इच्छासे अहमदाबादके हाईस्कूलमें पढ़नेके लिए दक्षिण अफ्रिकासे चला आया। भानजेके बारेमे तो मेरा खयाल है कि जो शिक्षण मैं दे रहा था उससे उसे संतोष था। वह कुछ दिन बीमार रहकर भरी जवानीमे इस लोकको छोड़ गया। शेष तीन लड़के कभी किसी पाठशालामे पढ़ने न गये। सिर्फ सत्याग्रहके सिलसिलेमें स्थापित मेरी पाठशालामें उन्होंने नियमित रूपसे कुछ पढ़ा था।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। जितना मैं चाहता था उतना समय बालकों-को न दे सकता था। इस तथा अन्य अनिवार्य अड़चनोंके कारण मैं जैसा चाहता था वैसा अक्षर-ज्ञान उन्हें न दे सका। मेरे तमाम लड़कोंको थोड़ी मात्रामे यह शिकायत भी मुझसे रही है; क्योंकि जब-जब वे 'बी० ए०' 'एम० ए०' अथवा 'मैट्रिक्युलेट'के भी समागममे आते हैं तब-तब वे अपने अंदर स्कूलमे न पढ़नेकी कमीको अनुभव करते हैं।

इतना होते हुए भी मेरा अपना यह मत है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिताका जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतंत्रताका जो पदार्थ-पाठ सीख पाये है—यह सब वे न प्राप्त कर सकते, यदि मैंने उनकी रुचिके अनुसार उन्हें स्कूलमें भेजा होता। उनके संबधमे जितना निश्चिंत मैं आज हूं, उतना न हुआ होता, और जो सादगी और सेवा-भाव आज उनके अंदर दिखाई देता है उसे वे न सीख पाते यदि मुझसे अलग रहकर विलायतमे अथवा दक्षिण अफ्रिकामे कृत्रिम शिक्षा उन्होंने पाई होती। बल्कि उनका कृत्रिम रहन-सहन शायद मेरे देश-कार्यमे भी बाधक हो जाता।

इस कारण, यद्यपि मैं जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान उन्हें

न दे सका, तथापि जब मैं अपने पिछले वर्षोंका विचार करता हूँ तो मुझे यह नहीं लगता कि मैंने उनके प्रति अपने धर्मका यथा-शक्ति पालन नहीं किया, और न मुझे इस बातपर पश्चात्ताप ही होता है; बल्कि इसके विपरीत जब मैं अपने बड़े लड़केके विषयमें दुःखद परिणाम देखता हूं तो मुझे बार-बार यह मालूम होता है कि वह मेरे अधकचरे पूर्वकालकी प्रतिध्वनि है। यह मेरा एक तरहसे मूर्च्छा-काल, वैभवकाल था और उस समय उसकी उम्र इतनी थी कि उसे उसका स्मरण रह सकता था। अब वह कैसे मानेगा कि वह मेरा मूर्च्छा-काल था ? वह यह क्यों न मानेगा कि वह तो मेरा ज्ञान-काल था और बादके ये परिवर्तन अनुचित और मोह-जन्य है ? वह क्यों न माने कि उस समय मैं जगत्के राजमार्गपर चल रहा था और इसलिए सुरक्षित था, और उसके बाद किये परिवर्तन मेरे सूक्ष्म अभिमान और अज्ञानके चिह्न है ? यदि मेरे पुत्र बैरिस्टर इत्यादि पदवी पाये होते तो क्या बुरा था ? मुझे उनके पंख काटनेका क्या अधिकार था ? मैंने उन्हें क्यों न ऐसी स्थितिमें रखा, जिससे वे अपनी रुचिके अनुसार जीवन-मार्ग पसंद करते ? ऐसी दलीलें मेरे कितने ही मित्रों ने मेरे सामने पेश की है।

पर मुझे इनमें जोर नहीं मालूम देता। अनेक विद्यार्थियोंसे मेरा साबका पड़ा है। दूसरे बालकोंपर दूसरे प्रयोग भी मैंने किये हैं अथवा करनेमें सहायक हुआ हूं। उनके परिणाम भी मैंने देखे हैं। वे बालक और मेरे लड़के आज एक उम्रके है; पर मैं नही मानता कि वे मेरे लड़कोसे मनुष्यत्व में बढ़े-चढ़े है अथवा मेरे लड़के उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

फिर भी मेरे प्रयोगका अंतिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। इस विषयकी चर्चा यहां करनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जातिकी उत्क्रांतिका अध्ययन करनेवाला मनुष्य इस बातका कुछ-कुछ अंदाज कर सके कि गृह-शिक्षा और स्कूल-शिक्षाके भेदका और अपने जीवनमें किये माता-पिताके परिवर्तनोंका क्या असर बच्चोंपर होता है।

इसके अलावा इस प्रकरणका यह भी तात्पर्य है कि सत्यका पुजारी देख सके कि सत्यकी आराधना उसे किस हदतक ले जा सकती है और स्वतन्त्रता-देवीका उपासक यह देख सके कि वह कितना बलिदान मांगती है। हां, बालकोंको अपने साथ रखते हुए भी में उन्हें अक्षर-ज्ञान दिला सकता था, यदि मैंने आत्म-सम्मान छोड़ दिया होता, यदि मैंने इस विचारको कि जो शिक्षा दूसरे हिन्दुस्तानी बालकोंको नही मिल सकती वह मुझे अपने बच्चोंको दिलानेकी इच्छा न करनी चाहिए, अपने हृदयमें स्थान न दिया होता। पर उस अवस्था मे वे स्वतंत्रता और आत्म-सम्मानका वह पदार्थ-पाठ न सीख पाते, जो आज सीख सके है। और जहां स्वतंत्रता और अक्षर-ज्ञान इनमेसे किसी एकको पसंद करनेका सवाल हो, वहां कौन कह सकता है कि स्वतत्रता अक्षर-ज्ञानसे हजार-गुनी अच्छी नहीं है ?

१९२० में मैंने जिन नवयुवकोंको स्वतंत्रता-घातक स्कूलों और कालेजों-को छोड़ देनेका निमंत्रण दिया और जिनसे मैंने कहा कि स्वतंत्रताके लिए निरक्षर रहकर सड़कोंपर गिट्टी फोड़ना बेहतर है, बनिस्बत इसके कि गुलामीमें रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करें, वे शायद अब मेरे इस कथनका मूल स्रोत देख सकेंगे।

: ६ :

सेवा-भाव

मेरा काम यद्यपि ठीक चल रहा था, फिर भी मुझे उससे संतोष न था। मनमें ऐसा मंथन चलता ही रहता था कि जीवनमे अधिक सादगी आनी चाहिए, और कुछ-न-कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिए।

संयोगसे एक दिन एक अपंग कोढ़ी घर आ पहुंचा। उसे कुछ खानेको देकर हटा देनेको जी न चाहा। उसे एक कमरेमे रखा, उसके जख्मोंको धोया और उसकी शुश्रूषा की।

किंतु यह कितन दिनोंतक चल सकता था ? सदाके लिए उसे घरमें रखने योग्य न सुविधा मेरे पास थी, न इतनी हिम्मत ही; अतः मैंने उसे गिरमिटियोंके सरकारी अस्पतालमे भेज दिया।

पर इससे मुझे तृप्ति न हुई। मनमें यह हुआ करता कि यदि ऐसा कोई शुश्रूषाका काम सदा मिलता रहे तो क्या अच्छा हो ? डा० बूथ सेंट एडम्स मिशनके अधिकारी थे। जो कोई आता उसे वह हमेशा मुफ्त दवा देते थे। बड़े भले आदमी थे; उनका हृदय स्नेहपूर्ण था। उनकी देख-रेख मे पारसी रुस्तमजीके दानसे एक छोटा-सा अस्पताल खोला गया था। इसमे नर्सके तौरपर काम करनेकी मुझे प्रबल इच्छा हुई। एकसे लेकर दो घंटेतक उसमे दवा देनेका काम रहता था। दवा बनानेवाले किसी वैतनिक या स्वयंसेवककी वहां जरूरत थी। मैंने इतना समय अपने काममेसे निकालकर इस कामको करनेका निश्चय किया। वकालत-संबंधी मेरा काम तो इतना ही था—दफ्तरमे बैठे-बैठे सलाह देना, दस्तावेजोंके मसविदे बनाना और झगड़े सुलझाना। मजिस्ट्रेटके इजलासमे थोड़े-बहुत मुकदमे रहते। उसमेंसे अधिकांश तो अविवादास्पद होते थे। जब ऐसे मुकदमे होते तब मि० खान उनकी पैरवी कर देते। वह मेरे बाद आये थे और मेरे साथ ही रहते थे। इस तरह मैं इस छोटे-से अस्पतालमें काम करने लगा।

रोज सुबह वहाँ जाना पड़ता था। आने-जाने और वहां काम करनेमें कोई दो घंटे लग जाते थे। इस कामसे मेरे मनको कुछ शांति मिली। रोगीसे हाल-चाल पूछकर डाक्टरको समझाना और डाक्टर जो दवा बतावे वह तैयार करके दे देना—यह मेरा काम था। इस कार्यसे मैं दुखी हिन्दुस्तानियोंके प्रगाढ़ संबंधमें आने लगा। उनमें अधिक भाग तामिल और तेलगू अथवा हिन्दुस्तानी गिरमिटियोंका था।

यह अनुभव मुझे भविष्यमे बड़ा उपयोगी साबित हुआ। बोअर-युद्धके समय घायलोंकी शुश्रूषामें तथा दूसरे रोगियोंकी सेवा-टहलमें मुझे उससे बड़ी सहायता मिली।

इधर बालकोंकी परवरिशका प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण अफ्रिकामें मेरे दो लड़के और हुए। उनका लालन-पालन करनेकी समस्याको हल करनेमें मुझे इस कामसे अच्छी सहायता मिली। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मुझे बहुत तपाया करता था और अब भी तपाता है। हम दंपतिने निश्चय किया कि प्रसव-कार्य शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार ही होना चाहिए। इसलिए यद्यपि डाक्टर और नर्सका तो प्रबंध था ही, फिर भी मेरे मनमे यह विचार आया कि यदि डाक्टर साहब समय पर न आ पावें और दाई कही चली जाय तो मेरा क्या हाल होगा? दाई तो हिंदुस्तानी ही बुलानेवाले थे। शिक्षिता दाई हिंदुस्तानमे ही मुश्किलसे मिलती है, तो फिर दक्षिण अफ्रिकाकी तो बात ही क्या? इसलिए मैंने बाल-पालनका अध्ययन किया। डा० त्रिभुवनदास लिखित "माने शिखामण" नामक पुस्तक पढ़ी। उसमे कुछ घटा-बढ़ाकर अंतिम दोनों बालकोंका लालन-पालन प्राय: मैंने खुद किया। हर बार दाईकी सहायता तो ली; पर दो मास से अधिक नहीं। सो भी प्रधानत: धर्मपत्नीकी सेवाके लिए। बच्चोंको नहलाने-धुलानेका काम शुरूआतमें ही करता था।

पर अंतिम बालकके जन्मके समय मेरी पूरी-पूरी आजमाइश हो गई। प्रसव-वेदना एकाएक शुरू हुई। डाक्टर मौजूद नहीं था। मैं दाईको बुलानेवाला था; पर वह यदि नजदीक होती भी तो प्रसव न करा पाती। अतएव प्रसवकालीन सारा काम खुद मुझे करना पड़ा। सौभाग्यसे मैंने यह विषय 'माने-शिखमण'में अच्छी तरह पढ़ लिया था; इससे घबराया नहीं।

मैंने देखा कि माता-पिता यदि चाहते हों कि उनके बच्चोंकी परवरिश अच्छी तरह हो तो दोनोंको बाल-पालन आदिका मामूली ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। इसके संबंधमें जितनी चिंता मैंने रखी है उसका लाभ मुझे कदम-कदमपर दिखाई दिया है। मेरे लड़कोंकी तदुरुस्ती, जो आज आम तौर पर अच्छी है, वह अच्छी नहीं रही होती, यदि मैंने बालकोंके लालन-पालनका आवश्यक ज्ञान प्राप्त न किया होता और उसका

पालन न किया होता। हम लोगोमे यह एक वहम प्रचलित है कि पहले पांच सालतक बच्चेको शिक्षा देनेकी जरूरत नही है। परंतु सच्ची बात यह है कि बालक प्रथम पांच वर्षोंमे जितना सीखता है उतना बादको हरगिज नहीं। मै अनुभवसे यह कह सकता हू कि बालककी शिक्षाकी शुरूआत तो माताके उदरसे ही शुरू हो जाती है। गर्भाधानके समयकी माता-पिताकी शारीरिक एवं मानसिक स्थितिका प्रभाव बच्चेपर अवश्य पड़ता है। माताकी गर्भ-कालीन प्रकृति, माताके आहार-विहारके अच्छे-बुरे फलको विरासतम पाकर बच्चा जन्म पाता है। जन्मके बाद वह माता-पिताका अनुकरण करने लगता है। वह खुद तो असहाय होता है, इसलिए उसके विकासका दारोमदार माता-पितापर ही रहता है।

जो समझदार दंपति इतना विचार करेगे वे तो कभी दंपति-संगको विषय-वासनाकी पूर्तिका साधन न बनावेंगे। वे तो तभी सग करेंगे, जब उन्हे संततिकी इच्छा होगी। रति-सुखका स्वतंत्र अस्तित्व है, यह मानना मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखाई देता है। जनन-क्रियापर ससार के अस्तित्वका अवलंबन है। संसार ईश्वरकी लीला-भूमि है, उसकी महिमाका प्रतिबिंब है। जो शख्स यह मानता है कि उसकी सुव्यवस्थित वृद्धिके लिए ही रति-क्रियाका निर्माण हुआ है, वह विषय-वासनाको भगीरथ प्रयत्नके द्वारा भी रोकेगा। और रति-भोगके फल-स्वरूप जो सतति उत्पन्न होगी उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रक्षा करनेके लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके अपनी प्रजाको उससे लाभान्वित करेगा।

: ७ :

ब्रह्मचर्य—१

अब ब्रह्मचर्यके संबंधमें विचार करनेका समय आया है। एक पत्नी-व्रतने तो विवाहके समय से ही मेरे हृदयमें स्थान कर लिया था। पत्नीके प्रति मेरी वफादारी मेरे सत्यव्रत का एक अंग थी, परन्तु स्वपत्नीके साथ भी ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी आवश्यकता मुझे दक्षिण अफ्रिकामें ही स्पष्टरूपसे दिखाई दी। किस प्रसगसे अथवा किस पुस्तकके प्रभावसे यह विचार मेरे मनमे पैदा हुआ, यह इस समय ठीक याद नहीं पड़ता; पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रायचंदभाईका प्रभाव प्रधानरूपसे काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टनके प्रति मिसेज ग्लैडस्टनके प्रेमकी स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस ऑव कामंसकी बैठकमें भी मिसेज ग्लैडस्टन अपने पतिको चाय बनाकर पिलाती थीं। यह बात उस नियम-निष्ठ दंपतिके जीवनका एक नियम ही बन गई थी। मैंने यह प्रसंग कविजीको पढ़ सुनाया और उसके सिलसिलेमें दंपति-प्रेमकी स्तुति की। रायचंदभाई बोले—"इसमें आपको कौनसी बात महत्त्वकी मालूम होती है—मिसेज ग्लैडस्टनका पत्नीपन या सेवा-भाव? यदि वह ग्लैडस्टनकी बहन होती तो? अथवा उनकी वफादार नौकर होती और फिर भी उसी प्रेमसे चाय पिलाती तो? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियोंके उदाहरण क्या आज हमें न मिलेंगे? और नारी-जातिके बदले ऐसा प्रेम यदि नर-जातिमें देखा होता तो क्या आपको सानंदाश्चर्य न होता? इस बातपर विचार कीजिएगा।

रायचंदभाई स्वयं विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है; परंतु इन वचनोंने मुझे लोह-चुंबककी तरह जकड़ लिया। पुरुष नौकरकी ऐसी स्वामि-भक्तिकी

कीमत पत्नीकी स्वामी-निष्ठाकी कीमतसे हजार-गुना बढ़कर है। पति-पत्नीमें एकताका अतएव प्रेमका होना कोई आश्चर्यकी बात नही; पर स्वामी और सेवकमे ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। अतएव दिन-दिन कविजीके वचनका बल मेरी नजरोंमें बढ़ने लगा।

अब मनमें यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नीके साथ कैसा संबंध रखना चाहिए? पत्नीको विषय-भोगका वाहन बनाना पत्नीके प्रति वफादारी कैसे हो सकती है? जबतक मै विषय-वासनाके अधीन रहूंगा तबतक मेरी वफ़ादारीकी कीमत मामूली मानी जायगी। मुझे यहां यह बात कह देनी चाहिए कि हमारे पारस्परिक संबंधमे कभी पत्नीकी तरफसे पहल नहीं हुई। इस दृष्टिसे मै जिस दिनसे चाहूं ब्रह्मचर्यका पालन मेरे लिए सुलभ था; पर मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होनेके बाद भी दो बार तो मै असफल ही रहा। प्रयत्न करता, पर गिरता; क्योंकि उनमे मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ संतानोत्पत्तिको रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। सतति-निग्रहके बाह्य उपकरणोंके विषयमें विलायतमें मैंने थोड़ा-बहुत साहित्य पढ़ लिया था। डा० एलिसनके इन उपायोंका उल्लेख मै अन्नाहार-संबंधी प्रकरणमे कर चुका हूं। उसका कुछ क्षणिक असर मुझपर हुआ भी था; परंतु मि० हिल्सके द्वारा किये गये उनके विरोधका तथा अंतःसाधन—संयम—के समर्थनका असर मेरे दिलपर बहुत हुआ और अनुभवसे वह चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजोत्पत्तिकी अनावश्यकता जंचते ही संयम-पालनके लिए उद्योग आरंभ हुआ।

संयम-पालनमे, कठिनाइयां बेहद थी। अलग-अलग चारपाइयां रखी। इधर मै रातको थककर सोनेकी कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नोंका विशेष परिणाम उसी समय तो न दिखाई दिया; पर जब मैं भूतकालकी ओर आंख उठाकर देखता हूं तो जान पड़ता है कि इन सारे प्रयत्नोंने मुझे अंतिम बल प्रदान किया है।

अंतिम निश्चय तो ठेठ १९०६ ई० में ही कर सका। उस समय सत्याग्रहका श्रीगणेश नहीं हुआ था। उसका स्वप्न तकमें मुझे खयाल न था। बोअर-युद्धके बाद नेटालमें 'जुलू' बलवा हुआ। उस समय मैं जोहांसबर्गमें वकालत करता था; पर मनने कहा कि इस समय बलवेमें मुझे अपनी सेवा नेटाल-सरकारको अर्पित करनी चाहिए। तदनुसार मैंने अर्पित की भी और वह स्वीकृत भी हुई। उसका वर्णन अब आगे आवेगा; परंतु इस सेवाके सिलसिलेसे मेरे मनमें तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभावके अनुसार अपने साथियोंसे मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जंचा कि संतानोत्पत्ति और संतान-पालन लोक-सेवाके विरोधक है। इस 'बलवे'के काममें शरीक होनेके लिए मुझे अपना जोहांसबर्गवाला घर तितर-बितर करना पड़ा। टीम-टामके साथ सजाये घरको और जुटाई हुई विविध सामग्रीको अभी एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चोंको फीनिक्समें रखा और मैं घायलोंकी शुश्रूषा करनेवालोंकी टुकड़ी बनाकर चल दिया। इन कंठिनाइयोंका सामना करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवामें ही लीन हो जाना है तो फिर पुत्रैषणा एवं धनैषणाको भी नमस्कार कर लेना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्मका पालन करना चाहिए।

'बलवे' में मुझे डेढ़ महीनेसे ज्यादा न ठहरना पड़ा; परंतु ये छ:सप्ताह मेरे जीवनका बहुत बेशकीमती समय थे। व्रतका महत्त्व मैंने इस समय सबसे अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बंधन नहीं, बल्कि स्वतंत्रता का द्वार है। आजतक मेरे प्रयत्नोंमें आवश्यक सफलता नहीं मिलती थी; क्योंकि मुझमें निश्चयका अभाव था। मुझे अपनी शक्तिपर विश्वास न था। मुझे ईश्वरकी कृपापर अविश्वास था। और इसलिए मेरा मन अनेक तरंगोंमें और अनेक विकारोंके अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रतबंधनसे दूर रहकर मनुष्य मोहमें पड़ता है। व्रतसे अपनेको बांधना मानो व्यभिचारसे छूटकर एक पत्नीसे संबंध रखना है। 'मेरा तो विश्वास प्रयत्नमें है, व्रतके द्वारा मैं बंधना नहीं चाहता' यह वचन निर्बलता-सूचक

है और उसमें छिपे-छिपे भोगकी इच्छा रहती है। जो चीज त्याज्य है, उसे सर्वथा छोड़ देनेमें कौन-सी हानि हो सकती है ? जो सांप मुझे डसनेवाला है उसको मैं निश्चय-पूर्वक हटा ही देता हूं, हटानेका केवल उद्योग नहीं करता; क्योंकि मैं जानता हूं कि महज प्रयत्नका परिणाम होनेवाला है मृत्यु। 'प्रयत्न'में सांपकी विकरालताके स्पष्ट ज्ञानका अभाव है। उसी प्रकार जिस चीजके त्यागका हम प्रयत्न-मात्र करते हैं उसके त्यागकी आवश्यकता हमें स्पष्ट रूपसे दिखाई नहीं दी है, यही सिद्ध होता है। 'मेरे विचार यदि बादको बदल जायं तो ?' ऐसी शंकासे बहुत बार हम व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचारमें स्पष्ट दर्शनका अभाव है। इसीलिए निष्कुलानंदने कहा है--

त्याग न टिके रे वैराग्य विना।

जहां किसी चीजसे पूर्ण वैराग्य हो गया है वहां उसके लिए व्रत अपने आप अनिवार्य हो जाता है।

: ८ :

ब्रह्मचर्य--२

खूब चर्चा और दृढ़ विचार करनेके बाद १९०६में मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। व्रत लेने तक मैंने धर्म-पत्नीसे इस विषयमें सलाह न ली थी। व्रतके समय अलबत्ता ली। उसने उसका कुछ विरोध न किया।

यह व्रत लेना मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मुझे चिंता रहती कि विकारोंको क्योंकर दबा सकूंगा ? और स्वपत्नीके साथ विकारोंसे अलिप्त रहना एक अजीब बात मालूम होती थी। फिर भी मैं देख रहा था कि वही मेरा स्पष्ट कर्त्तव्य है। मेरी नीयत साफ थी। इसलिए, यह सोचकर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा।

आज २० सालके बाद उस व्रतको स्मरण करते हुए मुझे सानंदाश्चर्य होता है। संयम-पालन करनेका भाव तो मेरे मनमें १९०१से ही प्रबल था और उसका पालन मैं कर भी रहा था; परंतु जो स्वतंत्रता और आनंद मैं अब पाने लगा वह मुझे नहीं याद पड़ता कि १९०६के पहले मिला हो; क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध था—कभी भी उसके अधीन हो जानेका भय रहता था; किन्तु अब वासना मुझपर सवारी करनेमे असमर्थ हो गई। फिर अब मैं ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। यह व्रत मैंने फीनिक्समें लिया था। घायलोंकी शुश्रूषा से छुट्टी पाकर मैं फीनिक्स गया था। वहांसे मुझे तुरंत जोहांसबर्ग जाना था। वहां जानेके एक ही महीनेके अंदर सत्याग्रह-संग्रामकी नींव पड़ी। मानो यह ब्रह्मचर्य-व्रत उसके लिए मुझे तैयार करने ही न आया हो। सत्याग्रहका खयाल मैंने पहले से ही बना रखा हो, सो बात नहीं। उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छासे—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो-जो काम किये थे—जैसे फीनिक्स जाना, जोहांसबर्गका भारी घर-खर्च कम कर डालना और अंतको ब्रह्मचर्यका व्रत लेना—वे मानो इसकी पेश-बंदी थे।

ब्रह्मचर्यका सोलह आने पालनका अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्रों द्वारा न हुआ था। यह तो मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। उससे संबंध रखनेवाले शास्त्र-वचन मैंने बादको पढ़े। ब्रह्मचर्यमें शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्माका रक्षण, सब कुछ है—यह बात मैं व्रतके बाद दिनों-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा; क्योंकि अब ब्रह्मचर्यको एक घोर तपश्चर्या रहने देनेके बदले रसमय बनाना था; उसीके बलपर काम चलाना था। इसलिए अब उसकी खूबियोंके नित नये दर्शन मुझे होने लगे।

पर मैं जो इस तरह उससे रसकी घूंटें पी रहा था, उससे कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनताको अनुभव न कर रहा था। आज यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं, फिरभी उसकी कठिनताका अनुभवतो

होता ही है। यह अधिकाधिक समझता जाता हूं कि यह असिधारा-व्रत है। अब भी निरंतर जागरूकताकी आवश्यकता देखता हूं।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिए पहले स्वादेन्द्रियको वशमे करना चाहिए। मैंनें खुद अनुभव करके देखा है कि यदि स्वादको जीत लें तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यंत सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मेरे भोजन-प्रयोग केवल अन्नाहारकी दृष्टिसे नही, पर ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे होने लगे। प्रयोग-द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसालेका और स्वाभाविक रूपमे करना चाहिए। मैंने खुद छः साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारीका आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों मे हरे या सूखे वन-पके फलोंपर ही रहता था, उन दिनों जिस निर्विकारताका अनुभव होता था, वह खुराकमें परिवर्तन करनेके बाद न हुआ। फला-हारके दिनोंमें ब्रह्मचर्य सरल था; दुग्धाहारके कारण अब कष्टसाध्य हो गया है। फलाहार छोड़कर दुग्धाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा, इसका जिक्र समय आनेपर होगा ही। यहां तो इतना कहना ही काफी है कि ब्रह्मचारीके लिए दूधका आहार विघ्नकारक है इसमे मुझे लेशमात्र संदेह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारीके लिए दूध छोड़ना जरूरी है। आहारका असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है, इस संबंधमें अभी अनेक प्रयोगोंकी आवश्यकता है। दूधके सदृश शरीरके रग-रेशे मजबूत बनानेवाला और उतनी ही आसानी से हजम हो जानेवाला फलाहार अबतक मेरे हाथ नहीं लगा है। न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बतला सके हैं। इस कारण दूधको विकारोत्पादक जानते हुए भी अभी मैं उसे छोड़नेकी सिफारिश किसीसे नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारोंमे जिस प्रकार आहारके प्रकार और परिणामकी मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवासकी बात भी समझनी चाहिए। इंद्रियां ऐसा बलवान् है कि उनपर चारों ओरसे, ऊपर-नीचे दशो दिशाओसे जब घेरा डाला जाता है तभी वे कब्जेमें रहती हैं। सब लोग इस

बातको जानते हैं कि आहार बिना वे अपना काम नहीं कर सकती। इसलिए इस बातमें जरा भी शक नहीं है कि इंद्रिय-दमनके हेतु इच्छा-पूर्वक किये उपवासोंसे इंद्रिय-दमनमें बड़ी सहायता मिली है। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवाससे ही सब काम हो जायगा और बाहरी उपवास-मात्र करते है, पर मनमे छप्पन भोगोंका ध्यान करते रहते है। उपवासके दिनोंमें इन विचारोंका स्वाद चखा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या-क्या खायंगे; और फिर शिकायेत करते हैं कि न तो स्वादेंद्रियका संयम हो पाया और न जननेंद्रियका। उपवाससे वास्तविक लाभ वही होता है, जहां मन भी देह-दमनमें साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मनमें विषय-भोगके प्रति वैराग्य हो जाना चाहिए। विषय-भोगकी जड़ तो मनमे है। उपवासादि साधनोंसे मिलनेवाली सहायताये बहुत होते हुए भी अपेक्षाकृत थोड़ी ही होती है। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रहता है। परंतु उपवासके बिना विषयासक्तिका समूल विनाश संभवनीय नहीं। इसलिए उपवास ब्रह्मचर्य-पालनका एक अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले बहुतेरे विफल हो जाते हैं, क्योंकि वे आहार-विहार तथा दृष्टि इत्यादिमें अ-ब्रह्मचारीकी तरह रहना चाहते हुए भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते है। यह कोशिश गर्मीके मौसममें सर्दीके मौसमका अनुभव करने जैसी समझनी चाहिए। संयमी और स्वच्छंदके, भोगी और त्यागीके जीवनमे भेद अवश्य होना चाहिए। साम्य तो सिर्फ ऊपर-ही-ऊपर रहता है। किंतु भेद स्पष्ट रूपसे दिखाई देना चाहिए। आँखसे दोनों काम लेते हैं, परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक-सिनेमामें लीन रहता है। कानका उपयोग दोनों करते है, परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है और दूसरा विलासमय गीतोंको सुननेमे आनंद मानता है। जागरण दोनों करते हैं, परंतु एक तो जागृत अवस्थामें अपने हृदय-मंदिरमें विराजित रामकी आराधना

करता है, दूसरा नाच-रंगकी धुनमें सोनेकी याद भूल जाता है। भोजन दोनों करते हैं; परंतु एक शरीर-रूपी तीर्थ-क्षेत्रकी रक्षा-मात्रके लिए शरीरको किराया देता है और दूसरा स्वादके लिए देहमे अनेक चीजोंको ठूसकर उसे दुर्गंधित बनाता है। इस प्रकार दोनोंके आचार-विचारमें भेद रहा ही करता है और यह अतर दिन-दिन बढ़ता है, घटता नही।

ब्रह्मचर्यका अर्थ है मन, वचन, और कायासे समस्त इंद्रियोका संयम। इस संयमके लिए पूर्वोक्त त्यागोंकी आवश्यकता है, यह बात मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी और आज भी दिखाई देती है। त्यागके क्षेत्रकी कोई सीमा ही नही है जैसी कि ब्रह्मचर्यकी महिमाकी नही है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प-प्रयत्नसे साध्य नही होता। करोड़ोंके लिए तो यह हमेशा एक आदर्शके रूपमे ही रहेगा; क्योकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो नित्य अपनी त्रुटियोंका दर्शन करेगा, अपने हृदयके कोने-कुचरेमे छिपे विकारोंको पहचान लेगा और उन्हे निकाल बाहर करनेका सतत उद्योग करेगा। जबतक अपने विचारोपर इतना कब्जा न हो जाय कि अपनी इच्छाके बिना एक भी विचार मनमें न आने पावे तबतक वह संपूर्ण ब्रह्मचर्य नही। जितने भी विचार हैं, वे सब एक तरह विकार हैं। उनको वशमे करनेके मानी हैं मनको वशमे करना। और मनको वशमे करना वायुको वशमे करनेसे भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा है तो फिर यह भी साध्य है ही। रास्तेमे हमे बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिए कि यह असाध्य है। वह तो परम-अर्थ है। और परम-अर्थके लिए परम प्रयत्नकी आवश्यकता हो तो इसमे कौन आश्चर्यकी बात है?

परंतु देस आनेपर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज प्रयत्नसाध्य नही है। कह सकते हैं कि तबतक मैं इस मूर्च्छामें था कि फलाहारसे विकार समूल नष्ट हो जायंगे; और इसलिए अभिमानसे मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नही रहा है।

परतु इस विचारके प्रकरण तक पहुचनेमे अभी विलंब है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर-साक्षात्कार करनेके लिए मैंने

जिस ब्रह्मचर्यकी व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं वे यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वरपर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उन्हें निराश होनेका कोई कारण नहीं है ।

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥[१]

निराहारीके विषय तो शांत हो जाते है; परंतु रसोंका शमन नहीं होता । ईश्वर-दर्शनसे रस भी शांत हो जाते हैं ।

इसलिए आत्मार्थीका अंतिम साधन तो राम-नाम और राम-कृपा ही है । इस बातका अनुभव मैंने हिंदुस्तान आनेपर ही किया ।

: ९ :

सादगी

भोग भोगनेका आरंभ तो मैंनें किया; पर वह टिक न सका । टीम-टामकी साधन-सामग्री मैने जुटाई तो; परंतु उसके मोहमे मैं नहीं फंसा था। इसलिए एक ओर घर-गृहस्थी बनाते ही मैंने दूसरी ओर खर्च कम करनेकी शुरुआत की । धुलाईका खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ । फिर धोबी नियमित रूपसे कपड़े न लाता, इस कारण दो-तीन दर्जन कमीज और इतने ही कालरसे भी काम न चलता । कालर रोज बदला जाता था; कमीज रोज नहीं तो तीसरे दिन जरूर बदलनी पड़ती । इस तरह दोहरा खर्च लगता । यह मुझे व्यर्थ मालूम हुआ । इसलिए घर पर ही धोनेकी चीजें मंगाईं । धुलाई-विद्याकी पुस्तक पढ़कर धोना सीख लिया

---

[१]गीता; अध्याय २, श्लोक ५९ ।

और पत्नीको भी सिखा दिया। इससे कामका कुछ बोझ तो बढ़ा; पर एक नई चीज थी, इसलिए मनोविनोद भी होता।

पहले-पहल जो कालर मैंने धोया उसे मैं कभी न भूल सकूंगा। इसमें कलफ ज्यादा था और इस्तिरी पूरी गरम न थी। फिर कालरके जल जानेके भयसे इस्तिरी ठीक-ठीक दबाई नही गई थी। इस कारण कालर कड़ा तो हो गया; पर उसमें से कलफ झिरता रहता था।

ऐसा ही कालर लगाकर मैं अदालतमे गया और वहां बैरिस्टरोंके मजाकका साधन बन गया; परंतु ऐसी हंसी-दिल्लगी को सहन करनेकी क्षमता मुझमें उस समय भी कम न थी।

"कालर हाथसे धोनेका यह पहला प्रयोग है, इसलिए उसमेंसे कलफ झिर रहा है; पर मेरा इसमे कुछ हर्ज नही होता। फिर आप सब लोगोके इतने विनोदका कारण हुआ यह विशेष बात है।" मैंने स्पष्टीकरण किया।

"पर धोबी क्या नहीं मिलते ?" एक मित्रने पूछा।

"यहां धोबीका खर्च मुझे नागंवार हो रहा है। कालरकी कीमतके बराबर धुलाईका खर्च—और फिर धोबीकी गुलामी बरदाश्त करनी पड़ती है, सो जुदी। इसके बनस्बित तो मैं घरपर हाथसे धो लेना ही ज्यादा पसंद करता हूं।"

किंतु यह स्वावलबनकी खूबी मैं मित्रोंको न समझा सका।

मुझे कहना चाहिए कि अंतको मैंने अपने कामके लायक कपड़े धोनेकी कुशलता प्राप्त कर ली थी, और मुझे कहना चाहिए कि धोबीकी धुलाईसे घरकी धुलाई किसी तरह घटिया नही रहती थी। कालरका कड़ापन और चमक धोबीके धोये कालरसे किसी तरह कम न थी।

गोखलेके पास स्व० महादेव गोविंद रानडेका प्रसाद-स्वरूप एक दुपट्टा था। गोखले उसे बड़े जतनसे रखते और प्रसंग विशेषपर ही उसे इस्तेमाल करते। जोहांसवर्गमे उनके स्वागतके उपलक्षमे जो भोज हुआ था, वह अवसर बड़े महत्त्वका था। दक्षिण अफ्रिकामें यह उनका सबसे बड़ा भाषण था। इसलिए इस अवसरपर वह यह दुपट्टा डालना चाहते थे।

उसमे सलवटें पड़ गई थी और इस्तिरी करनेकी जरूरत थी। धोबीके यहां भेजकर तुरत इस्तिरी करा लेना सभव न था। मैंने कहा—"जरा मेरी विद्याको भी अजमा लीजिए।"

"तुम्हारी वकालतपर मैं विश्वास कर सकता हूं; पर इस दुपट्टेपर तुम्हारी धुलाई-कलाकी आजमाइश न होने दूंगा। तुम कहीं इसे दाग दो तो? जानते हो, इसका कितना मूल्य है?" यह कहकर उन्होंने अति उल्लाससे इस प्रसादीकी कथा मुझे कह सुनाई।

मैंने आजिजीके साथ दाग न पड़ने देनेकी जिम्मेदारी ली। फलतः मुझे इस्तिरी करनेकी इजाजत मिल गई और बादको अपनी कुशलताका प्रमाण-पत्र भी मुझे मिला। अब यदि दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो इससे क्या?

जिस तरह मै धोबीकी गुलामीसे छूटा, उसी तरह नाईकी गुलामीसे भी छूटनेका अवसर आ गया। हाथसे दाढ़ी बनाना तो विलायत जानेवाले सभी सीख लेते है; पर मुझे खयाल नहीं कि बाल काटना भी कोई सीख लेते हों। प्रिटोरियामें एक बार मै अंग्रेज नाईकी दूकानपर गया। उसने मेरे बाल काटनेसे साफ इंकार कर दिया, और ऐसा करते हुए तिरस्कार प्रदर्शित किया सो अलग। मुझे बड़ा ही दुःख हुआ। मै सीधा बाजारमें पहुंचा। बाल काटनेकी कैंची खरीदी और आइनेके सामने खड़े रहकर अपने बाल काट डाले। बाल ज्यों-त्यों कटे तो; पर पीछेके बाल काटनेमें बड़ी दिक्कत पेश आई। फिर भी जैसे चाहिए न कट पाये। यह देखकर अदालतमे खूब कहकहा मचा।

"तुम्हारे सिरपर छछूंदर तो नही फिर गई?"

मैंने कहा—"नहीं, मेरे काले सिरको गोरा नाई कैसे छू सकता है? इस कारण जैसे-तैसे हाथ-कटे बाल ही मुझे अधिक प्रिय है।"

इस उत्तरसे मित्रको आश्चर्य हुआ। सच पूछिए तो उस नाईका कसूर न था। यदि वह श्यामवर्ण लोगोंके बाल काटने लगता तो उसकी रोजी चली जाती। हम भी तो कहां अछूतोंके बाल उच्च वर्णके नाइयोंसे

कटवाने देते हैं ? इसका बदला मुझे दक्षिण अफ्रिकामें एक वार नहीं बहुत बार मिला है। और मेरा यह खयाल है कि यह हमारे ही दोषका फल है। इसलिए इस बातपर मुझे कभी रोष नहीं हुआ।

स्वावलंबन और सादगीके मेरे इस शौकने आगे जाकर जो तीव्र स्वरूप ग्रहण किया, उसका वर्णन तो यथा-प्रसंग होगा; परतु उसका मूल पुराना था। उसके फलने-फूलनेके लिए सिर्फ सिंचाईकी आवश्यकता थी, और वह अवसर अनायास ही मिल गया था।

: १० :

बोअर-युद्ध

१८९७से ९९ ई० तकके जीवनके दूसरे कई अनुभवोंको छोड़कर अब बोअर-युद्धपर आता हूं। जब यह युद्ध छिड़ा तब मेरे मनोभाव बिलकुल बोअरोंके पक्षमें थे; पर मैं यह मानता था कि ऐसी बातोंमें व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार काम करनेका अधिकार अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। इस संबंधमें जो मंथन मेरे हृदयमें हुआ, उसका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' मे किया है; इसलिए यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं। जिनको जाननेकी इच्छा हो वे उस पुस्तकको पढ़ लें।[1] यहां तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रिटिश राज्यके प्रति मेरी वफादारी मुझे उस युद्धमें योग देनेके लिए जबरदस्ती घसीट ले गई। मैंने सोचा कि जब मैं ब्रिटिश प्रजाकी हैसियतसे हकोंका मतालबा कर रहा हूं तो ब्रिटिश प्रजाकी हैसियतसे ब्रिटिश राज्यकी रक्षामें सहायक होना मेरा धर्म है। ब्रिटिश-साम्राज्यमें हिंदुस्तानकी सब तरह उन्नति हो सकती है, यह उस समय मेरा मत था। इसलिए जितने साथी मिले

[1] यह पुस्तक 'सस्ता साहित्य मंडल'से प्रकाशित हुई है।

उनको लेकर, अनेक मुसीबतोंका सामना करके, हमने घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी तैयार की। अबतक अंग्रेजोंकी आम तौरपर यह धारणा थी कि यहांके हिंदुस्तानी जोखिमके कामोंमें नहीं पड़ते, स्वार्थके अलावा उन्हें और कुछ नही सूझता। इसलिए कितनेही अंग्रेज मित्रोंने मुझे निराशाजनक उत्तर दिये। अलबत्ता डा० बूथने खूब प्रोत्साहन दिया। उन्होंने हमें घायल योद्धाओंकी शुश्रूषा करनेकी तालीम दी। अपनी योग्यताके संबंधमें मैंने डाक्टरोंके प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिये। मि० लाटन तथा स्वर्गीय मि० ऐस्कंबने भी इस कामको पसंद किया। अंतको हमने सरकारसे प्रार्थना की कि हमें लड़ाईमें सेवा करनेका अवसर दिया जाय : जवाबमें सरकारने हमें धन्यवाद दिया ? किंतु कहा कि आपकी सेवाकी इस समय आवश्यकता नहीं है।

परंतु मैं ऐसे इंकारसे खामोश होकर बैठ न गया। डा० बूथकी मदद लेकर उनके साथ मैं नेटालके बिशपसे मिला। हमारी टुकड़ीमें बहुतेरे ईसाई हिंदुस्तानी थे। बिशपको हमारी योजना बहुत पसंद आई और उन्होंने सहायता देनेका वचन दिया।

इस बीच घटना-चक्र अपना काम कर रहा था। बोअरोंकी तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि अंदाजसे अधिक तेजस्वी साबित हुई, जिसके फल-स्वरूप सरकारको बहुतेरे रंगरूटोंकी जरूरत हुई, और अंतको हमारी प्रार्थना स्वीकृत हो गई।

इस टुकड़ीमें लगभग ११०० लोग थे। उनमें लगभग ४० मुखिया थे। कोई ३०० स्वतन्त्र हिंदुस्तानी भरती हुए थे, और शेष गिरमिटिया थे। डा० बूथ भी हमारे साथ थे। टुकड़ीने अपना काम अच्छी तरह किया। यद्यपि उसका कार्य-क्षेत्र लड़ाईके मैदानके बाहर था और रेड-क्रास[1] चिन्ह उनकी रक्षाके लिए लगा हुआ था, फिर भी आवश्यकताके

---

[1]रेडक्रासका अर्थ है लाल स्वस्तिक। युद्धमें इस चिह्न से अंकित पट्टे शुश्रूषा करनेवालोंके बायें हाथमें बंधे रहते हैं और ऐसे नियम हैं

समय प्रत्यक्ष युद्ध-क्षेत्रकी हदके अंदर भी काम करनेका अवसर हमें मिला। ऐसी जोखिममे न पड़नेका इकरार सरकार ने अपनी इच्छासे हमारे साथ किया था; परंतु स्पियांकोपकी हारके बाद स्थिति बदली। इस कारण जनरल बलरने सदेश भेजा कि यद्यपि आप जोखिमकी जगह काम करनेके लिए बंधे हुए नही हैं, फिर भी यदि आप खतरेका सामना करके घायल सिपाहियोंको अथवा अफसरोंको रण-क्षेत्रसे उठाकर डोलियोंमें ले जानेके लिए तैयार हो जायंगे तो सरकार आपका उपकार मानेगी। इधर हम तो जोखिम उठानेके लिए तैयार ही थे। अतएव स्पियांकोपके युद्धके वाद हम गोला-बारूदकी हृदके अंदर भी काम करने लगे।

इन दिनोंमें सबको कई बार बीस-पचीस मील की मंजिल तय करनी पड़ती थी। एक बार तो घायलोंको डोलीमें रखकर इतनी दूर चलना भी पड़ा था। जिन घायल योद्धाओंको हम उठाकर ले गये उनमें जनरल वुडगेट इत्यादि भी थे।

छः सप्ताहके अंतमे हमारी टुकड़ीको रुखसत दी गई। स्पियांकोप और बालक्रांजकी हारके बाद लेडीस्मिथ आदि-आदि स्थानोंको बोअरोंके घेरेसे तेजीके साथ मुक्त करनेका विचार ब्रिटिश सेनापतिने त्याग दिया और इंग्लैंड तथा हिंदुस्तानसे और सेना आनेकी राह देखने तथा धीरे-धीरे काम करनेका निश्चय किया था।

हमारी उस छोटा-सी सेवाकी उस समय बहुत स्तुति हुई। उससे हिंदुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। 'आखिर हिंदुस्तानी है तो साम्राज्यके वारिस ही' ऐसे गीत गाये गये। जनरल बुलरने अपने खरीतेमें हमारी टुकड़ीके कार्यकी प्रशंसा की। मुखियोंको लड़ाईके तमगे भी मिले।

इसके फलस्वरूप हिंदुस्तानी अधिक सगठित हुए। मैं गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंके अधिक संपर्कमें आ सका। उनमें अधिक जागृति हुई

कि शत्रु भी उनको नुकसान नहीं पहुंचा सकते। अधिक तफसीलके लिए देखिए—'द० अ० के सत्याग्रहका इतिहास', खण्ड १, अध्याय ९।

और यह भावना अधिक दृढ़ हुई कि हिंदू, मुसलमान, ईसाई, मदरासी पारसी, गुजराती, सिंधी, सब हिंदुस्तानी हैं। सबने माना कि अब हिंदुस्तानियोंके दुःख अवश्य दूर हो जायंगे। गोरोंके वर्तावमें भी उसके बाद साफ-साफ फर्क नजर आने लगा।

लड़ाईमें गोरोंसे जो संबंध बंधा, वह मीठा था। हजारों 'टामियों'के सहवासमें हम लोग आये। वे हमारे साथ मित्र-भावसे व्यवहार करते और इस खयालसे कि हम उनकी सेवाके लिए हैं, हमारे उपकार मानते।

मनुष्य-स्वभाव दुःखके समय कैसा पसीज जाता है, इसकी एक मधुर-स्मृति यहां दिये विना नहीं रह सकता। हम लोग चीवली छावनीकी ओर जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था, जहां लार्ड रावर्ट्सके पुत्र लेफ़्टिनेंट रावर्ट्स-को मर्मांतक गोली लगी थी। लेफ्टिनेंट रावर्ट्सके शवको ले जानेका गौरव हमारी टुकड़ीको प्राप्त हुआ था। लौटते वक्त धूप कड़ी थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीनेके लिए रास्तेमें एक छोटा-सा झरना पड़ा। सवाल उठा, पहले कौन पानी पीये। मैंने सोचा था कि 'टामियोंके' पी लेनेके वाद हम पियेंगे। 'टामियों'ने हमें देखकर तुरंत कहा—'पहले आप लोग पी लें।' हमने कहा—'नहीं, पहले आप पीयें।' इस तरह बहुत देरतक हमारे और उनके बीच मधुर आग्रहकी खींचातानी होती रही।

: ११ :

नगर-सुधार-अकाल-फण्ड

समाजके एक भी अंगका खराव बने रहना मुझे हमेशा अखरता रहता है। लोगोंकी बुराइयोंको ढककर उनका बचाव करना अथवा उन्हें दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर हुआ

है। दक्षिण-अफ्रिका-स्थित हिंदुस्तानियोंपर एक आक्षेप हुआ करता था। वह यह कि हिंदुस्तानी अपने घर-बार साफ-सुथरे नहीं रखते और बहुत मैले रहते हैं। बार-बार यह बात कही जाती थी। उसमें कुछ सचाई भी थी। मेरे वहां होनेके आरंभ-काल ही में मैंने उसे दूर करनेका विचार किया था। इस इलजामको मिटानेके लिए शुरूआतमें समाजके लब्ध-प्रतिष्ठ लोगोंके घरोंमें सफाई तो शुरू हो गई थी; परंतु घर-घर जाकर प्रचार करनेका काम तो तभी शुरू हो पाया, जब डरबनमें प्लेगके प्रवेश और प्रकोपका भय उत्पन्न हुआ। इसमें म्यूनिसिपैलिटीके अधिकारियोंका भाग था और उनकी सम्मति भी थी। हमारी मददसे उनका काम आसान हो गया और हिंदुस्तानियोंको कम कष्ट और असुविधा हुई; क्योंकि प्लेग इत्यादिका प्रकोप जब कभी होता है तब आम तौर पर अधिकारी लोग अधीर हो जाते हैं, और उसका उपाय करनेमें सीमाके आगे बढ़ जाते हैं, एवं जो लोग उनकी नजरोंमें अप्रिय होते हैं, उनपर इतना दबाव डाला जाता है कि वह असह्य हो जाता है। चूंकि लोगोंने खुद ही काफी इलाज करनेका आयोजन कर लिया था, इसलिए वे इस सख्ती और ज्यादतीसे बच गये।

इस संबंधमें मुझे कितने ही कड़ुए अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानीय सरकारसे अपने हकोंका मतालबा करनेमें अपने लोगोसे मैं जितनी सहायता ले सकता था, उतनी आसानीसे मैं उनसे स्वयं अपने कर्त्तव्योका पालन करनेमें न ले सका। कितनी ही जगह अपमान होता, कितनी जगह विनयपूर्वक लापरवाही बताई जाती। गंदगी दूर करनेका कष्ट उठाना एक आफत मालूम होती थी। और इसके लिए पैसा खर्च करना तो और भी मुश्किल पड़ता था। इससे मैंने यह पाठ और अधिक अच्छी तरह सीखा कि यदि लोगोसे कुछ भी काम कराना हो तो हमें धीरज रखना चाहिए। सुधारकी गरज तो होती है खुद सुधारकको; जिस समाजमे वह सुधार चाहता है, उससे तो उसे विरोधकी, तिरस्कारकी और जानकी भी जोखिमकी ही आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिस बातको

सुधार समझता है, समाज उसे 'कुधार' क्यों न माने ? और यदि सुधार न भी माने तो उसकी तरफसे उदासीन क्यों न रहे ?

इस आंदोलनका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाजमें घर-वार स्वच्छ रखनेकी आवश्यकता थोड़ी-बहुत मात्रामें मान ली गई। राज्याधिकारियोंके नजदीक मेरी साख बढ़ी। वे समझे कि मैं महज शिकायतें करनेवाला अथवा हक मांगनेवाला ही नहीं हूं; बल्कि इन बातोंमें मैं जितना दृढ़ हूं उतना ही उत्साही आंतरिक सुधारों के लिए भी हूं।

परंतु समाजकी मनोवृत्तिका विकास अभी एक और दिशामें होना बाकी था। यहांके भारतीयोंको अभी प्रसंगोपात्त भारतवर्षके प्रति अपने धर्मको समझना और उसका पालन करना बाकी था। भारतवर्ष तो कंगाल है। लोग धन कमानेके लिए विदेश जाते है। मैंने सोचा, उनकी कमाईका कुछ-न-कुछ अंश भारतवर्षको आपत्तिके समय मिलना चाहिए। १८९७ई०में तो अकाल पड़ा ही था। १८९९मे एक और भारी अकाल हुआ, दोनों अकालोंके समय दक्षिण अफ्रिकासे खासी मदद गई थी। पहले अकालके समय जितनी रकम एकत्र हो सकी थी उससे बहुत ज्यादा रकम दूसरे अकालके समय गई थी। इसमें हमने अंग्रेजोंसे भी चंदा मांगा था, और उनकी तरफसे अच्छी सहायता मिली थी। गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंने भी अपनी तरफसे चंदा दिया था।

इसतरह इन दोनों अकालोंके समय जो प्रथा पड़ी वह अभीतक कायम है। और हम देखते है कि भारतवर्षमे सार्वजनिक संकटके समय दक्षिण अफ्रिकाके हिंदुस्तानी अच्छी रकमे भेजा करते है।

इस तरह दक्षिण अफ्रिकाके भारतीयोंकी सेवा करते हुए मै खुद बहुतेरी बाते एकके बाद एक अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों-ज्यों सेवा की जाती है त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुए दिखाई देते है। उनका अंत ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों हम गहरे पैठते हैं, त्यों-त्यों उसमेंसे रत्न निकलते हैं; सेवाके अवसर हाथ आते ही रहते है।

: १२ :

देश-गमन

लड़ाईके कामसे मुक्त होनेके बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रिकामें नहीं, बल्कि देशमें है। दक्षिण अफ्रिकामें बैठे-बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था, परंतु मने देखा कि यहाँ कहीं मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देससे मित्र लोग भी देस लौट आनेको आकर्षित कर रहे थे। मुझे भी जचा कि देस जानेसे मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा। नेटालमें मि० खान और मनसुखलाल नाजर थे ही।

मैंने साथियोंसे छुट्टी देनेका अनुरोध किया। बड़ी मुश्किल से उन्होंने एक शर्तपर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक सालके अंदर लोगोंको मेरी जरूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण अफ्रिका आजाऊंगा। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई, परंतु मै तो प्रेम-पाशमें बंधा हुआ था।

काचे रे तांतणे मने हरजीए बांधी
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी।[1]

मीराबाईकी यह उपमा न्यूनाधिक अंशमें मुझपर घटित होती थी। पंच भी परमेश्वर ही है। मित्रोंकी बातको टाल नहीं सकता था। मैंने वचन दिया। इजाजत मिली।

इस समय मेरा निकट-संबंध प्रायः नेटालके ही साथ था। नेटालके हिंदुस्तानियोंने मुझे प्रेमामृतसे नहला डाला। स्थान-स्थानपर अभिनंदन-पत्र दिये गये और हर एक जगहसे कीमती चीजें नजर की गईं।

---

१ प्रभुजीने मुझे कच्चे सूतके प्रेम-धागेसे बांध लिया है, ज्यों-ज्यों वह उसे तानते हैं त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूं

१८९६मे जब मै देस आया था, तब भी भेंटे मिली थीं; पर इस बारकी भेटों और सभाओके दृश्योसे मै घबराया। भेंटमें सोने-चांदीकी चीजे तो थीं ही; पर हीरेकी चीजें भी थीं।

इन सब चीजोंको स्वीकार करनेका मुझे क्या अधिकार हो सकता है ? यदि मै इन्हे मंजूर कर लू तो फिर अपने मनको यह कहकर कैसे मना सकता हूं कि मै पैसा लेकर लोगोंकी सेवा नही करता था ? मेरे मुवक्किलोंकी कुछ रकमोंको छोड़कर बाकी सब चीजें मेरी लोक-सेवाके ही उपलक्ष्यमे दी गई थी। पर मेरे मनमें तो मुवक्किल और दूसरे साथियोमें कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काममें भी सहायता देते थे।

फिर उन भेटोंमे एक पचास गिनीका हार कस्तूरबाईके लिए था। मगर उसे जो चीज मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवाके उपलक्ष्यमें; अतएव उसे पृथक् नही मान सकते थे।

जिस शामको इनमेंसे मुख्य-मुख्य भेंटे मिलीं, वह रात मैने एक पागल की तरह जागकर काटी। कमरेमे यहांसे वहां टहलता रहा। परंतु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ों रुपयोंकी भेंटे न लेना भारी पड़ रहा था; पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मैं चाहे इन भेंटोंको पचा भी सकता; पर मेरे बालक और पत्नी ? उन्हें तालीम तो सेवाकी मिल रही थी। सेवाका दाम नहीं लिया जा सकता था, यह हमेशा समझाया जाता था। घरमें कीमती जेवर आदि मै नही रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्थामे सोनकी घड़ियां कौन रखेगा ? सोनेकी कंठी और हीरेकी अंगूठियां कौन पहनेगा ? गहनोंका मोह छोड़नेके लिए मैं उस समय भी औरोंसे कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरातको लेकर मैं क्या करूंगा ?

मैं इस निर्णयपर पहुंचा कि वे चीजे मै हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादिका इन गहनोंका ट्रस्टी बनाकर उनके नाम एक

चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादिसे सलाह करके अपना बोझ हल्का करनेका निश्चय किया।

मै जानता था कि धर्मपत्नीको समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे विश्वास था कि बालकोंको समझानेमें जरा भी दिक्कत पेश न आवेगी, अतएव उन्हें वकील बनानेका विचार किया।

बच्चे तो तुरंत समझ गये। वे बोले, "हमे इन गहनोंसे कुछ मतलब नही; ये सब चीजें हमें लौटा देनी चाहिएं। और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद नही बना सकेंगे ?"

मै प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा-को समझाओगे न ?" मैंने पूछा।

"जरूर-जरूर। वह कहां इन गहनों को पहनने चली है ? वह रखना चाहेंगी भी तो हमारे ही लिए न ? पर जब हमें ही इनकी जरूरत नही है, तब फिर वह क्यों जिद करने लगी ?"

परतु काम अंदाजसे ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कोंको भी न हो। बच्चोंका क्या ? जैसा समझा दें समझ जाते हैं। मुझे न पहननेदो; पर मेरी बहुओको तो जरूरत होगी? और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ? जो चीजें लोगोंने इतने प्रेमसे दी है उन्हे वापस लौटाना ठीक नहीं।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रु-धारा आ मिली। लड़के दृढ रहे, और मै भला क्यों डिगने लगा ?

मैंने धीरेसे कहा—"पहले लड़कोकी शादी तो हो लेने दो। हम बचपनमें तो इनके विवाह करना चाहते ही नही है। बड़े होनेपर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें क्या गहनों-कपड़ोंकी शौकीन बहुएं खोजनी है ? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मैं कहां चला गया हूं ?"

"हां, जानती हूं तुमको। वही न हो, जिन्होंने मेरे भी गहने उतरवा लिए हैं! जब मुझे ही नही पहनने देते हो तो मेरी बहुओंको जरूर ला

दोगे ! लड़कोंको तो अभीसे वैरागी बना रहे हो ! इन गहनोंको मैं वापस नही देने दूगी । और फिर मेरे हारपर तुम्हारा क्या हक है ?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवाकी खातिर मिला है या मेरी ?" मैंने पूछा ।

"जैसा भी हो तुम्हारी सेवामे क्या मेरी सेवा नही है ? मुझसे जो रात-दिन मजरी कराते हो, क्या वह सेवा नही है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरोंको घरमे रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं ?"

ये सब बाण तीखे थे । कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे । पर गहने वापस लौटानेका मैं निश्चय कर चुका था । अतको बहुतेरी बातोंमें मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका । १८९६ और १९०१में मिली भेटें लौटाई । उनका ट्रस्ट बनाया गया और लोक-सेवाके लिए उसका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियोंकी इच्छाके अनुसार होनेकी शर्तपर वह रकम बैंकमें रखी गई । इन चीजोंको बेचनेके निमित्तसे मैं बहुत बार रुपया एकत्र कर सका हूं । आपत्ति-कोषके रूपमे वह रकम आज भी मौजूद है और उसमे वृद्धि होती जाती है ।

इस बातके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नही हुआ । आगे चलकर कस्तूर बाईको भी उसका और औचित्य जचने लगा । इस तरह हम अपने जीवनमें बहुतेरे लालचोसे बच गये है ।

मेरा यह निश्चित मत हो गया है लोक-सेवकको जो भेंटें मिलती है, वे उसकी निजी चीज कदापि नही हो सकती ।

: १३ :

देसमें

इस तरह मैं देसके लिए विदा हुआ। रास्तेमें मॉरीशस पड़ता था। वहां जहाज बहुत देरतक ठहरा। मैं उतरा और वहांकी स्थितिका ठीक अनुभव प्राप्त कर लिया। एक रात वहांके गवर्नर सर चार्ल्स ब्रूसके यहां भी बिताई थी।

हिंदुस्तान पहुंचनेपर कुछ समय इधर-उधर घूमनेमें व्यतीत किया। यह १९०१की बात है। इस साल राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेसका अधिवेशन कलकत्तामें था। दीनशा एदलजी वाच्छा सभापति थे। मैं कांग्रेसमें जाना तो चाहता ही था। कांग्रेसका मुझे यह पहला अनुभव था।

बंबईसे जिस गाड़ीमें सर फिरोजशाह चले, उसीमें मैं भी रवाना हुआ। उनसे मुझे दक्षिण अफ्रिकाके विषयमें बातें करनी थीं। उनके डिब्बेमें एक स्टेशनतक जानेकी मुझे आज्ञा मिली। वह खास सैलूनमें थे। उनके शाही वैभव और खर्च-वर्चसे मैं वाकिफ था। निश्चित स्टेशन-पर मैं उनके डिब्बेमें गया। उस समय उनके डिब्बेमें सर दीनशा और श्री (अब 'सर') चिमनलाल सीतलवाद बैठे थे। उनके साथ राजनीतिकी बातें हो रही थीं। मुझे देखकर सर फ़िरोजशाह बोले—"गांधी, तुम्हारा काम पूरा पड़नेका नहीं। प्रस्ताव तो हम जैसा तुम कहोगे पास कर देंगे; पर पहले यही देखो न, कि हमारे ही देसमें हमें कौन से हक मिल गये हैं? मैं मानता हूं कि जबतक अपने देसमें हमें सत्ता नहीं मिलती है तबतक उप-निवेशोंमें हमारी हालत अच्छी नहीं हो सकती।"

मैं सुनकर स्तंभित हो गया। सर चिमनलालने भी उन्हींकी हां-में-हां मिलाई। परंतु सर दीनशाने मेरी ओर दया-भरी दृष्टिसे देखा।

मैंने उन्हें समझानेका प्रयत्न किया। परंतु बंबईके बिना ताजके

बादशाहको भला मुझ-जैसा आदमी क्या समझा सकता था ? मैंने इसी बातपर संतोष माना कि चलो कांग्रेसमें प्रस्ताव तो पेश हो जायगा !

"प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना भला, गांधी !" सर दीनशा मुझे उत्साहित करनेके लिए बोले।

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। दूसरे स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होते ही मैं वहांसे खिसका और अपने डिब्बेमें आकर बैठ गया।

कलकत्ता पहुंचा। नगरवासी अध्यक्ष इत्यादि नेताओंको धूम-धामसे स्थानपर ले गये। मैंने एक स्वयं-सेवकसे पूछा—"ठहरनेका प्रबंध कहां है ?"

वह मुझे रिपन कालेज ले गया। वहां बहुतेरे प्रतिनिधि ठहरे हुए थे। सौभाग्यसे जिस विभागमें मैं ठहरा था, वहीं लोकमान्य भी ठहराये गये थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि वह एक दिन बाद आये थे। जहां लोकमान्य होते वहां एक छोटा-सा दरबार लगा ही रहता था। यदि मैं चितेरा होऊं तो जिस चारपाईपर वह बैठते थे उसका चित्र खींचकर दिखा दूं—उस स्थानका और उनकी बैठकका इतना स्पष्ट स्मरण मुझे है ! उनसे मिलने आनेवाले असंख्य लोगोंमें एकका नाम मुझे याद है—'अमृत-बाजार पत्रिका'के स्व० मोतीबाबू। इन दोनोंका कहकहा लगाना और राजकर्त्ताओंके अन्याय-संबंधी उनकी बातें कभी भुलाई नहीं जा सकती।

पर जरा यहांके प्रबंधकी ओर दृष्टिपात करें।

स्वयं-सेवक एक-दूसरेसे लड़ पड़ते थे। जो काम जिसे सौंपा जाता वह उसे नहीं करता था; वह तुरंत दूसरेको बुलाता और दूसरा तीसरेको। बेचारा प्रतिनिधि न इधरका रहता न उधरका।

मैंने कुछ स्वयं-सेवकोंसे मेल-मुलाकात की। दक्षिण अफ्रिकाकी कुछ बातें उनसे कीं। इससे वे कुछ शरमाये। मैंने उन्हें सेवाका मर्म समझानेकी कोशिश की। वे कुछ-कुछ समझे। परंतु सेवाका प्रेम कुकुरमुत्तेकी तरह जहां-तहां उग नहीं निकलता। उसके लिए एक तो इच्छा होनी चाहिए और फिर अभ्यास। इन भोले और भले स्वयं-सेवकोंमें इच्छा तो बहुत

थी; पर तालीम और अभ्यास कहाँसे हो सकता था ? कांग्रेस सालमें तीन दिन होती और फिर सो रहती। हर साल तीन दिनकी तालीमसे कितनी बातें सीखी जा सकती हैं ?

जो स्वयं-सेवकोंका हाल था, वही प्रतिनिधियोंका। उन्हें भी तीन ही दिन तालीम मिलती थी। वे अपने हाथों कुछ भी नहीं करते थे, हर बातमें हुक्मसे काम लेते थे। 'स्वयं-सेवक, यह लाओ' और 'वह लाओ' यही हुक्म छूटा करते।

छुआछूतका विचार भी बहुतोंमें था। द्राविड़ी रसोईघर बिलकुल जुदा था। इन प्रतिनिधियोंको तो दृष्टि-दोष भी बरदाश्त न होता था। उनके लिए कंपाउंडमें एक जुदी पाकशाला बनाई गई थी। उसमे धुआं इतना था कि आदमीका दम घुट जाय। खान-पान सब उसीमे होता। रसोईघर क्या था, मानो एक संदूक था; सब तरफसे बंद !

मुझे यह वर्ण-धर्म अखरा। महासभामें आनेवाले प्रतिनिधियोंको जब इतनी छूत लगती है तो जो लोग इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजते है उन्हें कितनी छूत लगती होगी, इसकी त्रैराशिक लगानेपर मेरे मुहसे सहसा निकल पड़ा—"ओफ !"

गंदगीकी सीमा नही। चारों ओर पानी ही पानी हो रहा था। पाखाने कम थे। उनकी बदबूकी यादसे आज भी रोंगटे खड़े हो जाते है। मैंने एक स्वयंसेवकका ध्यान उसकी ओर खींचा। उसने वेधड़क होकर कहा—"यह तो भंगीका काम है" मैंने झाड़ू मंगाई। वह मेरा मुह ताकता रहा। आखिर मैं ही झाड़ू खोज लाया। पाखाना साफ किया। पर यह तो हुआ अपनी सुविधाके लिए। लोग इतने ज्यादा थे और पाखाने इतने कम थे कि कई बार उनके साफ होनेकी जरूरत थी। पर यह मेरे काबूके बाहर था। इसलिए मुझे सिर्फ अपनी सुविधा करके संतोष मानना पड़ा। मैंने देखा कि औरोंको यह गंदगी खलती न थी।

पर यहीं तक बस नहीं है। रातके समय तो कोई कमरेके वरामदेमें ही पाखाने बैठ जाता था। सुबह मैंने स्वयंसेवकको वह मैला दिखाया

पर कोई साफ करनेके लिए तैयार न था। यह गौरव आखिर मुझे ही प्राप्त हुआ।

आजकल इन बातोंमे यद्यपि थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है, तथापि अविचारी प्रतिनिधि अब भी कांग्रेसके कैंपको जहां-तहां मल-त्याग करके बिगाड़ देते हैं, और सब स्वयं-सेवक उसे साफ करनेको तैयार नहीं होते।

मैंने देखा कि यदि ऐसा गंदगीमें कांग्रेसकी बैठक अधिक दिनोंतक जारी रहे तो अवश्य बीमारियाँ फैल निकलें।

: १४ :

कारकुन और 'बेरा'

कांग्रेसके अधिवेशनका एक-दो दिनकी देर थी। मैंने निश्चय किया था कि कांग्रेसके दफ्तरमें यदि मेरी सेवा स्वीकार हों तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करूं।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धोकर कांग्रेसके दफ्तरमें गया। श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्रीघोषाल मंत्री थे। भूपेन बाबूके पास पहुंचकर कोई काम मांगा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—

"मेरे पास तो कोई काम नहीं है—पर शायद, मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।"

मैं घोषाल बाबूके पास गया। उन्होंने मुझे नीचेसे ऊपरतक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले—

"मेरे पास कारकुनका काम है—करोगे?"

अंग्रेजी 'बेअरर' शब्दका अपभ्रंश; खिदमतगार है। कलकत्ता में घरके नौकरको 'बेरा' कहनेका रिवाज पड़ गया है।

मैंने उत्तर दिया—"जरूर करूंगा। अपने बस भर सब कुछ करनेके लिए मैं आपके पास आया हूं।"

"नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते हैं।"

कुछ स्वयं-सेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा-"देखते हो, इस नवयुवकने क्या कहा ?"

फिर मेरी ओर देखकर कहा—"तो लो, यह चिट्ठियोंका ढेर; और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी, उसे ले लो। देखते हो न, सैकड़ों आदमी मुझसे मिलने आया करते हैं। अब मैं उनसे मिलूं या जो लोग फालतू चिट्ठियां लिखा करते हैं उन्हें उत्तर दूं ? मेरे पास ऐसे कारकुन नहीं कि जिनसे मैं यह काम करा सकूं। इन चिट्ठियोंमें बहुतेरी तो फिजूल होंगी। पर तुम सबको पढ़ जाना। जिनकी पहुंच लिखना जरूरी हो उनकी पहुंच लिख देना और जिनके उत्तरके लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।"

उनके इस विश्वाससे मुझे बड़ी खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने बादको जाना। चिट्ठियोंके जवाब आदिका काम आसान था। सारे ढेरको मैंने तुरंत निपटा दिया। घोषाल बाबू खुश हुए। उन्हे बात करने की आदत बहुत थी। मैं देखता था कि वह बातोंमें बहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जाननेके बाद तो कारकुनका काम देने से उन्हें जरा शर्म मालूम हुई। पर मैंने उन्हें निश्चित कर दिया।

"कहाँ मैं और कहाँ आप ! आप कांग्रेसके पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप मेरे बुजुर्ग हैं। मैं ठहरा अनुभवहीन नवयुवक, यह काम सौंपकर मुझपर तो आपने अहसान ही किया है। क्योंकि मुझे आगे चलकर कांग्रेसमें काम करना है। उसके काम-काजका समझनेका अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।"

"सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परंतु आजकलके नवयुवक ऐसा नहीं मानते। पर मैं तो कांग्रेसको उसके जन्म से जानता हूँ। उसकी स्थापना करनेमें मि० ह्यूमके साथ मेरा भी हाथ था।" घोषाल बाबू बोले।

हम दोनोंमें खासा संबंध हो गया। दोपहरके खानेके समय वह मुझे साथ रखते। घोषाल वाबूके वटन भी 'वेरा' लगाता। यह देखकर 'वेरा'का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बड़े-बूढ़ोंकी ओर मेरा बडा आदर रहता था। जब वह मेरे मनोभावोंसे परिचित हो गये, तब अपना निजी सेवाका सारा काम मुझे करने देते थे। वटन लगवाते हुए मुंह पिचकारकर मुझसे कहते—"देखो न, कांग्रेसके सेवकको वटन लगाने तककी फुरसत नही मिलती। क्योंकि उस समय भी वे काममें लगे रहते हैं।" इस भोलेपनपर मुझे मनमें हंसी तो आई, परंतु ऐसी सेवाके लिए मनमे अरुचि बिलकुल न हुई। उससे जो लाभ मुझे हुआ उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती।

थोड़े दिनोंमें मै कांग्रेसके तंत्रसे परिचित हो गया। वहुतसे अगुआओंसे भेंट हुई। गोखले, सुरेंद्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते। उनका रंग-ढंग मै देख सका। कांग्रेसमें समय जिस तरह बरवाद होता था, वह मेरी नजरमें आया। अंग्रेजी भाषाका दौर-दौरा भी देखा। इससे उस समय भी दु:ख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमीके करनेके काममें उससे अधिक आदमी लग जाते और कुछ जरूरी कामोको तो कोई भी नहीं करता था।

मेरा मन इन तमाम वातोंकी आलोचना किया करता था। परंतु चित्त उदार था—इसलिए, यह मान लेता कि शायद इससे अधिक सुधार होना असंभव होगा। फलतः किसीके प्रति मनमें दुर्भाव उत्पन्न न हुआ।

: १५ :

कांग्रेसमें

कांग्रेसकी बैठक शुरूहुई। मंडपका भव्य दृश्य स्वयं-सेवकोंकी कतार, मंचपर बड़े-बूढ़ोंके समुदायको देखकर मै दंग रह गया। इस सभामे भला मेरा क्या पता चलेगा, इस विचारसे मै बेचैन हुआ।

सभापतिका भाषण एक खासी पुस्तक थी। उसका पूरा पढ़ा जाना मुश्किल था। कोई-कोई अंश ही पढ़े गये।

फिर विषय-निर्वाचिनी समितिके सदस्य चुने गये। गोखले मुझे उसमें ले गये थे।

सर फिरोजशाहने मेरा प्रस्ताव लेना तो स्वीकार कर ही लिया था। मै यह सोचता हुआ समितिमे बैठा था कि उस प्रस्तावको समितिमें कौन पेश करेगा, कब करेगा, आदि। हर प्रस्तावपर लंबे-लंबे भाषण होते थे; और सब-के-सब अंग्रेजीमें। प्रत्येक प्रस्तावके समर्थक कोई-न-कोई प्रसिद्ध पुरुष थे। इस नक्कारखानेमें मुझ तूतीकी आवाज कौन सुनेगा? ज्यों-ज्यों रात जाती थी, त्यों-त्यों मेरा दिल धड़कता था। मुझे याद आता है कि अंतमें रह जानेवाले प्रस्ताव आजकलके वायुयानकी गतिसे चलते थे। सब घर भागनेकी तैयारीमे थे। रातके ११ बज गये। मेरी बोलनेकी हिम्मत न होती थी। पर मैं गोखलेसे मिल लिया था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुरसीके पास जाकर मैंने धीरेसे कहा—

"मेरी बात न भूलियेगा।"

उन्होंने कहा—"तुम्हारा प्रस्ताव मेरे ध्यानमें है। यहांकी जल्दी तो तुम देख रहे हो। पर मैं उसे भूलमें न पड़ने दूंगा।"

"अब सब खतम हुआ न?" सर फिरोजशाह बोले।

'अभी तो दक्षिण अफ्रिकाका प्रस्ताव वाकी है न ? मि० गांधी बैठे कबके राह देख रहे हैं।" गोखले वोल उठे।

"आपने उस प्रस्तावको देख लिया है ?" सर फ़िरोजशाहने पूछा।

"हां, जरूर।"

"आपको ठीक जंचा है ?"

"हां, सब ठीक है।"

"तो गांधी पढ़ो तो।"

मैंने कांपते हुए पढ़ सुनाया।

"गोखलेने उसका समर्थन किया।"

"सर्वसम्मतिसे पास"––सब वोल उठे।

"गांधी, तुम पाँच मिनट बोलना।" वाच्छा वोले।

इस दृश्यसे मुझे खुशी न हुई। किसीने प्रस्तावको समझ लेनेका कष्ट न उठाया। सब दौड़-भागमें थे। गोखलेके देख लेनेसे औरोंने देखने-सुननेकी जरूरत न समझी।

सुबह हुई।

मुझे तो अपने भाषणकी पड़ी थी। पाँच मिनटमें क्या कहूंगा ? मैंने अपनी तरफसे तैयारी तो ठीक-ठीक की थी; परंतु आवश्यक शब्द न सूझते थे। इधर यह निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो लिखित भाषण पढ़ूंगा। पर ऐसा प्रतीत हुआ, मानो दक्षिण अफ्रिकामें वोलनेकी जो निःसंकोचिता आ गई थी वह यहां खो गई।

मेरे प्रस्तावका समय आया और सर दीनशाने मेरा नाम पुकारा। मै खड़ा हुआ; सिर चक्कर खाने लगा। ज्यों-त्यों करके प्रस्ताव पढ़ा। किसी कविने अपनी कविता समस्त प्रतिनिधियोंमें वांटी थी। उसमें विदेश जानें और समुद्र-यात्रा करनेकी स्तुति की गई थी। मैंने उसे पढ़ सुनाया और दक्षिण अफ्रिकाके दुःखोंकी कुछ वात कह सुनाई। इतनेमें सर दीनशाने घंटी वजाई। मुझे निश्चय था कि अभी पांच मिनट नहीं हुए हैं। पर मैं यह नहीं जानता था कि यह घंटी तो मुझे चेतावनी देनेके लिए

दो मिनट पहले ही बजा दी गई थी। मैंने बहुतोंको आध-आध पौन-पौन घंटेतक बोलते सुना था, पर घंटी न बजती थी। इससे दुःख हुआ। घंटी बजते ही मैं बैठ गया। परंतु मेरी अल्प-बुद्धिने उस समय मान लिया कि उस कविताके द्वारा सर फिरोजशाहको उत्तर मिल गया था।

प्रस्तावके पास होनेके संबंधमें तो पूछना ही क्या? उस समय प्रेक्षक और प्रतिनिधिका भेद क्वचित् ही था। प्रस्तावोंका विरोध भी कोई न करता था। सब हाथ ऊंचा कर देते थे। तमाम प्रस्ताव एक-मतसे पास होते थे। मेरे प्रस्तावका भी यही हाल हुआ। इस कारण मुझे इस प्रस्तावका महत्त्व न जंचा; फिर भी कांग्रेसमें उस प्रस्तावका होना ही मेरे आनंदके लिए बस था। कांग्रेसकी मुहर जिसपर लग गई उसपर सारे भारतवर्षकी मुहर है---यह ज्ञान किसके लिए काफी नहीं है?

: १६ :

लार्ड कर्जनका दरबार

कांग्रेस तो समाप्त हुई, परंतु मुझे दक्षिण अफ्रिकाके कामके लिए कलकत्तेमें रहकर 'चेंबर ऑफ कामर्स' इत्यादि संस्थाओंसे मिलना था, इसलिए मैं एक महीना कलकत्ते ठहर गया। इस बार होटलमें ठहरनेके बदले, परिचय प्राप्त करके 'इंडिया क्लब'मे रहनेका प्रबंध किया। इसमें मुझे लोभ यह था कि यहीं गण्य-मान्य हिन्दुस्तानी ठहरा करते हैं, अतएव उनके संपर्कमें आकर दक्षिण अफ्रिकाके काममें दिलचस्पी पैदा कर सकूंगा। इस क्लबमें गोखले हमेशा नहीं तो कभी-कभी बिलियर्ड खेलने आते थे। उन्हें इस बातकी खबर मिलते ही कि मैं कलकत्तेमें रहनेवाला हूं, उन्होंने मुझे अपने साथ रहनेका निमन्त्रण दिया, मैंने उसे सादर स्वीकार किया। परंतु अपने-आप वहां जाना मुझे ठीक न मालूम हुआ।

एक-दो दिन राह देखी थी कि गोखले खुद आकर अपने साथ मुझे ले गये।' मेरी संकोच-वृत्ति देखकर उन्होंने कहा—

"गांधी, तुम्हें तो इसी देशमें रहना है, इसलिए ऐसी शरमसे काम न चलेगा। जितने लोगोंके संपर्कमें आ सको, तुम्हें आना चाहिए। मुझे तुमसे कांग्रेसका काम लेना है।"

गोखलेके यहां जानेसे पहलेका, 'इंडिया-क्लब'का एक अनुभव यहां दे देता हूं।

इन्हीं दिनों लार्ड कर्जनका दरबार था। उसमें जानेवाले जो राजा-महाराजा इस क्लबमें थे, मैं उन्हें हमेशा क्लबमें उम्दा बंगाली धोती-कुरता पहने तथा चादर डाले देखता था। आज उन्होंने पतलून, चोगा खानसामा जैसी पगड़ी और चमकीले बूट पहने। यह देखकर मुझे दुःख हुआ और इस वेशांतरका कारण उनसे पूछा।

"अपना दुःख हम ही जानते हैं। अपनी धन-संपत्ति और उपाधियोंको कायम रखनेके लिए हमें जो-जो अपमान सहन करने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं?" उत्तर मिला।

"परंतु यह खानसामा जैसी पगड़ी और बूट क्यों?"

"हममें और खानसामामें आपने फर्क क्या समझा; वे हमारे खानसामा हैं तो हम लार्ड कर्जनके खानसामा हैं? यदि मैं दरबारमें ग़ैरहाजिर रहूं तो मुझे उसका फल भोगना पड़े। अपने मामूली लिबासमें जाऊं तो वह अपराध समझा जाय। और वहां जाकर भी क्या मैं लार्ड कर्जनसे बात-चीत कर सकूंगा? बिलकुल नहीं।"

मुझे इस शुद्ध-हृदय भाईपर दया आई।

इसी तरहका एक और दरबार याद आता है। जब काशी-हिंदू-विश्वविद्यालयका शिलारोपण लार्ड हार्डिंजके हाथों हुआ, तब उनके लिए एक दरबार किया गया था। उसमें राजा-महाराजा तो थे ही; भारत-भूषण मालवीयजीने मुझे भी उसमें उपस्थित रहनेके लिए खास तौरपर आग्रह किया था। मैं वहां गया। राजा-महाराजाओंके वस्त्राभूषणोंको,

जो केवल स्त्रियोंको ही शोभा दे सकते थे, देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। रेशमी पाजामे, रेशमी अंगरखे और गलेमें हीरे-मोतियोंकी मालायें, बाँहपर बाजूबंद और पगड़ियोंपर हीरे-मोतियोंकी लड़ियां और तुर्रे! इन सबके साथ कमरमे सोनेकी मूठकी तलवार लटकती रहती। किसीने कहा—ये इनके राज्याधिकारके नही बल्कि गुलामीके चिन्ह हैं। मैं समझता था कि ऐसे नामर्दीके आभूषण वे स्वेच्छासे पहनते होंगे। परंतु मुझे मालूम हुआ कि ऐसे समारोहमे अपने तमाम कीमती वस्त्राभूषण पहनकर आना उनके लिए लाजिमी था। मुझे पता लगा कि कितने ही राजाओंको तो ऐसे वस्त्राभूषणोंसे नफरत थी, और ऐसे दरबारके अवसरके अलावा वे कभी उन्हे नहीं पहनते थे। मै नही कह सकता कि यह बात कहाँतक सच है। दूसरे अवसरोपर वे चाहे पहनते हों या न पहनते हों, वाइसरायके दरबारमे हों या और कहीं, स्त्रियोचित आभूषण पहनकर उन्हें जाना पड़ता है, यही काफी दुःखदायक है। धन, सत्ता और मान मनुष्यत्वसे क्या-क्या पाप और अनर्थ नहीं कराते?

: १७ :

गोखलेके साथ एक मास—१

पहले ही दिन गोखलेने मुझे मेहमान समझने दिया, मुझे अपने छोटे भाईकी तरह रखा। मेरी तमाम जरूरते मालूम कर ली और उनका प्रबंध कर दिया। खुश-किस्मतीसे मेरी जरूरते बहुत कम थी। सब काम खुद कर लेनेकी आदत डाल ली थी, इसलिए औरोंसे मुझे बहुत ही कम काम कराना पड़ता था। स्वावलंबनकी मेरी इस आदतकी, उस समयके मेरे कपड़े-लत्तेकी सुघड़ताकी, मेरी उद्योगशीलता और नियमितताकी बड़ी गहरी छाप उनपर पड़ी और वे उसकी इतनी स्तुति करने लगे कि मैं परेशान हो जाता।

मुझे यह न मालूम हुआ कि उनकी कोई बात मुझसे गुप्त थी। जो कोई बडे आदमी उनसे मिलने आते उनका परिचय वह मुझसे कराते थे। इन परिचयोंमें जो आज सबसे प्रधानरूपसे मेरी नजरोंके सामने तैर हो जाते हैं वह हैं डा० प्रफुल्लचन्द्र राय। वह गोखलेके मकानके पास ही रहते थे और प्रायः हमेशा आया करते थे।

"यह हैं प्रोफेसर राय, जो ८००) मासिक पाते हैं, पर अपने खर्चके लिए सिर्फ ४०) लेकर बाकी सब लोक-सेवामें लगा देते हैं। इन्होंने शादी नहीं की, न करना ही चाहते हैं।" इन शब्दोंमें गोखलेने मुझे उनका परिचय कराया।

आजके डा० रायमें और उस समयके प्रो० रायमें मुझे थोड़ा ही भेद दिखाई देता है। जैसे कपड़े उस समय पहनते थे आज भी लगभग वैसे ही पहनते हैं। हां,अब खादी आ गई है। उस समय खादी तो थी ही नहीं। स्वदेशी मिलोंके कपड़े होंगे। गोखले और प्रो० रायकी बातें सुनते हुए मैं न अघाता था, क्योंकि उनकी बातें या तो देश-हितके संबंध-में होती या होती ज्ञान-चर्चा। कितनी ही बातें दुःखद भी होतीं क्योंकि उनमें नेताओंकी आलोचना भी होती थी। जिन्हें मैं महान् योद्धा मानना सीखा था, वे छोटे दिखाई देने लगे।

गोखलेकी काम करनेकी पद्धतिसे मुझ जितना आनंद हुआ उतना ही बहुत कुछ सीखा भी। वह अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देते थे। मैंने देखा कि उनके तमाम संबंध देश-कार्यके ही लिए होते थे। बातें भी तमाम देश-कार्यके ही निमित्त होती थी। बातोंमें कहीं भी मलिनता दंभ या असत्य न दिखाई दिया। हिंदुस्तानकी गरीबी और पराधीनता उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग उन्हें अनेक बातोंमें दिलचस्पी कराने आते। वे उन्हें एक ही उत्तर देते—"आप इस कामको कीजिए, मुझे अपना काम करने दीजिए, मुझे देशकी स्वाधीनता प्राप्त करनी है। उसके बाद मुझे दूसरी बातें सूझेंगी। अभी तो इस कामसे मुझे एक क्षण फुरसत नहीं रहती!"

रानडेके प्रति उनका पूज्य भाव बात-बातमे टपका पड़ता था। 'रानडे ऐसा कहते थे', यह तो उनकी बातचीतका मानो 'सूत-उवाच' ही था। मेरे वहां रहते हुए रानडेकी जयंती (या पुण्यतिथि, अब ठीक याद नही है) पड़ती थी। ऐसा जान पड़ा, मानो गोखले सर्वदा उसको मनाते हों। उस समय मेरे अलावा उनके मित्र प्रोफेसर काथवटे तथा दूसरे एक सज्जन थे। उन्हें उन्होंने जयंती मनानेके लिए निमंत्रित किया और उस अवसरपर उन्होंने हमे रानडेके कितने ही सस्मरण कह सुनाये। रानडे, तैलंग और मांडलिककी तुलना की। ऐसा याद पड़ता है कि तैलगकी भाषाकी स्तुति की थी। मांडलिककी सुधारकके रूपमे प्रशसा का थी। अपने मुवक्किलोंकी वह कितना चिता रखते थे, इनका एक उदाहरण दिया। एक बार गाड़ी चूक गई, तो मांडलिक स्पेशल ट्रेन करके गये। यह घटना कह सुनाई। रानडेका सर्वाङ्गीण शक्तिका वर्णन करके बताया कि वह तत्कालीन अग्रणियोंमे सर्वोपरि थे। रानडे अकेले न्यायमूर्ति न थे। वह इतिहासकार थे, अर्थ-शास्त्री थे। सरकारी जज होते हुए भी कांग्रेसमें प्रेक्षकके रूपमे निर्भय होकर आते फिर उनकी समझदारीपर लोगोका इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयोंको मानते थे। इन बातोंका वर्णन करते हुए गोखलेके हर्षका ठिकाना न रहता था।

गोखले घोड़ा-गाड़ी रखते थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मै उनका कठिनाइयां न समझ सका था। "क्या आप सब जगह ट्राममें नहीं जा सकते ? क्या इससे नेताओंकी प्रतिष्ठा कम हो जायगी ?"

कुछ दुःखित होकर उन्होंने उत्तर दिया—"क्या तुम भी मुझे न पहचान सके ? बड़ी धारा-सभासे जो कुछ मुझे मिलता है उसे मै अपने काममें नही लेता। तुम्हारी ट्रामके सफ़रपर मुझे ईर्ष्या होती है। पर मैं ऐसा नही कर सकता। जब तुमको मेरे जितने लोग पहचानने लग जावेंगे तब तुम्हें भी ट्राममें बैठना असंभव नहीं तो मुश्किल हो जायगा। नेता लोग जो कुछ करते हैं, केवल आमोद-प्रमोदके ही लिए करते हैं, यह माननेको कोई कारण नहीं। तुम्हारा सादगा मुझे पसंद है। मैं भरसक सादगीसे

रहता हूं। पर यह बात निश्चित समझना कि कुछ खर्च तो मुझ जैसोंके लिए अनिवार्य हो जाता है।"

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक तरहसे रद्द हो गई; पर मुझे एक दूसरी शिकायत भी थी और उसका वह संतोष-जनक उत्तर न दे सके।

"पर आप घूमने भी तो पूरे नहीं जाते। ऐसी हालतमें आप बीमार क्यों न रहें? क्या देश-कार्यसे व्यायामके लिए फुरसत नहीं मिल सकती?" मैंने कहा।

"मुझे तुम कब फुरसतमें देखते हो कि जिस समय मैं घूमने जाता?" उत्तर मिला।

गोखलेके प्रति मेरे मनमें इतना आदर-भाव था कि मैं उनकी बातोंका जवाब न देता था। इस उत्तरसे मुझे संतोष न हुआ, पर मैं चुप रहा। मैं मानता था और अब भी मानता हूं कि जिस तरह हम भोजन-पानके लिए समय निकालते हैं उसी तरह व्यायामके लिए भी निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र सम्मति है कि उससे देश-सेवा कम नहीं, अधिक होती है।

: १८ :

गोखलेके साथ एक मास—२

गोखलेकी छत्रच्छायामें रहकर यहां मैंने अपना सारा समय घरमें बैठकर नहीं बिताया।

मैंने अपने दक्षिण अफ्रिकावाले ईसाई-मित्रोंसे कहा था कि भारतमें मैं अपने देसी ईसाइयोंसे जरूर मिलूंगा और उनकी स्थितिको जानूंगा। कालीचरण बनर्जीका नाम मैंने सुना था। कांग्रेसमें वह आगे बढ़कर काम करते थे, इसलिए उनके प्रति मेरे मनमें आदर-भाव हो गया था। क्योंकि हिंदुस्तानी ईसाई आम तौरपर कांग्रेससे और हिंदुओं तथा मुसल-

मानोंसे अलग रहतेथे; इसलिए जो अविश्वास उनके प्रति था; वह कालीचरण वनर्जीके प्रति न दिखाई दिया। मैंने गोखलेसे कहा कि मैं उनसे मिलना चाहता हूं। उन्होंने कहा—"वहां जाकर तुम क्या करोगे ? वह हैं तो बहुत भले आदमी; परंतु मैं समझता हूं कि उनसे मिलकर तुम्हें संतोष न होगा। मैं उनको खूब जानता हूँ। फिर भी तुम जाना चाहो तो खुशीसे जा सकते हो।"

मैंने कालीबाबूसे मिलनेका समय मांगा। उन्होंने तुरंत समय दिया और मैं मिलने गया। घरमें उनकी धर्मपत्नी मृत्यु-शय्यापर पड़ी हुई थी। वहाँ सर्वत्र सादगी फैली हुई थी। काँग्रेसमें वह कोट-पतलून पहने हुए थे, पर घरमें बंगाली धोती व कुरता पहने हुए देखा। यह सादगी मुझे भाई। उस समय यद्यपि मैं पारसी कोट-पतलून पहने हुए था; तथापि उनकी पोशाक और सादगी मुझे बहुत ही प्रिय लगी। मैंने और बातोंमें उनका समय न लेकर अपनी उलझन उनके सामने पेश की।

उन्होंने मुझसे पूछा, "आप यह बात मानते हैं या नहीं कि हम अपने पापोंको साथ लेकर जन्म पाते हैं ?"

मैंने उत्तर दिया—"हाँ, जरूर।"

"तो इस मूल पापके निवारणका उपाय हिंदू-धर्ममें नहीं, ईसाई-धर्ममें है।"

यह कहकर उन्होंने कहा—"पापका बदला है मौत। बाइबिल कहती है कि इस मौतसे बचनेका मार्ग है ईसाकी शरणमें जाना।"

मैंने भगवद्गीताका भक्ति-मार्ग उनके सामने उपस्थित किया, परन्तु मेरा यह उद्योग निरर्थक था। मैंने उनकी सज्जनताके लिए उनको धन्यवाद दिया। मुझे संतोष तो न हुआ, फिर भी इस मुलाकातसे लाभ ही हुआ।

इसी महीनेमें मैंने कलकत्तेकी एक-एक गलीकी खाक छान डाली। प्रायः पैदल ही जाता था। इसी समय मैं न्यायमूर्ति मित्रसे मिला। सर गुरुदास बनर्जीसे भी मिला। इन सज्जनोंकी सहायता दक्षिण अफ्रिकाके

कामके लिए आवश्यक थी। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जीके दर्शन भी इसी समय हुए।

कालीचरण बनर्जीने मुझसे काली-मंदिरका जिक्र किया था। उसे देखनेकी मुझे प्रबल इच्छा थी। एक पुस्तकमें मैंने वहाँका वर्णन भी पढ़ा। सो एक दिन वहाँ चला गया। न्यायमूर्ति मित्रका मकान उसी मुहल्लेमें था। इसलिए मैं जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन काली-मंदिर गया। रास्तेमें बलिदानके बकरोंकी कतार जाती हुई देखी। मंदिरकी गलीमें पहुंचते ही भिखारियोंकी भीड़ दिखाई दी। बाबा-बैरागी तो थे ही। उस समय भी मेरा यह नियम था कि हट्टे-कट्टे भिखारीको कुछ न दिया जाय, पर भिखारी तो बहुत ही पीछे पड़ गये थे।

एक बाबाजी एक चौंतरेपर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाया, "क्यों बेटा, कहाँ जाते हो?" मैंने यथोचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे तथा मेरे साथीको बैठनेके लिए कहा। हम बैठ गये।

मैंने पूछा—"इन बकरोंके बलिदानको आप धर्म समझते हैं?"

उन्होंने कहा—"जीव-हत्याको धर्म कौन मानेगा?"

"तो आप यहाँ बैठे-बैठे लोगोंका उपदेश क्यों नहीं देते?"

"यह हमारा काम नहीं। हम तो यहाँ बैठकर भगवद्-भक्ति करते हैं।

"पर आपको भक्तिके लिए यही स्थान मिला, दूसरा नहीं?"

"कहीं भी बैठें हमारे लिए सब जगह एक-सी है। लोगोंको क्या, वे तो भेड़-बकरीके झुंडकी तरह हैं, जिधर बड़े हाँकें, उधर चले जायं। हम साधुओंको इससे क्या मतलब?" बाबाजी बोले!

मैंने संवाद आगे न बढ़ाया। इसके बाद हम मंदिरमें पहुंचे। सामने लहूकी नदी बह रही थी। दर्शन करनेके लिए खड़े होनेकी इच्छा न रही। मेरे मनमें क्षोभ उत्पन्न हुआ। मैं छटपटाने लगा। इस दृश्यको मैं अब तक नहीं भूल सकता हूं।

इसी समय बंगाली मित्रोंकी एक पार्टीमें मुझे निमंत्रण था। वहाँ मैंने एक सज्जनसे इस घातक पूजा-विधिके संबंधमें बातचीत की। उन्होंने

कहा-"वहां बलिदानके समय खूब नौबत बजती है, जिसकी गूंजमें बकरोंको कुछ मालूम नहीं होता। यह मानते हैं कि ऐसी गूंजमें चाहे जिस तरह मारे, उन्हें तकलीफ नहीं होती।"

मुझे यह बात न जंची। मैंने कहा—"यदि वे बकरे बोल सकें तो इससे भिन्न बात कहेंगे।" मेरे मनने कहा—यह घातक रिवाज बंद होना चाहिए। मुझे बुद्धदेववाली कथा याद आई, परंतु मैंने देखा कि यह काम मेरे सामर्थ्यके बाहर था।

उस समय इस संबंधमें मेरी जो धारणा हुई वह अब भी मौजूद है। मेरे नजदीक बकरेके प्राणकी कीमत मनुष्यके प्राणसे कम नहीं है। मनुष्य-देहको कायम रखनेके लिए बकरेका खून करनेको मैं कभी तैयार न होऊंगा। मैं मानता हूं कि जो प्राणी जितना अधिक असहाय होगा, वह मनुष्यकी घातकतासे बचनेके लिए मनुष्यके आश्रयका उतना ही अधिक अधिकारी है। परंतु इसके लिए काफी योग्यता का अधिकार प्राप्त किये बिना मनुष्य आश्रय देनेमे समर्थ नही हो सकता। बकरोंको इस क्रूर होमसे बचानेके लिए मुझे जो है उससे बहुत अधिक आत्म-शुद्धि और त्यागकी आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तो इस शुद्धि और त्यागकी रटन करते-करते ही मुझे यह देह छोड़नी पड़ेगी। परमात्मा करे ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष अथवा कोई तेजस्वी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातकसे मनुष्यको बचाये, निर्दोष जीवोंकी रक्षा करे और मंदिरको शुद्ध करे। मैं निरंतर यह प्रार्थना किया करता हूँ। ज्ञानी, बुद्धिमान्, त्याग-वृत्ति और भावना-प्रधान बंगाल क्योंकर इस वधको सहन कर रहा है?

: १६ :

गोखलेके साथ एक मास—२

काली-माताके निमित्त यह जो विकराल यज्ञ हो रहा है, उसको देखकर बंगाली-जीवनका अध्ययन करनेकी मेरी इच्छा तीव्र हुई। उसमें ब्रह्म-समाजके विषयमें तो मैंने ठीक तौर पर साहित्य पढ़ा था और सुना भी था। प्रतापचंद्र मजूमदारके जीवन-वृत्तांतसे मैं थोड़ा-बहुत परिचित था। उनके व्याख्यान सुने थे। उनका लिखा केशवचंद्र सेनका जीवन-चरित्र लेकर बड़े चावसे पढ़ा और साधारण ब्रह्मसमाज तथा आदि ब्रह्म-समाजका भेद मालूम किया। पंडित शिवनाथ शास्त्रीके दर्शन किये। महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुरके दर्शन करने प्रो० काथवटे और मैं गये। पर उस समय वह किसीसे मिलते-जुलते न थे। अतएव हम उनके दर्शन न कर सके। उनके यहां ब्रह्म-समाजका उत्सव था। उसमें हम भी निमंत्रित किये गये थे। वहां ऊंचे दर्जेका बंगाली संगीत सुना। तभी से बंगाली संगीतसे मेरा अनुराग हो गया।

ब्रह्म-समाजका, जितना हो सकता था, अध्ययन करनेके बाद भला यह कैसे हो सकता था कि स्वामी विवेकानंदके दर्शन न करता? बड़ी उत्सुकताके साथ मैं बेलूर-मठ तक लगभग पैदल गया। कितना पैदल चलना था, यह अब याद नहीं पड़ता है। मठका एकांत स्थान मुझे बड़ा सुहावना मालूम हुआ। वहां जानेपर मालूम हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं, उनसे मुलाकात नहीं हो सकती, और वह अपने कलकत्तेवाले घरमें हैं। यह समाचार सुनकर मैं निराश हुआ। भगिनी निवेदिताके घरका पता पूछा चौरंगीके एक महलमें उनके दर्शन हुए। उनकी शानको देखकर मैं भौंचक्का रह गया। बातचीतमें भी हमारी पटरी ज्यादा न बैठी। मैंने गोखलेसे इसका जिक्र किया तो उन्होंने कहा—"वह देवी बड़ी तेज है, तुम्हारी उनकी पटरी बैठनी मुश्किल है।"

एक बार और उनसे मेरी भेंट पेस्तनजी पादशाहके यहाँ हुई थी। जिस समय में वहाँ पहुंचा, वह पेस्तनजीकी वृद्धा माताको उपदेश दे रही थी, इसलिए में अनायास उनका दुभाषिया बन गया। यद्यपि भगिनीका और मेरा मेल न बैठता था, तथापि में इतना अवश्य देख सका कि हिंदू-धर्मके प्रति उनका प्रेम अगाध है। उनकी पुस्तकें मैंने बाद को पढ़ी।

अपने दैनिक कार्यक्रमके मैंने दो विभाग किये थे। आधा दिन दक्षिण अफ्रिकाके कामके सिलसिलेमे कलकत्तेके नेताओं से मिलने में बिताता और आधा दिन कलकत्ते की धार्मिक तथा दूसरी सार्वजनिक संस्थाओंको देखनेमें। एक दिन मैंने डा० मल्लिककी अध्यक्षतामें एक व्याख्यान दिया। उसमें मैंने यह बताया कि बोअर-युद्धके समय हिंदुस्तानियोंके परिचारक-दलने क्या काम किया था। 'इंग्लिशमैन'के साथ जो मेरा परिचय था, वह इस समय भी सहायक साबित हुआ। मि० सांडर्सका स्वास्थ्य इन दिनों खराब रहता था, फिर भी १८९६की तरह इस समय भी उनसे मुझे उतनी ही मदद मिली। मेरा यह भाषण गोखलेको पसंद आया और जब डा० रायने मेरे व्याख्यानकी तारीफ उनसे की तो उसे सुनकर वह बड़े प्रसन्न हुए थे।

इस तरह गोखलेकी छत्रच्छाया रहनेके कारण बंगालमें मेरा काम बहुत सरल हो गया। बंगालके अग्रगण्य परिवारोंमे मेरा परिचय आसानीसे हो गया, और बंगालके साथ मेरा निकट संबंध हुआ। इस चिरस्मरणीय महीनेके कितने संस्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेगे। उसी महीनेमें ब्रह्मदेशमे भी गोता लगा आया था। वहाँके फुंगियोसे मिला। उनके आलस्यको देखकर बड़ा दुःख हुआ। सुवर्ण पेगौड़के भी दर्शन किये। मंदिरमे असंख्य छोटी-छोटी मोमबत्तियाँ जल रही थी, वे कुछ जंची नहीं। मंदिरके गर्भ-गृहमें चूहोंको दौड़ते हुए देखकर स्वामी दयानंदका अनुभव याद आया। ब्रह्मदेशकी महिलाओंकी स्वतंत्रता और उत्साहको देखकर मुग्ध हो गया और पुरुषोंकी मंदता देखकर दुःख हुआ। उस समय मैंने देख लिया कि जैसे बंबई हिंदुस्तान नही, उसी तरह रंगून ब्रह्मदेश नही है;

और जिस प्रकार हिंदुस्तानमें हम अंग्रेज व्यापारियोंके कमीशन-एजेंट बन गये है, उसी तरह ब्रह्मदेशमें अंग्रेजोंके साथ मिलकर हमने ब्रह्मदेश-वासियोंको कमीशन-एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेशसे लौटकर मैंने गोखलेसे विदा मांगी। उनका वियोग मेरे लिए दुःसह था; परंतु मेरा बंगालका, अथवा सच पूछिए तो यहाँ कलकत्ते-का काम समाप्त हो गया था।

मेरा विचार था कि काममे लगनेसे पहले मै थोड़ा बहुत सफर तीसरे दर्जेमें करूं, जिससे तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंकी हालत मैं जान लूं और दुःखोंको समझ लू। गोखलेके सामने मैंने अपना यह विचार रखा। पहले-पहल तो उन्होंने इसे हमीमे टाल दिया, पर जब मैंने यह बताया कि इसमें मैंने क्या-क्या बाते सोच रखी है, तब उन्होंने खुशीसे मेरी योजनाको स्वीकार किया। सबसे पहले मैंने काशी जाकर विदुषी ऐनी बेसेंटके दर्शन करना तै किया। वह उस समय बीमार थीं।

तीसरे दर्जेकी यात्राके लिए मुझे नया साज-सामान जुटाना था। पीतलका एक डिब्बा गोखलेने खुद ही दिया और उसमे मेरे लिए मगदके लड्डू और पूरी रखवा दी। बारह आनेका एक केनवासका बैग खरीदा। छाया (पोरबंदरके नजदीकके एक गाँव) के ऊनका एक लंबा कोट बनवाया था। बैगमें यह कोट, तौलिया, कुरते और धोती रखे। ओढ़नेके लिए एक कंबल साथ लिया। इसके अलावा एक लोटा भी साथ रखा था। इतना सामान लेकर मैं रवाना हुआ।

गोखले और डा० राय मुझे स्टेशन पहुंचाने आये। मैंने दोनोंसे अनुरोध किया था कि वे न आवे; पर उन्होने एक न सुनी। "तुम यदि पहले दर्जेमें सफर करते तो मैं नही आता, पर अब तो जरूर चलूंगा"—गोखले बोले।

प्लेटफार्मपर जाते हुए गोखलेको तो किसी ने न रोका। उन्होंने सिरपर अपनी रेशमी पगड़ी बांधी थी और धोती तथा कोट पहना था। डा० राय बंगाली लिबासमें थे, इसलिए टिकट बाबूने अंदर आते हुए

पहले तो रोका, पर गोखले ने कहा, 'मेरे मित्र हैं।' तब डा० राय भी अंदर आ सके। इस तरह दोनों ने मुझे बिदा दी।

: २० :

काशीमें

यह सफर कलकत्तेसे राजकोट तकका था। इसमें काशी, आगरा, जयपुर और पालनपुर होते हुए राजकोट जाना था। इन स्थानोंको देख लेनेके सिवाय अधिक समय नही दे सकता था। हरएक जगह मे एक-एक दिन रहा। पालनपुरको छोड़कर और सब जगहमें यात्रियों की तरह धर्मशालामें या पंडोंके मकान पर ठहरा था। जहांतक मुझे याद है, इस यात्रामे रेल-किराय सहित इकत्तीस रुपये लगे थे। तीसरे दर्जेमें प्रवास करते हुए भी मैं अक्सर डाकगाड़ीमे नही जाता था, क्योंकि मैं जानता था कि उसमें भीड़ ज्यादा होती है और तीसरे दर्जेके कियायेके हिसाबसे वहाँ पैसे भी अधिक देने पड़ते थे। मेरे लिए यह अड़चन भी थी ही।

तीसरे दर्जेके डिब्बोंमें जो गंदगी और पाखानोंकी बुरी हालत इस समय है, वही पहले भी थी। शायद इन दिनो कुछ सुधार होगया हो, पर तीसरे और पहले दर्जेकी सुविधाओं में जो अंतर है वह इन दर्जोंके कियायेके अंतरकी अपेक्षा बहुत अधिक मालूम हुआ। तीसरे दर्जेके यात्री तो माना भेड़-बकरी होते है और उनके बैठनेके डिब्बे भी भेंड़-बकरियों लायक होते है। यूरोपमे तो मैने अपनी सारी यात्रा तीसरे दर्जेमे ही की थी, केवल अनुभवके लिए एक बार मै पहले दर्जेमें बैठा था, पर वहाँ मुझे पहले और तीसरे दर्जेके बीच यहां का-सा अंतर न दिखाई दिया। दक्षिण अफ्रिकामे तो तीसरे दर्जेके डिब्बोंके मुसाफिर प्रायः हबशी

लोग होते हैं, पर फिर भी वहांके तीसरे दर्जेके डिब्बोंमे अधिक सुविधा रहती है। कहीं-कहीं तो मुसाफिरोंके लिए तीसरे दर्जेके डिब्बोंमें सोनेका भी प्रबंध है, और बैठकोंपर गद्दी भी लगी रहती है। प्रत्येक खानेमें बैठनेवाले यात्रियोंकी संख्याकी मर्यादाका पालन किया जाता है, पर यहां तो मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि यात्रियोंकी संख्याकी इस मर्यादा-का पालन किया जाता हो।

रेलवे विभागकी इन असुविधाओंके अलावा यात्रियोंकी खराब आदतें सुघड़ यात्रियोंके लिए तीसरे दर्जेकी यात्राको दंड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहां थूक दिया, जहां चाहा कचरा फेंक दिया, जब जी में आया और जिस तरह चाहा बीड़ी फूंकने लगे, पान और जरदा चबाकर जहां बैठे हों वहीं पिचकारी लगा दी, जूठन वहीं फर्शपर डाल दी, जोर-जोरसे बातें करना, पास बैठे मनुष्यकी परवा न करना, और गंदी भाषा वगैरा, यह तीसरे दर्जेका आम अनुभव है।

तीसरे दर्जेकी मेरी १९२० ई० की यात्राके अनुभवमें और १९१५ से १९१९ तकके दूसरी बारके अखंड अनुभवमें मुझे कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। इस महाव्याधिका तो मुझे एक ही उपाय दिखाई देता है, वह यही कि शिक्षित समाज तीसरे दर्जेमें ही यात्रा करके इन लोगोंकी आदतें सुधारने का यत्न करे। इसके सिवा रेलवेके अधिकारियोंको शिकायतें कर-करके तंग कर डालना, अपने लिए सुविधा प्राप्त करने या सुविधाकी रक्षाके लिए किसी प्रकार की रिश्वत न देना और खिलाफ-कानून बातको बर्दाश्त न करना—ये भी उपाय हैं। मेरा अनुभव है कि ऐसा करनेसे बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। अपनी बीमारीके कारण १९२० ई०से मुझे तीसरे दर्जेकी यात्रा प्रायः बंद करनी पड़ी है। इसपर मुझे सर्वदा दुःख और लज्जा मालूम होती रहती हैं। यह तीसरे दर्जेकी यात्रा मुझे ऐसे समयपर बंद करनी पड़ी, जबकि तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी कठिनाइयां दूर करनेका काम रास्ते पर आता जाता था। रेलवे, और जहाजमें यात्रा करनेवाले गरीबोंको जो कष्ट और असुविधायें होती हैं, और

जो उनकी निजी कुटेवोंके कारण और भी अधिक हो जाती है, साथ ही सरकारकी ओरसे विदेशी व्यापारियोंके लिए अनुचित सुविधायें की जाती हैं, इत्यादि बातें हमारे सार्वजनिक जीवनमें एक स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन बैठी है, और इसे हल करनेके लिए यदि एक-दो सुदक्ष और उद्योगी सज्जन अपना सारा समय दे डालें तो वह अधिक नहीं होगा।

अब तीसरे दर्जेकी यात्राकी चर्चा यहीं छोड़कर काशीके अनुभव सुनिए। सुबह मैं काशी उतरा। मैं किसी पंडेके यहां उतरना चाहता था। कई ब्राह्मणोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। उनमेंसे जो मुझे साफ-सुथरा दिखाई दिया, उसके घर जाना मैंने पसंद किया। मेरी पसंदगी ठीक भी निकली। ब्राह्मणके आंगनमें गाय बंधी थी। घर दुमंजिला था। ऊपर मुझे ठहराया। मैं यथाविधि गंगा-स्नान करना चाहता था और तबतक निराहार रहना था पंडेने सारी तैयारी कर दी। मैंने पहलेसे कह रखा था कि १।)से अधिक दक्षिणा मैं नहीं दे सकगा, इसलिए उसी योग्य तैयारी करना। पंडेने बिना किसी झगड़ेके मेरी बात मान ली। कहा—"हम तो क्या गरीब और क्या अमीर,सबसे एकही-सी पूजा करवाते हैं। यजमान अपनी इच्छा और श्रद्धाके अनुसार जो दे दे, वही सही।" मुझे ऐसा नही मालूम कि पंडेने पूजामें कोई कोर-कसर रखी हो। बारह बजे तक पूजा-स्नानसे निवृत्त होकर मै काशी विश्वनाथके दर्शन करने गया, पर वहां जो कुछ देखा उससे मनमें बड़ा दुःख हुआ।

सन् १८९१ ई०में जब मै बंबईमे वकालत करता था, एक दिन प्रार्थना-समाज-मंदिरमे 'काशा-यात्रा' पर एक व्याख्यान सुना था। इससे कुछ निराशाके लिए तो वहीसे तैयार हो गया था; पर प्रत्यक्ष देखनेपर जो निराशा हुई वह तो धारणासे अधिक थी। एक संकड़ी फिसलनी गलीसे होकर जाना पड़ता था। शांतिका कहीं नाम नही। मक्खियां चारों ओर भिनभिना रही थी। यात्रियों और दुकानदारोंका हो-हल्ला असह्य मालूम हुआ।

जहां मनुष्य ध्यान एवं भगवच्चिंतनकी आशा रखता हो, वहां उनका नामोनिशान नहीं; ध्यान करना हो तो वह अपने अंतरमें ही कर सकते थे। हां, ऐसी भावुक बहनें मैंने जरूर देखी, जो ऐसी ध्यान-मग्न थीं कि उन्हें अपने आस-पासकी कुछ भी खबर न थी; पर इसका श्रेय मंदिरके संचालकोंको नहीं मिल सकता। संचालकोंका कर्त्तव्य तो यह है कि काशी विश्वनाथके आस-पास शांत, निर्मल, सुगंधित, स्वच्छ वातावरण—क्या बाह्य और क्या आन्तरिक—उत्पन्न करें, और उसे बनाए रखें; पर इसकी जगह मैंनें देखा कि वहां गुंडे लोगोंका, नये-से-नये तर्जकी मिठाई और खिलौनोंका बाजार लगा हुआ था।

मंदिरपर पहुंचते ही मैंने देखा कि दरवाजेके सामने सड़े हुए फूल पड़े थे और उनमेंसे दुर्गंध निकल रही थी। अन्दर बढ़िया संगमरमरी फर्श था। उस पर किसी अंध-श्रद्धालुने रुपये जड़ रखे थे, और उनमें मैला-कचरा घुसा रहता था।

मैं ज्ञान-व्यापीके पास गया। यहां मैंने ईश्वरकी खोज की। पर मुझे न मिला। इससे मैं मन-ही-मन घुट रहा था। ज्ञान-व्यापीके पास भी गंदगी देखी। भेंट रखनेकी मेरी जरा भी इच्छा न हुई, इसलिए मैंने तो सचमुच ही एक पाई वहां पर चढ़ाई। इसपर पंडाजी उखड़ पड़े! उन्होंने पाई उठाकर फेंक दी और दो-चार गालियां सुनाकर बोले—"तू इस तरह अपमान करेगा तो नरकम पड़ेगा!"

मै चुप रहा। मैंने कहा—"महाराज, मेरा तो, जो होना होगा वह होगा; पर आपके मुँहसे हलकी बात शोभा नहीं देती। यह पाई लेना हो तो लें, वर्ना इसे भी गंवायेंगे।"

"जा, तेरी पाई मुझे नहीं चाहिए"—कहकर उन्होंने और भी भला-बुरा कहा। मै पाई लेकर चलता हुआ। मैंने सोचा कि महाराजने पाई गंवाई और मैंने बचा ली। पर महाराज पाई खोनेवाले न थे। उन्होंने मुझे फिर बुलाया और कहा—"अच्छा रख दे' मै तेरे जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूं तो तेरा बुरा होगा।"

मैंने चुपचाप पाई दे दी और एक लंबी सांस लेकर चलता बना। इसके बाद भी दो-एक बार काशी-विश्वनाथ गया; पर वह तो तब, जब 'महात्मा' बन चुका था। इसलिए १९०२के अनुभव भला कैसे मिलते? खुद मेरे ही दर्शन करने वाले मुझे दर्शन कहांसे करने देते? महात्मा, के दुख तो मुझे-जैसे 'महात्मा' ही जान सकते है; किन्तु गंदगी और हो-हल्ला तो जैसे-के-तैसे ही वहाँ देखे।

परमात्माकी दया पर जिसे शंका हो, वह ऐसे तीर्थ-क्षेत्रोंको देखे। वह महायोगी अपने नामपर होनेवाले कितने ढोंग, अधर्म और पाखंड इत्यादि को सहन करते हैं। उन्होंने तो कह रखा है—

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात्, "जैसी करनी वैसी भरनी।" कर्मको कौन मिथ्या कर सकता है? फिर भगवान्‌को बीचमें पड़नेकी क्या जरूरत है? वह तो अपने कानून बतलाकर अलग हो गया।

यह अनुभव लेकर में मिसेज बेसेंटके दर्शन करने गया। वह अभी बीमारीसे उठी थी। यह मैं जानता था। मैंने अपना नाम पहुंचाया। वह तुरंत मिलने आईं। मुझे तो सिर्फ दर्शन ही करने थे। इसलिए मैंने कहा—

मुझे आपकी नाजुक तबियतका हाल मालूम है, मैं तो सिर्फ आपके दर्शन करने आया हूं। तबियत खराब होते हुए भी आपने मुझे दर्शन दिये, केवल इसीसे मैं संतुष्ट हूं; अधिक कष्ट मैं आपको नही देना चाहता।

यह कहकर मैंने उनसे बिदा ली।

: २१ :

बम्बईमें स्थिर हुआ

गोखलेकी बड़ी इच्छा थी कि मै बंबई रह जाऊँ, वहीं बैरिस्टरी करूँ और उनके साथ सार्वजनिक जीवनमे भाग लू। उस समय सार्वजनिक जीवनका मतलब था कांग्रेसका काम। उनकी प्रस्थापित संस्थाका खास काम कांग्रेसके तंत्रका संचालन था।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर यहाँ काम मिल जानेके विषयमें मुझे आत्म-विश्वास न था। पहले अनुभवकी याद भूला न था और खुशामद करना तो मानो जहर था।

इसलिए पहले तो मै राजकोट ही रहा। वहां मेरे पुराने हितैषी और मुझे विलायत भेजनेवाले केवलराम मावजी दवे थे। उन्होंने मुझे तीन मुकदमे दिये। दो अपीलें काठियावाड़के जुडीशियल असिस्टेंटके इजलास में थी और एक खास मुकदमा जामनगरमें था। यह मामला महत्त्वका था। इस मामलेकी जिम्मेदारी लेनेमें मैंने आनाकानी की, तब केवलराम बोल उठे—"हारेंगे तो हम हारेंगे ? तुमसे जितना हो सके करना; और मैंभी तुम्हारे साथ ही रहूंगा!"

इस मामलेमे प्रतिपक्षीकी तरफ स्व०समर्थ थें। मेरी तैयारी भी ठीक थी। यहांके कानूनकी तो मुझें ठीक जानकारी न थी, पर इस संबंधमें मुझें केवलराम दवेनें पूरा तैयार कर दिया था। दक्षिण-अफ्रिका जानेंके पहले मित्र लोग मुझें कहा करतें थें—"एविडेंस-एक्ट (कानून गवाह) फिरोजशाहकी जबानपर रखा है, और यही उनकी सफलताकी चाबी है।" यह मैंने ध्यानमें रखा, और दक्षिण अफ्रिका जाते समय मैंने भारतके इस कानूनको टीका-सहित पढ़ लिया था। इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रिका-का अनुभव तो था ही।

मुकदमेमें मेरी जीत हुई। इससे मुझे कुछ विश्वास हुआ। पहली दो अपीलोंके विषयमें तो मुझे पहलेसे ही भय न था। मनमें सोचा, कि अब बंबई जानेमें भी कोई हर्ज नहीं है।

इस विषयपर अधिक लिखनेसे पहले जरा अंग्रेज अधिकारियोंके अविचार और अज्ञानको अनुभव भी कह डालूं। जुडीशियल असिस्टेंट कहीं एक जगह नहीं बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी; और जहां यह साहब जाते, वहीं वकील और मवक्किलोंको भी जाना ही पड़ता। और वकीलकी फीस जितनी उसके रहनेकी जगह पर बाहर उससे अधिक होती थी। इसलिए मवक्किलको सहज ही दुगना खर्च पड़ता; पर इसका विचार करनेकी जजको क्या जरूरत?

इस अपीलकी सुनवाई वेरावलमें होनेवाली थी। वेरावलमें उस वक्त प्लेग जोरोंसे फैल रहा था। जहांतक मुझे याद है, रोज ५० मृत्युएं होती थीं। वहांकी बस्ती ५,५००के लगभग थी। करीब-करीब सारा गांव खाली हो गया था। मेरे ठहरनका स्थान वहांकी निर्जन धर्मशालामें था। गांवसे वह धर्मशाला कुछ दूरी पर थी; पर मवक्किलोंका क्या हाल? यदि वे गरीब हों तो उनका मालिक बस ईश्वर ही समझिए!

मुझे वकाल मित्रोंने तार दिया कि मैं साहबसे प्रार्थना करूं कि प्लेगके कारण अदालतका स्थान बदल दे। प्रार्थना करने पर साहबने पूछा—"क्या तुम्हें प्लेगसे डर लगता है?"

मैंने कहा—"यह मेरे डरनेका प्रश्न नहीं है। मैं अपनी हिफाजत करना चाहता हूं; पर मवक्किलका क्या होगा?"

साहब बोले—प्लेगने तो हिंदुस्तानमें घर कर लिया है, उससे क्या डरना? वेरावलकी हवा कितनी सुंदर है! (साहब गांवसे दूर दरिया-किनारे महलके समान एक तंबूमे रहते थे।) लोगोंको इस प्रकार बाहर रहना सीखना चाहिए।"

इस फिलासफीके सामने मेरी क्या चलनें लगी? साहबने सरिश्ते-

दारसे कहा—"मि० गांधीका कहना ध्यानमें रखना। यदि वकील-मवक्किलोंको ज्यादा तकलीफ मालूम दे तो मुझे बताना।"

इसमें साहबने तो सचाईसे अपनी मतिके माफिक उचित ही किया; पर उसे कंगाल हिंदुस्तानकी असुविधाओंका अंदाज कैसे हो? वह बेचारा हिंदुस्तानकी आवश्यकताओं, आदतों, कुटेवों और रिवाजोंको क्या समझे? पंद्रह रुपयेकी मुहरकी गिनती करनेवाला पाईकी गिनती कैसे झट लगा सकता है? अच्छे-से-अच्छा हेतु होनेपर भी जैसे हाथी चींटीके लिए विचार करनेमें असमर्थ होता है उसी प्रकार हाथीके समान जरूरतवाला अंग्रेज भी चींटियोंके समान जरूरतवाले हिंदुस्तानीके लिए विचार करने और नियम-निर्माण करनेमें असमर्थ ही होगा।

अब खास विषय पर आता हूं। इस प्रकार सफलता मिलने पर भी मैं थोड़े समय राजकोटमें ही रहनेका विचार कर रहा था। इतनेमें एक दिन केवलराम मेरे पास आए और बोले—"अब तुमको यहां न रहने देंगे? तुम्हें तो बम्बईमें ही रहना पड़ेगा।"

पर वहां मेरी पूछही ज्यादा न होगी; क्या आप मेरा वहांका खर्च चलायेंगें?" मैंने कहा।

"हां हां, मै तुम्हारा खर्च चलाऊंगा, तुम्हें बड़े-बड़े बैरिस्टरोंकी तरह किसी वक्त यहां लाऊंगा और लिखने-लिखानेका काम तो तुम्हारे लिए वहीं भेज दिया करूंगा। बैरिस्टरों को छोटें-बड़े बनाने का कामतो हम वकीलोंका है न? तुमने जामनगर और वेरावलमें जैसा काम किया है उससे तुम्हारी नाप हो गई है और मै बेफ़िकर हो गया हूं। तुम जो लोक-सेवा करनेवाले के लिए पैदा हुए हो उसे हम यहां काठियावाड़में दफ़न नहीं होनें देंगें। बोलो कब जा रहे हो?"

"नेटालसे मेरे कुछ रूपये आनें बाकी हैं, उनके आने पर जाऊंगा।

दो एक सप्ताहमें रूपयें आ गए और मैं बंबई चला गया। वहां मैंने पेन गिल्बर्ट और सयानीके आफिसमें "चेंबर्स" किरायेपर लिय और ऐसा लगा मानों वहां स्थिर हो गया।

: २२ :

धर्म-संकट

आफिसके अलावा मैने गिरगांवमें घर भी लिया परंतु ईश्वरने मुझे स्थिर नही रहने दिया। घर लिए बहुत दिन नही हुए थे कि मेरा दूसरा लड़का सख्त बीमार हो गया। काल-ज्वरने उसे घेर लिया था। बुखार उतरता नही था। घबराहट तो थी ही, पर रातको सन्निपातके लक्षण भी दिखाई देने लगे। इस व्याधिसे पहले, बचपनमे उसे चेचकभी जोरकी निकल चुकी थी।

डाक्टरकी सलाह ली। डाक्टरने कहा—"इसके लिए दवाका उपयोग नही होसकता, अब तो इसे अंडे और मुर्गी का शोरवा देनेकी जरूरत है।"

मणिलाल की उम्र दस सालकी थी, अतः उससे तो क्या पूछना था? मै उसका पालक था अतः मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर एक भले पारसी थे। मैंने कहा—"डाक्टर, हम तो सब अन्नाहारी है। मेरा विचार तो लड़केको इन दोनोंमेसे एक भी वस्तु देनें का नहीं है दूसरी ही कोई वस्तु न बतलायेंगे ?"

डाक्टर बोले—"तुम्हारे लडकेकी जान खतरेमे है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा पोषण नही मिल सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिंदू परिवारोंमें जाया करता हूं, पर दवाके लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते है, और वे उसे लेते भी है। मै समझता हूं कि तुम भी अपने लड़केके साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।"

"आप जो कहते हैं, वह तो ठीकहै, और आपको ऐसा कहना ही चाहिए पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता तो जरूर उसकी इच्छा जाननें का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे

करने देता; पर यहां तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूं कि मनुष्यके धर्मकी कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो चाहे गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्यको मांसादि न खाना चाहिए। जीवनके साधनोंकी भी सीमा होती है। जीनेके लिए भी अमुक वस्तुओंको हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे और मेरे लोगोंको भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का उपयोग करनेसे रोकती है। इसलिए आप जिस खतरेको देखते हैं मुझे उसे उठाना होगा। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूं। आपका इलाज तो मैं नहीं करूंगा; पर मुझे इस बालककी नाड़ी और हृदयको देखना नही आता है। जल-चिकित्साकी मुझे थोड़ी जानकारी है। उन उपचारोंको मैं करना चाहता हूं; परंतु जो आप समय-समयपर मणिलाल की तबियत देखनेको आते रहें, और उसके शरीरमें होनेवाले फेर-फारोंसे मुझे परिचित करते रहेंगे, तो मैं आपका उपकार मानूंगा।

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयोंको समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलालको देखनेके लिए आना मंजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नही था तो भी डाक्टरके साथ जो मेरी बातचीत हुई थी वह मैंने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करनेको कहा।

"आप खुशीके साथ जल-चिकित्सा कीजिए। मै शोरवा नहीं पीऊंगा और न अंडे ही खाऊंगा।"

उसके इन वाक्योंसे मैं प्रसन्न हुआ, यद्यपि मै जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खानेको कहता तो वह खा भी लेता।

मै कूनेके उपचार जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवासका स्थान बड़ा है, यह मैं जानता था। कूनेकी पद्धतिके अनुसार मैंने मणिलालको कटि-स्नान कराना शुरू किया। तीन मिनटसे ज्यादा उसे टबमें नहीं रखता। तीन दिन तो सिर्फ नारंगीके रसमें पानी मिला-

कर देता रहा और उसीपर रखा ।

बुखार दूर नहीं होता था और रातको वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता था, बुखार १०४ डिग्री तक हो जाता था । मैं घबराया । यदि बालकको खो बैठा तो जगत्‌में लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े-भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टरोंको क्यों न बुला लूं? किसी वैद्यको क्यों न बुलाऊं? मां-बापको अपनी अधूरी अकल आजमानेका क्या हक है?

ऐसे विचार उठते । पर ये विचार भी उठते—"जीव ! जो तू अपने लिए करता है, वही यदि लड़केके लिए भी करे तो इससे परमेश्वर संतोष मानेंगे । तुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवापर नहीं । डाक्टर जीवन-दान तो देते नहीं । उनके भी तो आखिरमे प्रयोग ही है न । जीवनकी डोरी तो एक-मात्र ईश्वरके ही हाथमें है । ईश्वरका नाम ले और उसपर श्रद्धा रख और अपने मार्गको न छोड़ ।"

मनमें इसतरह उथल-पुथल मचती रही । रात हुई । मै मणिलालको अपने पास लेकर सोया हुआ था । मैंने निश्चय किया कि उसे भीगी चादरकी पट्टीमें रखा जाय । मै उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानीमें उसे डुबोया और निचोड़कर उसमे पैरसे लेकर सिरतक लपेट दिया, और ऊपरसे दो कंबल ओढ़ा दिये; सिरपर भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया । शरीर तवेकी तरह तप रहा था, व बिलकुल सूखा था, पसीना तो आता ही न था ।

मै खूब थक गया था । मणिलालको उसकी मांको सौंपकर मैं आध घंटेके लिए खुली हवामें ताजगी और शांति प्राप्त करनेके इरादेसे चौपाटीकी तरफ गया । रातके दस बजे होंगे । मनुष्योंकी आमद-रफ्त कम हो गई थी; पर मुझे इसका ख्याल न था । विचार-सागरमें गोते लगा रहा था—"हे ईश्वर ! इस धर्म-संकटमें तू मेरी लाज रखना ।" मुंहसे 'राम-राम' का रटन तो चल ही रहा था । कुछ देरके बाद मै वापस लौटा ! मेरा कलेजा धड़करहा था । घरमें घुसते ही मणिलालने आवाज दी—"बापू ! आ गये?"

"हां भाई।"

"मुझे इसमेंसे निकालिए न ! मै तो मारे आगके मरा जा रहा हूं।"

"क्यों पसीना छूट रहा है क्या ?"

"अजा मैं तो पसीनेसे तर हो गया। अब तो मुझे निकालिए।"

मैंने मणिलालका सिर देखा। उसपर मोतीकी तरह पसीनेकी बूंदें चमक रही थीं। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वरको धन्यवाद दिया।

"मणिलाल, घबड़ा मत। अब तेरा बुखार चला जायगा; पर कुछ और पसीना आ जाय तो कैसा?" मैनें उससे कहा।

उसने कहा—"नहीं बापू ! अब तो मुझे छुड़ाइए। फिर देखा जायगा।"

मुझे धैर्य आगया था, इसलिए बातोंमें कुछ मिनट गुजार दिये। सिरसे पसीनेकी धारा बह चली। मैंने चद्दरको अलग किया और शरीरको पोंछकर सूखा कर दिया। फिर बाप-बेटे दोनों साथ सो गये। दोनों खब सोये।

सुबह देखा तो मणिलालका बुखार बहुत कम हो गया है। दूध, पानी तथा फलोंपर चालीस दिनोंतक रखा। मैं निश्चित हो गया था। बुखार हठीला था; पर वह काबूमें आ गया था। आज मेरे लडकोंमें मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजीकी कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार अथवा और किसी उपायकी ? भले ही सब अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार करें; पर उस वक्त मेरी तो ईश्वरने ही लाज रखी। यही मैंने माना और आज भी मानता हूं।

: २३ :

फिर दक्षिण अफ्रिका

मणिलाल तो अच्छा हो गया; पर मैंने देखा कि गिरगांववाला मकान रहने लायक न था। उसमें सील थी। प्रकाश भी काफी न था। इसलिए रेवाशंकरभाईसे सलाह करके हम दोनोंने बंबईके किसी खुली जगहवाले मुहल्लेमे मकान लेनेका निश्चय किया। मैं बांदरा, सांताक्रुज वगैरामें भटका। बांदरामें कसाई-खाना था, इसलिए वहां रहनेकी हमारी इच्छा न हुई। घाटकूपर वगैरा समुद्रसे दूर मालूम हुए। सांताक्रुजमें एक सुंदर बंगला मिल गया। वहां रहने लगे व हमने समझा कि आरोग्यकी दृष्टिसे हम सुरक्षित हो गये। चर्चगेट जानेके लिए मैंने वहांसे पहले दर्जेका पास ले लिया। मुझे स्मरण है कि कई बार पहले दर्जेमे अकेला मैं ही रहता। इसलिए मुझे कुछ अभिमान भी होता। कई बार बांदरासे चर्चगेट जानेवाली खास गाड़ी पकड़नेके लिए सांताक्रुजसे चलकर जाता। मेरा धंधा आर्थिक दृष्टिसे भी मेरी धारणासे ज्यादा ठीक चलता हुआ मालूम होने लगा। दक्षिण अफ्रिकाके मुवक्किल भी मुझे कुछ काम देते थे। मुझे लगा कि इससे मेरा खर्च सहूलियतसे निकल सकेगा।

हाईकोर्टका काम तो अभी मुझे नही मिलता था; पर उस समय वहांपर जो 'मूट' (चर्चा) चलती रहती थी, उसमें मै जाया करता था; पर उसमें भाग लेनेकी मेरी हिम्मत नही होती थी। मुझे याद है कि उसमें जमीयतराम नानाभाई काफी भाग लेते थे। दूसरे नयें बैरिस्टरोंकी भांति मै भी हाईकोर्टके मुकदमे सुननेके लिए जाने लगा; पर वहां कुछ जाननेके बदले समुद्रकी फर-फर चलनेवाली हवामें झोंके खानेमें अच्छा आनंद मिलता था। दूसरे साथी भी ऊंघते ही थे, इससे मुझे शर्म भा न आती। मैंने देखा कि वहां ऊंघना भी 'फैशन'मे शुमार है।

हाईकोर्टके पुस्तकालयका उपयोग शुरू किया, और वहां कुछ जान-

पहचान भी शुरू की। मुझे लगा कि थोड़े ही समयमें मैं भी हाईकोर्टमें काम करने लगूंगा।

इस प्रकार एक ओर मुझे अपने धंधेके विषयमें कुछ निश्चितता होने लगी, दूसरी तरफ गोखलेकी नजर तो मुझपर थी ही। सप्ताहमें दो-तीन बार चेंबरमें आकर वह मेरी खबर ले जाते और कभी-कभी अपने खास मित्रोंको भी ले आते थे। बीच-बीचमें वह अपने काम करनेके ढंगसे भी मुझे वाकिफ करते जाते थे।

पर मेरे भविष्यके विषयमें यह कहना ठीक होगा कि ईश्वरने ऐसा कोई भी काम नही होने दिया, जिसे करनेका मैंनें पहले सोच रखा हो।

जैसे ही मैंने स्थिर होनेंका निश्चय किया और स्वस्थताका अनुभव करने लगा, एकाएक दक्षिण अफ्रिकासे तार आ गया—"चैंबरलेन यहां आ रहे हैं, तुम्हें शीघ्र आना चाहिए।" मेरा वचन मुझे याद ही था। मैंने तार दिया—"खर्च भेजिए, मैं आनेंको तैयार हूं।" उन्होंने तत्काल रुपयें भेजें और मै आफिस समेटकर वहां रवाना हो गया।

मैंने सोचा था कि मुझे वहां एक वर्ष तो यों ही लग जायगा। अतः बंगला रहने दिया और बाल-बच्चोंको भी वहीं रखना ठीक समझा।

मै यह मानता था कि जो युवक देसमें कमाई न करते हों और साहसी हों, उन्हें विदेशोंमे जाना चाहिए। इसलिए मै अपनें साथ चार-पांच युवकोंको भी ले गया। उनमें मगनलाल गांधी भी थें।

गांधी-कुटुंब बड़ा था, आज भी है। मेरी इच्छा थी कि उसमेंसे जो लोग स्वतंत्र होना चाहें, वे स्वतंत्र हो जायं। मेरे पिता कइयोंका निर्वाह करते थें; पर वह थे रजवाड़ोंकी नौकरीमें, मैं चाहता था कि वह इस नौकरीसे निकल सके तो ठीक हो। यह हो नहीं सकता था कि मैं उन्हें दूसरी नौकरी दिलवानेका यत्न करता, शक्ति होनेपर भी इच्छा न थी। मेरी धारणा तो यह थी कि वह स्वयं और दूसरे भी स्वावलंबी बनें तो अच्छा। पर अंतमें तो ज्यों-ज्यों मेरे आदर्श आगें बढ़े (यह मैं मानता हूं) त्यों-त्यों उन युवकोंके आदर्शको बनाना भी मैंनें आरंभ

किया। उनमें मगनलाल गांधीको बनानेमें मुझे बड़ी सफलता मिली—पर इस विषयपर आगे चलकर लिखा जायगा।

बाल-बच्चोंका वियोग, जमा हुआ काम तोड़ देना, निश्चिततासे अनिश्चिततामें प्रवेश करना—यह सब क्षणभरके लिए खटका; पर मैं तो अनिश्चित जीवनका आदी हो गया था। इस दुनियामे ईश्वर या सत्य, कुछ भी कहिए, उसके सिवा दूसरी कोई चीज निश्चित नहीं। यहां निश्चितता मानना ही भ्रम है। यह सब जो अपने आसपास हमे दिखाई पड़ता है और बनता रहता है, अनिश्चित और क्षणिक है; उसमें जो एक परमतत्त्व निश्चित-रूपसे छिपा हुआ है, उसकी जरा-सी 'झलक' ही मिल जाय और उसपर श्रद्धा बनी रहे, तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकता है। उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है।

मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुंचा, यह नही कहा जा सकता। मेरे लिए तो काम तैयार ही रखा था। मि० चेंबरलेनसे मिलनेवाले डेप्यूटेशनकी तारीख तय हो चुकी थी। मुझे उनके सामने पढ़नेके लिए निवेदन-पत्र तैयार करना था और डेप्यूटेशनके साथ जाना था।

भाग तीसरा समाप्त

चौथा भाग

: १ :

किया-कराया स्वाहा ?

मिस्टर चेंबरलेन तो दक्षिण अफ्रिकासे साढ़े तीन करोड़ पौंड लेनेके लिए तथा अंग्रेजोंका, और हो सके तो बोअरोंका भी मनहरण करनेके लिए आये थे। इसलिए हिंदुस्तानी प्रतिनिधियोंको उनकी ओरसे यह ठंडा जवाब मिला—

"आप तो जानते ही हैं कि उत्तरदायित्व-पूर्ण उपनिवेशोंपर साम्राज्य-सरकारकी सत्ता नाममात्रकी है। हां, आपकी शिकायतें अलवत्ता सच मालूम होती हैं, सो मैं अपने बस-भर उनको दूर करनेकी चेष्टा करूंगा; पर आप एक बात न भूलें। जिस तरह हो सके आपको यहांके गोरोंको राजी रखकर ही रहना है।"

इस जवावको सुनकर प्रतिनिधियोंपर तो मानों ठंडा पानी बरस गया। मैंने भी आशा छोड़ दी। मैंने तो इसका तात्पर्य समझ लिया कि अब फिरसे 'हरि ॐ' करना पड़ेगा। और मैंने अपने साथियोंपर भी यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर दी; पर मि० चैंबरलेनका जवाब क्या झूठा था? गोल-मोल कहनेके बदले उन्होंने खरी बात कह दी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम उन्होंने कुछ मधुर शब्दोंमें बता दिया; पर हमारे पास तो लाठी ही कहां थी? लाठी तो दूर, लाठीकी चोट सहने-वाले शरीर भी मुश्किलसे हमारे पास थे।

मि० चैंबरलेन कुछ ही सप्ताह वहां रहनेवाले थे। दक्षिण अफ्रिका

कोई छोटा-सा प्रांत नही, उसे तो एक देश, एक भूखंड ही कहना चाहिए, अफ्रिकाके पेटमें तो कितने ही उपखंड पड़े हुए है। कन्याकुमारीसे श्रीनगर यदि १९०० मील है तो डरबनसे केपटाऊन ११०० मीलसे कम नहीं। इस इतने बड़े खंडमें उन्हें 'पवन-वेग'से घूमना था। वह ट्रांसवाल रवाना हुए। मुझे सारी तैयारी करके भारतीयोंका पक्ष उनके सामने उपस्थित करना था। अब वह समस्या खड़ी हुई कि मै प्रिटोरिया किस तरह पहुंचू ? मेरे समयपर पहुंच सकनेकी इजाजत लेनेका काम हमारे लोगोंसे हो नही सकता था।

बोअर-युद्ध के बाद ट्रांसवाल करीब-करीब ऊजड़ हो गया था। वहां न खाने-पीनेके लिए अनाज रह गया था, न पहनने-ओढ़नेके लिए कपड़े ही। बाजार खाली और दुकानें बंद मिलती थी। उनको फिरसे भरना और खुला करना था, और यह काम तो धीरे-ही-धीरे हो सकता था और ज्यों-ज्यों माल आता-जाता त्यों-ही-त्यों उन लोगोंको, जो घर-बार छोड़कर भाग गये थे, आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रांसवालवासीको परवाना लेना पड़ता था। अब गोरे लोगोंको तो परवाना मांगते ही तुरंत मिल जाता; परतु हिंदुस्तानियोंको बड़ी मुसीबतका सामना करना पड़ता था।

लड़ाईके दिनोंमें हिंदुस्तान और लंकासे बहुतेरे अफसर और सिपाही दक्षिण अफ्रिकामे आ गये थे। उनमेसे जो लोग वही बसना चाहते थे उनके लिए सुविधा कर देना ब्रिटिश-अधिकारियोंका कर्त्तव्य माना गया था। इधर एक नवीन अधिकारी-मंडलकी रचना उन्हें करनी थी। सो ये अनुभवी कर्मचारी सहज ही उनके काम आगये। इन कर्मचारियोंकी तीव्र बुद्धिने एक नये महकमेकी ही सृष्टि कर डाली और इस काममें वे अधिक पटु तो थे ही। हब्शियोंके लिए ऐसा एक अलग महकमा पहले हीसे था, तो फिर इन लोगोंने अकल भिड़ाई कि एशियावासियोंके लिए भी अलग महकमा क्यों न कर लिया जाय? सब उनकी इस दलीलके कायल हो गये। यह नया महकमा मेरे जानेसे पहले ही खुल चुका था और धीरे-

धीरे अपना जाल फैला रहा था। जो अधिकारी भागे हुए लोगोंको परवाना देते थे, वे ही सबको दे सकते थे, परंतु यह उन्हें पता कैसे चल सकता है कि एशियावासी कौन है? यदि इस नवीन महकमेकी सिफारिश पर ही उसको परवाना दिया जाय तो उस अधिकारीकी जिम्मेदारी कम होजाय और उसके कामका बोझ भी कुछ घट जाय, यह दलील पेश की गई। बात दरअसल यह थी कि इस नये महकमेको कुछ कामकी, और कुछ दामकी (धनकी) जरूरत थी। यदि काम न हो तो इस महकमेकी आवश्यकता सिद्ध नही हो सकती और उसे बंद करना पड़ता। तो इसलिए उसे यह काम सहज ही मिल गया।

तरीका यह था कि हिंदुस्तानी पहले इस महकमेमें अर्जी दें। फिर बहुत दिनोंमे जाकर उसका जवाब मिलता। इधर ट्रांसवाल जानेकी इच्छा रखनेवालेंकी संख्या बहुत थी। फलतः उनके लिए दलालोंका एक दल बन गया। इन दलालों और अधिकारियोंमे बेचारे गरीब हिंदुस्तानियोके हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया कि बिना किसी जरियेके परवाना नहीं मिलता और जरिया होनेपर भी कितनी ही बार तो सौ-सौ पौंड फी आदमी खर्च होजाता है। ऐसी हालतमें भला मेरी दाल कैसे गलती?

तब मैं अपने पुराने मित्र, डरबनके पुलिस सुपरिंटेंडेटके यहां पहुंचा और उनसे कहा—"आप परवाना देनेवाले अधिकारीसे मेरा परिचय करा दीजिए और मुझे परवाना दिला दीजिए। आप यह तो जानते ही है कि मैं ट्रांसवालमें रह चुका हूं।" उन्होंने तुरंत सिरपर टोप रखा और मेरे साथ चलकर परवाना दिला दिया। इस समय ट्रेन छूटनेको मुश्किलसे एक घंटा था। मैंने अपना सामान वग़ैरा बांध-बूंधकर पहले ही तैयार रखा था। इस कष्टके लिए मैंने सुपरिंटेंडेंट एलेग्जेंडरको धन्यवाद दिया और प्रिटोरिया जानेके लिए रवाना हो गया।

इस समयतक वहांकी कठिनाइयोंका अंदाज मुझे ठीक-ठीक हो गया था। प्रिटोरिया पहुंचकर मैंने एक दरख्वास्त तैयार की। मुझे यह

याद नहीं पड़ता कि डरबनमें किसीसे प्रतिनिधियोंके नाम पूछे गये थे। यहां तो नया ही महकमा काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियोंके नाम मेरे आनेके पहले ही पूछ लिये गये थे। इसका आशय यह था कि मुझे इस मामलेसे दूर रखा जाय; पर इस बातका पता प्रिटोरियाके हिंदुस्तानियोंको लग गया था।

यह दुःखदायक किंतु मनोरंजक कहानी अगले प्रकरणमें।

: २ :

एशियाई नवाबशाही

इस नये महकमेके कर्मचारी यह समझ न सके कि मैं ट्रांसवालमें किस तरह आ पहुंचा। जो हिंदुस्तानी उसके पास आते-जाते रहते थे उनसे उन्होंने पूछ-ताछ भी की; पर वे बेचारे क्या जानते थे? तब कर्मचारियोंने अनुमान लगाया कि हो-न-हो अपनी पुरानी जान-पहचानकी वजहसे मैं बिना परवाना लिये ही आ घुसा हूं; और यदि ऐसा ही हो तो, उन्होंने सोचा, इसे हम कैद भी कर सकते है।

जब कोई भारी लड़ाई लड़ी जाती है तब उसके बाद कुछ समयके लिए राज-कर्मचारियोंको विशेष अधिकार दिये जाते है। यहां दक्षिण अफ्रिकामें भी ऐसा ही हुआ था। शांति-रक्षाके लिए एक कानून बनाया गया था। इसमे एक धारा यह भी थी कि यदि कोई बिना परवानेके ट्रांसवालमे आ जाय तो वह गिरफ्तार और कैद किया जा सकता है। इस धाराके अनुसार मुझे गिरफ्तार करनेके लिए सलाह-मशविरा होने लगा, पर किसीको यह साहस न हुआ कि आकर मुझसे परवाना मांगे।

इन कर्मचारियोंने डरबन तार भेजकर भी पुछवाया था। वहांसे

जब उन्हें खबर पड़ी कि मैं तो परवाना लेकर अंदर आया हूं, तब बेचारे निराश हो रहे, परंतु इस महकमेके लोग ऐसे न थे जो इस निराशासे थककर बैठ जाते। हालांकि मैं ट्रांसवालमें आ चुका था, परंतु फिर भी उनके पास ऐसी तरकीबें थीं जिनसे मेरा मि० चेंबरलेनसे मिलना जरूर रोक सकते थे।

इस कारण सबसे पहले शिष्टमंडलके प्रतिनिधियोंके नाम मांगे गये। यों तो दक्षिण अफ्रीकामें रंग-द्वेषका अनुभव जहां जाते वहीं हो रहा था, पर यहां तो हिंदुस्तानकी जैसी गंदगी और खटपटकी बदबू आने लगी। दक्षिण अफ्रीकामें आम महकमोंका कार्य लोक-हितके खयालसे चलाया जाता है। इससे राज-कर्मचारियोंके व्यवहारमें एक प्रकारकी सरलता और नम्रता दिखाई पड़ती थी। इसका लाभ, थोड़े-बहुत अंशमें काली-पीली चमड़ीवालोंको भी अपने-आप मिल जाता था। पर अब जबकि यहां एशियाके कर्मचारियोंका दौर-दौरा हुआ तब तो वहांके जैसी 'जो-हुक्मी' और खटपट वगैरा बुराइयां भी उसमें आ घुसीं। दक्षिण अफ्रीकामें एक प्रकारकी प्रजा-सत्ता थी, पर अब तो एशियासे सोलहों आने नवाबशाही आ गई, क्योंकि एशियामें तो प्रजा-सत्ता थी नहीं, बल्कि उल्टे सत्ता प्रजापर ही चलाई जाती थी। इसके विपरीत दक्षिण अफ्रीकामें गोरे घर बनाकर बस गये थे, इसलिए वे वहांके प्रजाजन हो गये थे, और इसलिए राज-कर्मचारियोंपर उनका अंकुश रहता था, पर अब इसमें आ मिले थे एशियाके निरंकुश राज-कर्मचारी, जिन्होंने बेचारे हिंदुस्तानी लोगोंकी हालत सरौतेमें सुपारीकी तरह कर दी थी।

मुझे भी इस सत्ताका खासा अनुभव हो गया। पहले तो मैं इस महकमेके बड़े अफसरके पास तलब किया गया। यह साहब लंकासे आये थे। 'तलब किया गया' मेरे इन शब्दोंमें कहीं अत्युक्तिका आभास न हो; इसलिए अपना आशय जरा ज्यादा स्पष्ट कर देता हूं। मैं चिट्ठी लिखकर नहीं बुलाया गया था। मुझे वहांके प्रमुख हिंदुस्तानियोंके यहां तो निरंतर जाना ही पड़ता था। स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खानमोहम्मद

भी ऐसे अगुआओंमेंसे थे। उनसे इन साहबने पूछा—"यह गांधी कौन है ? यहां किसलिए आया है ?"

तैयब सेठने जवाब दिया, "वह हमारे सलाहकार हैं और हमारे बुलानेपर यहां आये हैं।"

"तो फिर हम सब यहां किस कामके लिए हैं ? क्या हमारी जरूरत यहां आपकी रक्षाके लिए नही हुई है ? गांधी यहांका हाल क्या जाने ?" साहबने कहा। तैयब सेठने जैसे-तैसे करके इस प्रहारका भी जवाब दिया,—"हां, आप तो हैं ही; पर गांधीजी तो हमारे ही अपने ठहरे न ? वे हमारी भाषा जानते हैं, हमारे भावोंको, हमारे पहलू को समझते हैं। और आप लोग आखिर है तो राज-कर्मचारी ही न ?"

इसपर साहबने हुक्म फरमाया—"गांधीको मेरे पास ले आना।"

तैयब सेठ वगैराके साथ मैं साहबसे मिलने गया। वहां हम लोगों को कुर्सी तो भला मिल ही कैसे सकती थी ? सबको खड़े-खड़े ही बातें करनी पड़ी।

"कहिए, आप यहां किस गरजसे आये है ?" साहबने मेरी ओर आंख उठाकर पूछा।

"अपने इन भाइयोके बुलानेसे, इन्हे सलाह देनेके लिए आया हूं।" मैंने उत्तर दिया।

"पर आप जानते नही कि आपको यहां आनेका कतई हक नहीं है ? आपको जो परवाना मिला है वह तो भूलसे दे दिया गया है। आप यहांके बाशिंदे तो है नही। आपको वापस लौट जाना पड़ेगा। आप मि० चैंबरलेन से नहीं मिल सकते। यहांके हिंदुस्तानियोंकी हिफाजतके ही लिए तो हमारा यह महकमा खास तौरपर खोला गया है। अच्छा तो, आप जाइए।"

इतना कहकर साहबने मुझे बिदा किया। और तो ठीक, पर मुझे जवाब तक देनेका अवसर न दिया।

पर मेरे साथियोंको उन्होंने रोक रखा और धमकाया; कहा कि गांधीको ट्रांसवालसे विदा कर दो।

वे सब अपना-सा मुंह लेकर वापस आये। अब मेरे सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई और सो भी इस तरह अचानक!

: ३ :

जहरकी घूंट पीनी पड़ी

इस अपमानसे मेरे दिलको बड़ी चोट पहुंची; पर इससे पहले मैं ऐसे अपमान सहन कर चुका था; सो उसका कुछ आदी हो रहा था। अतएव इस अपमानकी परवा न करके तटस्थ-भावसे जो कुछ कर्त्तव्य दिखाई पड़े उसे करनेका निश्चय मैंने किया। इसके बाद पूर्वोक्त अफसरकी सही-से एक चिट्ठी मिली कि डरबनमें मि० चैंबरलेन गांधीजीसे मिल चुके हैं, इसलिए अब इनका नाम प्रतिनिधियोंमेंसे निकाल डालना जरूरी है।

मेरे साथियोंको यह चिट्ठी बड़ी ही नागवार हुई। उन्होंने कहा—"तो ऐसी हालतमें हमें शिष्ट-मंडल ले जानेकी भी जरूरत नहीं।" तब मैंने उन्हें यहांके लोगोंकी विषम अवस्थाका भली प्रकार परिचय कराया—"यदि आप लोग मि० चैंबरलेनसे मिलने न जायंगे तो इसका यह अर्थ किया जायगा कि यहांपर किसी किस्मका जुल्म नहीं है, फिर जबानी तो कुछ कहना है नहीं, लिखा हुआ पढ़ना है, सो तैयार है, मैंने पढ़ा क्या, और दूसरोंने पढ़ा क्या? मि० चैंबरलेन वहां उसपर बहस थोड़े ही करेंगे। मेरा जो कुछ अपमान हुआ है उसे हम पी जायं, बस।"

इतना मैं कह ही रहा था कि तैयब सेठ बोल उठे—पर "आपका अपमान क्या सारी कौमका अपमान नहीं है? हम यह कैसे भूल सकते हैं कि आप हमारे प्रतिनिधि हैं?"

मैंने कहा—"आपका कहना तो ठीक है; पर ऐसे अपमान ता कौमको भी पी जाने पड़ेंगे—बताइए, हमारे पास इसका दूसरा इलाज ही क्या है?

"जो-कुछ होना होगा, हो जायगा। पर खुद-ब-खुद हम और अपमान क्यों माथे ले? मामला बिगड़ तो यों भी रहा है। और हमें अधिकार भी ऐसे कौन-से मिल गये हैं?" तैयब सेठने उत्तर दिया।

तैयब सेठका यह जोश मुझे पसंद तो आ रहा था; पर मैं यह भी देख रहा था कि मेरे उससे फायदा नहीं उठाया जा सकता। लोगोंकी मर्यादा-का अनुभव मुझे था। इसलिए इन साथियोंको मैंने शांत करके उन्हें यह सलाह दी कि बजाय आप (अब स्वर्गीय) जार्ज गाडफ्रेको साथ ले जाइए। वह हिंदुस्तानी बैरिस्टर थे।

इस तरह श्री गाडफ्रेकी अध्यक्षतामे यह शिष्ट-मंडल मि० चैंबरलेनसे मिलने गया। मेरे बारेमे भी मि० चैंबरलेनने कुछ चर्चा की थी। "एक ही आदमीकी बात दुबारा सुननेकी अपेक्षा नये आदमीकी बात सुनना मैंने ज्यादा मुनासिब समझा—" आदि कहकर उन्होंने जख्मपर मरहम-पट्टी करनेकी कोशिश की।

पर इससे मेरा और कौमका काम पूरा होनेके बजाय उलटा बढ़ गया। अब तो फिर 'अ-आ, इ-ई' से शुरुआत करनेकी नौबत आ पहुंची। "आपके ही कहनेसे तो हम लोग इस लड़ाई झगड़ेमे पड़े। और आखिर नतीजा यही निकला।" इस तरह ताना देनेवाले भी आ ही धमके। पर मेरे मनपर इनका कुछ असर न होता था। मैंने कहा—"मुझे तो अपनी सलाहपर पश्चात्ताप नहीं होता। मैं तो अब भी यह मानता हूं कि हम इस काममे पड़े, यह अच्छा ही हुआ। ऐसा करके हमने अपने कर्त्तव्यका पालन किया है। चाहे इसका फल हम खुद न देख सकें; पर मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि शुभ कार्यका फल सदा शुभ ही होता है और होगा। अब तो हमें गई-गुजरी बातोंको छोड़कर इस बात पर विचार करना चाहिए कि अब हमारा कर्त्तव्य क्या है? यही अधिक लाभप्रद है।"

दूसरे मित्रोंने भी इस बातका समर्थन किया।

मैंने कहा—"सच पूछिए तो जिस कामके लिए मैं यहाँ बुलाया गया था वह तो पूरा हो ही गया समझना चाहिए; पर मेरी अंतरात्मा कहती है कि अब आप लोग यदि मुझे यहांसे छुट्टी दे भी दे तो भी जहांतक मेरा वस चलेगा मैं ट्रांसवालसे नहीं हट सकता। मेरा काम अब नेटालसे नहीं बल्कि यहींसे चलना चाहिए। अब मुझे कम-से-कम एक सालतक यहांसे लौट जानेका विचार त्याग देना चाहिए और मुझे यहाँ वकालत करनेकी सनद प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस नये महकमेके मामलेको तय करा लेने की हिम्मत मैं अपने अंदर पाता हू। यदि इस मामलेका तस्फिया न कराया तो कौमके लुट जाने, और ईश्वर न करे, यहांसे उसका नामो-निशान मिट जाने का अंदेशा मुझे है। उसकी हालत तो दिन-दिन गिरती ही जायगी, इसमें मुझे कोई संदेह नही। मि० चैंबरलेनका मुझसे न मिलना, उस अधिकारीका मेरे साथ तिरस्कारका बर्ताव करना—ये बातें तो सारी कौमकी—सारे समाजकी मानहानिके मुकाबिलेमें कुछ भी नहीं है। हम यहां कुत्ते की तरह दुम हिलाते रहें, यह कैसे बरदाश्त किया जा सकता है?"

मैंने इस तरह अपनी बात लोगोंके सामने रखी। प्रिटोरिया और जोहांसबर्गमे रहनेवाले भारतीय अगुओंके साथ सलाह-मशवरा करके अंतमें जोहांसबर्गमें मैंने अपना दफ्तर खोलनेका निश्चय किया।

ट्रांसवालमें भी मुझे यह तो शक था ही कि वकालत की सनद मिलेगी भी या नही? परंतु, ईश्वरने खैर का। यहांके वकील-मंडलकी ओरसे मेरी दरख्वास्तका विरोध नहीं किया गया और बड़ी अदालतने मेरी दरख्वास्त मंजूर कर ली।

वहां एक भारतवासीके दफ्तरके लिए अच्छी जगह मिलना भी मुश्किल था; परंतु मि० रीचके साथ मेरा खासा परिचय हो गया था। उस समय वह व्यापारी-वर्गमें थे। उनकी ज़ान-पहचानके हाउस-एजेंट—मकानोंके दलाल—के मार्फत दफ्तरके लिए अच्छी जगह मिल गई और मैंने वकालत शुरू कर दी।

: ४ :

त्याग-भावकी वृद्धि

ट्रांसवालमें लोगोंके हकोंकी रक्षाके लिए किस तरह लड़ना पड़ा और एशियाई महकमेके अधिकारियोंके साथ किस तरह पेश आना पड़ा; इसका अधिक वर्णन करनेके पहले मेरे जीवनके दूसरे पहलूपर नजर डाल लेनेकी आवश्यकता है।

अबतक कुछ-न-कुछ धन इकट्ठा कर लेनेकी इच्छा मनमें रहा करती थी। मेरे परमार्थके साथ यह स्वार्थका मिश्रण भी रहता था।

बम्बईमें जब मैंने अपना दफ्तर खोला था तब एक अमरीकन बीमा-एजेंट मुझसे मिलने आया था। उसका चेहरा खुशनुमा था। उसकी बातें बड़ी मीठी थीं। उसने मुझसे मेरे भावी कल्याणकी बातें इस तरह की, मानो वह मेरा कोई बहुत दिनोंका मित्र हो। "अमरीकामें तो आपकी हैसियतके सब लोग अपनी जिंदगीका बीमा करवाते हैं। आपको भी उनकी तरह अपने भविष्यके लिए निश्चित हो जाना चाहिए। जिंदगीका आखिर क्या भरोसा? हम अमरीकावासी तो बीमा कराना एक धर्म समझते हैं, तो क्या आपको मैं एक छोटी-सी पालिसी करानेके लिए भी न ललचा सकूं?"

अबतक क्या हिंदुस्तानमें और क्या दक्षिण अफ्रिकामें कितने ही एजेंट मेरे पास आये; पर मैंने किसीको दाद न दी थी; क्योंकि मैं समझता था कि बीमा कराना मानो अपनी भीरुताका और ईश्वरके प्रति अविश्वासका परिचय देना था; पर इस बार मैं लालचमें आ गया। वह एजेंट ज्यों-ज्यों अपना जादू घुमाता जाता, त्यों-त्यों मेरे सामने अपनी पत्नी और पुत्रोंकी तस्वीर खड़ी होने लगी। मनमें यह भाव उठा कि "अरे, तुमने पत्नीके लगभग सब गहने-पत्ते बेच डाले हैं। अब अगर यह शरीर कुछ-का-कुछ हो जाय तो इन पत्नी और बाल-बच्चोंके भरण-पोषणका भार

आखिर तो उसी गरीब भाईपर न जा पड़ेगा जो आज तुम्हारे पिताके स्थान की पूर्ति कर रहा है, और खूबी के साथ कर रहा है ? क्या यह उचित होगा ?" इस तरह मैंने अपने मनको समझाकर १०,०००) का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण अफ्रिकामे मेरे मैनकी यह हालत न रह गई थी और मेरे विचार भी वदल गये थे। दक्षिण अफ्रिकाकी नई आपत्तिके समय मैंने जो कुछ किया ईश्वरको साक्षी रखकर ही किया था। मुझे इस वातकी कुछ खवर न थी कि दक्षिण अफ्रिकामें मुझे कितने समय रहना पड़ेगा। मेरी तो यह धारणा हो गई थी कि अब मैं हिंदुस्तानको वापस न लौट पाऊंगा। इसलिए मुझे वाल-वच्चोंको अपने साथ ही रखना चाहिए। उनको अब अपने से दूर रखना उचित नही। उनके भरण-पोषणका प्रवंध भी दक्षिण-अफ्रिकामे ही होना चाहिए। यह विचार मनमें आते ही वह पालिसी उलटे मेरे दुःखका कारण वन गई। मुझे मनमें इस वातपर शर्म आने लगी कि मैं उस एजेंट के चक्कर मे कैसे आ गया। मैंने इस विचारको अपने मनमें स्थान ही कैसे दिया कि जो भाई मेरे लिए पिताके बरावर है उन्हें अपने सगे छोटे भाईकी विधवाका बोझ नागवार होगा ? और यह भी कैसे मान लिया कि पहले तुम ही मर जाओगे ? आखिर सवका पालन करने वाला तो वह ईश्वर ही है; न तो तुम हो, न तुम्हारे भाई हैं। वीमा करवाके तुमने अपने वाल-वच्चोंको भी पराधीन बना दिया। वे क्यों स्वावलंवी नही हो सकते ? इन असंख्य गरीबोंके वाल-वच्चोंका आखिर क्या होता है ? तुम अपने को उन्हीं के-जैसा क्यों नहीं समझ लेते ?"

इस प्रकार मनमें विचारोंकी धारा बहने लगी; पर उसके अनुसार व्यवहार सहसा ही नही कर डाला। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि वीमेकी एक किस्त तो मैंने दक्षिण अफ्रिकासे भी जमा कराई थी।

परंतु इस विचार-धाराको वाहरी उत्तेजन मिलता गया। दक्षिण अफ्रिकाकी पहली यात्राके समय मैं ईसाइयोंके वातावरणमें कुछ आ चुका था और उसके फल स्वरूप धर्म के विषयमे जाग्रत रहने लगा। इस बार

थियॉसफीके वातावरणमें आया। मि० रीच थियॉसफिस्ट थे। उन्होंनें जोहांसवर्गकी सोसाइटीसे मेरा संबंध करा दिया। मेरा थियॉसफीके सिद्धांतोंसे मत-भेद था, इसलिए मैं उसका सदस्य तो नहीं बना; पर फिर भी लगभग प्रत्येक थियॉसफिस्टसे मेरा गाढ़ा परिचय हो गया था। उनके साथ रोज धर्म-चर्चा हुआ करती। थियॉसफीकी पुस्तकें पढ़ी जाती और उनके मडलमे कभी-कभी मुझे बोलना भी पड़ता। थियॉसफीमें भ्रातृ-भाव पैदा करना और वढ़ाना मुख्य वात है। इस विषयपर हम वहुत चर्चा करते और मै जहां-जहां इस मान्यता और सभ्योंके आचरणमें भेद देखता वहां उसकी आलोचना भी करता। इस आलोचनाका प्रभाव खुद मुझ पर वड़ा अच्छा पड़ा। इससे मुझे आत्म-निरीक्षणकी लगन लग गई।

: ५ :

निरीक्षणका परिणाम

जव १८९३मे मै ईसाई-मित्रोंके निकट-परिचयमें आया, तव मै एक विद्यार्थीकी स्थितिमे था। ईसाई-मित्र मुझे बाइबिलका संदेश सुनाने, समझाने और मुझसे स्वीकार करानेका उद्योग कर रहे थे। मै नम्र-भावसे, एक तटस्थकी तरह, उनकी शिक्षाओंको सुन और समझ रहा था। इसके बदौलत मै हिंदू-धर्मका यथाशक्ति अध्ययन कर सका और दूसरे धर्मोको भी समझने की कोशिश की; पर अब १९०३में स्थिति जरा बदल गई। थियॉसफिस्ट मित्र मुझे अपना संस्थामें खींचने की इच्छा तो जरूर कर रहे थे; परंतु वह एक हिंदूके तौरपर मुझमे कुछ प्राप्त करने के उद्देश्यसे। थियॉसफीकी पुस्तकोंपर हिंदू धर्मकी छाया और उसका प्रभाव वहुत-कुछ पड़ा है, इसलिए इन भाइयोंने यह मान लिया कि मै उनकी सहायता कर सकूंगा। मैंने उन्हें समझाया कि मेरा संस्कृतका अध्ययन

बराय-नाम ही है। मैंने हिंदू-धर्म के प्राचीन ग्रंथोंको संस्कृतमें नहीं पढ़ा है और अनुवादोंके द्वारा भी मेरा पठन कम हुआ है। फिर भी, चूंकि वे संस्कारोंको और पूनर्जन्मको मानते है, उन्होंने अपना यह खयाल बना लिया कि मेरी थोड़ी-बहुत मदद तो उन्हें अवश्य ही मिल सकती है। और इस तरह मैं—'रूख नही तहं रेंड प्रधान' बन गया। किसीके साथ विवेकानंदका 'राजयोग' पढ़ने लगा तो किसीके साथ मणिलाल न० द्विवेदी-का 'राजयोग'। एक मित्र के साथ 'पातंजल-योगदर्शन' भी पढ़ना पड़ा। बहुतोंके साथ गीताका अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासु-मण्डल' भी बनाया गया और नियम-पूर्वक अध्ययन आरंभ हुआ। गीता-के प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले हीसे थी। अब उसका गहराई के साथ रहस्य समझनेकी आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रखे थे। उनकी सहायतासे मूल संस्कृत समझनेका प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कंठ करनेका निश्चय किया।

सुबह दतौन और स्नानका समय मैं गीताके कंठ करनेमें लगाता। दतौनमे १५ और स्नानमें २० मिनट लगते। दतौन अंग्रेजी रिवाजके मुताबिक खड़े-खड़े करता। सामने दीवारपर गीताके श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख-देखकर रटता रहता। इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करनेतक पक्के हो जाते। बीचमें पिछले श्लोकोंको भी दुहरा जाता। इस प्रकार मुझे याद पड़ता है कि १३ अध्याय तक गीता बर-जबान कर ली थी; पर बादको कामकी झंझटें बढ़ गईं। सत्याग्रहका जन्म हो गया और उस बालककी परवरिशका भार मुझपर आ पड़ा, जिससे विचार करनेका समय भी उसके लालन-पालनमें बीता, और कह सकते हैं कि अब भी बीत रहा है।

गीता-पाठका असर मेरे सहाध्यायियोंपर तो जो-कुछ पड़ा हो वह वही बता सकते है; किंतु मेरे लिए तो गीता आचारकी एक प्रौढ़ मार्ग-दर्शिका बन गई है। वह मेरी धार्मिक कोष हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्दके हिज्जे या अर्थ को देखनेके लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोषको

खोलता, उसी तरह आचार-संबंधी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियोंको गीताजीके द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दोंने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यह धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूं, कैसे उसका पालन करूं? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर हैं, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं, जो कलके साथी हैं, उनमें और उन सज्जनोंमें जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है? अपरिग्रहका पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है? स्त्री-पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं है तो फिर क्या है? क्या पुस्तकोंसे भरी इन अलमारियोंमें आग लगा दूं? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ! अंदरसे तुरंत उत्तर मिला—'हां, घर-बारको खाक किये बिना तीर्थ नहीं किया जा सकता।' इसमें अंग्रेजी कानूनके अध्ययनने मेरी सहायता की। स्नेल-रचित कानूनके सिद्धांतों की चर्चा याद आई। 'ट्रस्टी' शब्दका अर्थ; गीताजीके अध्ययन की बदौलत, अच्छी तरह समझमें आया। कानून-शास्त्रके प्रति मनमें आदर बढ़ा। उसके अंदर भी मुझे धर्मका तत्त्व दिखाई पड़ा। 'ट्रस्टी' यों करोड़ोंकी सम्पत्ति रखते हैं, फिर भी उसकी एक पाईपर उनका अधिकार नहीं होता। इसी तरह मुमुक्षुको अपना आचरण रखना चाहिए—यह पाठ मैंने गीताजीसे सीखा। अपरिग्रही होनेके लिए, सम-भाव रखनेके लिए, हेतुका और हृदयका परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपककी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरंत रेवाशंकर भाईको लिखा कि बीमेकी पालिसी बंद कर दीजिए। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नहीं तो खैर। बाल-बच्चों और गृहिणीकी रक्षा वह ईश्वर करेगा जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्रका था। पिताके समान अपने बड़े भाई को लिखा—"आज-तक मैं जो कुछ बचाता रहा आपके अर्पण करता रहा, अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो-कुछ बच रहेगा वह यहींके सार्वजनिक कामोंमें लगेगा।"

इस बातका औचित्य मैं भाई साहबको-जल्दी न समझा सका। शुरूमें तो उन्होंने बड़े कड़े शब्दोंमें अपने प्रति मेरे धर्मका उपदेश दिया—'पिताजीसे बढ़कर अक्ल दिखानेकी तुम्हे जरूरत नही। क्या पिताजी अपने कुटुंबका पालन-पोषण नही करते थे? तुम्हें भी उसी तरह घर-बार सम्हालना चाहिए।" आदि—मैंने विनय-पूर्वक उत्तर दिया—"मैं तो वही काम कर रहा हूं, जो पिताजी करते थे। यदि कुटुंबकी व्याख्या हम जरा व्यापक कर दें तो मेरे इस कार्यका औचित्य तुरंत आपके खयाल में आ जायगा।"

अब भाईसाहबने मेरी आशा छोड़ दी। करीब-करीब अ-बोला ही रखा। मुझे इससे दुःख हुआ, परंतु जिस बातको मैंने अपना धर्म मान लिया उसे यदि छोड़ता हूं तो उससेभी अधिक दुःख होता था। अतएव मैंने उस थोड़े दुःखको सहन कर लिया। फिर भी भाईसाहबके प्रति मेरी भक्ति उसी तरह निर्मल और प्रचड रही। मैं जानता था कि भाईसाहबके इस दुःखका मूल है उनका प्रेम-भाव। उन्हें रुपये-पैसेकी सद्व्यवहारकी अधिक चाह थी।

पर अपने अंतिम दिनोंमें भाई साहब मुझपर पसीज गये थे। जब वह मृत्यु-शय्यापर थे तब उन्होंने मुझे सूचित कराया कि मेरा कार्य ही उचित और धर्म्य था। उनका पत्र बड़ा ही करुणाजनक था। यदि पिता पुत्रसे माफी मांग सकता हो तो उन्होंने उसमें मुझसे माफी मांगी थी। लिखा कि मेरे लड़कोंका तुम अपने ढंगसे लालन-पालन और शिक्षण करना। वह मुझसे मिलनेके लिए बड़े अधीर हो गये थे। मुझे तार दिया। मैंने तार द्वारा उत्तर दिया—'जरूर आजाइये।' पर हमारा मिलाप ईश्वरको मंजूर न था।

अपने पुत्रोंके लिए जो इच्छा उन्होंने प्रदर्शित की थी वह भी पूरी न हुई। भाईसाहबने देशमें ही अपना शरीर छोड़ा था। लड़कोंपर उनके पूर्व-जीवनका असर पड़ चुका था। उनके संस्कारोंमें परिवर्तन न हो पाया। मैं उन्हें अपने पास न खींच सका। इसमें उनका दोष नहीं,

है। स्वभावको कौन बदल सकता है? बलवान् संस्कारोंको कौन मिटा सकता है? हम अक्सर यह मानते हैं कि जिस तरह हमारे विचारोंमें परिवर्तन हो जाता है, हमारा विकास हो जाता है, उसी तरह हमारे आश्रित लोगों या साथियोंमें भी हो जाना चाहिए, पर यह मिथ्या है।

माता-पिता होनेवालोंकी जिम्मेदारी कितनी भयंकर है, यह बात इस उदाहरणसे कुछ समझमें आ सकती है।

: ६ :

निरामिषाहारकी वेदीपर

जीवन में ज्यों-ज्यों त्याग और सादगी बढती गई और धर्म-जागृतिकी वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों निरामिषाहारका और उसके प्रचारका शौक बढ़ता गया। प्रचार मैं एक ही तरहसे करना जानता हूं—आचारके द्वारा, और आचारके साथ-ही-साथ जिज्ञासुके साथ वार्तालाप करके।

जोहांसवर्गमे एक निरामिषाहारी-गृह था। उसका संचालक एक जर्मन था, जोकि कूनेकी जल-चिकित्साका कायल था। मैंने वहां जाना शुरू किया और जितने अंग्रेज मित्रोंको वहाँ ले जा सकता था ले जाता था; परंतु मैंने देखा कि यह भोजनालय बहुत दिनों तक नहीं चल सकेगा, क्योंकि रुपये-पैसेकी तंगी उसमें रहा ही करती थी। जितना मुझे वाजिब मालूम हुआ, मैंने उसमें मदद दी। कुछ गंवाया भी। अंतको वह बंद हो गया। थियॉसफ़िस्ट बहुतेरे निरामिषाहारी होते हैं, कोई पूरे और कोई अधूरे। इस मंडलमें एक बहन साहसी थी उसने बड़े पैमानेपर एक निरामिष-भोजनालय खोला। यह बहन कला-रसिक थी, शाहखर्च थी, और हिसाब-किताबका भी बहुत खयाल न रखती थी। उसके मित्र-मंडल-की संख्या अच्छी कही जा सकती थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमाने

पर शुरू हुआ, परंतु बादको उसने बढ़ानेका और बड़ी जगह ले जानेका निश्चय किया। इस काममें उसने मेरी सहायता चाही। उस समय उसके हिसाब-किताबकी हालतका मुझे कुछ पता न था। मैंने मान लिया कि उसके हिसाब और अटकलमें कोई भूल न होगी। मेरे पास रुपये-पैसे-की सुविधा रही थी। बहुतेरे मवक्किलोंके रुपये मेरे पास रहते थे। उनमेंसे एक सज्जनकी इजाजत लेकर लगभग एक हजार पौंड मैंने उसे दे दिया। यह मवक्किल बड़े उदार-हृदय और विश्वासशील थे। वह पहले-पहल गिरमिट आये थे। उन्होंने कहा—"भाई, आपका दिल चाहे तो पैसे दे दो। मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो आपहीको जानता हूं।" उनका नाम था बदरी। उन्होंने सत्याग्रहमें बहुत योग दिया था। जेल भी काटी थी। इतनी सम्मति पाकर ही मैंने उसमें रुपये लगा दिये। दो-तीन महीनेमें मैं जान गया कि ये रुपये वापस आनेवाले नहीं हैं; इतनी बड़ी रकम खो देनेका सामर्थ्य मुझमें न था। मैं इस रकमको दूसरे काममें लगा सकता था। वह रकम आखिर उसीमें डूब गई, परंतु मैं इस बातको कैसे गवारा कर सकता था कि उस विश्वासी बदरीका रुपया चला जाय? वह तो मुझको ही पहचानता था। अपने पाससे मैंने यह रकम भर दी।

एक मवक्किल मित्रसे मैंने रुपयेकी बात की। उन्होंने मुझे मीठा उलहना देकर सचेत किया—

"भाई, (दक्षिण अफ्रिकामें मैं 'महात्मा' नहीं बन गया था और न 'बापू' ही बना था; मवक्किल मित्र मुझे 'भाई'से ही संबोधन करते थे।) आपको ऐसे झगड़ोंमें न पड़ना चाहिए। हम तो ठहरे आपके विश्वासपर चलनेवाले। ये रुपये आपको वापस नहीं मिलनेके। बदरीको तो आप बचा लेंगे; पर अपनी रकम बट्टे-खातेमें समझिए। पर ऐसे सुधारके कामोंमें यदि आप मवक्किलोंका रुपया लगाने लगेंगे तो मवक्किल बेचारे पिस जायंगे और आप भिखारी बनकर घर बैठ रहेंगे। इससे आपके सार्वजनिक कामको भी धक्का पहुंचेगा।"

सद्भाग्यसे यह मित्र अभी मौजूद हैं। दक्षिण अफ्रिकामें तथा दूसरी जगह इनसे अधिक स्वच्छ आदमी मैंने दूसरा नहीं देखा। किसीके प्रति यदि उनके मनमें संदेह उत्पन्न होता और बादको उन्हें मालूम हो जाता कि वह बे-बुनियाद था तो तुरंत जाकर उससे माफी मांगते और अपना दिल साफ कर लेते। मुझे इनकी यह चेतावनी बिलकुल ठीक मालूम हुई। बदरीका रुपया तो मैं चुका सका था; परंतु यदि उस समय और एक हजार पौंड बरबाद किया होता तो उसको चुकानेकी हैसियत मेरी बिलकुल नहीं थी। और माथे कर्ज ही करना पड़ता। कर्जके चक्करमें मैं अपनी जिंदगीमें कभी नही पड़ा और उससे मुझे हमेशा अरुचि ही रही है। इससे मैंने यह सबक सीखा कि सुधार-कार्योंके लिए भी हमें अपनी ताकतके बाहर पांव न बढ़ाना चाहिए। मैंने यह भी देखा कि इस कार्यमें गीताके तटस्थ निष्काम कर्मके मुख्य पाठका अनादर किया था। इस भूलने आगेको मेरे लिए प्रकाश-स्तंभका काम दिया।

निरामिषाहारके प्रचारकी वेदीपर इतना बलिदान करना पड़ेगा, इसका अनुमान मुझे न था। मेरे लिए यह जबरदस्तीका पुण्य था।

: ७ :

मिट्टी और पानीके प्रयोग

ज्यों-ज्यों मेरे जीवनमें सादगी बढ़ती गई त्यों-त्यों बीमारियोंके लिए दवा लेनेकी ओर जो अरुचि मुझे पहले ही से थी वह भी बढ़ती गई। जब मैं डरबनमें वकालत करता था तब डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता मुझसे मिलने आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहा करती थी और कभी-कभी बदन सूज भी जाया करता था। उसका इलाज उन्होंने किया था और उससे मुझे लाभ भी हुआ था। इसके बाद देश आ

जानेतक नहीं मुझे याद पड़ता कि मुझे कहने लायक कोई बीमारी हुई हो।

परंतु जोहांसवर्गमें मुझे कब्ज रहा करता था और जब-तब सिरमें भी दर्द हुआ करता था। इधर-उधरकी दस्तावर दवायें ले-लाकर तबियतको सम्हालता रहता था। खाने-पीनेमें तो मैं परहेजगार शुरूसे ही रहा हूं; पर उससे मैं कतई रोग-मुक्त नहीं हुआ। मन बराबर यह कहता रहता था कि इस दवाके जंजालसे छूट जाऊं तो बड़ा काम हो। लगभग इसी समय मैंचेस्टरमें 'नो ब्रेक-फास्ट एसोसिएशन'की स्थापनाके समाचार मैंने पढ़े। उसकी खास दलील यह थी कि अंग्रेज लोग बहुत बार खाते हैं और बहुतेरा खा जाते हैं, रातके बारह-बारह बजेतक खाया करते हैं और फिर डाक्टरोंका घर खोजते फिरते हैं। इस बखेड़ेसे यदि कोई अपना पिंड छुड़ाना चाहें तो उन्हें ब्रेक-फास्ट अर्थात् सुबहका नाश्ता छोड़ देना चाहिए। यह बात मुझपर सर्वांशमें तो नहीं पर कुछ अंशमें जरूर घटित होती थी। मैं तीन बार पेट भरकर खाता और दोपहरको चाय भी पीता। मैं कभी अल्पाहारी न था। निरामिषाहारी होते हुए भी और बिना मसालेका खाना खाते हुए भी मैं जितनी हो सके चीजोंको स्वादिष्ट बनाकर खाता था। छः-सात बजेके पहले शायद ही कभी उठता। इससे मैंने यह नतीजा निकाला कि यदि मैं भी सुबहका खाना छोड़ दूं तो जरूर मेरे सिरका दर्द जाता रहे। मैंने ऐसा किया भी। कुछ दिन जरा मुश्किल तो मालूम पड़ा, पर साथ ही सिरका दर्द बिलकुल चला गया। इससे मुझे निश्चय हो गया कि मेरी खुराक जरूर आवश्यकतासे अधिक थी।

परंतु, कब्जकी शिकायत तो इस परिवर्तनसे भी दूर नहीं हुई। कूनेके कटि-स्नानका प्रयोग किया। उससे कुछ फर्क पड़ा, पर जितना चाहिए उतना नहीं। इसी अरसेमें उस जर्मन भोजनालयवालेने या किसी दूसरे मित्रने मेरे हाथमें जुस्ट-लिखित 'रिटर्न टू नेचर' (कुदरतकी ओर लौटो) नामक पुस्तक लाकर दी। उसमें मिट्टीके इलाजका वर्णन था।

लेखकने इस बातका भी बहुत समर्थन किया है कि हरे और सूखे फल ही मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है। केवल फलाहारका प्रयोग तो मैंने इस समय नहीं किया, पर मिट्टीका इलाज तुरंत शुरू कर दिया। उसका जादूकी तरह मुझपर असर हुआ। उसकी विधि इस प्रकार है—खेतोंकी साफ लाल या काली मिट्टी लाकर उसे आवश्यकतानुसार ठंडे पानी में भिगो लेना चाहिए। फिर साफ पतले भीगे कपड़े मे लपेटकर पेटपर रखकर बांध लेना चाहिए। मै यह पट्टी रातको सोते समय बांधता और सुबह अथवा रातको जब नींद खुल जाती निकाल डालता। इससे मेरा कब्ज निर्मूल होगया। उसके बाद मैंने मिट्टीके ये प्रयोग खुद अपनेपर तथा अपने साथियोंपर किये हैं; किंतु मुझे ऐसा याद पड़ता है कि शायद ही कभी उनसे लाभ न पहुंचा हो।

पर, हां; यहां देशमे आनेके बाद ऐसे उपचारोंपरसे मै आत्म-विश्वास खो बैठा हूं। प्रयोग करनेका, एक जगह स्थिर होकर बैठनेका, मुझे अवसर भी नहीं मिल सका है। फिर भी मिट्टी और पानीके उपचारोपर मेरा विश्वास बहुतांशमे उतना ही बना हुआ है, जितना कि आरंभमे था। आज भी एक सीमाके अंदर रहकर, खुद अपनेपर मिट्टीके प्रयोग करता हूं और मौका पड़ जानेपर अपने साथियोंको भी उसकी सलाह देता हूं। मै अपनी जिंदगीमें दो बार बहुत सख्त बीमार पड़ चुका हूं। फिर भी मेरी यह दृढ़ धारणा है कि मनुष्यको दवा लेनेकी शायद ही आवश्यकता होती है। पथ्य और पानी, मिट्टी इत्यादिके घरेलू उपचारोंसे ही हजारमें नौ-सौ-निन्यानवे बीमारियां अच्छी हो सकती है।

बार-बार वैद्य, हकीम या डाक्टरके यहा दौड़-दौड़कर जानेसे और शरीरमें अनेक चूर्ण और रसायन भरने से मनुष्य अपने जीवनको कम कर देता है। इतना ही नही, बल्कि अपने मनपरसे अपना अधिकार भी खो बैठता है। इससे वह अपने मनुष्यत्वको भी गंवा देता है और शरीरका स्वामी रहनेके बजाय उसका गुलाम बन जाता है।

यह अध्याय में रोग-शय्यापर पड़ा हुआ लिख रहा हूं। इससे कोई इन विचारों की अवहेलना न करें। अपना बीमारियों के कारणोंका मुझे पता है। मैं अपनी ही खराबियोंके कारण बीमार पड़ा हूं, इस बातका ज्ञान और भान मुझे है और मैं इसी कारण अपना धीरज नहीं छोड़ बैठा हूं। इस बीमारीको मैंने ईश्वरका अनुग्रह माना है और दवा-दारू करनेके लालचोंसे दूर रहा हूं। मैं यह भी जानता हूं कि मैं अपनी इस हठधर्मीके कारण अपने डाक्टर-मित्रोंका जी उकता देता हूँ, पर वे उदार-भावसे मेरी हठको सहन कर लेते हैं और मुझे छोड़ नहीं देते।

पर मुझे अपनी वर्तमान स्थितिका लंबा-चौड़ा वर्णन करने की यहां आवश्यकता नहीं। इसलिए अब हम फिर १९०४-५ में आ जावे।

परंतु, इस विषयमे आगे बढनेसे पहले पाठकको एक चेतावनी देना जरूरी है। इसको पढ़कर जो लोग जुस्टकी पुस्तक लें; वे उसकी सब बातोंको वेद-वाक्य न समझ लें। सभी लेखों और पुस्तकों में लेखककी दृष्टि प्राय: एकांगी रहती है। मेरे खयालमें हरएक चीज कम-से-कम सात दृष्टि-बिंदुओंसे देखी जा सकती है, और उन-उन दृष्टि-बिंदुओंके अनुसार वह बात सच भी होती है, परंतु यह याद रखना चाहिए कि सभी दृष्टि-बिंदु एक ही समय और एक ही मुकामपर सही नहीं होते। फिर कितनी ही पुस्तकोंमे बिक्रीके और नामके लालच की बुराई भी रहती है। इसलिए जो सज्जन इस पुस्तकको पढ़ना चाहें वे इसे विवेक-पूर्वक पढ़ें और यदि कोई प्रयोग करना चाहें तो किसी अनुभवीकी सलाहसे करें, या धीरज रखकर विशेष अभ्यास करनेके बाद प्रयोगकी शुरूआत करें।

: ८ :

एक चेतावनी

अपनी इस कथाके धारा-प्रवाहको फिलहाल एक अध्यायतक रोक-कर पहले इसी विषयपर कुछ और रोशनी डालनेकी आवश्यकता है।

पिछले अध्यायमें मिट्टीके प्रयोगोंके संबंधमे मैंने जो कुछ लिखा है उसी तरह भोजनके भी प्रयोग मैंने किये हैं। इसलिए उनके संबंधमें भी यहां कुछ लिख डालना उचित है। इस विषयकी और जो-कुछ बातें हैं वे प्रसंग-प्रसंगपर सामने आती जावेंगी।

भोजन-संबंधी मेरे प्रयोगों और विचारोंका सविस्तर वर्णन यहां नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस विषयपर मैंने अपनी 'आरोग्य संबंधी सामान्य ज्ञान' नामक पुस्तकमें विस्तार-पूर्वक लिखा है। यह पुस्तक मैंने 'इंडियन ओपीनियन'के लिए लिखी थी। मेरी छोटी-छोटी पुस्तिकाओंमें यह पुस्तक पश्चिममें, तथा यहां भी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई है। इसका कारण मै आजतक नहीं समझ सका हूं। यह पुस्तक महज 'इंडियन ओपीनियन'के पाठकोंके लिए ही लिखी गई थी; परंतु उसे पढ़कर बहुतेरे भाई-बहनोंने अपने जीवनमें परिवर्तन किया है और मेरे साथ चिट्ठी-पत्री भी की है, और कर रहे हैं। इसलिए उसके संबधमें यहां कुछ लिखनेकी आवश्यकता पैदा हो गई है।

इसका कारण यह है कि यद्यपि उसमें लिखे अपने विचारोंको बदलने-की आवश्यकता मुझे अभीतक नही पड़ी है, फिर भी अपने आचारमें मैंने बहुत-कुछ परिवर्तन कर लिया है, जिसे इस पुस्तकके बहुतेरे पढ़ने वाले नहीं जानते और यह आवश्यक है कि वे जल्दी जान लें।

इस पुस्तकको मैंने धार्मिक-भावनासे प्रेरित होकर लिखा है, जिस तरह कि मैंने और लेख भी लिखे है और यही धर्म-भाव मेरे प्रत्येक कार्यमें

आज भी वर्तमान है। इसलिए इस बातपर मुझे बड़ा खेद रहता है और बड़ी शर्म मालूम होती है कि आज मैं उनमेंसे कितने ही विचारोंपर पूरा अमल नहीं कर सकता हूं।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य जबतक बालक रहता है तबतक माताका जितना दूध पी लेता है, उसके अलावा फिर उसे दूसरे दूधकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यका भोजन हरे और सूखे वनपके फलके सिवा और दूसरा नहीं है। बादामादि बीज तथा अंगूरादि फलोंसे उसे शरीर और बुद्धिके पोषणके लिए आवश्यक द्रव्य मिल जाते हैं। जो मनुष्य ऐसे भोजनपर रह सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्म-संयम बहुत आसान हो जाता है। 'जैसा आहार तैसी डकार', 'जैसा भोजन तैसा जीवन' इस कहावतमें बहुत तथ्य है। यह मेरे तथा मेरे साथियोंके अनुभवकी बात है। इन विचारोंका सविस्तर प्रतिपादन मैंने अपनी आरोग्य-संबंधी उपर्युक्त पुस्तकमें किया है।

परंतु मेरी तकदीरमें यह नही लिखा था कि हिंदुस्तानमें अपने प्रयोगोंको पूर्णतातक पहुंचा दूं। खेड़ा जिलेमें सैन्य-भर्तीका काम कर रहा था, कि अपनी एक भूलकी बदौलत मृत्यु-शय्यापर जा पड़ा। बिना दूधके जीवित रहनेके लिए मैंने अबतक बहुतेरे निष्फल प्रयत्न किये हैं। जिन-जिन वैद्य-डाक्टरों और रसायन-शास्त्रियोसे मेरी जान-पहचान थी, उन सबसे मैंने मदद मांगी। किसीने मूगका पानी, किसीने महुएका तेल, किसीने बादामका दूध सुझाया। इन तमाम चीजों का प्रयोग करते हुए मैंने अपने शरीरको निचोड़ डाला, परंतु उनसे मैं रोग-शय्यासे न उठ सका।

वैद्योंने तो मुझे चरक इत्यादिसे ऐसे प्रमाण भी खोजकर बताये कि रोग-निवारणके लिए खाद्याखाद्यमे दोष नही, और काम पड़नेपर मांसादि भी खा सकते है। ये वैद्य भला मुझे दूध त्यागनेपर मजबूत बने रहनेमें कैसे मदद दे सकते थे? जहाँ 'बीफ टी' और 'बरांडी' भी जायज समझी जाती हो, वहां मुझे दूध-त्यागमें कहाँ मदद मिल सकती है?, गाय-भैसका

दूध तो मैं ले ही नही सकता था, क्योंकि मैंने व्रत ले रखा था। व्रतका हेतु तो यहा था कि दूध-मात्र छोड़ दू; परंतु व्रत लेते समय मेरे सामने गाय और भैंस माता ही थी, इस कारण तथा जीवित रहनेकी आशासे मनको ज्यों-त्यों करके फुसला लिया। इससे व्रतके अक्षरार्थको ले बकरीका दूध लेनेका निश्चय किया, यद्यपि बकरी-माताका दूध लेते समय भी मेरा मन कह रहा था कि व्रतकी आत्माका यह हनन है।

पर मुझे तो रौलट-एक्टके खिलाफ आंदोलन खड़ा करना था। यह मोह मुझे नहीं छोड़ रहा था। इससे जीनेकी भी इच्छा बनी रही और, जिसे मैं अपने जीवनका महा प्रयोग मानता हूं, वह बात रुक गई।

'खाने-पीनेके साथ आत्माका कुछ संबंध नही। वह न खाती है न पीती है। जो चीज भेटमे जाती है वह नही, बल्कि जो वचन अंदरसे निकलते हैं वे लाभ-हानि करते हैं,' इत्यादि दलीलोको मै मानता हूं। इसमें तथ्यांश है, परतु दलीलों के झगड़ेमे पड़े बिना ही यहां तो मैं अपना निश्चय ही लिख रखना चाहता हू कि जो मनुष्य ईश्वरसे डरकर चलना चाहता है, जो ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है, उस साधक या मुमुक्षुके लिए अपनी खुराकका चुनाव, त्याग, और ग्रहण—उतना ही आवश्यक है जितना कि विचार और वाचाका चुनाव, त्याग और ग्रहण आवश्यक है।

पर जिन बातोंमे मै खुद गिर गया हूं उनमें दूसरोंको मैं अपने सहारे चलनेकी सलाह न दूगा। यही नही, बल्कि चलनेसे रोकूंगा। इस कारण 'आरोग्य-सबंधी सामान्य ज्ञान'के आधारपर प्रयोग करनेवाले भाई-बहनोंको मै सावधान कर देना चाहता हूं। जब दूधका त्याग सर्वांशमें लाभदायक मालूम हो अथवा अनुभवी वैद्य-डाक्टर उसके छोड़नेकी सलाह दें तब तो ठीक, नहीं तो सिर्फ मेरी पुस्तक पढ़कर कोई सज्जन दूध न छोड़ दें। हिंदुस्तानका मेरा अनुभव अबतक तो मुझे यही बताता है कि जिनकी जठराग्नि मंद हो गई हो और जो बिछौनेपर ही पड़े रहने लायक हो गये

है उनके लिए दूधके बराबर हलका और पोषक पदार्थ दूसरा नहीं। इसलिए पठाकोंसे मेरी विनती और सलाह है कि इस पुस्तक में जो दूधकी मर्यादा सूचित की गई है; उसपर वे आरूढ़ न रहें।

इन प्रकरणोंको पढ़नेवाले कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी सज्जन दूधकी एवजमें उतनी ही पोषक और पाचक वनस्पति—केवल अपने अध्ययनके आधारपर नहीं बल्कि अनुभवके आधारपर—जानते हों तो मुझे सूचित कर उपकृत करें।

: ९ :

जबरदस्तसे मुकाबला

अब एशियाई कर्मचारियोंकी ओर निगाह डालें। इन कर्मचारियोंका सबसे बड़ा थाना जोहांसबर्गमें था। मै देखता था कि इन थानोंमें हिंदुस्तानी, चीनी आदि लोगोंका रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आतीं—"जिन लोंगोंको आनेका अधिकार है वे तो दाखिल नहीं हो सकते और जिन्हें अधिकार नहीं है वे सौ-सौ पौंड देकर आते रहते है। इसका इलाज यदि आप न करेंगे तो कौन करेगा? मेरा भी मन भीतरसे यही कहता था। यह बुराई यदि दूर न हुई तो मेरा ट्रांसवालमें रहना बेकार समझना चाहिए।

मै इसके सबूत इकट्ठे करने लगा। जब मेरे पास काफी सबूत जमा हो गये तब मैं पुलिस-कमिश्नरके पास पहुंचा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसमें दया और न्यायका भाव है। मेरी बातोंको एकदम उड़ा देनेके बजाय उसने मन लगाकर सुना और कहा कि इनका सबूत पेश कीजिए। मैने जो गवाह पेश किये उनके बयान उसने खुद लिये। उसे मेरी बातका इतमीनान हो गया, परंतु जैसा कि मै जानता था वैसा ही वह भी जानता

था कि दक्षिण अफ्रिकामें गोरे पंचोंके द्वारा गोरे अपराधियोंको दंड दिलाना मुश्किल था, पर उसने कहा—

"लेकिन फिर भी अपनी तरफसे तो कोशिश करनी चाहिए। इस भयसे कि ये अपराधी जूरीके हाथों छूट जायंगे, उन्हें गिरफ्तार न कराना भी ठीक नहीं। मैं तो उन्हें जरूर पकड़वा लूंगा।"

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अफसरोंके ऊपर भी मुझे शक तो था, लेकिन मेरे पास उनके खिलाफ कोई सबल प्रमाण नहीं था। दोके विषयमें तो मुझे लेश-मात्र सदेह न था। इसलिए उन दोनोंके नाम वारंट जारी हुए।

मेरा काम तो ऐसा ही था, जो छिपा नही रह सकता था। बहुतसे लोग यह देखते थे कि मै प्रायः रोज पुलिस-कमिश्नरके पास जाता हूं। इन दो कर्मचारियोंके छोटे-बड़े कुछ जासूस लगे ही रहते थे। वे मेरे दफ्तरके आस-पास मंडराया करते और मेरे आने-जानेके समाचार उन कर्मचारियोंको सुनाते रहते। यहां मुझे यह भी कह देना चाहिए कि उन कर्मचारियोंकी ज्यादती यहांतक बढ़ गई कि उन्हें बहुत जासूस नही मिलते थे। हिंदुस्तानियों और चीनियोंकी यदि मुझे मदद न मिलती तो ये कर्मचारी नहीं पकड़े जा सकते थे।

उन दो कर्मचारियोंमेंसे एक भाग निकला। पुलिस-कमिश्नरने उसके नाम बाहरका वारंट निकालकर उसे पकड़ मंगाया और मुकदमा चला। सबूत भी काफी पहुंच गया था। इधर जूरीके पास एकके भाग जानेका तो प्रमाण भी था। फिर भी वे दोनों बरी हो गये।

इससे मैं स्वभावतः बहुत निराश हुआ। पुलिस-कमिश्नरको भी दुःख हुआ। वकीलोंके रोजगारके प्रति मेरे मनमें घृणा उत्पन्न हुई। बुद्धिका उपयोग अपराधको छिपानेमे देख मुझे यह बुद्धि ही खलने लगी।

उन दोनों कर्मचारियोंके अपराधकी शोहरत इतनी फैल गई थी कि उनके छूट जानेपर भी सरकार उन्हें अपने पदपर न रख सकी वे दोनों

अपनी जगहसे निकाले गये। इससे एशियाई थानेकी गंदगी कुछ कम हुई और लोगोंको भी अब धीरज बंधा और हिम्मत भी आई।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बंध गई। मेरी वकालत भी चमकी। लोगोंके जो सैकड़ों पौंड रिश्वतमें जाते थे, वे सब-के-सब नहीं तो भी बहुत अधिक बच गये। रिश्वतखोर तो अब भी हाथ मार ही लेते थे, पर यह कहा जा सकता है कि ईमानदार लोगोंके लिए अपने ईमानको कायम रखनेकी सुविधा होगई थी।

वे कर्मचारी इतने अधम थे; लेकिन, मैं कह सकता हूं, उनके प्रति मेरे मनमें कुछ भी व्यक्तिगत दुर्भाव नहीं था। मेरे इस स्वभावको वे जानते थे। और जब उनकी असहाय अवस्थामें सहायता करनेका मुझे अवसर मिला तो मैंने उसकी सहायता भी की है। जोहांसवर्गकी म्युनिसिपैलिटीमें यदि मैं उनका विरोध न करूं तो उन्हें नौकरी मिल सकती थी इसके लिए उनका एक मित्र मुझसे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलानेमें मदद करना मंजूर किया। और उनकी नौकरी लग भी गई।

इसका यह असर हुआ कि जिन गोरे लोगोंके संपर्कमें मैं आया वे मेरे विषयमें निःशंक होने लगे। और यद्यपि उनके महकमोंके विरुद्ध मुझे कई बार लड़ना पडता, कठोर शब्द कहने पड़ते, फिर भी वे मेरे साथ मधुर संबंध रखते थे। ऐसा बर्ताव करना मेरा स्वभाव ही बन गया है, इसका ज्ञान मुझे उस समय न था। ऐसा बर्ताव सत्याग्रहकी जड़ है यह अहिंसाका ही एक अंग-विशेष है, यह तो मैं बादको समझ पाया हूं।

मनुष्य और उसका काम ये दो जुदा चीजे हैं। अच्छे कामके प्रति मनमें आदर और बुरेके प्रति तिरस्कार अवश्य ही होना चाहिए, पर अच्छे-बुरे काम करनेवालेके प्रति हमेशा मनमें आदर अथवा दयाका भाव होना चाहिए। यह बात समझनेमें तो बड़ी सरल है, लेकिन उसके अनुसार आचरण बहुत ही कम होता है। इसीसे जगत्में हम इतना जहर फैला हुआ देखते हैं।

सत्यकी खोजके मूलमें ऐसी अहिंसा व्याप्त है। यह मैं प्रतिक्षण

अनुभव करता हूं कि जबतक यह अहिंसा हाथ न लगेगी, तबतक सत्य हाथ नही आ सकता। किसी तंत्र या प्रणालीका विरोध तो अच्छा है, लेकिन उसके संचालकका विरोध करना मानो खुद अपना ही विरोध करना है। कारण यह है कि हम सबकी सृष्टि एक ही कूची के द्वारा हुई है। हम सब एक ही ब्रह्मदेवकी प्रजा हैं। संचालक अर्थात् उस व्यक्तिके अंदर तो अनंत शक्ति भरी हुई है, इसलिए यदि हम उसका अनादर—तिरस्कार करेंगे तो उसकी शक्तियोंका, गुणोंका भी अनादर होगा। ऐसा करनेसे तो उस संचालकको एवं प्रकारांतरसे सारे जगत्को हानि पहुंचेगी।

: १० :

एक पुण्य-स्मरण और प्रायश्चित्त

मेरे जीवनमें ऐसी अनेक घटनायें होती रही है, जिनके कारण मैं विविध धर्मो तथा जातियोंके निकट परिचयमें आ सका हूं। इन सब अनुभवोंपरसे यह कह सकते है कि मैंने घरके या बाहरके, देशी या विदेशी हिंदू या मुसलमान तथा ईसाई, पारसी या यहूदियोंसे भेद-भावका खयाल तक नही किया। मै कह सकता हूं कि मेरा हृदय इस प्रकारके भेद-भावको जानता ही नहीं। इसको मै अपना एक गुण नही मानता हूं, क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि यम-नियमोके अभ्यासका तथा उनके लिए अब भी प्रयत्न करते रहनेका पूर्ण ज्ञान मुझे है उसी प्रकार इस अ-भेद-भावको बढ़ानेके लिए मैंने कोई खास प्रयत्न किया है ऐसा याद नहीं पड़ता।

जिस समय डरबनमें मैं वकालत करता था। उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे हिंदू और ईसाई होते थे। अथवा प्रांतोंके हिसाब से कहें तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नहीं आता

कि कभी उनके विषयमें मेरे मनमें भेद-भाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें बिलकुल घरके ही जैसा समझता और उसमें मेरी धर्मपत्नीकी ओरसे यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मैं उससे लड़ता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मां-बाप पंचम जातिके थे। हमारे घरकी बनावट पश्चिमी ढंग की थी। इस कारण कमरे में मोरी नही होती थी—और न होनी चाहिए थी, ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरोंमें मोरियोंकी जगह पेशाबके लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे उठाकर रखनेका काम हम दोनों—दंपतीका था, नौकरोंका नही। हां, जो कारकुन लोग अपनेको हमारा कुटुबी-सा मानन लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ कर भी डालते थे, लेकिन पंचम जातिमें जन्मा यह कारकुन नया था। उसका बर्तन हमें ही उठाकर साफ करना चाहिए था, और बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देतीं, लेकिन इन भाईका बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ, इससे हम दोनोंमें झगड़ा मचा। यदि मैं उठाता हूं तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता था। और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आंखोसे मोतीकी बूंदें टपक रही हैं, एक हाथमें बर्तन लिये अपनी लाल-लाल आंखोसे उलहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियोंसे उतर रही हैं। वह चित्र मैं आज भी ज्यों-का-त्यों खीच सकता हूं।

परंतु मै जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निष्ठुर और कठोर भी था। मैं अपनेको उसका शिक्षक मानता था। इससे, अपने अंधप्रेमके अधीन हो मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बर्तन उठा ले जाने-भरसे मुझे संतोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा कि वह हंसते और हरखते हुए उसे ले जाय। इसलिए मैंने उसे डांटा-डपटा भी। मैंने उत्तेजित होकर कहा—"देखो, ये बखेड़ा मेरे घरमें नहीं चल सकेगा।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाईको तीरकी तरह लगा। उसने धधकते दिलसे कहा—"तो लो, रखो यह अपना घर! मैं चली!"

उस समय मैं ईश्वरको भूल गया था। दयाका लेशमात्र मेरे हृदयमें न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ीके सामने ही बाहर

जानेका दरवाजा था। मैं उस दीन अबलाका हाथ पकड़कर दरवाजेतक खींचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आंखों में गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोली—

"तुम्हें तो कुछ शरम है नहीं; पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊं कहां? मां-बाप भी यहां नहीं कि उनके पास चली जाऊं। मैं ठहरी स्त्री-जाति। इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बंद कर लो—कोई देख लेगा तो दोनोंकी फजीहत होगी।"

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा; पर मनमें शरमा जरूर गया। दरवाजा बंद कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी तब मैं भी उसे छोड़कर कहां जा सकता था? इस तरह हमारे आपसमें लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं; परंतु उनका परिणाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमे पत्नीने अपनी अद्भुत सहनशीलताके द्वारा मुझपर विजय प्राप्त की है।

ये घटनाएं हमारे पूर्व-युगकी है, इसलिए उनका वर्णन मैं आज अलिप्त-भावसे करता हूं। आज मैं तबकी तरह मोहांध पति नहीं हूं, न उसका शिक्षक ही हूं। यदि चाहें तो कस्तूरबाई आज मुझे धमका सकती हैं। हम आज एक-दूसरेके भुक्त-भोगी मित्र है, एक-दूसरेके प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई हैं, जो मेरी बीमारियोंमें बिना प्रतिफलकी इच्छा किये सेवा-शुश्रूषा करती है।

यह घटना १८९८की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालनके विषयमें कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जबकि मुझे इस बातका स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःखकी साथिन है। मैं यह समझकर बरताव करता था कि पत्नी विषय-भोग की भाजन है, उसका जन्म पतिकी हर तरहकी आज्ञाओंका पालन करनेके लिए हुआ है।

किंतु १९०० ई०से मेरे इन विचारोंमें गहरा परिवर्तन हुआ। १९०६में उसका परिणाम प्रकट हुआ। परंतु इसका वर्णन आगे प्रसंग आने पर होगा। यहां तो सिर्फ इतना बताना काफी है कि ज्यों-ज्यों मैं निर्विकार होता गया त्यों-त्यों मेरा घर-संसार शांत, निर्मल और सुखी होता गया और अब भी होता जाता है।

इस पुण्य-स्मरणसे कोई यह न समझ लें कि हम आदर्श दंपती हैं, अथवा मेरी धर्म-पत्नीमें किसी किस्मका दोष नहीं है, अथवा हमारे आदर्श अब एक हो गये हैं। कस्तूरबाई अपना स्वतंत्र आदर्श रखती हैं या नहीं, यह तो वह बेचारी खुद भी शायद न जानती होंगी। बहुत संभव है कि मेरे आचरणकी बहुतेरी बातें उसे अब भी पसंद न आती हों; परंतु अब हम उनके बारेमें एक-दूसरे से चर्चा नहीं करते, करनेमें कुछ सार भी नहीं है। उसे न तो उसके मां-बापने शिक्षा दी है; न मैं ही, जब समय था, शिक्षा दे सका; परंतु उसमें एक गुण बहुत बड़े परिमाणमें है, जो दूसरी कितनी ही हिंदू-स्त्रियोंमें थोड़ी-बहुत मात्रामें पाया जाता है। मनसे हो या बे-मनसे, जानमें हो या अनजानमें मेरे पीछे-पीछे चलनेमें उसने अपने जीवनकी सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बितानेके मेरे प्रयत्नमें उसने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनोंकी बुद्धि-शक्तिमे बहुत अतर है, फिर भी मेरा खयाल है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

: ११ :

अंग्रेजोंसे गाढ़ परिचय

इस अध्यायतक पहुंचनेपर, अब ऐसा समय आ गया है जब मुझे पाठकों को बताना चाहिए कि सत्यके प्रयोगोंकी यह कथा किस तरह लिखी

जा रही है। जब कथा लिखनेकी शुरुआत की थी तब मेरे पास उसका कोई ढांचा तैयार न था। न अपने साथ पुस्तकें, डायरी अथवा दूसरे कागज-पत्र रखकर ही इन अध्यायोंको लिख रहा हूं। जिस दिन लिखने बैठता हूं उस दिन अंतरात्मा जैसी प्रेरणा करती है, वैसा लिखता जाता हूं। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि जो क्रिया मेरे अदर चलती रहती है वह अंतरात्माकी ही प्रेरणा है; परंतु बरसोंसे मैं जो अपने छोटे-छोटे और बड़े-बड़े कहे जानेवाले कार्य करता आया हूं उनकी जब छान-बीन करता हूं तो मुझे यह कहना अनुचित नही मालूम होता कि वे अंतरात्माकी प्रेरणाके फल हैं।

अंतरात्माको न तो मैंने देखा है, न जाना है। संसारकी ईश्वरपर जो श्रद्धा है उसे मैंने अपनी बना लिया है। यह श्रद्धा ऐसी नही है जो किसी प्रकार मिटाई जा सके। इसलिए अब वह मेरे नजदीक श्रद्धा नही; बल्कि अनुभव हो गया है। फिर भी अनुभवके रूपमें उसका परिचय कराना एक प्रकारसे सत्यपर प्रहार करना है। इसलिए यही कहना शायद अधिक उचित होगा कि उसके शुद्ध रूपका परिचय देनेवाला शब्द मेरे पास नहीं है। मेरी यह धारणा है कि इसी अदृष्ट अंतरात्माके वशवर्ती होकर मैं यह कथा लिख रहा हू।

पिछला अध्याय जब मैंने शुरू किया तब इसका नाम लिखा था—'अंग्रेजोसे परिचय'; परंतु उस अध्यायको लिखते हुए मैंने देखा, कि उस परिचयका वर्णन करनेके पहले मुझे 'पुण्य-स्मरण' लिखनेकी आवश्यकता है। तब 'पुण्य-स्मरण' लिखा और बादको उसका वह पहला नाम बदलना पड़ा।

अब इस प्रकरणको लिखतेहुए फिर एक नया धर्म-संकट पैदा हो गया है। अंग्रेजोंके परिचयोंका वर्णन करते समय क्या-क्या लिखूं और क्या-क्या न लिखूं यह महत्त्वका प्रश्न उपस्थित हो गया है। यह आवश्यक बात न लिखी जाय तो सत्यको दाग लग जानेका अंदेशा है; परंतु संभव है कि इस कथाका लिखना भी आवश्यक न हो—ऐसी दशामें आवश्यक और अनावश्यकके झगड़ेका न्याय सहसा कर देना कठिन हो जाता है।

आत्म-कथाएं इतिहासके रूपमें कितनी अपूर्ण होती है और उनके लिखने में कितनी कठिनाइयां आती हैं—इसके विषयमें पहले मैंने कहीं पढ़ा था; पर उसका अर्थ मैं आज अधिक अच्छी तरह समझ रहा हूं। सत्यके प्रयोगोंकी इस आत्म-कथामे मै वे सभी बाते नही लिख रहा हूं जिन्हे मै जानता हूं। कौन कह सकता है कि सत्यको दर्शानेके लिए मुझे कितनी बातें लिखनी चाहिए। या यों कहें कि एकतर्फा अधूरे सबूतकी न्याय-मंदिरमें क्या कीमत हो सकती है? इन पिछले प्रकरणोंपर यदि कोई फुरसतवाला आदमी मुझसे जिरह करने लगे तो न जाने कितनी रोशनी इन प्रकरणोंपर पड़ सकती है? और यदि फिर एक आलोचककी दृष्टिसे कोई उसकी छान-बीन करे तो वह कितनी ही 'पोल' खोलकर दुनिया को हंसा सकता है और खुद कुप्पा बन सकता है?

इन बातोंपर जब विचार उठने लगते है तो ऐसा मालूम होने लगता है कि इन अध्यायोंको लिखनेका विचार स्थगित कर दिया जाय तो क्या ठीक न होगा? परंतु जबतक यह साफ तौरपर न मालूम हो कि स्वीकृत अथवा आरंभित कार्य अनीतिमय है तबतक उसे न छोड़ना चाहिए। इस न्यायके आधारपर जबतक अंतरात्मा मुझे न रोके तबतक इन अध्यायोंको लिखते जानेका निश्चय कायम रखता हूं।

यह कथा टीकाकारोको संतुष्ट करनेके लिए नहीं लिखी जाती है। सत्यके प्रयोगोंमे इसे भी एक प्रयोग ही समझ लेना चाहिए। फिर इसमें यह दृष्टि तो है ही कि मेरे साथियोंको इसके द्वारा कुछ-न-कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका आरंभ ही उनके संतोषके लिए किया है। स्वामी आनंद और जयरामदास मेरे पीछे न पड़ते तो इसकी शुरूआत भी शायद ही हो पाती! इस कारण यदि इस कथाके लिखनेमे कुछ बुराई होती हो तो इसके दोष-भागी वे भी है।

अब इस अध्यायके मूल विषयपर आता हूं। जिस तरह मैंने हिंदुस्तानी कारकुनो तथा दूसरे लोगोंको अपने घरमे बतौर कुटुंबीके रखा था, उसी तरह अंग्रेजोंको भी रखने लगा। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहनेवाले

दूसरे लोगोंके लिए अनुकूल न था; परंतु मैंने उसकी परवा न करके उन्हें रखा। यह नही कहा जा सकता कि सबको इस तरह रखकर मैंने हमेशा बुद्धिमानीका ही काम किया है। कितने ही लोगोंसे ऐसा संबंध बांधनेका कटु अनुभव भी हुआ है; परंतु ऐसे अनुभव तो क्या देशी या क्या विदेशी सबके संबंधमें हुए हैं। उन कटु अनुभवोंपर मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ है। कटु अनुभवोंके होते रहते भी और यह जानते हुए भी कि दूसरे मित्रोंको असुविधा होती है, उन्हें कष्ट सहना पड़ता है, मैंने अपने इस रवैयेको नहीं बदला, और मित्रोंने मेरी इस ज्यादतीको उदारतापूर्वक सहन किया है। नये-नये लोगोंसे बांधे गये ऐसे संबंध जब-जब मित्रोंके लिए कष्टदायी साबित हुए है तब-तब उन्हींको मैंने बेखटके कोसा है; क्योंकि मै यह मानता हूं कि आस्तिक मनुष्य तो अपने अंतरस्थ ईश्वरको सबमे देखना चाहता है और इसलिए उसके अंदर सबके साथ अलिप्ततासे रहनेकी क्षमता अवश्य आनी चाहिए और उस शक्तिको प्राप्त करनेका उपाय ही यह है कि जब-जब ऐसे अनचाहे अवसर आवें तब-तब उनसे दूर न भागते हुए नये-नये संबंधोंमें पड़ें और फिरभी अपनेको राग-द्वेषसे ऊपर उठाए रखें।

इस कारण जब बोअर-ब्रिटिश-युद्ध हुआ तब यद्यपि मेरा सारा घर भरा हुआ था, तथापि मैंने जोहांसबर्गसे आये दो अंग्रेजोंको अपने यहां रखा। दोनों थियॉसफिस्ट थे। उनमेसे एकका नाम था किचन, जिनके बारेमें हमें और आगे जानना होगा। इन मित्रोंके सहवासने भी धर्मपत्नी-को रुलाकर छोड़ा था। मेरे निमित्त रोनेके अवसर उसकी तकदीरमें बहुतेरे आये है। बिना किसी परदे या परहेजके इतने निकट-संबंधमें अंग्रेजोंको घरमें रखनेका यह पहला अवसर था। हां इंग्लैडमें अलबत्ता मै उनके घरमें रहा था; पर वहां तो मैंने अपनेको उनकी रहन-सहनके अनुकूल बना लिया था और वहांका रहना लगभग वैसा ही था जैसा कि होटलमें रहना; पर यहांकी हालत वहांसे उलटी थी। ये मित्र मेरे कुटुंबी बनकर रहे थे। बहुतांशमें उन्होंने भारतीय रहन-सहनको अपना लिया था। मेरे घरका बाहरी साज-सामान यद्यपि अंग्रेजी ढंगका था

फिर भी भीतरी रहन-सहन और खान-पान आदि प्रधानतः हिन्दुस्तानी था। यद्यपि मुझे याद पड़ता है कि उनके रखनेसे हमें बहुतेरी कठिनाइयां पैदा हुई थी; फिर भी मै यह कह सकता हूं कि वे दोनों सज्जन हमारे घरके दूसरे लोगोंके साथ मिल-जुल गये थे। डरवनकी अपेक्षा जोहांसवर्गके ये संबंध वहुत आगेतक गये थे।

: १२ :

अंग्रेजोंसे परिचय (चालू)

जोहांसवर्गमे मेरे पास एक वार चार हिंदुस्तानी मुंशी हो गये थे। उन्हें मुंशी कहूं या वैरा कहूं, यह कहना कठिन है; परंतु इतनेसे मेरा काम न चला। टाईपिंगके विना काम चल ही नहीं सकता था। हममेंसे सिर्फ मुझको ही टाईपिंगका थोड़ा ज्ञान था। सो इन चार युवकोंमेंसे दोको टाइ-पिंग सिखाया; परंतु वे अंग्रेजी कम जानते थे। इससे उनका टाईपिंग कभी शुद्ध और अच्छा न हो सका। फिर इन्हींमेंसे मुझे हिसाब-लेखक तैयार करना था। इधर नेटालसे मैं अपने मन माफिक किसीको बुला नहीं सकता था; क्योंकि परवानेके वगैर कोई हिंदुस्तानी वहां आ नही सकता था। और अपनी सुविधाके लिए मैं राज-कर्मचारियोंसे कृपा-भिक्षा मांगने-को तैयार न था।

इससे मै सोचमे पड़ गया। काम इतना बढ़ गया कि पूरी-पूरी मेहनत करनेपर भी इधर वकालतका और उधर सार्वजनिक कामका भार सम्हाल नहीं पाता था।

अंग्रेज कारकुन—फिर वह स्त्री हो या पुरुष—मिल जानेसे भी मेरा काम चल सकता था; पर शंका यह थी कि 'काले' आदमीके पास भला कोई गोरा कैसे नौकरी करेगा? परंतु मैंने तय किया कि कम-से-कम

कोशिश तो कर देखनी चाहिए। टाइप-राइटरोंके एजेंटसे मेरा कुछ परिचय था। मैं उससे मिला और कहा कि यदि कोई टाइपिस्ट भाई या बहन ऐसा हो जिसे 'काले' आदमीके यहां काम करनेमें कोई उज्र न हो तो मेरे लिए तलाश कर दें। दक्षिण-अफ्रिकामें लघु-लेखन (शोर्टहैंड) अथवा टाइपिंगका काम करनेवाली अधिकांशमें स्त्रियां ही होती हैं। पूर्वोक्त एजेंटने मुझे आश्वासन दिया कि मैं एक शोर्टहैंड-टाइपिस्ट आपको खोज दूंगा। मिस डिक नामक एक स्कॉच कुमारी उसके हाथ लगीं। वह हाल ही स्काटलैंडसे आई थीं। जहां भी कहीं प्रामाणिक नौकरी मिल जाय वहां करनेमें उसे कोई आपत्ति न थी। उसे काममें लगनेकी भी जल्दी थी। उस एजेंटने उस कुमारिकाको मेरे पास भेजा। उसे देखते ही मेरी नजर उसपर ठहर गई। मैंने उससे पूछा—

"तुमको एक हिंदुस्तानीके यहां काम करनेमें आपत्ति तो नहीं है ?"

उसने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—"बिलकुल नहीं।"

"क्या वेतन लोगी ?"

"साढ़े सत्रह पौंड अधिक तो न होंगे ?"

"तुमसे मैं जिस कामकी आशा रखता हूं वह ठीक-ठीक कर दोगी तो इतनी रकम बिलकुल ज्यादा नहीं है। तुम कब कामपर आ सकोगी ?

"आप चाहें तो अभी।"

इस बहनको पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और उसी समय उसे अपने सामने बैठकर चिट्ठियां लिखवाने लगा। इस कुमारीने अकेले मेरे कारकुनका ही नहीं; बल्कि सगी लड़की या बहनका भी स्थान मेरे नजदीक सहज ही प्राप्त कर लिया। मुझे उसे कभी किसी बातपर डांटना-डपटना नहीं पड़ा। शायद ही कभी उसके काममें गलती निकालनी पड़ी हो। हजारों पौंडके देन-लेनका काम एक बार उसके हाथमें था और उसका हिसाब-किताब भी वह रखती थी। वह हर तरहसे मेरे विश्वासका पात्र हो गई थी। यह तो ठीक; पर मैं उसकी गुह्यतम भावनाओंको जानने योग्य उसका विश्वास प्राप्त कर सका था और यह मेरे नजदीक एक बड़ी

बात थी। अपना जीवन-साथी पसंद करनेमें उसने मेरी सलाह ली थी। कन्या-दान करनेका सौभाग्य भी मुझीको प्राप्त हुआ था। मिस डिक जब मिसेज मैकडॉनल्ड हो गईं तब उन्हें मुझसे अलग होना आवश्यक था। फिर भी, विवाहके बाद भी, जब-जब जरूरत होती मुझे उनसे सहायता मिलती थी।

परंतु दफ्तरमें एक शोर्टहैंड-राइटरकी जरूरत तो थी ही। वह भी पूरी हो गई। उस बहनका नाम था मिस श्लेशिन। मि० कैलनबेक उसे मेरे पास लाये थे। मि० कैलनबेकका परिचय पाठकोंको आगे मिलेगा। यह बहन आज ट्रांसवालमें किसी हाईस्कूलमें शिक्षिकाका काम करती है। जब मेरे पास यह आई थी तब उसकी उम्र १७ वर्षकी होगी। उसकी कितनी ही विचित्रताओंके आगे मैं और मि० कैलनबेक हार खा जाते। वह नौकरी करने नहीं आई थी। उसे तो अनुभव प्राप्त करना था। उसके रगो-रेशेमें कहीं रंग-द्वेषका नाम न था। न उसे किसी की परवा ही थी। वह किसीका अपमान करनेसे भी नहीं हिचकती थी। अपने मनमें जिसके संबंधमें जो विचार आते हों वह कह डालनेमें जरा संकोच न रखती थी। अपने इस स्वभावके कारण वह कई बार मुझे कठिनाइयोंमें डाल देती थी; परंतु उसका हृदय शुद्ध था, इससे कठिनाइयां दूर भी हो जाती थी। उसका अंग्रेजी ज्ञान मैंने अपनेसे हमेशा अच्छा माना था, फिर उसकी वफादारीपर भी मेरा पूर्ण विश्वास था। इससे उसके टाइप किये हुए कितने ही पत्रोंपर बिना दोहराये दस्तखत कर दिया करता था।

उसके त्याग-भावकी सीमा न थी। बहुत समयतक तो उसने मुझसे सिर्फ ६ पौंड महीना ही लिया और अंतमे जाकर १० पौंडसे अधिक लनेसे साफ इंकार कर दिया। यदि मैं कहता कि ज्यादा ले लो तो मुझे डांट देती और कहती—"मै यहां वेतन लेने नहीं आई हूं। मुझे तो आपके आदर्श प्रिय हैं। इस कारण मै आपके साथ रह रही हूं।"

एक बार आवश्यकता पड़ने पर मुझसे उसने ४० पौंड उधार लिये थे—और पिछले साल सारी रकम उसने मुझे लौटा दी।

त्याग-भाव उसका जैसा तीव्र था वैसी ही उसकी हिम्मत भी जबरदस्त थी! मुझे स्फटिककी तरह पवित्र और वीरतामें क्षत्रियको भी लज्जित करनेवाली जिन महिलाओंसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमें मै इस बालिकाकी गिनती करता हूं। आज तो वह प्रौढ़ कुमारिका है। उसकी वर्त्तमान मानसिक स्थितिसे मैं परिचित नही हूं; परतु इस बालिकाका अनुभव मेरे लिए सदा एक पुण्य-स्मरण रहेगा और यदि मैं उसके संबंधमें अपना अनुभव न प्रकाशित करूं तो मै सत्यका द्रोही बनूंगा।

काम करनेमे वह न दिन देखती थी न रात। रातमें जब भी कभी हो अकेली चली जाती और यदि मै किसीको साथ भेजना चाहता तो लाल-पीली आंखें दिखाती। हजारों जवांमर्द भारतीय उसे आदरकी दृष्टिसे देखते थे और उसकी बात मानते थे। जब हम सब जेलमें थे, जबकि जिम्मेदार आदमी शायद ही कोई बाहर रहा था, तब उस अकेली ने सारी लड़ाईका काम सम्हाल लिया था। लाखों का हिसाब उसके हाथमें, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथमें और 'इंडियन ओपीनियन' भी उसीके हाथमें---ऐसी स्थिति आ पहुंची थी; पर वह थकना नही जानती थी।

मिस श्लेशिनके बारेमें लिखते हुए मै थक नही सकता; पर यहां तो सिर्फ गोखलेका प्रमाण-पत्र देकर इस अध्यायको समाप्त करता हूं। गोखलेने मेरे तमाम साथियोंसे परिचय कर लिया और इस परिचयसे उन्हें बहुतोंसे बहुत संतोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्र के बारेमें अंदाज लगानेका शौक था। मेरे तमाम भारतीय और यूरोपीय साथियोंमें उन्होंने मिस श्लेशिनको पहला नंबर दिया था। "इतना त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत कम लोगोंमें देखी है। मेरी नजरमें तो मिस श्लेशिनका नंबर तुम्हारे सब साथियोंमें पहला है।"

: १३ :

'इंडियन ओपीनियन'

अभी और यूरोपियनोंके गाढ़ परिचय का वर्णन करना बाकी है; किंतु सके पहले दो-तीन जरूरी बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक है।

एक परिचय तो यहीं देता हूं। अकेली मिस डिकके ही आ जानेसे मेरा काम पूरा नहीं हो सकता था। मि० रिचका जिक्र मैं पहले कर चुका हूं। उसके साथ तो मेरा खासा परिचय था ही। वह एक व्यापारी गद्दीके व्यवस्थापक थे। मैंने उन्हें सुझाया कि वह उस कामको छोड़कर मेरे साथ काम करें। उन्हें यह पसंद हुआ और वह मेरे दफ्तरमें काम करने लगे। इससे मेरे कामका बोझ हलका हुआ।

इसी अरसेमें श्री मदनजीतने 'इडियन ओपीनियन' नामक अखबार निकालने का इरादा किया। उन्होंने उसमे मेरी सलाह और मदद मांगी। छापाखाना तो उनका पहलेसे ही चल रहा था। इसलिए अखबार निकालनेके प्रस्तावसे मै सहमत हो गया। बस १९०४ मे 'इंडियन ओपीनियन' का जन्म हो गया। मनसुखलाल नाजर उसके संपादक हुए; पर सच पूछिए तो संपादकका असली बोझ मुझपर ही आ पड़ा। मेरे नसीबमें तो हमेशा प्रायः दूर रहकर ही पत्र-सचालन का काम रहा है।

पर यह बात नही कि मनसुखलाल नाजर संपादनका काम नहीं कर सकते थे। वह देसके कितने ही अखबारोंमें लिखा करते थे; परतु दक्षिण अफ्रिकाके अटपटे प्रश्नोंपर मेरे मौजूद रहते हुए स्वतंत्र-रूपसे लेख लिखनेकी हिम्मत उन्हें न हुई। मेरी विवेकशीलतापर उनका अतिशय विश्वास था। इसलिए जिन-जिन विषयोंपर लिखना आवश्यक होता उनपर लेखादि लिखनेका बोझ वह मुझीपर रख देते।

'इंडियन ओपीनियन' साप्ताहिक था और आज भी है। पहले-पहल वह गुजराती, हिंदी, तामिल और अंग्रेजी इस चार भाषाओंमे निकलता

था; परंतु मैंने देखा कि तामिल और हिंदी-विभाग नाम-मात्रके लिए थे। मैंने यह भी अनुभव किया कि उनके द्वारा भारतीयोंकी सेवा नहीं हो रही थी। इन विभागोंको कायम रखने में मुझे झूठका आश्रय लेनेका आभास हुआ—इस कारण उन्हें बंद करके शांति प्राप्त की।

मुझे यह खयाल न था कि इस अखबारमें मुझे रुपया भी लगाना पड़ेगा; परंतु थोड़े ही अरसेके बाद मैंने देखा कि यदि मैं उसमें रुपया नहीं लगाता हूं तो वह बिलकुल चल ही नहीं सकता था। यद्यपि उसका संपादक मैं न था फिर भी भारतीय और गोरे सब लोग इस बातको जान गये थे कि उसके लेखोंकी जिम्मेदारी मुझीपर है। फिर अगर अखबार नहीं निकला होता तो एक बात थी; पर निकल चुकनेके बाद उसके बंद होनेसे सारे भारतीय-समाजकी बदनामी होती थी और उसे हानि पहुंचनेका भी पूरा भय था। इसलिए मैं उसमे रुपये लगाता गया और अतको यहाँतक नौबत आ गई कि मेरे पास जो कुछ बच जाता था सब उसके अर्पण होता था। ऐसा भी समय मुझे याद है जब उसमें प्रति मास ७५ पौंड मुझे भेजना पड़ता था।

परंतु इतना अरसा हो जानेके बाद मुझे प्रतीत होता है कि इस अखबारके द्वारा भारतीय समाजकी अच्छी सेवा हुई है। उसके द्वारा धन उपार्जन करनेका तो इरादा ठेठसे ही किसीका न था।

जबतक उसका सूत्र मेरे हाथमें था तबतक उसमें जो कुछ परवर्तन हुए वे मेरे जीवनके परिवर्तनोंके सूचक थे। जिस प्रकार आज 'यंग-इंडिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवनके कितने अंशका निचोड़ हैं उसी प्रकार 'इंडियन ओपीनियन' भी था। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्माको उंडेलता और उस चीजको समझानेका प्रयत्न करता जिसे मैं सत्याग्रहके नामसे पहचानता था। जेलके दिनोंको छोड़कर दस वर्षतक अर्थात् १९१४ तकके 'इंडियन ओपीनियन'का शायद ही कोई अंक ऐसा गया हो जिसमें मैंने एक भी शब्द बिना विचारे, बिना तौले लिखा हो अथवा महज किसीको खुश करनेके लिए लिखा हो या जान-बूझकर

अत्युक्ति की हो। यह अखबार मेरे लिए संयमकी तालीमका काम देता था, मित्रोंके लिए मेरे विचार जानने का साधन हो गया था और टीका-कारोंको उसमेंसे टीका करनेकी सामग्री बहुत थोड़ी मिल सकती थी। मैं उन्हें जानता हूं कि उसके लेखोंका बदौलत टीककारोंको अपनी कलमपर अंकुश रखना पड़ता था। यदि यह अखबार न होता तो सत्याग्रह-संग्राम न चल सकता। पाठक इसे अपना पत्र समझते थे और इसमें उन्हें सत्याग्रह-संग्रामका तथा दक्षिण अफ्रिका-स्थित हिन्दुस्तानियोंकी दशाका सच्चा चित्र दिखाई पड़ता था।

इस पत्रके द्वारा मुझे रंग-बिरंगे मनुष्य-स्वभावको परखनेका बहुत अवसर मिला। इसके द्वारा मैं संपादक और ग्राहकके बीच निकट और स्वच्छ संबंध बांधना चाहता था। इसलिए मेरे पास ढेर-की-ढेर चिट्ठियां ऐसी आतीं जिनमे लेखक अपने अंतरको मेरे सामने खोलते थे। इस सिलसिले में तीखें, कड़ए, मीठे तरह-तरहके पत्र और लेख मेरे पास आते। उन्हें पढ़ना, उनपर विचार करना, उनके विचारोंका सार निकालकर उन्हें जवाब देना, यह मेरे लिए बड़ा शिक्षादायक काम हो गया था। इसके द्वारा मुझे ऐसा अनुभव होता था मानों मैं वहाँकी बातों और विचारोंको अपने कानोंसे सुनता हूं। इससे मैं संपादककी जिम्मेदारीको खूब समझने लगा और अपने समाजके लोगोंपर जो नियंत्रण मेरा हो सका उसकी बदौ-लत भावी संग्राम शक्य, सुशोभित और प्रबल हुआ।

'इंडियन ओपीनियन' के प्रथम मासके कार्य-कालमें ही मुझे यह अनुभव हो गया था कि समाचार-पत्रोंका संचालन सेवा-भावसे ही होना चाहिए। समाचार-पत्र एक भारी शक्ति है; परन्तु जिस प्रकार निरंकुश जल-प्रवाह कई गांवोंको डुबो देता और फसलको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी प्रकार निरंकुश कलम की धारा भी सत्यानाश कर देती है। यह अंकुश यदि बाहरी हो तो वह इस निरंकुशतासे भी अधिक जह-रीला साबित होता है। अतः लाभदायक तो अंदरका ही अंकुश हो सकता है।

यदि इस विचार-सरणिमे कोई दोष न हो तो, भला बताइए, ससारके कितने अखबार कायम रह सकते है ? परतु सवाल यह है कि ऐसे फिजूल अखबारोंको बंद भी कौन कर सकता है ? और कौन किसको फिजूल बता सकता है ? सच बात यह है कि कामका और फिजूल दोनों बातें संसारमे एक साथ चलती रहेगी । मनुष्यके बसमे तो सिर्फ इतना ही है कि वह अपने लिए पसंदगी कर लिया करे ।

: १४ :

'कुली लोकेशन' या भंगी-टोला ?

हिंदुस्तानमें हम उन लोगोंको, जो सबसे बड़ी समाज-सेवा करते हैं, भंगी, मेहतर, ढेड़ आदि कहते है और उन्हें अछूत मानकर उनके मकान गांवके बाहर बनवाते हैं । उनके निवास-स्थान को भगी-टोला कहते हैं और उसका नाम लेते ही हमें घिन आने लगती है । इसी तरह ईसाइयोंके यूरोपमें एक जमाना था जब यहूदी लोग अछूत माने जाते थे और उनके लिए जो अलग मुहल्ला बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे । यह नाम अमंगल समझा जाता था । इसी प्रकारसे दक्षिण अफ्रिकामें हम हिंदुस्तानी लोग वहांके भंगी—अस्पृश्य—बन गये है । अब यह देखना है कि एंडरूज साहबने हमारे लिए वहां जो त्याग किया है और शास्त्रीजीनें जो जादूकी लकड़ी घुमाई है उनके फलस्वरूप हम वहां अछूत न रहकर सभ्य माने जायगे या नहीं ?

हिंदुओंकी तरह यह भी अपनेको ईश्वरके लाडले मानते थे और दूसरोंको हेय समझते थे । अपने इस अपराधकी सजा उन्हें विचित्र और अकल्पित रीतिसे मिली । लगभग इसी तरह हिंदुओंने भी अपनेको संस्कृत अथवा आर्य समझकर खुद अपने ही एक अंगको प्राकृत, अनार्य

त्या अछूत मान रखा है। इस पापका फल वे विचित्र रीतिसे—चाहे वह अनुचित रीति से क्यों न हो—दक्षिण अफ्रिका इत्यादि उपनिवेशोंमें पा रहे हैं और मैं मानता हूं कि उनमें उनके पड़ौसी मुसलमान और पारसी भी, जोकि उन्हींके रंग और देशके हैं उनके साथ दुःख भोग रहे हैं।

अब पाठक कुछ समझ सकेंगे कि क्यों यह एक अध्याय जोहांसबर्गके कुली लोकेशन पर लिखा जा रहा है। दक्षिण अफ्रिकामे हम हिंदुस्तानी लोग 'कुली'के नामसे 'प्रसिद्ध' हैं। भारतमें तो 'कुली' शब्दका अर्थ है सिर्फ मजदूर, परंतु दक्षिण अफ्रिकामें वह तिरस्कारसूचक है और यह तिरस्कार भंगी, चमार, पंचम इत्यादि शब्दोंके द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। दक्षिण अफ्रिकामे जो स्थान 'कुलियों'के रहनेके लिए अलग रखा जाता है उसे 'कुली लोकेशन' कहते हैं। ऐसा एक लोकेशन जोहांसबर्गमे था। दूसरी जगह तो जो 'लोकेशन' रखे गये और अब भी है वहां हिंदुस्तानियोंका कोई हक-मिल्कियत नहीं है, परंतु जोहांस-बर्गके इस लोकेशनमें जमीनका ९९ सालका पट्टा कर दिया गया था। इसमें हिंदुस्तानियोंकी बड़ी गिचपिच बस्ती थी। आबादी तो बढ़ती जाती थी; किंतु लोकेशन जितने का उतना ही बना था। उसके पाखाने तो ज्यों-त्यों करके साफ किये जाते थे; परंतु इसके अलावा म्यूनिसिपैलिटीकी तरफसे और कोई देख-भाल नही होती थी। ऐसी दशामें सड़क और रोशनीका तो पता ही कैसे चल सकता था? इस तरह जहां लोगोंके पाखाने-पेशाब की सफाईके विषयमें ही परवाह नहीं की जाती थी तहां दूसरी सफाईका तो पूछना ही क्या? फिर जो हिंदुस्तानी वहां रहते थे वे नगर-सुधार, स्वच्छता, आरोग्य इत्यादिके नियमोंको जानकर सुशिक्षित और आदर्श भारतीय नहीं थे कि जिन्हें म्यूनिसिपैलिटीकी सहायता की अथवा उनकी रहन-सहनपर देख-भाल करनेकी जरूरत न थी। हां, यदि वहां ऐसे भारतवासी जा बसे होते जो जंगलमें मंगल कर सकते हैं, जो मिट्टीमेंसे मेवा पैदा कर सकते हैं, तब तो उनका इतिहास जुदा ही होता। ऐसे बहु-संख्यक लोग दुनियामें कहीं भी देश छोड़कर

विदेशोंमें मारे-मारे फिरते देखे ही नही जाते। आम तौर पर लोग धन और धंधेके लिए विदेशोंमे भटकते हैं; परंतु हिंदुस्तानसे तो वहाँ अधिकांशमे अपढ, गराब, दीन-दुखी मजूर लोग ही गये थे। इन्हें तो कदम-कदमपर रहनुमाई और रक्षणकी आवश्यकता थी। हां, उनके पीछे वहां व्यापारी तथा दूसरी श्रेणियोंके स्वतंत्र भारतवासी भी गये; परंतु वे तो उनके मुकाबिलेमें मुट्ठी भर थे।

इस तरह स्वच्छता-रक्षक विभागकी अक्षम्य गफलतसे और भारतीय निवासियोके अज्ञानसे लोकेशनकी स्थिति स्वास्थ्य की दृष्टिसे अवश्य बहुत खराबथी। उसे सुधारनेकी जरा भी उचित कोशिश सुधार-विभागने नही की। इतनाही नही, बल्कि अपनी ही इस गलतीसे उत्पन्न खराबीका बहाना बनाकर उसने इस लोकेशनको मिटा देनेका निश्चय किया और उस जमीनपर कब्जा कर लेनेकी सत्ता वहांकी धारा-सभासे प्राप्त कर ली। जब मैं जोहासबर्गमें रहने गया तब वहांकी यह स्थिति हो रही थी।

वहांके निवासी अपनी-अपनी जमीनके मालिक थे। इसलिए उन्हें कुछ हर्जाना देना जरूरी था। हरजानेकी रकम तय करनेके लिए एक खास पंचायत बैठाई गई थी। म्युनिसिपैलिटी जितना हरजाना देना चाहती उतनी रकम यदि मकान-मालिक लेना मंजूर न करे तो उसका फैसला यह पंचायत करती और मालिकको वह मंजूर करना पड़ता। यदि पंचायत म्युनिसिपैलिटीसे ज्यादा रकम देना तय करे तो मकान-मालिकके वकीलका खर्च म्युनिसिपैलिटीको चुकाना पड़ता था।

ऐसे बहुतेरे दावोंमें मकान-मालिकोंने मुझे अपना वकील बनाया था। पर मैं इसके द्वारा रुपया पैदा करना नही चाहता था। मैंने उनसे पहले ही कह दिया था—"यदि तुम्हारी जीत होगी तो म्युनिसिपैलिटीकी ओरसे खर्चकी जो-कुछ रकम मिलेगी उसीपर मैं संतोष कर लूंगा। तुम तो मुझे फी पट्टा दस पौंड दे देना, बस। फिर तुम्हारी जीत हो या हार।" इसमें भी लगभग आधी रकम, गरीबोंके लिए अस्पताल बनवाने या

ऐसे ही किसी सार्वजनिक काममे लगानेका अपना इरादा मैंने उनपर प्रकट कर दिया था। स्वभावतः ही इससे सब लोग बहुत खुश हुए।

लगभग ७० दावोंमें सिर्फ एकमें मेरे मवक्किलकी हार हुई। इससे फीसमे मुझे भारी रकम मिल गई। परंतु इसी समय 'इंडियन-ओपीनियन' की माँग मेरे सिरपर सवार ही थी। इसलिए मुझे याद पड़ता है कि लगभग १६०० पौंडका चेक उसीमे काम आ गया था।

इन दावोंकी पैरवीमें मैंने अपने खयालके अनुसार काफी परिश्रम किया था। मवक्किलोंकी तो मेरे आस-पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमेंसे लगभग सब या तो बिहार इत्यादि उत्तर तरफके या तामिल-तेलगू इत्यादि दक्षिण प्रदेशके लोग थे। वे पहली गिरमिटमें आये थे और अब मुक्त होकर स्वतंत्र पेशा कर रहे थे।

इन लोगोंने अपने दुःखोंको मिटाने के लिए, भारतीय व्यापारी वर्गमें अलग अपना एक मंडल बनाया था। उसमें कितने ही बड़े सच्चे दिलके उदारभाव रखनेवाले और सच्चरित्र भारतवासी थे। उनके अध्यक्षका नाम था श्री जैरामसिंह और अध्यक्ष न रहते हुए भी अध्यक्षके जैसे ही दूसरे सज्जन थे श्री बदरी। अब दोनों स्वर्गवासी हो चुके हैं। दोनोंकी तरफसे मुझे अतिशय सहायता मिली थी। श्री बदरीके परिचयमे मैं बहुत ज्यादा आया था और उन्होंने सत्याग्रहमें आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। इन तथा ऐसे भाइयोंके द्वारा मैं उत्तर-दक्षिणके बहु-संख्यक भारत-वासियोके गाढ़ संपर्कमें आया और मैं केवल उनका वकील ही नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा और उनके तीनों प्रकारके दुःखोंमें उनका साझी हुआ। सेठ अबदुल्लाने मुझे 'गांधी' नामसे संबोधित करनेसे इंकार कर दिया। और 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन ? इसलिए उन्होंने एक बड़ा ही प्रिय शब्द ढूंढ़ निकाला। मुझे वे लोग 'भाई' कहकर पुकारने लगे। यह नाम अंत तक दक्षिण अफ्रिकामें चला। पर जब ये गिरमिट-मुक्त भारतीय मुझे 'भाई' कहकर बुलाते तब मुझे उसमें एक खास मिठास मालूम होती थी।

: ५१ :

महामारी—१

इस लोकेशनका कब्जा म्युनिसिपैलिटीने ले तो लिया; परतु तुरंत ही हिंदुस्तानियोंको वहांसे हटाया नहीं था। हां, यह तय जरूर हो गया था कि उन्हें दूसरी अनुकूल जगह दे दी जायगी। अबतक म्युनिसिपैलिटी वह जगह निश्चित न कर पाई थी। इस कारण भारतीय लोग उसी 'गदे' लोकेशनमें रहते थे। इससे दो बातोंमें फर्क हुआ। एक तो यह कि भारतवासी मालिक न रहकर सुधार-विभागके किरायेदार बने, और दूसरे गंदगी पहलेसे अधिक बढ़ गई। इससे पहले तो भारतीय लोग मालिक समझे जाते थे,इससे वे अपनी राजी से नहीं तो डरसे ही, पर कुछ-न-कुछ तो सफाई रखते थे; किंतु अब 'सुधार'का किसे डर था? मकानोंमें किरायेदारोंकी भी तादाद बढ़ी और उसके साथ ही गंदगी और अव्यवस्था-की भी बढ़ती हुई।

यह हालत हो रही थी, भारतवासी अपने मनमें झल्ला रहे थे, कि एकाएक 'काला प्लेग' फैल निकला। यह महामारी मारक थी। यह फेफड़ेका प्लेग था और गांठवाले प्लेगकी अपेक्षा भयंकर समझा जाता था। किंतु खुशकिस्मतीसे इस प्लेगका कारण यह लोकेशन न था, बल्कि एक सोनेकी खान थी। जोहांसबर्गके आसपास सोनेकी अनेक खाने हैं। उनमें अधिकांश हब्शी लोग काम करते है। उनकी सफाईकी जिम्मेदारी थी सिर्फ गोरे मालिकोंके सिर। इन खानोंपर कितने ही हिंदुस्तानी भी काम करते थे। उनमेंसे तेईस आदमी एकाएक प्लेगके शिकार हुए और अपनी भयंकर अवस्था लेकर वे लोकेशनमें अपने घर आये।

इन दिनों भाई मदनजीत 'इंडियन ओपीनियन' के ग्राहक बनाने और चंदा वसूल करने यहां आये हुए थे। वह लोकेशनमे चक्कर लगा रहे थे। वह काफी हिम्मतवर थे। इन बीमारोंको देखते ही उनका दिल

टूक-टूक होने लगा। उन्होंने मुझे पेंसिलसे लिखकर एक चिट भेजी, जिसका भावार्थ यह था—

"यहां एकाएक काला प्लेग फैल गया है। आपको तुरंत यहां आकर कुछ सहायता करनी चाहिए, नही तो बड़ी खराबी होगी। तुरंत आइए।"

मदनजीतने बेधड़क होकर एक खाली मकानका ताला तोड़ डाला और उसमें इन बीमारोंको लाकर रखा। मैं साइकिलपर चढ़कर 'लोकेशन'में पहुंचा। वहांसे टाउन-क्लर्कको खबर भेजी और कहलाया कि किस हालतमें मकानका ताला तोड़ लेना पड़ा।

डाक्टर विलियम गाडफ्रे जोहांसवर्गमे डाक्टरी करते थे। वह खबर मिलते ही दौड़े आये और बीमारोंके डाक्टर और परिचारक दोनों बन गये। परंतु बीमार थे तेईस और सेवक थे हम तीन। इतनेसे काम चलना कठिन था।

अनुभवोंके आधारपर मेरा यह विश्वास बन गया है कि यदि नीयत साफ हो तो संकटके समय सेवक और साधन कहीं-न-कहींसे आ जुटते हैं मेरे दफ्तरमें कल्याणदास, माणिकलाल और दूसरे दो हिंदुस्तानी थे। आखिरी दोके नाम इस समय मुझे याद नहीं हैं। कल्याणदासको उसके बापने मुझे सौंप रखा था। उनके जैसे परोपकारी और केवल आज्ञा-पालनसे काम रखनेवाले सेवक मैंने वहां बहुत थोड़े देखे होंगे। सौभाग्यसे कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें मैं कैसे भी खतरेका काम सौंपते हुए कभी न हिचकता। दूसरे व्यक्ति माणिक-लाल मुझे जोहांसवर्ग में ही मिले थे। मेरा खयाल है कि वह भी कुवांरे ही थे। इन चारोंको चाहे कारकुन कहिए, चाहे साथी या पुत्र कहिए, मैंने इसमें होम देनेका निश्चय कर लिया। कल्याणदाससे तो पूछनेकी जरूरत ही नहीं थी, और दूसरे लोग पूछते ही तैयार हो गये। "जहां आप तहां हम" यह उनका संक्षिप्त और मीठा जवाब था।

मि० रीचका परिवार बड़ा था। वह खुद तो कूद पड़नेके लिए तैयार थे; किंतु मैंने ही उन्हें ऐसा करनेसे रोका। उन्हें इस खतरेमें डालने के

लिए मैं बिलकुल तैयार न था, मेरी हिम्मत ही नहीं होती थी। अतएव उन्होंने ऊपरका सब काम सम्हाला।

शुश्रूषाकी यह रात भयानक थी। मैं इससे पहले बहुत-से रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर चुका था। परंतु प्लेगके रोगीकी सेवा करनेका अवसर मुझे कभी न मिला था। डाक्टरोंकी हिम्मतने हमें निडर बना दिया था। रोगियोंकी शुश्रूषाका काम बहुत न था। उन्हें दवा देना, दिलासा देना, पानी-वानी दे देना, उनका मैला वगैरा साफ कर देना— इसके सिवा अधिक काम न था।

इन चारों नवयुवकोंके प्राण-पणसे किये गये परिश्रम और ऐसे साहस और निडरताको देखकर मेरे हर्षकी सीमा न रही।

डाक्टर गाडफ्रेकी हिम्मत समझमें आ सकती है, मदनजीतकी भी समझमे आ जाती है—पर इन युवकोंकी हिम्मतपर आश्चर्य होता है। ज्यों-त्यों करके रात बीती। जहांतक मुझे याद पड़ता है उस रात तो हमने एक भी बीमारको नहीं खोया।

परंतु यह प्रसंग जितना ही करुणाजनक है उतना ही मनोरंजक और मेरी दृष्टिमें धार्मिक भी है। इस कारण इसके लिए अभी दो और अध्यायों-की आवश्यकता होगी।

: १६ :

महामारी—२

इस प्रकार एकाएक मकानका ताला तोड़कर बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए टाउन-क्लर्कने हमारा उपकार माना और सच्चे दिल से कबूल किया—"ऐसी हालतका एकाएक सामना और प्रबंध करने की सहूलियत हमारे पास नहीं। आपको जिस किसी प्रकारकी सहायताकी

आवश्यकता हो, आप अवश्य कहिएगा; टाउन-कौंसिल अपने बस-भर जरूर आपकी सहायता करेगी।" परंतु वहांकी म्युनिसिपैलिटीने उचित प्रबंध करनेमें अपनी तरफसे विलंब न होने दिया।

दूसरे दिन एक खाली गोदाम हमारे हवाले किया गया और कहा गया कि उसमे सब बीमार रखे जायं। परंतु उसे साफ करनेकी जिम्मेदारी म्युनिसिपैलिटी ने न ली। मकान बड़ा मैला और गंदा था। हम लोगोंने खुद लगकर उसे साफ किया। उदार-चेता भारतीयोंकी सहायतासे चारपाई इत्यादि मिल गईं और उस समय काम चलानेके लिए एक खासा अस्पताल बन गया। म्युनिसिपलिटानें एक नर्स—परिचारिका—भेजी और उसके साथ बरांडीकी बोतल और बीमारोके लिए अन्य आवश्यक चीजें दी। डाक्टर गाडफ्रे ज्यों-के-त्यों तैनात रहे।

नर्सको हम शायद ही कहीं रोगियोंको छूने देते थे। उसे खुद तो छूनेसे परहेज न था; वह थी भी भलीमानस। किंतु हमारी कोशिश यही रही कि जहांतक हो वह खतरेमें न पड़े। तजवीज यह हुई थी कि बीमारोंको समय-समय पर बरांडी पिलाई जाय। हमसे भी नर्स कहती कि बीमारीसे अपनेको बचानेके लिए आप लोग थोड़ी-थोड़ी बरांडी पिया करें। वह खुद तो पीती ही थी। पर मेरा मन गवाही नहीं देता था कि बीमारोंको भी बरांडी पिलाई जाय। तीन बीमार ऐसे थे जो बिना बरांडीके रहनेको तैयार थे। डा० गाडफ्रेकी इजाजतसे मैंने उनपर मिट्टीके प्रयोग किये। छातीमें जहां-जहां दर्द होता था वहां-वहां मैंने मिट्टीकी पट्टी बंधवाई। इनमेंसे दो बच गये और शेष सब चल बसे। बीस रोगी तो इस गोदाममें ही मर गये।

म्युनिसिपैलिटीकी ओरसे दूसरे प्रबंध भी जारी थे। जोहांसबर्गसे पांच मील दूर एक लेजरेटो अर्थात् संक्रामक रोगियोंका अस्पताल था, वहां तंबू खड़ा किया गया था और उसमें ये तीन रोगी ले जाये गये थे। कोई दूसरे रोगी हों तो उन्हें भी वहीं ले जानेका इंतजाम करके हम इस कामसे मुक्त हो गये। थोड़े ही दिन बाद हमें मालूम हुआ कि उस

भली नर्सको भी प्लेग हो गया और उसीमें बेचारीका देहांत हो गया। यह कहना कठिन है कि ये रोगी क्यों बच गये और हम लोग प्लेगके शिकार क्यों न हो सके? पर इससे मिट्टीके उपचारपर मेरा विश्वास और दवाके तौरपर भी बरांडीका उपयोग करनेमें मेरी अश्रद्धा बहुत बढ़ गई। मैं जानता हूं कि इस श्रद्धा और अश्रद्धाको निराधार कह सकते हैं। पर उस समय इन दो बातोंकी जो छाप मेरे दिलपर पड़ी और जो अबतक कायम है, उसे मैं मिटा नहीं सकता और इस मौकेपर उसका जिक्र कर देना आवश्यक समझता हूं।

इस महामारीके फैल निकलते ही मैंने एक कड़ा पत्र अखबारोंमें लिखा था। उसमें यह बताया गया था कि लोकेशनके म्युनिसिपैलिटीके कब्जेमें आनेके बाद जो लापरवाही वहां दिखाई गई उसकी तथा जो प्लेग फैला उसकी जिम्मेदार म्युनिसिपैलिटी है। इस पत्रके बदौलत मि० हेनरी पोलकसे मेरी मुलाकात हुई और वहीं स्वर्गीय जोसेफ डोकसे भी मुलाकात होनेका एक कारण बन गया था।

पिछले अध्यायमें मैं इस बातका जिक्र कर चुका हूं कि मैं एक निरामिष भोजनालयमें भोजन करने जाता था। वहां मिस्टर आल्बर्ट वेस्टसे मेरी भेंट हुई थी। रोज हम साथ ही भोजनालयमें जाते और खानेके बाद साथ ही घूमने निकलते। मि० वेस्ट एक छोटेसे छापेखानेमें साझीदार थे। उन्होंने अखबारोंमें प्लेग-संबंधी मेरा वह पत्र पढ़ा और जब भोजनके समय भोजनालयमें मुझे नहीं पाया तो बेचैन हो उठे।

मैंने तथा मेरे साथी सेवकोंने प्लेगके दिनोंमें अपनी खुराक कम कर ली थी। बहुत समयसे मैंने यह नियम बना रखा था कि जबतक किसी संक्रामक रोगका प्रकोप हो तबतक पेट जितना हल्का रखा जा सके उतना ही अच्छा। इसलिए मैंने शामका खाना बंद कर दिया था। और दोपहरको भी ऐसे समय जाकर वहां भोजन कर आता जब कि इस तरहके खतरोंसे अपनेको बचानेकी इच्छा करनेवाले कोई भोजनालयमें न आते हों। भोजनालयके मालिकके साथ तो मेरा घनिष्ठ परिचय था ही। उससे

मैंने यह बात कह रखी थी कि मैं इन दिनों प्लेगके रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगा हुआ हूं, इसलिए औरोंको अपनी छूतसे दूर रखना चाहता हूं।

इस तरह भोजनालयमें मुझे न देखकर मि० वेस्ट दूसरे या तीसरे ही दिन सुबह मेरे यहां आ धमके। मैं अभी बाहर निकलनेकी तैयारी कर ही रहा था उन्होंने आकर मेरे कमरेका दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वेस्ट बोले—

"आपको भोजनालयमें न देखकर मैं चिंतित हो उठा कि कहीं आप भी प्लेगके सपाटेमें न आ गये हों। इसलिए इस समय इस विश्वाससे आया हूं कि आपसे अवश्य भेंट हो जायगी। मेरी किसी मददकी जरूरत हो तो जरूर कहिएगा। मैं रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषाके लिए भी तैयार हूं। आप जानते ही हैं कि मुझपर सिवा अपना पेट भरनेके और किसी तरहकी जिम्मेदारी नहीं है।"

मैंने मि० वेस्टको इसके लिए धन्यवाद दिया। मुझे नहीं याद पड़ता कि मैंने एक मिनट भी विचार किया होगा। मैंने कहा—

"नर्सका काम तो मैं आपसे नहीं लेना चाहता। यदि और लोग बीमार न हों तो हमारा काम एक-दो दिनमें ही पूरा हो जायगा पर एक काम आपके लायक जरूर है।"

"सो क्या है ?"

"आप डरबन जाकर 'इंडियन ओपीनियन' प्रेसका काम देख सकेंगे ? मदनजीत तो अभी यहां रुके हुए हैं। वहां किसी-न-किसीके जानेकी आवश्यकता तो है ही यदि आप वहां चले जायं तो वहांके कामसे मैं बिलकुल निश्चिंत हो जाऊं।"

वेस्टने जवाब दिया—"आप जानते हैं कि मेरा खुद एक छापाखाना है। बहुत करके तो मैं वहां जानेके लिए तैयार हो सकूंगा, पर निश्चित उत्तर आज शामको दे सकूं तो हर्ज तो नहीं है ? आज शामको घूमने चल सकें तो बातें कर लेंगे।"

उनके आश्वासनसे मुझे अनांद हुआ। उसी दिन शामको कुछ बातचीत हुई। यह तय पाया कि वेस्टको १० पौंड मासिक वेतन और छापाखानेके मुनाफेका कुछ अंश दिया जाय। महज वेतनके लिए वेस्ट वहां नहीं जा रहे थे। इसलिए यह सवाल उनके सामने नहीं था। अपनी उगाही मुझे सौंपकर दूसरे ही दिन रातकी मेलसे वेस्ट डरबन रवाना हो गये। तबसे लेकर मेरे दक्षिण अफ्रिका छोडने तक वह मेरे दुःख-सुखके साथी रहे। वेस्टका जन्म विलायत के लाउथ नामक गांवमे एक किसान कुटुंबमें हुआ था। पाठशालामें उन्होंनें बहुत मामूली शिक्षा प्राप्त की थी। वह अपने ही परिश्रमसे अनुभवकी पाठशालामे पढ़कर और तालीम पाकर होशियार हुए थे। मेरी दृष्टिमें वह एक शुद्ध,संयमी, ईश्वर-भीरु साहसी और परोपकारी अंग्रेज थे। उनका व उनके कुटुंबका परिचय अभी इन अध्यायोंमें और होगा।

: १७ :

लोकेशनकी होली

रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषासे यद्यपि मैं और मेरे साथी फारिग हो गये थे, तथापि इस प्लेग-प्रकरणकी बदौलत दूसरे नये काम भी हमारे लिए पैदा हो गये थे।

वहाकी म्युसिपैलिटी लोकेशनके संबंधमें भले ही लापरवाही रखती हो; किंतु गोरे निवासियोंके आरोग्यके विषयमे तो उसे चौबीसों घंटे सतर्क रहना पड़ता था। उनके आरोग्यकी रक्षाके लिए रुपया फूकनेमें भी उसने कोताही नहीं की थी। और इस समय तो प्लेगको वहां न फैलने देनेके लिए उसने पानी की तरह पैसा बहाया। भारतीयोंके प्रति इस म्युनिसिपैलिटीके व्यवहारकी मुझे बहुत शिकायत थी, फिर भी गोरोंकी रक्षाके

लिए यह जितनी चिंता कर रही थी उसके प्रति अपना आदर प्रदर्शित किये विना मैं न रह सका और उसके इस शुभ प्रयत्नमें मुझसे जितनी मदद हो सकी मैंने की। मैं समझता हूं कि यदि वह मदद मैंने न की होती तो म्युनिसिपैलिटी को दिक्कत पड़ती और शायद उसे बंदूक के बलका प्रयोग करना पड़ता, और अपनी इष्ट-सिद्धिके लिए ऐसा करनेमें वह बिलकुल न हिचकती।

परंतु ऐसा करने की नौबत न आने पाई। उस समय भारतीयोंके व्यवहारसे म्युनिसिपैलिटीके अधिकारी संतुष्ट हो गये और उसके बाद-का काम बहुत सरल हो गया। म्युनिसिपैलिटीकी मांगको हिंदुस्तानियोंसे पूरा कराने मे मैंने अपना सारा प्रभाव खर्च कर डाला था। यह काम भारतीयोंके लिए था तो बड़ा दुष्कर, परंतु मुझे याद नहीं पड़ता कि किसी एकने भी मेरे वचनको टाला हो।

लोकेशनके चारों ओर पहरा बैठा दिया गया था। बिना इजाजत न कोई अंदर जा पाता था, न बाहर आ सकता था। मुझे तथा मेरे साथियों-को बिना रुकावट वहां आने-जानेके लिए पास दे दिये गये थे। म्युनिसि-पैलिटीकी तजवीज यह थी कि लोकेशनके सब लोगोंको जोहांसबर्गसे तेरह मील खुले मैदानमें तंबुओंमें रखा जाय और लोकेशनमें आग लगा दी जाय। डेरे-तंबुओंका ही क्यों न हो, पर वह एक नया गांव बसाना पड़ा था और वहां खाद्य आदि सामग्रीका प्रबंध करनेमें कुछ समय लगना स्वाभाविक था। तबतकके लिए यह पहरेका प्रबंध किया गया था।

इससे लोगोंमें बड़ी चिंता फैली; परंतु मैं उनके साथ, उनका सहा-यक था—इससे उन्हे बहुत तस्कीन था। इनमें कितने ही ऐसे गरीब लोग भी थे, जो अपना रुपया-पैसा घरमें गाड़कर रखते थे। अब उसे खोदकर उन्हें कहीं रखना था। वे न बैंकको जानते थे, न बैंक उन्हें। मैं उनका बैंक बना। मेरे घर रुपयोंका ढेर हो गया। ऐसे समयमें मैं भला मेहनताना क्या ले सकता था? किसी तरह मुश्किलसे इसका प्रबंध कर पाया। हमारे बैंकके मैनेजरके साथ मेरा अच्छा परिचय था।

मैंने उन्हें कहलाया कि मुझे बैंकमें बहुतेरे रुपये जमा कराने हैं। बैंक आम तौरपर तांबे या चांदीके सिक्के लेनेके लिए तैयार नहीं होते। फिर यह भी अंदेशा था कि प्लेग-स्थानों से आये सिक्कोंको छूनेमें क्लर्क लोग आनाकानी करें। किंतु मैनेजरने मेरे लिए सब तरहकी सुविधा कर दी। यह बात तय पाई कि रुपये-पैसे जंतु-नाशक पानीमें धोकर बैंकमें जमा कराये जायं। इस तरह मुझे याद पड़ता है कि लगभग ६०,००० पौंड बैंकमें जमा हुए थे। मेरे जिन मवक्किलोंके पास अधिक रकम थी उन्हें मैंने एक निश्चित अवधिके लिए बैंकमें जमा करानेकी सलाह दी, जिससे उन्हें अधिक ब्याज मिल सके। इससे कितने ही रुपये उन मवक्किलोंके नामसे बैंकमें जमा हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि कितने ही लोगोंको बैंकोंमें रुपया रखनेकी आदत पड़ी।

जोहांसबर्गके पास 'क्लिप्सफ्रुट फार्म' नामक एक स्थान है। लोकेशन-निवासियोंको वहां एक स्पेशल ट्रेनसे ले गये। यहां म्युनिसिपैलिटीने उनके लिए अपने खर्चसे घर बैठे पानी पहुंचाया। इस तंबूके गांवका नजारा सैनिकोंके पड़ावकी तरह था। लोग ऐसी स्थितिमें रहनेके आदी नहीं थे, इससे इन्हें मानसिक दुःख तो हुआ। नई जगह अटपटी मालूम हुई, किंतु उन्हें कोई खास कष्ट नही उठाना पड़ा। मैं रोज बाईसिकलपर जाकर वहां एक चक्कर लगा आता। तीन सप्ताह तक इस तरह खुली हवामें लोगोंकी तंदुरुस्तीपर जरूर अच्छा असर हुआ। और मानसिक दुःख तो प्रथम चौबीस घंटे पूरे होनेके पहले ही चला गया था। फिर तो वे आनंदसे रहने लगे। मैं जहां जाता वहां कहीं भजन-कीर्तन और कहीं खेल-कूद आदि होते हुए देखता।

जहां तक मुझे याद है, लोकेशन जिस दिन खाली कराया गया, या तो उसी दिन या उसके दूसरे दिन उसमें आग लगा दी गई। एक भी चीजको वहांसे बचा लानेका लोभ म्युसिसिपैलिटाने नहीं किया। इन्हीं दिनों और इसी कारण म्युनिसिपैलिटाने अपने मार्केटकी सारी लकड़ीकी

इमारतें भी जला डालीं, जिससे उसे कोई १० हजार पौंडकी हानि सहनी पड़ी। मार्केटमें मरे चूहे पाये गये थे—इसलिए म्युनिसिपैलिटीको इतने साहसका काम करना पड़ा। इसमें नुकसान तो बहुत बरदाश्त करना पड़ा, किंतु यह फल जरूर हुआ कि प्लेग आगे न बढ़ पाया और नगरवासी निःशंक हो गये।

: १८ :

एक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव

इस प्लेगकी बदौलत गरीब भारतवासियों परमेरा प्रभाव बढ़ा और उसके साथ-साथ मेरी वकालत और मेरी जिम्मेदारी भी बहुत बढ़ गई। फिर यूरोपियन लोगोंसे जो मेरा परिचय था वह भी इतना निकट होता गया कि उससे भा मेरी नैतिक जवाबदेही बढ़ने लगी।

जिस तरह वेस्टसे मेरी मुलाकात निरामिष भोजनालयमें हुई, उसी तरह पोलकसे भी हो गई। एक दिन मेरे खानेकी मेजसे दूरकी मेजपर एक नवयुवक भोजन कर रहा था। उसने मुझसे मिलनेकी इच्छासे अपना नाम मुझतक पहुंचाया। मैंने उन्हे अपनी मेजपर खानेके लिए बुलाया और वह आये।

"मै 'क्रिटिक' का उप-संपादक हूं। प्लेग-संबंधी आपका पत्र पढ़नेके बाद आपसे मिलनेकी मुझे बड़ी उत्कंठा हुई। आज आपसे मिलनेका अवसर मिला है।"

मि० पोलकके शुद्ध भावने मुझे उनकी ओर खींचा। उस रातको हमारा एक-दूसरेसे परिचय हो गया और जीवन-संबंधी अपने विचारोंमें हम दोनोको बहुत साम्य दिखाई दिया। सादा जीवन उन्हें पसद था। किसी बातके पट जानेके बाद तुरंत उस पर अमल करने की उनकी शक्ति

आश्चर्यजनक मालूम हुई। उन्होंने अपने जीवनमें कितने ही परिवर्तन तो एकदम कर डाले।

'इंडियन ओपीनियन'का खर्च बढ़ता जाता था। वेस्टने जो विवरण वहांका पहली ही बार भेजा उसने मेरे कान खड़े कर दिये। उन्होंने लिखा कि जैसा आपने कहा था वैसा मुनाफा इस काममें नहीं है। मुझे तो उल्टा नुकसान दिखाई पड़ता है। हिसाब-किताबकी व्यवस्था ठीक नहीं है। लेना बहुत है, और वह बेसिर-पैरका है। बहुतेरा रद्दो-बदल करना होगा। परंतु यह हाल पढ़कर आप चिंता न करे; मुझसे जितना हो सकेगा अच्छा प्रबंध करूंगा। मुनाफा न होनेके कारण मैं इस कामको छोड़ न दूंगा।

जबकि मुनाफा नहीं दिखाई दिया था तब वेस्ट चाहते तो वहांके कामको छोड़ सकते थे, और मैं उन्हें किसी तरह दोष नहीं दे सकता था। इतना ही नही, उल्टा उन्हें अधिकार था कि वह मुझे बिना पूछ-ताछ किये उस काममें मुनाफा बतानेका दोष-भागी ठहराते। इतना होते हुए भी उन्होंने मुझे कभी इसका उलाहनातक न दिया; पर मैं समझता हूं कि इस बातके मालूम होनेपर वेस्टकी नजरमें मैं एक जल्दीमें विश्वास कर लेनेवाला आदमी ज़ंचा होऊंगा। मदनजातकी रायको मानकर बिना पूछ-ताछ किये ही मैंने वेस्टसे मुनाफेका जिक्र किया था। पर मेरी यह राय है कि सार्वजनिक कार्यकर्ताओंको वही बात दूसरेसे कहनी चाहिए, जिसकी खुद उन्होंने जांच कर ली हो। सत्यके पुजारीको तो बहुत सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। बिना अपना इत्मीनान किये किसीके दिल पर आवश्यकतासे अधिक असर डालना भी सत्यको दाग लगाना है। मुझे यह कहते हुए बहुत दुःख होता है कि इस बात को जानते हुए भी जल्दामें विश्वास रखकर काम लेनेकी अपनी प्रकृतिको मैं पूरा-पूरा सुधार नहीं सका। इसका कारण है शक्तिसे अधिक काम करनेका लोभ। यह दोष है। इस लोभसे कई बार मुझे दुःख हुआ है और मेरे साथियोंको तो मुझसे भी अधिक मनःक्लेश सहना पड़ा है।

वेस्टका ऐसा पत्र पाकर मैं नेटालके लिए रवाना हुआ। पोलक मेरी सब बातोंको जान गये थे। स्टेशनपर मुझे पहुंचाने आये और रस्किन-रचित 'अंटु दिस लास्ट' नामक पुस्तक मेरे हाथोंमें रखकर कहा—"यह पुस्तक रास्तेमें पढ़ने लायक है। आपको जरूर पसंद आयेगी।"

पुस्तकको जो मैंने एक बार पढ़ना शुरू किया तो खतम किये बिना न छोड़ सका। उसने तो बस मुझे पकड़ ही लिया। जोहांसबर्गसे नेटाल २४ घंटेका रास्ता है। ट्रेन शामको डरबन पहुंचती थी। पहुंचनेके बाद रात-भर नींद न आई। इस पुस्तकके विचारोंके अनुसार जीवन बनानेकी धुन लग रही थी।

इससे पहले मैंने रस्किनकी एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। विद्यार्थी-जीवनमें पाठ्य-पुस्तकोंके अलावा मेरा वाचन नहीके बराबर समझना चाहिए। और कर्म-भूमिमें प्रवेश करनेके वाद तो समय ही बहुत कम रहता है। इस कारण आजतक भी मेरा पुस्तक-ज्ञान बहुत थोड़ा है। मैं मानता हूं कि इस अनायासके अथवा जबरदस्तीके संयमसे मुझे कुछ भी नुकसान नहीं पहुंचा है। पर, हां, यह कह सकता हूं कि जो-कुछ थोड़ी पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं उन्हें ठीक तौरपर हजम करनेकी कोशिश अलबत्ता मैंने की है। और मेरे जीवनमें यदि किसी पुस्तकने तत्काल महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला है तो वह यही पुस्तक है। बादको मैंने इसका गुजरातीमें अनुवाद किया था और वह 'सर्वोदय'के नामसे प्रकाशित भी हुआ है।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अंतरतरमें बसी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किनके इस ग्रंथ-रत्नमें देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया एवं अपने विचारोंके अनुसार मुझसे आचरण करवाया। हमारी अंतस्थ सुप्त भावनाओंको जाग्रत करनेका सामर्थ्य जिसमें होता है वह कवि है। सब कवियोंका प्रभाव सबपर एक-सा नहीं होता। क्योंकि सब लोगोंमें सभी अच्छी भावनाएं एक मात्रामें नहीं होतीं।

'सर्वोदय'के सिद्धांतको मैं इस प्रकार समझा—

१—सबके भलेमें अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनोके कामकी कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का हक दोनोंको एक-सा है।

३—सादा, मजदूरका और किसानका, जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली बात तो मैं जानता था। दूसरीका मुझे आभास हुआ करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्रमें आईतक न थी। पहली बातमें पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात 'सर्वोदय'से मुझे सूर्य-प्रकाशकी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवनको बनानेकी चिंतामें लगा।

: १९ :

फिनिक्सकी स्थापना

सुबह होते ही मैंने सबसे पहले वेस्टसे इस संबंधमे बाते की। 'सर्वोदय'-का जो प्रभाव मेरे मनपर पड़ा वह मैंने उन्हें कह सुनाया और सुझाया कि 'इंडियन ओपीनियन'को एक खेतपर ले जायं तो कैसा? वहां सब एक साथ रहें।, एक-सा भोजन-खर्च लें, अपने लिए सब खेती कर लिया करें और बचतके समयमें 'इंडियन ओपीनियन'का काम करे। वेस्टको यह बात पसंद आई। भोजन-खर्चका हिसाब लगाया गया तो कम-से-कम तीन पौड प्रति मनुष्य आया। उसमें काले-गोरेका भेद-भाव नही रखा गया था।

परंतु प्रेसमें काम करनेवाले तो कुल ८-१० आदमी थे। फिर सवाल यह था कि जंगलमें बसनेमें सबको सुविधा होगी या नही? दूसरा सवाल यह था कि सब एक-सा भोजन-खर्च लेनेके लिए तैयार होगे या

नहीं ? आखिर हम दोनोंने तो यही तय किया कि जो इस तजवीजमें शरीक न हो सके वे अपना वेतन ले लिया करें—किंतु आदर्श यही रखा जाय कि धीरे-धीरे सब कार्यकर्त्ता संस्थावासी हो जायं।

इसी दृष्टिसे मैंने समस्त कार्य-कर्त्ताओंसे बातचीत शुरू की। मदनजीतको यह बात बिलकुल पसंद न हुई। उन्हें अंदेशा हुआ कि जिस चीजमें उन्होंने अपना जी-जान लगाया उसे मैं कहीं अपनी मूर्खतासे एकाध महीनेमें ही मिट्टीमें न मिला दूं। उन्हें भय हुआ कि इस तरह 'इंडियन ओपीनियन' बंद हो जायगा, प्रेस भी टूट जायगा और सब कार्यकर्त्ता भाग खड़े होंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गांधी उस प्रेसमें काम करते थे। उनसे भी मैंने वेस्टके साथ ही बात की थी। उनपर परिवारका बोझ था; किंतु बचपनसे ही उन्होंने मेरे नीचे तालीम लेना और काम करना पसंद किया था। मुझपर उनका बहुत विश्वास था। इसलिए उन्होंने तो बिना दलील और हुज्जतके ही 'हां' कर ली और तबसे आजतक वह मेरे साथ ही हैं।

तीसरे थे गोविंद सामी मशीनमैन। वह भी शामिल हो गये। दूसरे लोग यद्यपि संस्थावासी न बने, पर फिर भी उन्होंने जहां प्रेस जाय वहां जाना स्वीकार किया।

इस तरह कार्यकर्त्ताओंके साथ बातचीत करनेमें दोसे अधिक दिन गये हों, ऐसा याद नहीं पड़ता। तुरंत ही मैंने अखबारमें विज्ञापन दिया कि डरबनके नजदीक किसी भी स्टेशनके पास जमीन की आवश्यकता है। उत्तरमें फिनिक्सकी जमीनका संदेशा आया। वेस्ट और मैं जमीन देखने गये और सात दिनके अंदर २० एकड़ जमीन ले ली। उसमें एक छोटा-सा पानीका झरना भी था: कुछ आमके और नारंगीके पेड़ थे। पास ही ८० एकड़का एक और टुकड़ा था। उसमें फलोंके पेड़ ज्यादा थे और एक झोंपड़ा भी था। कुछ समय बाद उसे भी खरीद लिया। दोनोंके मिलकर १००० पौंड लगे।

सेठ पारसी रुस्तमजी मेरे ऐसे तमाम साहसके कामोंमें मेरे साथी होते थे। उन्हें मेरी यह तजवीज पसंद आई। इसलिए उन्होंने अपने

एक गोदामके टीन वगैरा, जो उनके पास पड़े थे, मुफ्तमें हमें दे दिये। कितने ही हिंदुस्तानी बढ़ई और राज, जो मेरे साथ लड़ाईमें थे, इसमें मदद देने लगे और कारखाना बनने लगा। एक महीनेमें मकान तैयार हो गया। वह ७५ फीट लंबा और ५० फीट चौड़ा था। वेस्ट वगैरा अपने शरीरको खतरेमें डालकर भी बढ़ई आदिके साथ रहने लगे।

फिनिक्समें घास खूब थी और आबादी बिलकुल नहीं थी। इससे सांप आदिका उपद्रव रहता था, और खतरा भी था। शुरूमें तो हम तंबू तानकर ही रहने लगे।

मुख्य मकान तैयार होते ही हम लोग एक सप्ताहमें बहुतेरा सामान गाड़ियोंपर लादकर फिनिक्स चले गये। डरबन और फिनिक्समें तेरह मीलका फासला था। फिनिक्स स्टेशनसे ढ़ाई मील दूर था। इस स्थान-परिवर्तनके कारण सिर्फ एक ही सप्ताह 'इंडियन ओपीनियन'को मरक्यूरी प्रेसमें छपाना पड़ा था।

मेरे साथ मेरे जो-जो रिश्तेदार वगैरा वहां गये और व्यापार आदि में लग गये थे उन्हें अपने मतमें मिलानेका और फिनिक्समें दाखिल करनेका प्रयत्न मैंने शुरू किया। वे सब तो धन जमा करनेकी उमंगसे दक्षिण अफ्रिका आये थे। उनको राजी कर लेना बड़ा कठिन काम था। परंतु कितने ही लोगोंको मेरी बात जंच गई। इन सबमेंसे आज तो मगनलाल गांधीका नाम मैं चुनकर पाठकोंके सामने रखता हूं, क्योंकि दूसरे लोग जो राजी हुए थे, वे थोड़े-बहुत समय फिनिक्समें रहकर फिर धन-संचयके फेरमें पड़ गये। मगनलाल गांधी तो अपना काम छोड़कर जो मेरे साथ आये, सो अबतक रह रहे हैं और अपने बुद्धि-बलसे, त्यागसे, शक्तिसे एवं अनन्य भक्ति-भावसे मेरे आंतरिक प्रयोगोंमें मेरा साथ देते हैं एवं मेरे मूल साथियोंमें आज उनका स्थान सबमें प्रधान है। फिर एक स्वयं-शिक्षित कारीगरके रूपमें तो उनका स्थान मेरी दृष्टिमें अद्वितीय है।

इस तरह १९०४ ईस्वीमें फिनिक्सकी स्थापना हुई, और विघ्नों और कठिनाइयोंके रहते हुए भी फिनिक्स-संस्था एवं 'इंडियन ओपीनियन'

दोनों आजतक चल रहे हैं। परंतु इस संस्थाके आरंभ-कालकी मुसीबतें और उस समयकी आशा-निराशाएं जाननें लायक हैं। उनपर हम अगले अध्यायमें विचार करेंगे।

: २० :

पहली रात

फिनिक्समें 'इंडियन ओपीनियन'का पहला अंक प्रकाशित करना आसान साबित न हुआ।। यदि दो बातोंमें मैंने पहलेहीसे सावधानी न रखी होती तो अंक एक सप्ताह बंद रहता या देर से निकलता। इस संस्थामें मेरी यह इच्छा कम ही रही थी कि एंजिनसे चलनेवाले यंत्रादि मंगाये जायं। मेरी भावना यह थी कि जब हम खेती भी खुद हाथोंसे ही करनेकी चाह रखते हैं तब फिर छापेकी कल भी ऐसी ही लाई जाय जो हाथसे चल सके। पर उस समय यह अनुभव हुआ कि यह बात सध न सकेगी। इसलिए आयल एंजिन मंगाया गया था। परंतु मुझे यह खटका रहा कि कहीं वहांपर यह एंजिन बंद न हो जाय; सो मैंने वेस्टको सुझाया कि ऐसे समयके लिए कोई ऐसे काम-चलाऊ साधन भी हम अभीसे जुटा रखें तो अच्छा। इसलिए उन्होंने हाथसे चलानेका भी एक पहिया मंगा रखा था, और ऐसी तजवीज कर रखी थी कि मौका पड़नेपर उससे छापेकी कल चलाई जा सके। फिर 'इंडियन ओपीनियन'का आकार दैनिकपत्रके बराबर लंबा चौड़ा था। और यदि बड़ी कल अड़ जाय तो ऐसी सुविधा वहां नहीं थी कि इतने बड़े आकारका पत्र तुरंत छापा जा सके। इससे पत्रके उस अंकके बंद रहनेका ही अंदेशा था। इस दिक्कतको दूर करनेके लिए अखबारका आकार छोटा कर दिया कि कठिनाईके समयपर छोटी कलको भी पांवसे चलाकर अखबार, थोड़े ही पन्नेका क्यों न हो, प्रकाशित हो सके।

आरंभ-कालमें 'इंडियन ओपीनियन'की प्रकाशन-तिथिकी अगली रातको सबको थोड़ा-बहुत जागरण करना ही पड़ता था। पन्नोको भांजनेमें छोटे-बड़े सब लग जाते और रातको दस-बारह बजे यह काम खतम होता। परंतु पहली रात तो इस प्रकार बीती जिसे कभी नही भूल सकते। पन्नोंका चौकठा तो मशीन पर कस गया, पर एजिन अड़ गया; उसने चलनेसे इंकार कर दिया। एजिनको जमाने और चलानेके लिए एक इंजीनियर बुलाया गया था। उसने और वेस्टने खूब माथा-पच्ची की; पर एजिन टस-से-मस न हुआ। तब सब चितामे अपना-सा मुह लेकर बैठ गये। अंतको वेस्ट निराश होकर मेरे पास आये। उनकी आखे आंसुओसे छल-छला रही थीं। उन्होने कहा "अब आज तो एजिनके चलनेकी आशा नही, और इस सप्ताह हम अखबार समयपर न निकाल सकेगे।"

"अगर यही बात है तो अपना कुछ बस नही, पर इस तरह आंसू बहाने की कोई आवश्यकता नही। और कुछ कोशिश कर सकते हो तो कर देखें। हां वह हाथसे चलानेका पहिया, जो हमारे पास रखा है, किस दिन काम आयेगा?" यह कहकर मैने उन्हे आश्वासन दिया।

वेस्टने कहा--"पर उस पहियेको चलानेवाले आदमी हमारे पास कहां हैं? हम लोग जितने हैं उनसे वह नही चल सकता; उसे चलानेके लिए बारी-बारीसे चार-चार आदमियोंकी जरूरत है। और इधर हम लोग थक भी चुके है।

बढई लोगोंका काम अभी पूरा नही हुआ था, इससे वे लोग अभी छापेखानेमें ही सो रहे थे। उनकी तरफ इशारा करके मैंने कहा--"ये मिस्त्री लोग मौजूद है। इनकी मदद क्यों न ले? और आजकी रातभर हम सब जागकर छापनेकी कोशिश करेंगे। बस इतना ही कर्त्तव्य हमारा और बाकी रह जाता है।"

"मिस्त्रियोंको जगानेकी और उनसे मदद मांगनेकी मेरी हिम्मत नहीं होती। और हमारे जो लोग थक गये है उन्हें भी कैसे कहू?"

"यह काम मेरे जिम्मे रहा", मैने कहा।

"तब तो मुमकिन है कि सफलता मिल जाय।"

मैंने मिस्त्रियोंको जगाया और उनकी मदद मांगी; मुझे उनकी मिन्नत-खुशामद नहीं करनी पड़ी। उन्होंने कहा—"वाह! ऐसे वक्त हम यदि काम न आयें तो हम आदमी ही क्या? आप आराम कीजिए, हम लोग पहिया चला देंगे। हमें इसमें कुछ मिहनत नहीं है।" और इधर छापेखानेके लोग तैयार थे ही।

अब तो वेस्टके हर्षकी सीमा न रही। वह काम करते-करते भजन गाने लगे। घोड़ा चलानेमें मैंने भी मिस्त्रियोंका साथ दिया और दूसरे लोग भी बारी-बारीसे चलाने लगे। साथ ही पन्ने भी छपने लगे।

सुबहके सात बजे होंगे। मैंने देखा कि अभी बहुत काम बाकी पड़ा है। मैंने वेस्टसे कहा—"अब हम इंजीनियरको क्यों न जगा लें? अब दिनकी रोशनीमें वह और सिर खपाकर देखे तो अच्छा हो। अगर एंजिन चल जाय तो अपना काम समयपर पूरा हो सकता है।"

वेस्टने इंजीनियरको जगाया। वह उठ खड़ा हुआ और एंजिनके कमरेमें गया। शुरू करते ही एंजिन चल निकला। प्रेस हर्ष-नादसे गूंज उठा। सब कहने लगे, "यह कैसे हो गया? रातको इतनी मिहनत करनेपर भी नही चला और अब हाथ लगते ही इस तरह चल पड़ा, मानो कुछ बिगड़ा ही न था!"

वेस्टने या इंजीनियरने जवाब दिया—"इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है, मानो यंत्र भी हमारी तरह आराम चाहते हैं। कभी-कभी तो उनकी हालत ऐसी ही देखी जाती है।"

मैंने तो यह माना कि एंजिनका न चलना हमारी परीक्षा थी और ऐन मौकेपर उसका चल जाना हमारी शुद्ध मिहनतका शुभ फल था।

इसका परिणाम यह हुआ कि 'इंडियन ओपीनियन' नियत समयपर स्टेशन पहुंच गया, और हम सब निश्चिंत हुए।

हमारे इस आग्रहका फल यह हुआ कि 'इंडियन ओपीनियन'की नियमितताकी छाप लोगोंके दिलपर पड़ी और फिनिक्समें मिहनतका वातावरण

फैला। इस संस्थाके जीवनमें ऐसा भी एक युग आगया था, जब जान-बूझकर एंजिन बंद रखा गया था और दृढ़तापूर्वक हाथके पहियेसे ही काम चलाया गया था। मैं कह सकता हूं कि फिनिक्सके जीवनमें वह ऊंचे-से-ऊंचा नैतिक काल था।

: २१ :

पोलक भी कूद पड़े

फिनिक्स जैसी संस्था स्थापित करनेके बाद मैं खुद थोड़े ही समय उसमें रह सका। इस बातपर मुझे हमेशा बड़ा दुःख रहा है। उसकी स्थापनाके समय मेरी यह कल्पना थी कि मैं भी वहीं बसूंगा। वहीं रहकर जो-कुछ सेवा हो सकेगी वह करूंगा, और फिनिक्सकी सफलताको ही अपनी सेवा समझूंगा। परंतु इन विचारोंके अनुसार निश्चित व्यवहार न हो सका। अपने अनुभवमें मैंने यह बहुत बार देखा है कि हम सोचते कुछ हैं और हो कुछ जाता है। परंतु इसके साथ ही मैंने यह अनुभव किया है कि जहां सत्यकी चाह और उपासना है वहां परिणाम चाहे हमारी धारणा के अनुसार न निकले, कुछ और ही निकले, परंतु वह अनिष्ट—बुरा—नहीं होता और कभी-कभी तो आशासे भी अधिक अच्छा हो जाता है। फिनिक्समें जो अकल्पित परिणाम पैदा हुए और फिनिक्सको जो अकल्पित रूप प्राप्त हुआ, वह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि अनिष्ट नहीं। हां, यह बात अलबत्ता निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि उन्हें अधिक अच्छा कह सकते हैं या नहीं।

हमारी धारणा यह थी कि हम लोग खुद मिहनत करके अपनी रोजी कमावेंगे, इसलिए छापेखानेके आस-पास हरएक निवासीको तीन-तीन एकड़ जमीनका टुकड़ा दिया गया। इसमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी नापा गया। हम सब लोगोंकी इच्छाके खिलाफ उनपर टीनके घर बनाये गये।

इच्छा तो हमारी यह थी कि हम मिट्टी और फूसके, किसानोंके लायक, अथवा ईंटके मकान वनावें, पर वह न हो सका। उसमें अधिक रुपया लगता था, और अधिक समय भी जाता था। फिर सब लोग इस वातके लिए आतुर थे कि कब अपने घर वसा लें और काममें लग जायं।

यद्यपि 'इंडियन ओपीनियन'के संपादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे, तथापि वह इस योजनामें सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका घर डरवनमें ही था। डरवनमें 'इंडियन ओपीनियन'की एक छोटी-सी शाखा भी थी।

छापेखानेमें कपोज करने यानी अक्षर जमानेके लिए यद्यपि वैतनिक कार्यकर्त्ता थे, फिर भी उसमें दृष्टि यह रखी गई थी कि अक्षर जमानेकी क्रिया सब सस्थावासी जान लें और करें। क्योंकि यह है तो आसान, पर इसमें समय वहुत जाता है, इसलिए जो लोग कंपोज करना नहीं जानते थे वे सब तैयार हो गये। मैं इस काममें अंततक सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे निकल गये। मेरा हमेशा यह मत रहा है कि उन्हें खुद अपनी शक्तिकी जानकारी नहीं रहती थी। उन्होंने इससे पहले छापेखानेका कोई काम नहीं किया था, फिर भी वह एक कुशल कंपोजीटर वन गये और अपनी गति भी वहुत वढ़ा ली। इतना ही नहीं, वल्कि थोड़े ही समयमें छापेखानेकी सब क्रियाओंमें काफी प्रवीणता प्राप्त करके, उन्होंने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया।

यह काम अभी ठिकाने लगा ही न था, मकान भी अभी तैयार न हुए थे कि इतनेमें ही इस नये रचे कुटुंबको छोड़कर मुझे जोहासवर्ग भागना पड़ा। ऐसी हालत न थी कि मैं वहांका काम वहुत समयतक यों ही पटक रखता।

जोहांसवर्ग आकर मैंने पोलकको इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी सूचना दी। अपनी दी हुई पुस्तकका यह परिणाम देखकर उनके आनंदकी सीमा न रही। उन्होंने वड़ी उमंगके साथ पूछा—"तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह योग नहीं दे सकता ?"

मैंने कहा—"हां क्यों नहीं; अवश्य दे सकते हैं। आप चाहें तो इस योजनामें भी शरीक हो सकते हैं।"

"मुझे आप शामिल कर लें तो मुझे तैयार ही समझिए।" पोलकने जवाब दिया।

उनकी इस दृढ़ताने मुझे मुग्ध कर लिया। पोलकने 'क्रिटिक'के मालिकको एक महीनेका नोटिस देकर अपना इस्तीफा पेश कर दिया और मियाद खतम होनेपर फिनिक्स आ पहुंचे। अपनी मिलनसारीसे उन्होंने सबका मन हर लिया और हमारे कुटुंबी बनकर वहां बस गये। सादगी तो उनके रगोरेशमें भरी हुई थी इसलिए उन्हें फिनिक्सका जीवन जरा भी अटपटा या कठिन न मालूम हुआ, बल्कि स्वाभाविक और रुचिकर जान पड़ा।

पर खुद मैं ही उन्हें वहां अधिक समयतक न रख सका। मि० रीचने विलायतमें रहकर कानूनके अध्ययनको पूरा करनेका निश्चय किया। दफ्तरके कामका बोझा मुझ अकेलेके वसका न था। इसलिए मैंने पोलकसे दफ्तरमें रहने और वकालत करनेके लिए कहा। इसमें मैंने यह सोचा था कि उनके वकील हो जानेके बाद अंतको हम दोनों फिनिक्समें आ पहुचेंगे।

हमारी ये सब कल्पनायें अंतको झूठी साबित हुईं; परंतु पोलकके स्वभावमें एक प्रकारकी ऐसी सरलता थी कि जिसपर उनका विश्वास बैठ जाता उसके साथ वह हुज्जत न करते और उसकी सम्मतिके अनुकूल चलनेका प्रयत्न करते। पोलकने मुझे लिखा—"मुझे तो यही जीवन पसंद है और मैं यही सुखी हूं। मुझे आशा है कि हम इस संस्थाका खूब विकास कर सकेंगे। परतु यदि आपका यह खयाल हो कि मेरे वहां आनेसे हमारे आदर्श जल्दी सफल होगें, तो मैं आनेको भी तैयार हूं।"

मैंने इस पत्रका स्वागत किया और पोलक फिनिक्स छोड़कर जोहांसबर्ग आये और मेरे दफ्तरमें मेरे सहायकका काम करने लगे। इसी समय मेकिनटायर नामक एक स्कॉच युवक हमारे साथ शरीक हुआ। वह

थियासफिस्ट था और उसे मैं कानूनकी परीक्षाकी तैयारीमे मदद करता था। मैने उसे पोलक का अनुकरण करने का निमंत्रण दिया था।

इस तरह फिनिक्सके आदर्शको शीघ्र प्राप्त कर लेनेके शुभ उद्देश्यसे मै उसके विरोधक जीवनमें दिन-दिन गहरा पैठता गया और यदि ईश्वरीय संकेत दूसरा न होता तो सादे जीवनके बहाने फैलाये इस मोह-जालमें मै खुद ही फंस जाता।

परतु हमारे आदर्शकी रक्षा इस तरह हुई कि जिसकी हममेसे किसी ने कल्पना भी नही की थी। लेकिन उस प्रसंगका वर्णन करनेके पहले अभी कुछ और अध्याय लिखने पड़ेंगे।

: २२ :

'जाको राखे साइयां'

इस समय तो मैंने निकट भविष्यमें देश जाने की अथवा वहां जाकर स्थिर होनेकी आशा छोड़ दी थी। इधर मै पत्नीको एक सालका दिलासा देकर दक्षिण अफ्रिका आया था; परंतु साल तो वीत गया और मैं लौट न सका, इसलिए निश्चय किया कि वाल-वच्चोंको यही वुलवा लूं।

वाल-वच्चे आ गये। उसमें मेरा तीसरा पुत्र रामदास भी था। रास्तेमें जहाजके कप्तानके साथ वह खूब हिल-मिल गया था और उनके साथ खिलवाड़ करते हुए उसका हाथ टूट गया था। कप्तानने उसकी खूब सेवा की थी। डाक्टरने हड्डी जोड़ दी थी, और जव वह जोहांसवर्ग पहुंचा तो उसका हाथ लकड़ीकी पट्टीसे वांधकर रूमालमें लटकाया हुआ ऊपर रखा गया था। जहाजके डाक्टरकी हिदायत थी कि जख्मका इलाज किसी डाक्टरसे ही कराना चाहिए।

परन्तु यह जमाना मेरे मिट्टीके प्रयोगोंके दौर-दौरेका था। अपने जिन मवक्किलोंका विश्वास मुझ अनाड़ी वैद्य पर था उनसे भी मैं मिट्टी

और पानीका प्रयोग कराता था। तब रामदासके लिए दूसरा क्या इलाज हो सकता था? रामदासकी उम्र उस समय आठ वर्षकी थी। मैंने उससे पूछा—"मै तुम्हारे जख्मकी मरहम-पट्टी खुद करूं तो तुम डरोगे तो नहीं?" रामदासने हंसकर मुझे प्रयोग करनेकी छुट्टी दे दी। इस उम्रमें उसे अच्छे-बुरेकी पहचान नहीं हो सकती थी, फिर भी डाक्टर और 'नीम-हकीम'का भेद वह अच्छी तरह जानता था। इसके अलावा उसे मेरे प्रयोगोंका हाल मालूम था और मुझपर उसका विश्वास था। इसलिए उसको कुछ डर नहीं मालूम हुआ।

मैंने उसकी पट्टी खोली। पर उस समय मेरे हाथ कांप रहे थे और दिल धड़क रहा था। मैंने जख्मको धोया और साफ मिट्टीकी पट्टी रखकर पूर्ववत् पट्टी बांध दी। इस तरह रोज मै जख्म साफ करके मिट्टीकी पट्टी चढ़ा देता। कोई महीनेभरमें घाव सूख गया। किसी भी दिन उसमें कोई खराबी पैदा न हुई और दिन-दिन वह सूखता ही गया। जहाजके डाक्टरने भी कहा था कि डाक्टरी मरहम-पट्टीसे भी इतना समय तो लग ही जायगा।

इससे घरेलू इलाजपर मेरा विश्वास और उसके प्रयोग करनेका मेरा साहस बढ गया। इसके बाद तो मैंने अपने प्रयोगोंकी सीमा बहुत बढ़ा दी थी। जख्म, बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि रोगोंपर मिट्टी, पानी और उपवासके प्रयोग कई छोटे-बड़े स्त्री-पुरुषोंपर किये और उनमें अधिकांश सफलता मिली। इतनेपर भी जो हिम्मत इस विषयमें मुझे दक्षिण अफ्रिकामे थी वह अब नही रही, और अनुभवसे ऐसा भी देखा गया है कि इन प्रयोगोंमे खतरा तो है ही।

इन प्रयोगोंके वर्णनमें मेरा हेतु यह नहीं है कि इनकी सफलता सिद्ध करूं। मै ऐसा दावा नही कर सकता कि इनमेंसे एक भी प्रयोग सर्वांशमें सफल हुआ हो, पर कोई डाक्टर भी तो अपने प्रयोगोंके लिए ऐसा दावा नही कर सकता। मेरे कहनेका भाव सिर्फ़ यही है कि जो लोग नये अपरिचित प्रयोग करना चाहते है उन्हे अपने ही से उसकी शुरूआत करनी चाहिए।

ऐसा करनेसे सत्य जल्दी प्रकाशित होता है और ऐसे प्रयोग करनेवालेको ईश्वर खतरोंसे बचा लेता है।

मिट्टीके प्रयोगोंमें जो जोखिम थी वही यूरोपियन लोगोंके निकट समागममें भी थी। भेद सिर्फ दोनोंके प्रकारका था। परंतु इन खतरोंका तो मेरे मनमें विचार तक नही आया।

पोलकको मैंनें अपने साथ रहनेका निमंत्रण दिया और हम सगे भाईकी तरह रहने लगे। पोलकका विवाह जिस देवीके साथ हुआ उससे उनकी मैत्री बहुत समयसे थी। उचित समयपर विवाह कर लेनेका निश्चय दोनोंने कर रखा था; परंतु मुझे याद पड़ता है कि पोलक कुछ रुपया जुटा लेनेकी फिराकमें थे। रस्किनके ग्रंथोंका अध्ययन और विचारोंका मनन उन्होंने मुझसे बहुत अधिक कर रखा था; परंतु पश्चिमके वातावरणमें रस्किनके विचारोंके अनुसार जीवन बितानेकी कल्पना मुश्किलसे ही हो सकती थी। एक रोज मैंने उनसे कहा, "जिसके साथ प्रेम-गांठ बंध गई है उसका वियोग केवल धनाभावसे सहना उचित नहीं है। इस तरह अगर विचार किया जाय तब तो कोई गरीब बेचारा विवाह कर ही नहीं सकता। फिर आप तो मेरे साथ रहते है। इसलिए घर-खर्चका खयाल ही नही है। सो मुझे तो यही उचित मालूम पड़ता है कि आप शादी कर लें।"

पोलकसें मुझे कभी कोई बात दुबारा कहनेका मौका नहीं आया। उन्हें तुरंत मेरी दलील पट गई। भावी श्रीमती पोलक विलायतमें थीं, उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। वह सहमत हुईं और थोड़े ही महीनोंमें वह विवाहके लिए जोहांसबर्ग आ गईं।

विवाहमें खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ा। विवाहके लिए खास कपड़ेतक नही बनाये गये और धर्म-विधिकी भी कोई आवश्यकता नहीं समझी। श्रीमती पोलक जन्मतः ईसाई और पोलक यहूदी थे। दोनों नीति-धर्मके माननेवाले थे।

परंतु इस विवाहके समय एक मनोरंजक घटना होगई थी। ट्रांसवालमें

जो कर्मचारी गोरोंके विवाहकी रजिष्ट्री करता वह कालेके विवाहकी नही करता था। इस विवाहमें दोनोंका पुरोहित या साक्षी मैं ही था। हम चाहते तो किसी गोरे-मित्रकी भी तजवीज कर सकते थे; परंतु पोलक इस बातको बरदाश्त नहीं कर सकते थे, इसलिए हम तीनों उस कर्मचारीके पास गये। जिस विवाहका मध्यस्थ एक काला आदमी हो उसमें वर-वधू दोनों गोरे ही होंगे, इस बातका विश्वास सहसा उस कर्मचारीको कैसे हो सकता था? उसने कहा कि मैं जांच करनेके बाद विवाह रजिस्टर करूंगा। दूसरे दिन बड़े दिनका त्योहार था। विवाहकी सारी तैयारी किये हुए वर-वधूके विवाहकी रजिस्ट्रीकी तारीखका इस तरह बदला जाना सबको बड़ा नागवार गुजरा। बड़े मजिस्ट्रेटसे मेरा परिचय था। वह इस विभागका अफसर था। मैं इस दंपतीको लेकर उनके पास गया। किस्सा सुनकर वह हंसे और चिट्ठी लिख दी। तब जाकर यह विवाह रजिस्टर हुआ।

आजतक तो थोड़े-बहुत परिचित गोरे पुरुष ही हम लोगोंके साथ रहे थे; पर अब एक अपरिचित अंग्रेज महिला हमारे परिवारमें दाखिल हुई। मुझे तो बिलकुल याद नही पड़ता कि खुद मेरा कभी उनके साथ कोई झगड़ा हुआ हो; परतु जहां अनेक जातिके और प्रकृतिके हिंदुस्तानी आया-जाया करते थे और जहां मेरी पत्नीको अभी ऐसे जीवनका अनुभव थोड़ा था, वहां उन दोनोंको कभी-कभी उद्वेगके अवसर मिले हों तो आश्चर्य नही; परंतु मैं कह सकता हूं कि एक ही जाति और कुटुंबके लोगोंमें कटु अनुभव जितने होते है, उनसे तो अधिक इस विजातीय कुटुंबमें नहीं हुए; बल्कि ऐसे जिन प्रसंगोंका स्मरण मुझे है वे बहुत मामूली कहे जा सकते हैं। बात यह है कि सजातीय-विजातीय यह तो हमारे मनकी तरंगें हैं, वास्तवमें तो हम सब एक ही परिवारके लोग हैं।

अब, वेस्टका विवाह भी यहीं क्यों न मना लूं? उस समय ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व नही हुए थे। इसलिए कुंवारे मित्रोंका विवाह करा देना उन दिनों मेरा एक पेशा हो बैठा था। वेस्ट जब अपनी

जन्मभूमिमें माता-पितासे मिलनेके लिए गये तो मैंने उन्हें सलाह दी थी कि जहांतक हो सके विवाह करके ही लौटना; क्योंकि फिनिक्स हम सबका घर हो गया था, और हम सब किसान बन बैठे थे, इसलिए विवाह या वंश-वृद्धि हमारे लिए भयका विषय नहीं था।

वेस्ट लेस्टरकी एक सुंदरी विवाह लाये। इस कुमारिकाके परिवारके लोग लेस्टरके जूतेके एक बड़े कारखानेमें काम करते थे। श्रीमती वेस्ट भी कुछ समयतक उस जूतेके कारखानेमे काम कर चुकी थीं। उसे मैंने सुंदरी कहा है, क्योंकि मै उसके गुणोंका पुजारी हूं और सच्चा सौंदर्य तो मनुष्यका गुण ही होता है। वेस्ट अपनी सासको भी साथ लाये थे। यह भली बुढ़िया अभी जिंदा है। अपनी उद्यमशीलता और हंसमुख स्वभावसे वह हम सबको शर्माया करती थी।

इधर तो मैंने गोरे मित्रोंका विवाह कराया, उधर हिंदुस्तानी मित्रोंको अपने बाल-बच्चोंको बुलावा लेनेके लिए उत्साहित किया। इससे फिनिक्स एक छोटा-सा गांव बन गया था। वहां पांच-सात हिंदुस्तानी-कुटुंब रहने और वृद्धि पाने लगे थे।

: २३ :

घरमें फेर-फार और बाल-शिक्षा

डरबनमें जो घर बनाया था उसमें भी कितने ही फेर-फार कर डाले थे। पर यहां खर्च बहुत रखा था; फिर भी झुकाव सादगीकी ही तरफ था। परंतु जोहांसबर्गमें 'सर्वोदय'के आदर्श और विचारोंने बहुत परिवर्तन कराया।

एक बैरिस्टरके घरमें जितनी सादगी रखी जा सकती थी उतनी तो रखी ही गई थी; फिर भी कितनी ही सामग्रीके बिना काम चलाना

कठिन था। सच्ची सादगी तो मनकी बढ़ी। हर काम हाथसे करनेका शौक बढा और उसमें बालकोंको भी शामिल करनेका उद्योग किया गया।

बाजारसे रोटी (डबल रोटी) खरीदनेके बदले घरमें हाथसे बिना खमीरकी रोटी, कूनेकी बताई पद्धतिसे, बनाना शुरू किया। ऐसी रोटीमें मिलका आटा काम नही दे सकता। फिर मिलके आटेकी बजाय हाथका आटा इस्तेमाल करनेमें सादगी, तंदुरुस्ती और धन, सबकी अधिक रक्षा होती थी। इसलिए ७ पौंड खर्च करके हाथसे आटा पीसनेकी एक चक्की खरीदी। इसका पहिया भारी था। इसलिए चलानेमें एकको दिक्कत होती थी और दो आदमी उसे आसानीसे चला सकते थे। चक्की चलानेका काम खासकर पोलक, मैं और बच्चे करते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी आ जाती। हालांकि वह प्रायः उस समय रसोई करनेमें लगी रहतीं। श्रीमती पोलकके आनेपर वह भी उसमें जुट जाती। यह कसरत बालकोंके लिए बहुत अच्छी साबित हुई। उनसे मैंने यह अथवा कोई दूसरा काम जबरदस्ती कभी नहीं करवाया; परंतु वे एक खेल समझकर उसका पहिया घुमाते रहते। थक जानेपर पहिया छोड़ देनेकी उन्हे छुट्टी थी। मैं नही कह सकता क्या बात है कि क्या बालक और क्या दूसरे लोग, जिनका परिचय हम आगे करेंगे, किसीने कभी मुझे निराश नही किया है।

यह नही कह सकते कि मंद और ढीठ लड़के मेरे नसीबमे न हों; परंतु इनमेसे बहुतेरे अपने जिम्मेका काम बड़ी उमंगसे करते। इस युगके ऐसे थोड़े ही बालक मुझे याद पड़ते है, जिन्होंने कामसे जी चुराया हो या कहा हो कि 'अब थक गये।'

घर साफ रखनेके लिए एक नौकर था। वह कुटुंबकी तरह रहता था और बच्चे उसके काममें पूरी-पूरी मदद करते थे। पाखाना उठा ले जानेके लिए म्युनिसिपैलिटीका नौकर आता था; परंतु पाखानेका कमरा साफ रखना, बैठक धोना वगैरा काम नौकरसे नही लिया जाता था और न इसकी आशा ही रखी जाती थी। यह काम हम लोग खूब करते थे; क्योंकि उसमें भी बच्चोंको तालीम मिलती थी। इसका फल यह हुआ कि

मेरे किसी भी लड़केको शुरूसे ही पाखाना साफ करनेकी घिन न रही और आरोग्यके सामान्य नियम भी वे सहज ही सीख गये। जोहांसवर्गमें कोई बीमार तो शायद ही पड़ते; परतु यदि कोई बीमार होता तो उसकी सेवा आदिमें बालक अवश्य शामिल होते और वे इस कामको बड़ी खुशीसे करते।

यह तो नही कह सकते कि उनके अक्षर-ज्ञान अर्थात् पुस्तकी शिक्षाकी मैंने कोई परवाह नही की; परंतु हा, मैंने उसका त्याग करनेमें कुछ संकोच नही किया।। इस कमीके लिए मेरे लड़के मेरी शिकायत कर सकते हैं, और कई बार उन्होंने अपना असंतोष प्रदर्शित भी किया है। मैं मानता हूं कि उसमे कुछ अंश तक मेरा दोष है। उन्हें पुस्तकी शिक्षा देनेकी इच्छा मुझे बहुत हुआ करती, कोशिश भी करता; परंतु इस काममे हमेशा कुछ-न-कुछ विघ्न आ खड़ा होता। उसके लिए घरपर दूसरी शिक्षाका प्रबध नही किया था। इसलिए मै उन्हे अपने साथ पैदल दफ्तर ले जाता। दफ्तर ढाई मील था। इसलिए सुबह-शाम मिलकर पांच मील की कसरत उनको और मुझे हो जाया करती। रास्तेमें चलते हुए उन्हें कुछ सिखानेकी कोशिश करता; पर वह भी तब जब कि दूसरे कोई साथ चलनेवाले न होते। दफ्तर मे मवक्किलों और मुंशियोंके संपर्कमें वे आते, मैं बता देता था तो कुछ पढ़ते, इधर-उधर घूमते, बाजारसे कोई सामान-सौदा लाना हो तो लाते। सबसे जेठे हरिलालको छोड़कर सब बच्चे इसी तरह परवरिश पाये। हरिलाल देशमें रह गया था। यदि मै अक्षर-ज्ञानके लिए एक घंटा भी नियमित रूपसे दे पाता तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षण मिला है; किंतु मै यह नियम न रख सका, इसका दुःख उनको और मुझको रह गया है। सबसे बड़े बेटेने तो अपने जीकी जलन मेरे तथा सर्व-साधारणके सामने प्रकट की है। दूसरोंने अपनी हृदयकी उदारतासे काम लेकर इस दोषको अनिवार्य समझकर, उसको सहन कर लिया है। पर इस कमीके लिए मुझे पछतावा नहीं होता और यदि कुछ है भी तो इतना ही कि मै एक आदर्श पिता साबित न हुआ। परंतु यह मेरा मत है कि मैंने अक्षर-ज्ञानकी आहुति भी लोक-सेवाके लिए दी है। हो सकता है कि

उसके मूलमे अज्ञान हो; पर मैं इतना कह सकता हूं कि वह सद्भावपूर्ण थी। उनके चरित्र और जीवनके निर्माण करनेके लिए जो-कुछ उचित और आवश्यक था, उसमें मैंने कोई कसर नही रहने दी है और मैं मानता हूं कि प्रत्येक माता-पिताका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है। मेरी इतनी कोशिशके बावजूद मेरे बालकोंके जीवनमें जो खामियां दिखाई दी हैं, मेरा यह दृढ मत है कि, वे हम दंपतीकी खामियोंका प्रतिबिंब है।

बालकोंको जिस तरह मां-बापकी आकृति विरासतमे मिलती है, उसी तरह उनके गुण-दोष भी विरासतमें अवश्य मिलते हैं। हा, आस-पासके वातावरणके कारण तरह-तरहकी घटा-बढ़ी जरूर हो जाती है; परंतु मूल पूजी तो वही रहती है, जो उन्हें बाप-दादोंसे मिली होती है। यह भी मैंने देखा है कि कितने ही बालक दोषोंकी इस विरासतसे अपनेको बचा लेते हैं; पर यह तो आत्माका मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है।

मेरे और पोलकके दरमियान इन लड़कोंके अंग्रेजी-शिक्षणके विषयमें गरमागरम बातचीत होती रही है। मैंने शुरूसे ही यह माना है कि जो हिंदुस्तानी माता-पिता अपने बालकोंको बचपनसे ही अंग्रेजी पढ़ना और बोलना सिखा देते हैं वे उनका और देशका द्रोह करते है। मेरा यह भी मत है कि इससे बालक अपने देश की धार्मिक और सामाजिक विरासतसे वंचित रह जाते हैं और उस अंशतक देशकी और जगत्की सेवा करनेके कम योग्य अपनेको बनाते है। इस कारण मैं हमेशा जान-बूझकर बालकोंके साथ गुजरातीमें ही बातचीत करता। पोलकको यह पसंद न आता। वह कहते—'आप बालकोंके भविष्यको बिगाड़ते है।' वह मुझे बड़े आग्रह और प्रेमसे समझाते कि अंग्रेजी-जैसी व्यापक भाषाको यदि बच्चे बचपनसे ही सीख ले तो संसारमे जो आज जीवन-संघर्ष चल रहा है उसका एक बड़ी मंजिल वे सहजमे ही तय कर लेंगे। मुझे यह दलील न पटी। अब मुझे याद नहीं पड़ता कि अंतको मेरा जवाब उन्हें जच गया या मेरी हठको देखकर वह खामोश हो रहे। यह बातचीत कोई बीस बरस पहलेकी है। अब तो मेरे उस समयके ये विचार अनुभवसे और भी दृढ़ हो गये हैं

और भले हो मेरे बालक अक्षर-ज्ञानमें कच्चे रह गये हों, फिर भी उन्हें मातृ-भाषाका जो सामान्य ज्ञान सहज ही मिल गया है उससे उनको और देशको लाभ ही हुआ है और आज वे परदेशी-जैसे नहीं हो रहे हैं। वे दुभाषिया तो आसानी से हो गये; क्योंकि बड़े अंग्रेज मित्र-मंडलके सहवासमे आनेसे और ऐसे देशमें रहनेसे जहां अंग्रेजी विशेषरूप से बोली जाती है, वे अंग्रेजी बोलना और मामूली लिखना सीख गये थे।

: २४ :

जुलू 'बलवा'

घर बनाकर बैठनेके बाद जमकर एक जगह बैठना मेरे नसीबमें लिखा ही नहीं। जोहांसबर्गमें जमने लगा था कि एक ऐसी घटना हो गई जिसकी कल्पना भी नही थी। समाचार आये कि नेटालमे जुलू लोगोंने 'बलवा' खड़ा कर दिया है। मुझे जुलू लोगोंसे कोई दुश्मनी नही थी। उन्होंने एक भी हिंदुस्तानीको नुकसान नहीं पहुंचाया था। स्वयं 'बलवे'के बारेमें भी मुझे शंका थी; परंतु मै उस समय अंग्रेजी सल्तनतको संसारके लिए कल्याण-कारी मानता था। मैं हृदयसे उसका वफादार था। उसका क्षय मै नही चाहता था। इसलिए बल-प्रयोग-विषयक नीति-अनीतिके विचार मुझे अपने इरादेसे रोक नही सकते थे। नेटालपर आपत्ति आवे तो उसके पास रक्षाकेलिए स्वयंसेवक-सेना थी और आपत्तिके समय उसमें जरूरतके लायक और भरती भी हो सकती थी। मैंने अखबारोंमें पढ़ा कि स्वयंसेवक-सेना इस 'बलवे'को शांत करनेके लिए चल पड़ी थी।

मै अपनेको नेटाल-वासी मानता था और नेटालके साथ मेरा निकट संबंध था ही। इसलिए मैंने वहांके गवर्नरको पत्र लिखा कि यदि जरूरत हो तो मै घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए हिंदुस्तानियोंकी एक टुकड़ी

लेकर जानेको तैयार हूं। गवर्नरने तुरंत ही इसको स्वीकार कर लिया। मैंने अनुकूल उत्तरकी अथवा इतनी जल्दी उत्तर आ जानेकी आशा नहीं की थी। फिर भी यह पत्र लिखनेके पहले मैंने अपना इंतजाम कर ही लिया था कि यदि गवर्नर हमारे प्रस्तावको स्वीकार कर ले तो जोहांसबर्ग-का घर तोड़ दे। पोलक एक अलग छोटा घर लेकर रहें और कस्तूरबाई फिनिक्स जाकर रहें। कस्तूरबाई इस योजनासे पूर्ण सहमत हुईं। ऐसे कामोंमे उसकी तरफसे कभी कोई रुकावट आनेका स्मरण मुझे नहीं होता। गवर्नरका जवाब आते ही मैंने मकान-मालिकको घर खाली करनेका एक महीनेका बाकायदा नोटिस दे दिया। कुछ सामान फिनिक्स गया और कुछ पोलकके पास रह गया।

डरबन पहुंचकर मैंने आदमी मांगे। बहुत लोगों की जरूरत न थी। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। उनमें मेरे अलावा चार गुजराती थे। शेष मदरास प्रांतके गिरमिट-मुक्त हिंदुस्तानी थे और एक पठान था।

मुझे औषधि-विभागके मुख्य अधिकारीने इस टुकड़ीमें 'सारजंट मेजर' का स्थायी पद दिया और मेरे पसंद किये दूसरे दो सज्जनोंको 'सारजंट'की और एकको 'कारपोरल' की पदवियां दी। वर्दी भी सरकार-की तरफसे मिली। इसका कारण यह था कि एक तो काम करनेवालोंके आत्म-सम्मानकी रक्षा हो, दूसरे काम सुविधा-पूर्वक हो, और तीसरे ऐसी पदवी देनेका वहां रिवाज भी था। इस टुकड़ीने छः सप्ताहतक सतत सेवा की।

'बलवे'के स्थलपर जाकर मैंने देखा कि वहां 'बलवा' जैसा कुछ नहीं था। कोई सामना करता हुआ दिखाई नहीं पड़ा। उसे 'बलवा' माननेका कारण यह था कि एक जुलू सरदारने जुलू लोगोंपर बैठाये गये करको न देनेकी सलाह उन्हें दी थी और एक सारजटको, जो वहां कर वसूल करनेके लिए गया था, मार डाला था। जो भी हो मेरा हृदय तो इन जुलूओंकी तरफ था और अपनी छावनीमें पहुंचने पर जब हमें खासकरके जुलू घायलों-की ही शुश्रूषाका काम दिया गया तब तो मुझे बड़ी खुशी हुई। उस डाक्टर-

अधिकारीने हमारा इस सेवाका स्वागत करते हुए कहा—"गोरे लोग इन घायलोंकी सेवा करनेके लिए तैयार नहीं होते। मैं अकेला क्या करता ? इनके घाव खराब हो रहे हैं। आप आ गये, यह अच्छा हुआ। इसे मैं इन निपराध लोगोंपर ईश्वरकी कृपा ही समझता हूं।" यह कहकर मुझे पट्टियां और जंतु-नाशक पानी दिया और उन घायलोंके पास ले गये। घायल हमें देखकर बड़े आनंदित हुए। गोरे सिपाही जंगलेमेंसे झांक-झांककर हमको घाव धोनेसे रोकनेकी चेष्टा करते और हमारे न सुननेपर वे जुलू लोगोंको जो बुरी-बुरी गालियां देते उन्हें सुनकर हमें कानोंमें उंगलियां देनी पड़ती।

धीरे-धीरे इन गोरे सिपाहियोंके साथ भी मेरा परिचय हुआ और फिर उन्होंने मुझे रोकना बंद कर दिया। इस सेनामें कर्नल स्पाक्स और कर्नल वायली थे, जिन्होंने १८९६ में मेरा घोर विरोध किया था। वे मुझे इस काममें सम्मिलित देखकर चकित हो गये। मुझे खास तौरपर बुलाकर उन्होंने धन्यवाद दिया और जनरल मैकेंजीके पास ले जाकर उनसे मेरी मुलाकात करवाई।

पाठक यह न समझ लें कि ये लोग पेशेवर सैनिक थे। कर्नल वायलीका पेशा था वकालत। कर्नल स्पॉक्स कसाईखाने के एक प्रसिद्ध मालिक थे। जनरल मैकेंजी नेटालके एक मशहूर किसान थे। सब स्वयं-सेवक थे और स्वयं-सेवकके रूपमें ही उन्होंने सैनिक-शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

जिन रोगियोंकी शुश्रूषाका काम हमें सौंपा गया था, वे लड़ाईमें घायल लोग न थे। उनमें एक हिस्सा तो था उन कैदियोंका जो शुबहपर पकड़े गये थे। जनरलने उन्हें कोड़े मारनेकी सजा दी थी। इससे उन्हें जख्म पड़ गये थे और उनका इलाज न होनेके कारण पक गये थे। दूसरा हिस्सा था उन लोगोंका, जो जुलू-मित्र कहलाते थे। ये मित्रता-दर्शक चिह्न पहने हुए थे। फिर भी इन्हें सिपाहियोंने भूलसे जख्मी कर दिया था।

इसके उपरांत खुद मुझ गोरे सिपाहियोंके लिए दवा लानेका और उन्हें दवा देनेका काम सौंपा गया था। पाठकोंको याद होगा कि डाक्टर बूथके छोटे-से अस्पतालमें मैंने एक सालतक इसकी तालीम हासिल की थी। इसलिए यहां मुझे दिक्कत न पड़ी। इसकी बदौलत वहुतेरे गोरोंसे मेरा परिचय हो गया।

परंतु युद्ध-स्थलपर गई हुई सेना एक ही जगह नहीं पड़ी रहती। जहां-जहांसे खतरेके समाचार आते वह वहीं जा दौड़ती। उनमें बहुतेरे तो घुड़-सवार थे।

हमारी फौज अपने पड़ावसे चली। उसके पीछे-पीछे हमें भी डोलियां कंधोंपर रखकर चलना था। दो-तीन बार तो एक दिनमें चालीस मीलतक चलनेका प्रसंग आ गया था। यहां भी हमे तो बस वही प्रभुका काम मिला। जो जुलू-मित्र भूलसे घायल हो गये थे उन्हें डोलियोंमें उठाकर पड़ावपर ले जाना था और वहां उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी थी।

: २५ :

हृदय-मंथन

'जुलू-विद्रोह'मे मुझे बहुतेरे अनुभव हुए और विचार करनेकी बहुत सामग्री मिली। बोअर-संग्राममे युद्धकी भयंकरता मुझे उतनी नहीं मालूम हुई जितनी इस बार। यह लडाई नही, मनुष्यका शिकार था। अकेला मेरा ही नही, बल्कि दूसरे अंग्रेजोंका भी यही खयाल था। सुबह होते ही हमे सैनिकोंकी गोला-बारीकी आवाज पटाखोंकी तरह सुनाई पड़ती, जो गांवोंमे जाकर गोलियां झाड़ते। इन शब्दोंको सुनना और ऐसी स्थितिमें रहना मुझे वहुत बुरा मालूम हुआ। परंतु मैं इस कड़वी घूंटको पीकर रह गया और ईश्वर-कृपासे काम भी जो मुझे मिला वह भी जुलू लोगोंकी

सेवाका ही। मैंने यह तो देख लिया था कि यदि हमने इस कामके लिए कदम न बढ़ाया होता तो दूसरे कोई इसके लिए तैयार न होते। इस बातको स्मरण करके मैंने अंतरात्माको शांत किया।

इस विभागमें आबादी बहुत कम थी। पहाड़ों और कंदराओंमें भले, सादे और जंगली कहलानेवाले जुलू लोगोंके कूवों (झोंपड़ों) के सिवा वहां कुछ नही था। इससे वहांका दृश्य बड़ा भव्य दिखाई पड़ता था। मीलोंतक जब हम बिना बस्तीके प्रदेशमे लगातार किसी घायलको लेकर अथवा खाली हाथ मंजिल तय करते तब मेरा मन तरह-तरहके विचारोंमें डूब जाता।

यहां ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व हुए। अपने साथियोंके साथ भी मैंने उसकी चर्चा की। हां, यह बात अभी मुझे स्पष्ट नही दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शनके लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। परंतु यह बात मैं अच्छी तरह जान गया कि सेवाके लिए उसकी बहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकारकी सेवायें मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेगी और यदि मैं भोग-विलासमें, प्रजोत्पत्तिमें, और संतति-पालनमें लगा रहा तो मैं पूरी तरह सेवा न कर सकूंगा। मै दो घोड़ोंपर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी इससमय गर्भवती होती तो मैं निश्चिंत होकर आज इस सेवा-कार्यमे नही कूद सकता था। यदि ब्रह्मचर्यका पालन न किया जाय तो कुटुंब-वृद्धि मनुष्यके उस प्रयत्नकी विरोधक हो जाय, जो उसे समाजके अभ्युदयके लिए करना चाहिए; पर यदि विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्यका पालन हो सके तो कुटुंब-सेवा समाज-सेवाकी विरोधक नही हो सकती। मै विचारोंकी इस भंवरमें पड़ गया और ब्रह्मचर्यका व्रत ले लेनेके लिए कुछ अधीर हो उठा। इन विचारोंसे मुझे एक प्रकारका आनंद हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। इस समय कल्पनाने मेरे सामने सेवाका क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया था।

ये विचार अभी मै अपने मनमें गढ़ रहा था और शरीरको कस ही रहा था कि इतनेमें कोई यह अफवाह लाया कि 'बलवा' शांत हो

गया है और अब हमें छुट्टी मिल जायगी। दूसरे ही दिन हमें घर जानेका हुक्म हुआ और थोड़े ही दिनों बाद हम सब अपने-अपने घर पहुंच गये। इसके थोड़े ही दिन बाद गवर्नरने इस सेवा के निमित्त मेरे नाम धन्यवाद का एक खास पत्र भेजा।

फिनिक्समें पहुंचकर मैंने ब्रह्मचर्य-विषयक अपने विचार बड़ी तत्परतासे छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादिके सामने रखे। सबको वे पसंद आयें। सबने ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता समझी। परंतु सबको उसका पालन बड़ा कठिन मालूम हुआ। कितनोंने ही प्रयत्न करनेका साहस भी किया। और मैं मानता हूं कि कुछ तो उसमें अवश्य सफल हुए हैं।

मैंने तो उसी समय व्रत ले लिया कि आजसे जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। इस व्रतका महत्त्व और उसकी कठिनता मै उस समय पूरी तरह न समझ सका था। कठिनाइयोंका अनुभव तो मै आज-तक भी करता रहता हूं। साथ ही उस व्रतका महत्त्व भी दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हू। ब्रह्मचर्य-हीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत् मालूम होता है। पशु स्वभावतः निरंकुश है, परंतु मनुष्य का मनुष्यत्व इसी बातमें है कि वह स्वेच्छासे अपनेको अंकुश मे रखे। ब्रह्मचर्य की जो स्तुति धर्म-ग्रंथोंमें की गई है उसमे पहले मुझे अत्युक्ति मालूम होती थी। परंतु अब दिन-दिन यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह बहुत ही उचित और अनुभव-सिद्ध है।

वह ब्रह्मचर्य, जिसके ऐसे महान् फल प्रकट होते है, कोई हंसी-खेल नही है, केवल शारीरिक वस्तु नही है।

शारीरिक अंकुशसे तो ब्रह्मचर्यका श्रीगणेश होता है। परंतु शुद्ध ब्रह्मचर्यमें तो विचार तककी मलिनता न होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्नमे भी बुरे विचार नहीं करता। जबतक बुरे सपने आया करते हैं, स्वप्नमे भी विकार प्रबल होता रहता है, तबतक यह मानना चाहिए कि अभी ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे तो कायिक ब्रह्मचर्यके पालनमें भी महा कष्ट सहना पड़ा। इस समय तो यह कह सकता हूं कि मैं इसके विषय में निर्भय हो गया हूं; परंतु अपने विचारोंपर अभी पूर्ण-विजय प्राप्त नहीं कर सका हूं। मैं नहीं समझता कि मेरे प्रयत्नमें कहीं कसर हो रही है; परंतु मैं अबतक नहीं जान सका कि ऐसे-ऐसे विचार जिन्हें हम नहीं चाहते हैं, कहांसे और किस तरह हमपर चढ़ाई कर देते हैं। हां, इस बातमें मुझे कुछ भी संदेह नहीं है कि विचारोंको भी रोक लेनेकी कुंजी मनुष्यके पास है। पर अभी तो मैं इस निर्णयपर पहुंचा हूं कि वह चाबी प्रत्येकको अपने लिए खोजनी पड़ती है। महापुरुष जो अनुभव अपने पीछे छोड़ गये हैं वे हमारे लिए मार्ग-दर्शक हैं, उन्हें हम पूर्ण नहीं कह सकते। पूर्णता मेरी समझमे केवल प्रभु-प्रसादी है और इसीलिए भक्त लोग अपनी तपश्चर्यासे पुनीत करके रामनामादि मन्त्र हमारे लिए छोड़ गये हैं। मुझे विश्वास होता है कि अपनेको पूर्णरूपसे ईश्वरार्पण किये बिना विचारों पर पूरी विजय कभी नहीं मिल सकता। समस्त धर्म-पुस्तकोंमे मैंने ऐसे वचन पढ़े हैं और अपने ब्रह्मचर्यके सूक्ष्मतम पालनके प्रयत्नके संबंधमें मैं उनकी सत्यताका अनुभव भी कर रहा हूं।

परंतु मेरी इस छटपटाहटका थोड़ा-बहुत इतिहास अगले अध्यायोंमें आने ही वाला है, इसलिए इस प्रकरणके अंतमें तो इतना ही कहे देता हू कि अपने उत्साहके आवेगमें पहले-पहल तो मुझे इस व्रतका पालन सरल मालूम हुआ। परंतु एक बात तो मैंने व्रत लेते ही शुरू कर दी थी। पत्नीके साथ एक-शय्या अथवा एकांत-सेवनका त्याग कर दिया था। इस तरह इच्छा या अनिच्छासे जिस ब्रह्मचर्यका पालन मैं १९००से करता आया हूं उसका आरंभ व्रतके रूपमें १९०६के मध्यमे हुआ।

: २६ :

सत्याग्रहकी उत्पत्ति

जोहांसवर्गमें मेरे लिए ऐसी रचना तैयार हो रही थी कि मेरी यह एक प्रकारकी आत्म-शुद्धि मानो सत्याग्रहके ही निमित्त हुई हो। ब्रह्मचर्यका व्रत ले लेनेतक मेरे जीवनकी तमाम मुख्य घटनायें मुझे छिपे-छिपे सत्याग्रहके लिए ही तैयार कर रही थी, ऐसा अब दिखाई पड़ता है।

'सत्याग्रह' शब्दकी उत्पत्ति होनेके पहले सत्याग्रह वस्तुकी उत्पत्ति हुई है। जिस समय उसकी उत्पत्ति हुई उस समय तो मैं खुद भी नहीं जान सका कि यह चीज दरअसल क्या है।

गुजरातीमें हम उसे 'पैसिव रेजस्टिस' इस अंग्रेजी नामसे पहचानने लगे; पर जब गोरोंकी एक सभामें मैंने देखा कि 'पैसिव रेजस्टिंस'का संकुचित अर्थ किया जाता है, वह निर्बलका हथियार समझा जाता है, उसमें द्वेषके अस्तित्वकी संभावना है और उसका अंतिम रूप हिंसामें परिणत हो सकता है; तब मुझे इस शब्दका विरोध करना पड़ा और भारतीयोंके संग्रामका सच्चा रूप लोगोंको समझाना पड़ा—और उस समय हिंदुस्तानियोंको अपने संग्रामका परिचय करानेके लिए एक नया शब्द गढ़नेकी जरूरत पड़ी।

परंतु मुझे इसके लिए कोई स्वतंत्र शब्द सूझ नहीं पड़ता था। अतएव उसके नामके लिए एक इनाम रखा गया और 'इंडियन ओपीनियन'के पाठकोंमें उसके लिए एक होड़ शुरू कराई। इसके फलस्वरूप मगनलाल गांधीने 'सत् + आग्रह = सदाग्रह' शब्द बनाकर भेजा। उन्हें इनाम मिला परंतु सदाग्रह शब्दको अधिक स्पष्ट करनेके लिए मैंने बीचमें 'य' जोड़कर सत्याग्रह शब्द बनाया; और फिर इस नामसे वह संग्राम पुकारा जाने लगा।

इस युद्धके इतिहासको दक्षिण अफ्रिकाके मेरे जीवनका और विशेष करके मेरे सत्यके प्रयोगोंका इतिहास कह सकते हैं। इस युद्धका इतिहास

मैंने बहुत-कुछ यरवदा-जेल मे लिख डाला था और शेषांश बाहर निकलनेपर पूरा कर डाला। वह सब 'नवजीवन'में क्रमशः प्रकाशित हुआ है और बादको "दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास" नामसे पुस्तक-रूपमें भी प्रकाशित हुआ है।[1]

जिन सज्जनोंने उसे न पढ़ा हो उनसे मैं पढ़ जानेकी सिफारिश करता हूं। उस इतिहासमें जिन बातोंका उल्लेख हो चुका है उनको छोड़कर दक्षिण अफ्रिकाके मेरे जीवनके कुछ खानगी प्रसंग जो उसमे रह गये हैं वही इन अध्यायोंमे देनेका विचार करता हूं और उनके पूरा हो जानेके बाद ही हिंदुस्तानके प्रयोगोंका परिचय पाठकोंको करानेकी इच्छा है।

इसलिए इन प्रयोगोंके प्रसंगोंके क्रमको जो सज्जन अविच्छिन्न रखना चाहते है उन्हें चाहिए कि वे अब अपने सामने 'दक्षिण अफ्रिकाके इतिहास'के उन अध्यायोंको रख ले।

: २७ :

भोजनके और प्रयोग

अब मुझे एक फिक्र तो यह लगी कि मन, कर्म और वचनसे ब्रह्मचर्यका पालन किस प्रकार हो, और दूसरी यह कि सत्याग्रह-संग्रामके लिए अधिक-से-अधिक समय किस तरह बचाया जाय और अधिक शुद्धि कैसे हो। इन दो फिक्रोंने मुझे अपने भोजनमें अधिक संयम और अधिक परिवर्तनकी प्रेरणा की। फिर जो परिवर्तन मै पहले मुख्यतः आरोग्यकी दृष्टिसे करता था वे अब धार्मिक दृष्टिसे होने लगे।

इसमें उपवास और अल्पाहारने अधिक स्थान लिया। जिनके अंदर विषय-वासना रहती है उनकी जीभ बहुत स्वाद-लोलुप रहती है। यही

[1] हिंदी में यह 'सस्ता-साहित्य-मंडल,' नई दिल्ली से प्रकाशित हुए हैं। —अनुवादक

स्थिति मेरी भी थी। जननेंद्रिय और स्वादेंद्रियपर कब्जा करते हुए मुझे बहुत विडंबनायें सहनी पड़ी है और अब भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि इन दोनोंपर मैंने पूरी विजय प्राप्त कर ली है। मैंने अपनेको अत्याहारी माना है। मित्रोंने जिसे मेरा संयम माना है उसे मैंने कभी वैसा नही माना। जितना अंकुश मैं अपनेपर रख सका हूं उतना यदि न रख सका होता तो मैं पशुसे भी गया-बीता होकर अबतक कभीका नाशको प्राप्त हो गया होता। मैं अपनी खामियोको ठीक-ठीक जानता हूं और कह सकता हूं कि उन्हें दूर करनेके लिए मैंने भारी प्रयत्न किये हैं। और उसीसे मैं इतने सालतक इस शरीरको टिका सका हूं और उससे कुछ काम ले सका हूं।

इस बातका भान होनेके कारण और इस प्रकार की संगति अनायास मिल जानेके कारण मैंने एकादशी के दिन फलाहार अथवा उपवास शुरू किये। जन्माष्टमी इत्यादि दूसरी तिथियोंपर भी उपवास करने लगा, परंतु संयमकी दृष्टिसे फलाहार और अन्नाहारमें मुझे बहुत भेद दिखाई न दिया। अनाजके नामसे हम जिन वस्तुओंको जानते है उनमेंसे जो रस मिलता है वही फलाहारसे भी मिलता है और आदत पड़नेके बाद तो मैंने देखा कि उनसे अधिक ही रस मिलता है। इस कारण इन तिथियोंके दिन सूखा उपवास अथवा एकासने[1]को अधिक महत्त्व देता गया। फिर प्रायश्चित्त आदिका भी कोई निमित्त मिल जाता तो उस दिन भी एकासना कर डालता। इससे मैंने यह अनुभव किया कि शरीरके अधिक स्वच्छ हो जानेसे रसोंकी वृद्धि हुई, भूख बढ़ी और मैंने देखा कि उपवासादि जहां एक ओर संयमके साधन है वहां दूसरी ओर वे भोगके साधन भी बन सकते हैं। यह ज्ञान हो जानेपर इसके समर्थनमे उसी प्रकारके मेरे तथा दूसरोंके कितने ही अनुभव हुए हैं। मुझे तो यद्यपि अपना शरीर अधिक अच्छा और सुगठित बनाना था तथापि अब तो मुख्य हेतु था संयमको साधना और रसोंको जीतना। इसलिए भोजनकी चीजोमें और उसकी

---

१ दिनमें एक बार भोजन करना।

मात्रामें परिवर्तन करनें लगा, परंतु रस तो हाथ धोकर पीछे ही पड़े रहते। एक वस्तुको छोड़कर जब मैं इसकी जगह दूसरी वस्तु लेता तो उसमेंसे भी नये और अधिक रस उत्पन्न होने लगते।

इन प्रयोगोंमें मेरे साथ और साथी भी थे। हरमन केलनवेक इनमें मुख्य थे। इनका परिचय 'दक्षिण-अफ्रिकाके सत्याग्रहके इतिहास'में दे चुका हूं। इसलिए फिर यहां देनेका इरादा छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवासमें, एकासनेमें एवं दूसरे परिवर्तनोंमें मेरा साथ दिया था। जब हमारे आंदोलनका रंग खूब जमा था तब तो मैं उन्हींके घरमें रहता था। हम दोनों अपने इन परिवर्तनोंके विषयमें चर्चा करते और नये परिवर्तनोंमें पुराने रसोंसे भी अधिक रस पीते। उस समय तो ये संवाद बड़े मीठे भी लगते थे। यह नहीं मालूम होता था कि उनमें कोई बात अनुचित होती थी। पर अनुभवने सिखाया कि ऐसे रसोंमें गोते खाना भी अनुचित था। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यको रसके लिए नहीं; बल्कि शरीर को कायम रखनेके लिए ही भोजन करना चाहिए। प्रत्येक इंद्रिय जब केवल शरीरके और शरीरके द्वारा आत्माके दर्शनके ही लिए काम करती है तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं। और तभी कह सकते है कि वह स्वाभाविक रूपमें अपना काम करती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करनेके लिए जितने प्रयोग किये जायं उतने ही कम हैं और ऐसा करते हुए यदि अनेक शरीरोंकी आहुति देनी पड़े तो भी हमें उसकी परवा न करनी चाहिए। पर अभी आजकल उलटी गंगा बह रही है। नाशवान् शरीरको सुशोभित करने, और उसकी आयुको बढ़ाने के लिए हम अनेक प्राणियोंका बलिदान करते है। पर हम नहीं समझते कि उससे शरीर और आत्मा दोनोंका हनन होता है। एक रोगको मिटाते हुए, इंद्रियोंके भोगोंको भोगनेका उद्योग करते हुए, हम नये-नये रोग पैदा करते हैं और अंतको भोग भोगनेकी शक्ति भी खो बैठते हैं। एवं सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस क्रियाको अपनी आंखोंके सामने होते हुए देखकर भी हम उसे देखना नहीं चाहते।

भोजनके प्रयोगोंका अभी मैं और वर्णन करना चाहता हूं। इसलिए उसका उद्देश्य और तद्विषयक अपनी विचार-सरणि पाठकोंके सामने रख देना आवश्यक था।

: २८ :

पत्नीकी दृढ़ता

कस्तूरबाईपर तीन घातें हुईं और तीनोंमे वह महज घरेलू इलाजसे बच गईं। पहली घटना तो तबकी है जब सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था उसको बार-बार रक्त-स्राव हुआ करता था। एक डाक्टर मित्रने नश्तर लगवानेकी सलाह दी थी। बड़ी आनाकानीके बाद वह नश्तरके लिए राजी हुईं। शरीर बहुत क्षीण हो गया था। डाक्टरने बिना बेहोश किये ही नश्तर लगाया। उस समय उसे दर्द तो बहुत हो रहा था; पर जिस धीरजसे कस्तूरबाईने उसे सहन किया उसे देखकर मैं दांतों तले अंगुली देने लगा। नश्तर अच्छी तरह लग गया। डाक्टर और उसकी धर्मपत्नीनें कस्तूरबाईकी बहुत अच्छी तरह शुश्रूषा की।

यह घटना डरबनकी है। दो या तीन दिन बाद डाक्टरने मुझे निश्चित होकर जोहांसबर्ग जानेकी छुट्टी दे दी। मैं चला भी गया; पर थोड़े ही दिन में समाचार मिले कि कस्तूरबाईका शरीर बिलकुल सिमटता नहीं है और वह बिछौनेसे उठ-बैठ भी नही सकती। एक बार बेहोश भी हो गई थी। डाक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना कस्तूरबाईको शराब या मांस– दवामे अथवा भोजनमें—नही दिया जा सकता था। सो उन्होंने मुझे जोहांसबर्ग टेलीफोन किया—

"आपकी पत्नीको मै मांसका शोरबा और 'बीफटी' देनेकी जरूरत समझता हूं। मुझे इजाजत दीजिए।"

मैंने जवाब दिया, "मैं तो इजाजत नहीं दे सकता। परंतु कस्तूरबाई आजाद है। उसकी हालत पूछने लायक हो तो पूछ देखिए और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिए।"

"बीमारसे मैं ऐसी बातें नहीं पूछना चाहता। आप खुद यहां आ जाइए। जो चीजें मैं बताता हूं उनके खाने की इजाजत यदि आप न दें तो मैं आपकी पत्नीकी जिंदगीके लिए जिम्मेदार नहीं हूं।"

यह सुनकर मैं उसी दिन डरबन रवाना हुआ। डाक्टरसे मिलनेपर उन्होंने कहा—"मैंने तो शोरबा पिलाकर आपको टेलीफोन किया था।"

मैंने कहा—"डाक्टर, यह तो विश्वासघात है।"

"इलाज करते वक्त मैं दगा-वगा कुछ नहीं समझता। हम डाक्टर लोग ऐसे समय बीमारको व उसके रिश्तेदारोंको धोखा देना पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो है, जिस तरह हो सके रोगी को बचाना।" डाक्टरने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया।

यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ; पर मैंने शांति धारण की। डाक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उनका और उनकी पत्नीका मुझपर बड़ा अहसान था। पर मैं उनके इस व्यवहारको बरदाश्त करनेके लिए तैयार न था।

"डाक्टर, अब साफ-साफ बातें कर लीजिए। बताइए, आप क्या करना चाहते हैं? अपनी पत्नीको बिना उसकी इच्छा के मांस नहीं देने दूंगा, उसके न लेनेंसे यदि वह मरती हो तो इसे सहन करने के लिए मैं तैयार हूं।"

डाक्टर बोले—"आपका यह सिद्धांत मेरे घर नहीं चल सकता। मैं तो आपसे कहता हूं कि आपकी पत्नी जबतक मेरे यहां है तबतक मैं मांस, अथवा जो कुछ देना मुनासिब समझूंगा, जरूर दूंगा! अगर आपको यह मंजूर नहीं है तो आप अपनी पत्नीको यहांसे ले जाइए। अपने ही घरमें मैं इस तरह उन्हें नहीं मरने दूंगा।"

"तो क्या आपका यह मतलब है कि मैं पत्नीको अभी ले जाऊं?"

"मैं कहां कहता हूं कि ले जाओ। मैं तो यह कहता हूं कि मुझपर कोई शर्त न लादो तो हम दोनोंसे इनकी जितनी सेवा हो सकेगी करेंगे

और आप आरामसे जाइए। जो यह सीधी-सी बात समझमें न आती हो तो मुझे मजबूरीसे कहना होगा कि आप अपनी पत्नीको मेरे घरसे ले जाइए।"

मेरा खयाल है कि मेरा एक लड़का उस समय मेरे साथ था। उससे मैंने पूछा, तो उसने कहा—"हां, आपका कहना ठीक है। बाको मांस कैसे दे सकते हैं?"

फिर मैं कस्तूरबाईके पास गया। वह बहुत कमजोर हो गई थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुखदायी था। पर अपना धर्म समझकर मैंने ऊपरकी बातचीत उसे थोड़ेमें समझा दी। उसने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—"मैं मांसका शोरबा नहीं लूंगी। यह मनुष्य-देह बार-बार नहीं मिला करती। आपकी गोदीमें मैं मर जाऊं तो परवाह नहीं; पर अपनी देहको मैं भ्रष्ट नहीं होने दूंगी।"

मैंने उसे बहुतेरा समझाया और कहा कि तुम मेरे विचारोंके अनुसार चलनेंके लिए बाध्य नहीं हो। मैंने उसे यह भी बता दिया कि कितने ही अपने परिचित हिंदू भी दवाके लिए शराब और मांस लेनेमें परहेज नहीं करते। पर वह अपनी बातसे बिलकुल न डिगी और मुझसे कहा—"मुझे यहांसे ले चलो।"

यह देखकर मैं बड़ा खुश हुआ। किंतु ले जाते हुए बड़ी चिंता हुई। पर मैंने तो निश्चय कर ही डाला और डाक्टरको भी पत्नीका निश्चय सुना दिया।

वह बिगड़कर बोले—"आप तो बड़े घातक पति मालूम होते हैं। ऐसी नाजुक हालतमें उस बेचारीसे ऐसी बात करते हुए आपको शरम नहीं मालूम हुई? मैं कहता हूं कि आपकी पत्नीकी हालत यहांसे ले जाने लायक नहीं है। उनके शरीरकी हालत ऐसी नहीं है कि जरा भी धक्का सहन कर सके। रास्ते हीमें दम निकल जाय तो ताज्जुब नहीं। फिर भी आप हठ-धर्मीसे न मानें तो आप जानें। यदि शोरबा न देने दें तो एक रात भी उन्हें अपने घरमें रखने की जोखिम मैं नहीं लेता।"

रिमझिम-रिमझिम मेंह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डरबनसे फिनिक्सतक रेलके रास्ते और फिनिक्ससे लगभग ढाई मीलतक पैदल जाना था। खतरा पूरा-पूरा था। पर मैंने यही सोच लिया कि ईश्वर सब तरह मदद करेगा। पहले एक आदमीको फिनिक्स भेज दिया। फिनिक्समें हमारे यहां एक हैमक था। हैमक कहते हैं जालीदार कपड़ेकी झोली अथवा पालनेको। उसके सिरोंको बांससे बांध देनेपर बीमार उसमें आरामसे झूला करता है। मैंने वेस्टको कहलाया कि वह हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छः आदमियोंको लेकर फिनिक्स स्टेशनपर आ जायं।

जब दूसरी ट्रेन चलनेका समय हुआ, तब मैंने रिक्शा मंगाई, और उस भयंकर स्थितिमें पत्नीको लेकर चल दिया।

पत्नीको हिम्मत दिलानेकी मुझे जरूरत नहीं पड़ी, उलटा मुझीको हिम्मत दिलाते हुए उसने कहा—"मुझे कुछ नुकसान न होगा, आप चिंता न करें।"

इस ठठरीमें वजन तो कुछ रही नहीं गया था। खाना पेटमें जाता ही न था। ट्रेनके डब्बेतक पहुंचनेके लिए स्टेशनके लंबे-चौड़े प्लेटफार्मपर दूरतक चलकर जाना था; क्योंकि रिक्शा वहांतक पहुंच नहीं सकती थी। मैं उसे सहारा देकर डब्बेतक ले गया। फिनिक्स स्टेशनपर तो वह झोली आ गई थी, उसमें हम रोगीको आरामसे घरतक ले गये। वहां केवल पानीके उपचारसे धीरे-धीरे उसका शरीर बनने लगा। फिनिक्स पहुंचनेके दो-तीन दिन बाद एक स्वामीजी हमारे यहां पधारे। जब हमारी हठ-धर्मीकी कथा उन्होंने सुनी तो हमपर उनको बड़ा तरस आया और वह हम दोनोंको समझाने लगे।

मुझे जहांतक याद आता है, मणिलाल और रामदास भी उस समय मौजूद थे। स्वामीजीने मांसाहारकी निर्दोषतापर एक व्याख्यान झाड़ा; मनुस्मृतिके श्लोक सुनाये। पत्नीके सामने जो इसकी बहस उन्होंने छेड़ी यह मुझे अच्छा न मालूम हुआ; परंतु शिष्टाचारकी खातिर मैंने उसमें

दखल न दिया। मुझे मांसाहारके समर्थनमें मनुस्मृतिके प्रमाणोंकी आवश्यकता न थी। उनका पता मुझे था। मैं यह भी जानता था कि ऐसे लोग भी हैं जो उन्हें प्रक्षिप्त समझते हैं। यदि वे प्रक्षिप्त न हों तो भी अन्नाहार-संबंधी मेरे विचार स्वतंत्र-रूपसे बन चुके थे। पर कस्तूरबाईकी तो श्रद्धा ही काम कर रही थी, वह बेचारी शास्त्रोंके प्रमाणोंको क्या जानती? उसके नजदीक तो परंपरागत रूढ़ि ही धर्म था। लड़कोंको अपने पिताके धर्मपर विश्वास था, इससे वे स्वामीजीके साथ विनोद करते जाते थे। अंतको कस्तूरबाईने यह कहकर इस बहसको बंद कर दिया—

"स्वामीजी, आप कुछ भी कहिए, मैं मांसका शोरबा खाकर चगी होना नहीं चाहती। अब बड़ी दया होगी, अगर आप मेरा सिर न खपावें। मैंने तो अपना निश्चय आपसे कह दिया। अब और बातें रह गई हों, तो आप इन लड़कोंके बापसे जाकर कीजिएगा।"

: २९ :

घरमें सत्याग्रह

१९०८में मुझे पहली बार जेलका अनुभव हुआ। उस समय मुझे यह बात मालूम हुई कि जेलमें जो कितने ही नियम कैदियोंसे पालन कराये जाते हैं, वे एक संयमीको अथवा ब्रह्मचारीको स्वेच्छा-पूर्वक पालन करने चाहिएं।[1] जैसे कि कैदियोंको सूर्यास्तके पहले पाच बजेतक भोजन कर लेना चाहिए। उन्हें—फिर वे हब्शी हों या हिंदुस्तानी—

[1] ये अनुभव हिंदीमें 'मेरे जेलके अनुभव'के नामसे प्रतापप्रेस कानपुर से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। १९१६-१८में मैंने इनका अनुवाद प्रताप प्रेसके लिए किया था।—अनुवादक

चाय या काफी न दी जाय, नमक खाना हो तो अलहदा लें, स्वादके लिए कोई चीज न खिलाई जाय। जब मैंने जेलके डाक्टरसे हिंदुस्तानी कैदियोंके लिए 'करी पाउडर' मांगा और नमक रसोई पकाते वक्त ही डालनेके लिए कहा, तब उन्होंने जवाब दिया कि "आप लोग यहां स्वादिष्ट चीजे खानेके लिए नही आये हैं। स्वास्थ्यके लिए 'करी पाउडर'की बिलकुल जरूरत नही। स्वास्थ्यके लिए नमक चाहे ऊपरसे लिया जाय, चाहे पकाते वक्त डाल दिया जाय, एक ही बात है।"

खैर, वहा तो बड़ी मुश्किलसे हम लोग भोजनमें आवश्यक परिवर्तन करा पाये थे, परंतु संयमकी दृष्टिसे जब उनपर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि ये दोनों प्रतिबंध अच्छे ही थे। किसीकी जबरदस्तीसे नियमों-का पालन करनेसे उसका फल नही मिलता। परंतु स्वेच्छासे ऐसे प्रति-बंधका पालन किया जाय तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। अतएव जेलसे निकलनेंके बाद मैंने तुरंत इन बातोका पालन शुरू कर दिया। जहांतक हो सका चाय पीना बंद कर दिया और शामके पहले भोजन करनेकी आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो बैठी है।

परंतु ऐसी भी एक घटना घटी, जिसकी बदौलत मैंने नमक भी छोड़ दिया था। वह क्रम लगभग दस बरसतक नियमित रूपसे जारी रहा। अन्नाहार-संबंधी कुछ पुस्तकोंमे मैंनें पढ़ा था कि मनुष्यके लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है, जो नमक नही खाता है स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उसे लाभ ही होता है। और मेरी तो कल्पना दौड़ गई थी कि ब्रह्मचारी-को भी उससे लाभ होगा। जिसका शरीर निर्बल हो उसे दाल न खानी चाहिए, यह मैंनें पढ़ा था और अनुभव भी किया था। परंतु मैं उसी समय उन्हें छोड़ न सका था। क्योंकि दोनों चीजें मुझे प्रिय थी।

नश्तर लगानेके बाद यद्यपि कस्तूरबाईका रक्त-स्राव कुछ समयके लिए बंद हो गया था, तथापि बादको वह फिर जारी हो गया। अबकी वह किसी तरह मिटाये न मिटा। पानीके इलाज बेकार साबित हुए। मेरे इन उपचारोंपर पत्नीकी बहुत श्रद्धा न थी; पर साथ ही तिरस्कार भी

न था। दूसरा इलाज करनेका भी उसे आग्रह न था; इसलिए जब मेरे दूसरे उपचारोंमें सफलता न मिली, तब मैंने उसको समझाया कि दाल और नमक छोड़ दो। मैंने उसे समझाने की हद कर दी, अपना बातके समर्थनमें कुछ साहित्य भी पढ़कर सुनाया, पर वह नही मानती थी। अंतको उसने झुंझलाकर कहा—"दाल और नमक छोड़नेके लिए तो आपसे भी कोई कहे तो आप भी न छोड़ेंगे।"

इस जवाब को सुनकर, एक ओर जहां मुझे दुःख हुआ वहां दूसरी ओर हर्ष भी हुआ। क्योंकि इससे मुझे अपने प्रेमका परिचय देनेका अवसर मिला। उस हर्षसे मैंने तुरंत कहा, "तुम्हारा खयाल गलत है, मैं यदि बीमार होऊं और मुझे यदि वैद्य इन चीजोको छोड़नेके लिए कहे तो जरूर छोड़ दूं। पर ऐसा क्यों? लो, तुम्हारे लिए मैं आज हीसे दाल और नमक एक सालतक छोड़े देता हूं। तुम छोड़ो या न छोड़ो, मैंने तो छोड़ दिया।"

यह देखकर पत्नीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी—"माफ करो, आपका मिजाज जानते हुए भी यह बात मेरे मुंहसे निकल गई। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊंगी, पर आप अपना वचन वापस ले लीजिए। यह तो मुझे भारी सजा दे दी।"

मैंने कहा—"तुम दाल और नमक छोड दो तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हे लाभ ही होगा, परतु मै जो प्रतिज्ञा कर चुका हूं वह नही टूट सकती। मुझे भी उससे लाभ ही होगा। हर किसी निमित्तसे मनुष्य यदि संयमका पालन करता है तो इससे उसे लाभ ही होता है। इसलिए तुम इस बातपर जोर न दो। क्योंकि इससे मुझे भी अपनी आजमाइश कर लेने का मौका मिलेगा और तुमने जो इनको छोड़नेका निश्चय किया है, उसपर दृढ़ रहनेमें भी तुम्हे मदद मिलेगी।" इतना कहनेके बाद तो मुझे मनानेकी आवश्यकता रह नही गई थी। "आप तो बड़े हठी है, किसीका कहा मानना आपने सीखा ही नही," यह कहकर वह आंसू बहाती हुई चुप हो रही।

इसको मैं पाठकोंके सामने सत्याग्रहके तौरपर पेश करना चाहता हूं और मै कहना चाहता हूं कि मैं इसे अपने जीवनकी मीठी स्मृतियोंमें गिनता हूं।

इसके बाद तो कस्तूरबाईका स्वास्थ्य खूब सम्हलने लगा। अब यह नमक और दालके त्यागका फल है, या उस त्यागसे हुए भोजनके छोटे-बड़े परिवर्तनोंका फल था, या उसके बाद दूसरे नियमोका पालन करानेकी मेरी जागरूकताका फल था, या इस घटनाके कारण जो मानसिक उल्लास हुआ उसका फल था, यह मैं नहीं कह सकता। परंतु यह बात जरूर हुई कि कस्तूरबाईका सूखा शरीर फिर पनपने लगा। रक्त-स्राव बंद हो गया और 'वैद्यराज'के नामसे मेरी साख कुछ बढ़ गई।

खुद मझपर भी इन दोनों चीजोंको छोड़ देनेका अच्छा ही असर हुआ। छोड़ देनेके बाद तो नमक या दाल खानेकी इच्छातक न रही। यों एक साल बीतते देर न लगी। इससे इंद्रियोंकी शांतिका अधिक अनुभव होने लगा और संयमकी वृद्धिकी तरफ मन अधिक दौड़ने लगा। एक वर्ष पूरा हो जानेपर भी दाल और नमकका त्याग तो ठेठ देशमें आनेतक जारी रहा। हां, बीचमे सिर्फ एक ही बार विलायतमें १९१४में, दाल और नमक खाया था। पर इस घटनाका तथा देशमें आनेके बाद इन चीजोंको शुरू करनेके कारणोंका वर्णन पीछे करूंगा।

नमक और दाल छुड़ानेके प्रयोग मैंने साथियोंपर खूब किये है और दक्षिण अफ्रिकामें तो उसके परिणाम अच्छे ही आये थे। वैद्यककी दृष्टिसे इन दोनो चीजोंके त्यागके संबंधमें दो मत हो सकते है। पर संयमकी दृष्टिसे तो इनके त्यागमें लाभ ही है, इसमें संदेह नहीं। भोगी और संयमी-का भोजन और मार्ग अवश्य ही जुदा-जुदा होना चाहिए। ब्रह्मचर्य-पालन करनेकी इच्छा करनेवाले लोग भोगीका जीवन बिताकर ब्रह्मचर्यको कठिन और कितनी ही बार प्रायः अशक्य कर डालते है।

: ३० :

संयमकी ओर

पिछले अध्यायमें यह बात कह चुका हूं कि भोजनमें कितने ही परिवर्तन कस्तूरबाईकी बीमारीकी बदौलत हुए। पर अब तो दिन-दिन उसमें ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे परिवर्तन करता गया।

पहला परिवर्तन हुआ दूधका त्याग। दूधसे इंद्रिय-विकार पैदा होते हैं, यह बात मैं पहले-पहल रायचंदभाईसे समझा था। अन्नाहार-संबंधी अंग्रेजी पुस्तके पढनेसे इस विचारमें वृद्धि हुई। परंतु जबतक ब्रह्मचर्यका व्रत नही लिया था तबतक दूध छोड़नेका इरादा खास तौरपर नहीं कर सका था। यह बात तो मैं कभीसे समझ गया था कि शरीर-रक्षाके लिए दूधकी आवश्यकता नही है, पर उसका सहसा छूट जाना कठिन था। एक ओर मैं यह बात अधिकाधिक समझता ही जा रहा था कि इंद्रिय-दमनके लिए दूध छोड़ देना चाहिए, कि दूसरी ओर कलकत्तासे ऐसा साहित्य मेरे पास पहुंचा जिसमें ग्वाले लोगोके द्वारा गाय-भैंसोंपर होनेवाले अत्याचारोंका वर्णन था। इस साहित्यका मुझपर बड़ा बुरा असर हुआ और उसके संबंधमें मैंने मि० केलनबेकसे भी बातचीत की।

हालांकि मि० केलनबेकका परिचय मैं 'सत्याग्रहके इतिहास'मे करा चुका हूं और पिछले एक अध्यायमें भी उनका उल्लेख कर गया हू; परंतु यहां उनके संबंधमें दो शब्द अधिक कहनेकी आवश्यकता है। उनकी मेरी मुलाकात अनायास हो गई थी। मि० खानके वह मित्र थे। मि० खानने देखा कि उनके अंदर गहरा वैराग्यभाव था। इसलिए मेरा खयाल है कि उन्होंने उनसे मेरी मुलाकात कराई। जिन दिनों उनसे मेरा परिचय हुआ उन दिनोंके उनके शौक और शाह-खर्चीको देखकर मैं चौंक उठा था; परंतु पहली ही मुलाकातमें मुझसे उन्होंने धर्मके विषयमे प्रश्न किया। उसमें बुद्ध भगवान्‌की बात सहज ही निकल पड़ी। तबसे हमारा संपर्क

बढ़ता गया। वह इस हदतक कि उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि जो काम मैं करूं वह उन्हें भी अवश्य करना चाहिए। वह अकेले थे। अकेलेके लिए मकान-खर्चके अलावा लगभग १२००) रुपये मासिक खर्च करते थे। ठेठ यहांसे अंतको इतनी सादगीपर आगये कि उनका मासिक खर्च १२०) रुपये होगया। मेरे घर-बार बिखेर देने और जेलसे आनेके बाद तो हम दोनों एकसाथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनों अपना जीवन अपेक्षाकृत बहुत कड़ाईके साथ बिता रहे थे।

दूधके संबंधमें जब मेरा उनसे वार्तालाप हुआ तब हम शामिल रहते थे। एक बार मि० केलनबेकने कहा कि "जब हम दूधमें इतने दोष बताते हैं तो फिर छोड़ क्यों न दें? वह अनिवार्य तो है ही नहीं।" उनकी इस रायको सुनकर मुझे बड़ा आनंद और आश्चर्य हुआ। मैंने तुरंत उनकी बातका स्वागत किया और हम दोनोंने टालस्टाय-फार्ममें उसी क्षण दूधका त्याग कर दिया। यह बात १९१२की है।

पर हमें इतने त्यागसे शांति न हुई। दूध छोड़ देनेके थोड़े ही समय बाद केवल फलपर रहनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। फलाहारमें भी धारणा यह रखी गई थी कि सस्ते-से-सस्ते फलसे काम चलाया जाय। हम दोनोंकी आकांक्षा यह था कि गरीब लोगोंके अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। हमने अनुभव किया कि फलाहारमें सुविधा भी बहुत होती है। बहुतांशमें चूल्हा सुलगानेकी जरूरत नहीं होती। इसलिए कच्ची मूंगफली, केले, खजूर, नींबू और जैतूनका तेल, यह हमारा मामूली खाना हो गया था।

जो लोग ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखते है उनके लिए यहां एक चेतावनी देनेकी आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्यके साथ भोजन और उपवासका निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार है हमारा मन। मलिन मन उपवाससे शुद्ध नहीं होता, भोजनका उसपर असर नहीं होता। मनकी मलिनता विचारसे, ईश्वर-ध्यानसे, और अंतको ईश्वर-प्रसादसे मिटती है; परंतु मनका शरीरके

साथ निकट संबंध है और विकार-युक्त मन अपने अनुकूल भोजनकी तलाशमें रहता है। सविकार मन अनेक प्रकारके स्वाद और भोगोंको खोजता रहता है और फिर उस भोजन और भोगोंका असर मनपर होता है। इस अंशतक भोजनपर अंकुश रखनेकी और निराहारकी आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

विकार-युक्त मन शरीर और इंद्रियोंपर अपना अधिकार करनेके बदले शरीर और इंद्रियोंके अधीन चलता है। इस कारण भी शरीरके लिए शुद्ध और कम विकारोत्पादक भोजनकी मर्यादाकी और प्रसंगोपात्त निराहारकी, उपवासकी, आवश्यकता रहती है। इसलिए जो यह कहते हैं कि एक संयमीके लिए भोजन-संबंधी मर्यादाकी या उपवासकी आवश्यकता नहीं, वे उतने ही भ्रममे पड़े हुए है, जितना कि भोजन और निराहार को सब-कुछ समझानेवाले पड़े हुए है। मेरा तो अनुभव यह सिखलाता है कि जिसका मन संयमकी ओर जा रहा है उसके लिए भोजनकी मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हैं। उसकी मददके बिना मनकी निर्विकारता असंभव मालूम होती है।

: ३१ :

उपवास

जिन दिनों दूध और अनाजको छोड़कर फलाहारका प्रयोग शुरू किया उन्हीं दिनो संयमके उद्देश्यसे उपवास भी शुरू किया। इसमे भी मि० केनलबेक मेरे साथी हुए। पहले जो उपवास करता था वह केवल आरोग्यकी दृष्टिसे। देह-दमनके लिए उपवास करनेकी आवश्यकता है, यह बात मैं एक मित्रकी प्रेरणासे समझा। वैष्णव-कुटुंबमें जन्म होनेके कारण मेरी माता कठिन-कठिन व्रत किया करती थी। इससे एकादशी इत्यादि

व्रत मैंने देश में किये थे; परंतु वह तो देखा-देखी अथवा माता-पिताको खुश करने के हेतुसे। उस समय में यह नहीं समझा था, कि ऐसे व्रतोंसे कुछ लाभ होता है; परंतु इन मित्रको देखकर, तथा अपने ब्रह्मचर्य व्रतके सहारे के लिए, मै उनका अनुकरण करने लगा और एकादशीके दिन उपवास करनेका निश्चय किया। आम तौरपर लोग एकादशीके दिन दूध और फल खाकर मानते है कि एकादशी कर ली; परंतु मैं तो यह फलाहारवाला उपवास नित्य ही करता था। इसलिए पानी पीनेकी छुट्टी रखकर मैंने निराहार उपवास शुरू किया।

जिन दिनों इन उपवासके प्रयोगोंका आरभ हुआ, श्रावण मास पड़ता था। उस साल रमजान और श्रावण मास एक साथ आये थे। गांधी-कुटुंबमे वैष्णव व्रतोंके साथ शैव व्रतोंका भी पालन किया जाता था। हमारे परिवारोंके लोग जिसप्रकार वैष्णव देवालयोंमे जाते उसी प्रकार शिवालयोंमें भी जाते। श्रावण मासमे प्रदोष तो हर साल कुटुंब में कोई-न-कोई रखता ही था। इसलिए मैंने इस बार श्रावण मासके व्रत रखनेका इरादा किया।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोगका आरंभ टालस्टाय-आश्रममें हुआ। वहां सत्याग्रही कैदियोंके कुटुंबोंको एकत्र कर मैं और केलनबेक रहते थे उसमें बालक और नवयुवक भी थे। उनके लिए एक पाठशाला रखी थी। इन नवयुवकोंमें चार-पांच मुसलमान भी थे। उन्हें मै इस्लामके नियम-पालनमें मदद करता और उत्तेजन देता। नमाज वगैरह की सहूलियत-कर देता। आश्रममे पारसी और ईसाई भी थे। नियम यह था कि सबको अपने-अपने धर्मोंके अनुसार चलनेके लिए प्रोत्साहन दिया जाय। इसलिए मुसलमान नवयुवकोंको मैंने रोजा रखने में उत्तेजन दिया, और मुझे तो प्रदोष रखने ही थे। परंतु हिंदुओं, पारसियों, और ईसाइयोंको भी मैंने मुसलमान नवयुवकोंका साथ देने की सलाह दी। मैंने उन्हें समझाया कि संयम-पालनमें सबका साथ देना स्तुत्य है। बहुतेरे आश्रम-वासियोंने मेरी बात पसंदकी। हिंदू और पारसी लोग मुसलमान साथियोंका पूरा-पूरा अनुकरण नही करते थे, करनेकी आवश्यकता भी नही थी।

मुसलमान इधर सूरज डूबनेकी राह देखते तबतक दूसरे लोग उनसे पहले भोजन कर लेते कि जिससे वे मुसलमानोंको परोस सकें और उनके लिए खास चीजें तैयार कर सकें। इसके अलावा मुसलमान सरगही करते—अर्थात् व्रतके दिनोंमें सवेरे सूर्योदयके पहले भोजन करते थे; पर दूसरे लोग उसमें शरीक नहीं होते थे। इधर मुसलमान तो दिनमें भी पानी नहीं पीते थे; पर दूसरे लोग जब चाहते पी लिया करते।

इस प्रयोगका एक फल यह निकला कि उपवास और एकासनेका महत्त्व सब लोग समझने लगे। एक-दूसरेके प्रति उदारता और प्रेमका भाव बढ़ा। आश्रममें अन्नाहारका ही नियम था; पर मुझे यह बात इस स्थानपर प्रसन्नताके साथ स्वीकार करनी चाहिए कि इस नियमको दूसरे मित्रोंने मांसके प्रति मेरे मनोभावोंका ही खयाल करके स्वीकार किया था। रोजेके दिनोंमें मुसलमानोंको मांस न खाना जरूर कठिन पड़ा होगा; परंतु उन नवयुवकोंमेंसे किसीने मुझे इस बातका अनुभव न होने दिया। वे बड़े आनंद और स्वादके साथ अन्नाहार करते। हिंदू बालक ऐसी स्वादिष्ट चीजें भी उनके लिए तैयार करते, जो आश्रम-जीवनके प्रतिकूल न होतीं।

अपने उपवासका वर्णन करते हुए यह विषयांतर मैंने जान-बूझकर किया है; क्योंकि मैं इस मधुर प्रसंगका वर्णन दूसरी जगह नहीं कर सकता था। और इस विषयांतरके द्वारा मैंने अपनी एक टेवका वर्णन भी यहां कर डाला है। जब मुझे यह मालूम होता कि जो काम मैं कर रहा हूं वह अच्छा है तो मैं अपने साथियोंको भी हमेशा उसमें शामिल करनेका प्रयत्न करता हूं। यह उपवास और एकासनेका प्रयोग यद्यपि एक नई चीज थी, फिर भी प्रदोष और रमजानके बहाने मैंने उसमें सबको घसीट मारा।

इस प्रकार आश्रममें संयमका वातावरण अनायास बढ़ा। दूसरे उपवास और एकासनेमें भी आश्रमवासी शामिल होने लगे और मैं मानता हूं कि इसका परिणाम भी अच्छा ही निकला। यह बात मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि संयमका असर सबके हृदयपर कितना हुआ, सबकी

विषयेच्छाको रोकनेमें कितना भाग उपवास आदिका था; पर मेरा तो यही अनुभव है कि मुझपर तो आरोग्य और इंद्रिय-दमन दोनों दृष्टियोंसे उसका अच्छा असर हुआ है। फिर भी मैं यह जानता हूं कि उपवास आदिका असर सबपर अवश्य हो, यह अनिवार्य नियम नहीं है। हां, जो उपवास इंद्रिय-दमनके उद्देश्यसे किये जाते हे उनसे विषयेच्छामे रुकावट हो सकती है। कितने ही मित्रोंका तो यह भी अनुभव है कि उपवासके अंत मे विषयेच्छा और स्वादेच्छा तीव्र हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि उपवासके दिनोंमें विषयेच्छाको रोकनेकी और स्वादको जीतनेकी सतत भावना रहे तभी शुभ फल होता है। बिना इस हेतुके और बिना मनके किये शारीरिक उपवासका फल ऐसा होगा कि जिससे विषयोंका वेग रुक जाय, यह मानना बिलकुल भ्रमपूर्ण है। गीताके दूसरे अध्यायका यह श्लोक इस प्रसंगपर बहुत विचार करने योग्य है—

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

उपवासीके विषय (उपवासके दिनोंमें) शमन हो जाते हैं; परंतु उनका रस नही जाता। रस तो ईश्वर-दर्शनसे ही—ईश्वर-प्रसादसे ही—शमन होते हैं।

इससे हम इस नतीजेपर पहुंचे कि उपवास आदि संयमीके मार्गमें एक साधनके रूपमें आवश्यक हैं; परंतु वही सब-कुछ नहीं है। और यदि शारीरिक उपवासके साथ मनका उपवास न हो तो उसकी परिणति दंभमें हो सकती है और वह हानिकारक साबित हो सकती है।

: ३२ :

मास्टर साहब

सत्याग्रहके इतिहासमें जो बात नहीं आ सकी अथवा आंशिक रूपमें आई है वही इन अध्यायोंमें लिखी जा रही है। इस बातको पाठक याद रखेंगे तो इन अध्यायोंका पूर्वापर संबंध वे समझ सकेंगे।

टॉलस्टाय-आश्रममें लड़कों और लड़कियोंके लिए कुछ शिक्षण-प्रबंध आवश्यक था। मेरे साथ हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे, और कुछ हिंदू लड़कियां भी थीं। इनके लिए खास शिक्षक रखना असंभव था और मुझे अनावश्यक भी मालूम हुआ। असंभव तो इसलिए था कि सुयोग्य हिंदुस्तानी शिक्षकोंका वहां अभाव था, और मिले भी तो काफी वेतनके बिना डरबनसे २१ मील दूर कौन आने लगा? मेरे पास रुपयोंका बहुतायत नहीं थी और बाहरसे शिक्षक बुलाना अनावश्यक माना; क्योंकि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मुझे पसंद न थी और वास्तविक पद्धति क्या है, इसका मैंने अनुभव नहीं कर देखा था। इतना जानता था कि आदर्श स्थितिमें सच्ची शिक्षा माता-पिताकी देख-रेखमे ही मिल सकती है। आदर्श स्थितिमे बाह्य सहायता कम-से-कम होनी चाहिए। टॉलस्टाय-आश्रम एक कुटुंब था मैं उसमे पिताके स्थान पर था। इसलिए मैंने सोचा कि इन नवयुवकोंके जीवन-निर्माणकी जवाब-देही भरसक मुझीको उठानी चाहिए।

मेरी इस कल्पनामें तो बहुतेरे दोष तो थे ही। ये सब नवयुवक जन्मसे मेरे पास नहीं रहे थे। सब अलग-अलग वातावरणमें परवरिश पाये हुए थे। फिर सब एक-धर्मके भी नहीं थे। ऐसी स्थितिमें जो बालक-बालिका रह रहे थे उनका पिता अपनेको मानकर भी मैं उनके साथ कैसे न्याय कर सकता था?

परंतु मैंने हृदयकी शिक्षाको अर्थात् चरित्रके विकासको हमेशा प्रथम स्थान दिया है, और वह यह विचार करके कि ऐसी शिक्षाका परिचय चाहे जिस उम्रमें और चाहे जैसे वातावरणमें परवरिश पाये बालक-बालिकाओंको थोड़ा-बहुत कराया जा सकता है, इन लड़के-लड़कियोंके साथ मैं दिन-रात पिताके रूप में रहता था। सच्चरित्रोंको मैंने उनकी शिक्षाका आधार-स्तंभ माना था। बुनियाद यदि मजबूत है तो दूसरी बातें बालकोंको समय पाकर खुद अथवा दूसरोंकी सहायतासे मिल जाती हैं। फिर भी मैं यह समझता था कि थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान भी जरूर कराना चाहिए। इसलिए पढ़ाई शुरू की और उसमें मैंने मि० केलनबेक तथा प्रागजी देसाईकी सहायता ली।

मैं शारीरिक शिक्षाकी भी आवश्यकता समझता था; परंतु वह शिक्षा तो उन्हें अपने-आप ही मिल रही थी; क्योंकि आश्रममें नौकर तो रखे ही नहीं गये थे। पाखानेसे लेकर खाना पकानेतकके सब काम आश्रमवासी ही करते थ। आश्रममें फलोंके वृक्ष बहुत थे। नई खेती भी करनी थी। आश्रममें मि० केलनबेकको खेतीका शौक था। वह खुद सरकारी आदर्श खेतोंमें कुछ समय रहकर खेतीका काम सीखे हुए थे। रोज कुछ समयतक उन सब छोटे-बड़े लोगोंको, जो रसोईके काम में लगे न होते, बगीचेमें काम करने जाना पड़ता था। इनमे बालकोंका एक बड़ा भाग था। बड़े गढ़े खोदना, कलम करना, बोझ उठाकर ले जाना इत्यादि कामोंमें उनका शरीर सुगठित होता रहता। उनमें उनको आनंद भी आता था, जिससे उन्हें दूसरी कसरत या खेलकी आवश्यकता नहीं रहती थी। काम करनेमें कुछ विद्यार्थी और कभी-कभी सब विद्यार्थी नखरे करते, काहिली भी कर जाते। बहुत बार मैं इन बातोंकी ओरसे आंखें मूंद लिया करता। कितनी ही बार उनसे सख्तीसे भी काम लेता। जब सख्ती करता और उन्हें देखता कि वे उकता उठे तो भी मुझे नहीं याद पड़ता कि सख्तीका विरोध कभी उन्होंने किया हो। जब-जब उनपर सख्ती करता तभी तब उन्हें समझाता और उन्हींसे कबूल करवाता कि

कामके समय खेलना अच्छी आदत नहीं। वे उस समय तो समझ जाते पर दूसरे ही क्षण भूल जाते। इस तरह काम चलता रहता; परंतु उनके शरीर बनते जाते थे।

आश्रममें शायद ही कोई बीमार होता। कहना होगा कि इसका बड़ा कारण था वहांकी आबहवा और अच्छा तथा नियमित भोजन। शारीरिक शिक्षाके सिलसिलेमें ही शारीरिक व्यवसायकी शिक्षाका भी समावेश कर लेता हूं। इरादा यह था कि सबको कुछ-न-कुछ उपयोगी धंधा सिखाना चाहिए। इसलिए मि० केलनबेक 'ट्रेपिस्ट मठ'में चप्पल गांठना सीख आये थे। उनसे मैंने सीखा और मैंने उन बालकोंको सिखाया जो इस हुनरको सीखनेके लिए तैयार थे। मि० केलनबेकको बढ़ईगीरीका भी कुछ अनुभव था और आश्रममें बढ़ईका काम जाननेवाला एक साथी भी था। इसलिए यह काम भी थोड़े-बहुत अंशमें सिखाया जाता। रसोई बनाना तो लगभग सभी लड़के सीख गये थे।

ये सब काम इन बालकों के लिए नये थे। उन्होंने तो कभी स्वप्नमें भी यह न सोचा होगा कि ऐसा काम सीखना पड़ेगा, दक्षिण अफ्रिकामें हिंदुस्तानी बालकोंको केवल प्राथमिक अक्षर-ज्ञानकी ही शिक्षा दी जाती थी। टॉलस्टाय-आश्रममें पहलेसे ही यह रिवाज डाला था कि जिस कामको हम शिक्षित लोग न करें वह बालकोंसे भी न कराया जाय और हमेशा उनके साथ-साथ कोई-न-कोई शिक्षक काम करता। इससे वे बड़ी उमंगके साथ सीख सके।

चारित्र्य और अक्षर-ज्ञानके संबंधमें अब इसके बाद।

: ३३ :

अक्षर-शिक्षा

पिछले अध्यायमें हमने यह देख लिया कि शारीरिक शिक्षा और उसके साथ कुछ हुनर सिखानेका काम टॉलस्टाय-आश्रममें किस तरह शुरू हुआ। यद्यपि इस कामको मैं इस तरह नहीं कर सका कि जिससे मुझे संतोष होता फिर भी उसमें थोड़ी-बहुत सफलता मिल गई थी; परंतु अक्षर-ज्ञान देना तो कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके प्रबंधके लिए आवश्यक सामग्री न थी। मेरे पास उतना समय भी नहीं था, जितना मैं देना चाहता था, और न इस विषयका ज्ञान ही था। दिन-भर शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस समय जरा आराम करनेकी इच्छा होती उसी समय पढ़ाना पड़ता। इससे मैं तरो-ताजा रहनेके बदले ठोक-पीटकर सचेत भर रह सकता था। सुबहका समय खेती और घरके काममें जाता था, इसलिए दोपहरको भोजनके बाद ही पाठशाला शुरू होती। इसके सिवा दूसरा समय अनुकूल नहीं था। अक्षर-ज्ञानके लिए अधिक-से-अधिक तीन घंटे रखे थे। फिर वर्गोंमें हिंदी, तामिल, गुजराती और उर्दू इतनी भाषायें सिखानी पड़तीं; क्योंकि यह नियम रखा गया था कि शिक्षण प्रत्येक बालकको उसकी भाषाके द्वारा ही दिया जाय; फिर अंग्रेजी भी सबको सिखाई ही जाती थी। इसके अलावा गुजराती, हिंदू बालकोंको कुछ संस्कृतका और सब लड़कोंको हिंदीका परिचय कराना, इतिहास, भूगोल और गणित सबको सिखाना, यह क्रम रखा गया था। तामिल और उर्दू पढ़ाना मेरे जिम्मे थे।

मुझे तामिलका ज्ञान जहाजों और जेलोंमें मिला था। उसमें भी पोप-कृत उत्तम 'तामिल-स्वयं-शिक्षक'से आगे मैं नहीं बढ़ सका था। उर्दू-लिपिका ज्ञान तो उतना ही था, जितना जहाजमें प्राप्त कर सका था। और खासकर अरबी-फारसी शब्दोंका ज्ञान भी उतना ही था, जितना

कि मुसलमान मित्रोंके परिचयसे मैं प्राप्त कर चुका था संस्कृत उतनी ही जानता था जितनी कि मैंने हाईस्कूलमें पढ़ी थी और गुजराती भी स्कूली ही थी।

इतनी पूंजीसे मुझे अपना काम चलाना था और इसमें जो मेरे सहायक थे वे मुझसे भी कम जानते थे; परंतु देशी भाषाओंपर मेरा प्रेम, अपनी शिक्षा-शक्तिपर मेरा विश्वास, विद्यार्थियोंका अज्ञान और उससे भी बढ़कर उनकी उदारता, ये मेरे काममें सहायक साबित हुए।

इन तामिल विद्यार्थियोंका जन्म दक्षिण अफ्रिकामें ही हुआ था, इससे वे तामिल बहुत कम जानते थे। लिपिका तो उन्हें बिलकुल ही ज्ञान न था, इसलिए मेरा काम था उन्हें लिपि सिखाना और व्याकरणके मूलतत्त्वोंका ज्ञान कराना। यह सहज काम था। विद्यार्थी लोग इस बातको जानते थे कि तामिल बातचीतमें वे मुझे सहज ही हरा सकते हैं और जब कोई तामिलभाषी मुझसे मिलने आते तो वे मेरे दुभाषियाका काम देते थे। परंतु मेरा काम चल निकला; क्योंकि विद्यार्थियोंसे मैंने कभी अपने अज्ञानको छिपानेका प्रयत्न नहीं किया। वे मुझे सब बातोंमें वैसा ही जान गये थे, जैसा कि मैं वास्तवमें था। इससे पुस्तक-ज्ञानकी भारी कमी रहते हुए भी मैंने उनके प्रेम और आदरको कभी न हटने दिया था।

परतु मुसलमान बालकोंको उर्दू पढ़ाना इससे आसान था; क्योंकि वे लिपि जानते थे। उनके साथ मेरा इतना ही काम था कि उन्हें पढ़नेका शौक बढ़ा दूं और उनका खत अच्छा करवा दूं।

मुख्यतः ये सब बालक निरक्षर थे, और किसी पाठशालामें पढ़े न थे। पढ़ाते-पढ़ाते मैंने देखा कि उन्हें पढ़ानेका काम तो कम ही होता था। उनका आलस्य छुड़वाना, उनसे अपने-आप पढ़वाना, उनके सबक याद करनेकी चौकीदारी करना, यही काम ज्यादा था; पर इतनेसे मैं संतोष पाता था, और यही कारण है जो मैं भिन्न-भिन्न अवस्था और भिन्न-भिन्न विषयवाले विद्यार्थियोंको एक ही कमरेमें बैठाकर पढ़ा सकता था।

पाठ्य-पुस्तकोंकी पुकार चारों ओरसे सुनाई पड़ा करती है; किंतु

मुझे उनकी भी जरूरत न पड़ी। जो पुस्तकें थीं भी, मुझे नहीं याद पड़ता कि उनसे भी बहुत काम लिया गया हो। प्रत्येक बालकको बहुतेरी पुस्तकें देनेकी जरूरत मुझे नहीं दिखाई दी।

मेरा यह खयाल रहा कि शिक्षक ही विद्यार्थियोंकी पाठ्य-पुस्तक है। शिक्षकोंने पुस्तकों द्वारा मुझे जो-कुछ पढ़ाया उसका बहुत थोड़ा अंश मुझे आज याद है; परतु जबानी शिक्षा जिन लोगोंने दी है वह आज भी याद रह गई है। बालक आंखके द्वारा जितना ग्रहण करते हैं उससे अधिक कानसे सुना हुआ, और सो भी थोड़े परिश्रमसे ग्रहण कर सकते हैं। मुझे याद नहीं कि बालकोंको मैंने एक भी पुस्तक शुरूसे आखीरतक पढ़ाई हो।

मैंने तो खुद जो-कुछ बहुतेरी पुस्तकोंको पढ़कर हजम किया था वही उन्हें अपनी भाषामें बताता गया और मैं मानता हूं कि वह उन्हें आज भी याद होगा। मैंने देखा कि पुस्तकपरसे पढ़ाया हुआ याद रखनेमें उन्हें दिक्कत होती थी; परंतु मेरा जबानी कहा हुआ याद रखकर वे मुझे फिर सुना देते थे। पुस्तक पढ़नेमें उनका जी नहीं लगता था। जिस किसी दिन थकावटके कारण अथवा किसी दूसरी वजहसे मैं मंद न होता, अथवा मेरी पढ़ाई नीरस न होती, तो वे मेरी कही और सुनाई बातोंको चावसे सुनते और उसमें रस लेते। बीच-बीचमें जो शंकायें उनके मनमें उठतीं उनसे मुझे उनकी ग्रहण-शक्तिका अंदाजा लग जाता।

: ३४ :

आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियोंके शरीर और मनको तालीम देनेकी अपेक्षा आत्मापर संस्कार डालनेमें मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। उनकी आत्माका

विकास करनेके लिए मैंने धार्मिक पुस्तकोंका बहुत कम सहारा लिया था। मैं यह जानता था कि विद्यार्थियोंको अपने-अपने धर्मोंके मूल तत्त्वोंको समझ लेना चाहिए, अपने-अपने धर्म-ग्रंथोंका साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेकी यथाशक्ति सुविधा कर दी थी; परंतु उसे मैं बौद्धिक शिक्षाका अंग मानता हूं। आत्माकी शिक्षा एक अलग ही बात है और यह बात मैंने टॉलस्टाय-आश्रममें बालकोंको पढ़ाना शुरू करनेसे पहले ही जान ली थी। आत्माके विकास करनेका अर्थ है 'चरित्र-निर्माण करना', 'ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना', 'आत्म-ज्ञान संपादन करना'। इस ज्ञानको प्राप्त करनेमे बालकोंको बहुत सहायता की आवश्यकता है और मैं मानता था कि उसके बिना दूसरा सब ज्ञान व्यर्थ है, और हानिकारक भी हो सकता है।

हमारे समाजमे एक यह बहम घुस गया है कि आत्म-ज्ञान तो मनुष्यको चौथे आश्रम यानी संन्यास आश्रममें मिलता है; परतु मेरी समझमें जो लोग चौथे आश्रमतक इस अमूल्य वस्तुको रोक सकते है उन्हें आत्म-ज्ञान तो नही मिलता, उल्टे बुढ़ापा, और दूसरे रूपमें इससे भी अधिक दया-जनक बचपन प्राप्त करके, वे पृथ्वीपर भार-रूप होकर जीते है, ऐसा अनुभव सब जगह पाया जाता है। १९११-१२ में शायद इन विचारोंको मै प्रदर्शित न कर सकता, परतु मुझे यह अच्छी तरहसे मालूम है कि उस समय मेरे विचार इसी तरहके थे।

अब सवाल यह है कि आत्मिक शिक्षा दी किस तरह जाय? इसके लिए मै बालकोसे भजन गवाता था, नीतिकी पुस्तके पढ़कर सुनाता था; परतु उससे मनको संतोष नही होता था। ज्यों-ज्यों मै उनके अधिक संपर्कमें आता गया त्यों-त्यों मैने देखा कि वह ज्ञान पुस्तकों द्वारा नहीं दिया जा सकता। शारीरिक शिक्षा शरीरकी कसरत द्वारा दी जा सकती है और बौद्धिक शिक्षा बुद्धिकी कसरत द्वारा। उसी प्रकार आत्मिक शिक्षा आत्माकी कसरतके द्वारा ही दी जा सकती है, और आत्माकी कसरत तो बालक शिक्षकके आचरणसे ही सीखते है। अतएव युवक विद्यार्थी चाहे हाजिर हों या न हों शिक्षकको तो सदा सावधान ही रहना चाहिए।

लंकामें बैठा हुआ शिक्षक अपने आचरणके द्वारा अपने शिष्योंकी आत्माको हिला सकता है, यदि मैं खुद तो झूठ बोलूं, पर अपने शिष्योंको सच्चा बनानेका प्रयत्न करूं तो वह फिजूल होगा। डरपोक शिक्षक अपने शिष्यों-को वीरता नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्योंको संयमकी शिक्षा कैसे दे सकता है ? इसलिए मैंने देखा कि मुझे तो अपने साथ रहने, वाले युवक-युवतियोंके सामने एक पदार्थ-पाठ बनकर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य ही मेरे शिक्षक बन गये। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि इनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए और यह कहा जा सकता है कि टॉलस्टाय-आश्रमके समयका मेरा बहुतेरा संयम इन युवक और युवतियोंका कृतज्ञ है।

आश्रममें एक ऐसा युवक था जो बहुत ऊधम करता, झूठ बोलता था, किसीकी सुनता नहीं था, औरोंसे लड़ता था। एक दिन उसने बड़ा उपद्रव मचाया, मुझे बड़ी चिंता हुई; क्योंकि मैं विद्यार्थियोंको कभी सजा नहीं देता था, पर इस समय मुझे बहुत गुस्सा चढ़ रहा था। मैं उसके पास गया। किसी तरह वह समझाये नहीं समझता था। खुद मेरी आंखमें भी धूल झोंकनेकी कोशिश की। मेरे पास रूल पड़ी हुई थी, उठाकर उसके हाथपर दे मारी; पर मारते हुए मेरा शरीर कांप रहा था। मेरा खयाल है कि उसने यह देख लिया होगा। इससे पहले विद्या-र्थियोंको मेरी तरफसे ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था। वह विद्यार्थी रो पड़ा, माफी मांगी; पर उसके रोनेका कारण यह नहीं कि उसपर मार पड़ी थी। वह मेरा मुकाबला करना चाहता तो इतनी ताकत उसमें थी। उसकी उमर १७ सालकी होगी, शरीर हट्टा-कट्टा था; पर मेरे उस रूल मारनेमें मेरे दुःखका अनुभव उसे हो गया था। इस घटनाके बाद वह मेरे सामने कभी नहीं हुआ; परंतु मुझे इस प्रकार रूल मारनेका पश्चात्ताप आजतक होता रहता है।

मैं समझता हूं कि उसे पीटकर मैंने उसे अपनी आत्माकी सात्विकता का नहीं, बल्कि अपनी पशुताका दर्शन कराया था।

मैंने बच्चोंको पीट-पाटकर सिखानेका हमेशा विरोध किया है। सारी जिंदगीमें एक ही अवसर मुझे याद पड़ता है जब मैंने अपने एक लड़केको पीटा था। मेरा यह रूल मार देना उचित था या नहीं, इसका निर्णय मैं आजतक नहीं कर सका। इस दंडके औचित्यके विषयमें अब भी मुझे संदेह है; क्योंकि उसके मूलमें क्रोध भरा हुआ था और मनमें सजा देनेका भाव था। यदि उसमें केवल मेरे दुःखका ही प्रदर्शन होता तो मैं उस दंडको उचित समझता; परंतु उसमें मिली-जुली भावनायें थीं। इस घटनाके बाद तो मैं विद्यार्थियोंको सुधारनेकी और भी अच्छी तरकीब जान गया। यदि इस मौकेपर उस कलासे काम लिया होता तो क्या फल निकलता, यह मैं नहीं कह सकता। वह युवक तो इस बातको उसी समय भूल गया। मैं नहीं कह सकता कि वह बहुत सुधर गया होगा; परंतु इस प्रसंगने मेरे इन विचारोंको बहुत गति दे दी कि विद्यार्थीके प्रति शिक्षकका क्या धर्म है। उसके बाद भी युवकोंसे ऐसा ही कसूर हुआ है; परंतु मैंने दंडनीतिका प्रयोग कभी नहीं किया। इस तरह आत्मिक ज्ञान देनेका प्रयत्न करते हुए मैं खुद आत्माके गुणको अधिक जान सका।

: ३५ :

अच्छे-बुरेका मेल

टॉलस्टाय-आश्रममें मि० केलनबेकने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा कर दिया था, इसके पहले मैंने उसपर कभी विचार नहीं किया था। आश्रममें कितने ही लड़के बड़े ऊधमी और वाहियात थे, कई आवारा भी थे। उन्हींके साथ मेरे तीन लड़के रहते थे। दूसरे लड़के भी थे, जिनका कि लालन-पालन मेरे लड़कोंकी तरह हुआ था; परंतु मि० केलनबेकका ध्यान तो इस बातकी तरफ था कि वे आवारा लड़के और मेरे लड़के एकसाथ

इस तरह नही रह सकने। एक दिन उन्होंने कहा—"आपका यह सिल-सिला मुझे बिलकुल ठीक नहीं मालूम होता। इन लड़कोंके साथ आपके लड़के रहेंगे तो इसका बुरा नतीजा होगा। उन आवारा लड़कोंकी सोहबत इनको लगेगी तो ये बिगड़े बिना कैसे रहेंगे?"

इनको सुनकर मैं थोड़ी देरके लिए सोचमे पड़ा था नही, यह तो मुझे इस समय याद नहीं; परतु अपना उत्तर मुझे याद है। मैंने जवाब दिया—"अपने लड़कों और इन आवारा लड़कोंमें मैं भेद-भाव कैसे रख सकता हूं? अभी तो दोनोंकी जिम्मेदारी मुझपर है। ये युवक मेरे बुलाये यहां आये है। यदि मैं रुपये दे दूं तो ये आज ही जोहासबर्ग जाकर पहलेकी तरह रहने लग जायंगे। आश्चर्य नही, यदि उनके माता-पिता यह समझते हों कि उन लड़कोंने यहां आकर मुझपर बहुत मिहरबानी की है। यहां आकर वे असुविधा उठाते है, यह तो आप और मैं दोनों देख रहे हैं। सो इस सबंधमे मेरा धर्म मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। मुझे उन्हे यही रखना चाहिए। मेरे लड़के भी उन्हीके साथ रहेगे। फिर क्या आजसे ही मेरे लड़कोंको यह भेद-भाव सिखावें कि वे औरोसे ऊचे दर्जेके हैं? ऐसा विचार उनके दिमागमें डालना मानो उन्हें उल्टे रास्ते ले जाना है। इस स्थितिमे रहनेसे उनका जीवन बनेगा, खुद-ब-खुद सारासारकी परीक्षा करने लगेगे। हम यह क्यों न मानें कि उनमे यदि सचमुच कोई गुण होगा तो उल्टा उसीका असर उनके साथियोंपर होगा? जो-कुछ भी हो; पर मै तो उन्हें यहांसे नही हटा सकता और ऐसा करनेमें यदि कुछ जोखम है तो उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए।" इसपर मि० केलनबेक सिर हिलाकर रह गये।

यह नहीं कह सकते कि इस प्रयोगका नतीजा बुरा हुआ। मै नही मानता था कि मेरे लड़कोंको इससे कुछ नुकसान हुआ। हां, लाभ होता हुआ तो अलबत्ता मैंने देखा है। उनमें बड़प्पनका यदि कुछ अंश रहा होगा तो वह सर्वथा चला गया, वे सबके साथ मिल-जुलकर रहना सीखे, वे तपकर ठीक हो गये।

इससे तथा ऐसे अनुभवोंपरसे मेरा यह खयाल बना कि यदि मां-बाप ठीक-ठीक निगरानी रख सकें तो उनके भले और बुरे लड़कोंके एकसाथ रहने और पढनेसे अच्छे लड़कोंका किसी प्रकार नुकसान नहीं हो सकता। अपने लड़कोंको संदूकमें बद कर रखनेसे वे शुद्ध ही रहते हैं और बाहर निकलनेसे वे बिगड़ जाते हैं, यह कोई नियम नहीं है। हां, यह बात जरूर है कि जहां अनेक प्रकारके बालक और बालिकाए एकसाथ रहते और पढ़ते हों, वहां मां-बापकी औरशिक्षककी कड़ी जांच हो जाती है। उन्हें बहुत सावधान और जागरूक रहना पड़ता है।

: ३६ :

प्रायश्चित्तके रूपमें उपवास

इस तरह लड़के-लड़कियोंको सच्चाई और ईमानदारीके साथ परवरिश करने और पढ़ाने-लिखानेमे कितनी और कठिनाइयां हैं, इसका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और पालककी हैसियतसे मुझे उनके हृदयोंमें प्रवेश करना था। उनके सुख-दुखमें हाथ बटाना था। उनके जीवनकी गुत्थियां सुलझानी थी। उनकी चढ़ती जवानीकी तरंगोंको सीधे रास्ते ले जाना था।

कितने ही कैदियोंके छूट जानेके बाद टॉलस्टाय-आश्रममें थोड़े ही लोग रह गये। ये ख़ास करके फिनिक्स-वासी थे। इसलिए मैं आश्रमको फिनिक्स ले गया। फिनिक्समें मेरी कड़ी परीक्षा हुई। इन बचे हुए आश्रम-वासियोंको टॉलस्टाय-आश्रमसे फिनिक्स पहुचाकर मैं जोहासबर्ग गया। थोड़ ही दिन ज़ोहांसबर्ग रहा होऊंगा कि मुझे दो व्यक्तियोके भयंकर पतनके समाचार मिले। सत्याग्रह जैसे महान् संग्राममें यदि कहीं भी असफलता जैसा कुछ दिखाई देता तो उससे मेरे दिलको चोट नहीं पहुंचती थी, परंतु इस घटनाने तो मुझपर वज्र-प्रहार ही कर

दिया ! मेरे दिल में घाव हो गया ! उसी दिन में फिनिक्स रवाना हो गया। मि० केलनबेकने मेरे साथ आनेकी जिंद पकड़ी। वह मेरी दयनीय स्थिति को समझ गये थे, उन्होंनें साफ इंकार कर दिया कि मैं आपको अकेला नहीं जाने दूंगा। इस पतनकी खबर मुझे उन्हींके द्वारा मिली थी।

रास्तेमें ही मैंने सोच लिया, अथवा यों कहूं कि मैंने ऐसा मान लिया कि इस अवस्थामें मेरा धर्म क्या है ? मेरे मनने कहा कि जो लोग हमारी रक्षामें हैं उनके पतनके लिए पालक या शिक्षक किसी-न-किसी अंशमें जरूर जिम्मेदार हैं और इस दुर्घटनाके संबंधमे तो मुझे अपनी जिम्मेदारी साफ-साफ दिखाई दी। मेरी पत्नीने मुझे पहले ही चेताया था; पर मैं स्वभावतः विश्वासशील हूं, इससे मैंने उसकी चेतावनीपर ध्यान नहीं दिया था। फिर मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि ये पतित लोग मेरी व्यथाको तभी समझ सकेंगे, जब मैं इस पतन के लिए कुछ प्रायश्चित्त करूंगा। इसीसे इन्हें अपने दोषोंका ज्ञान होगा और उसकी गंभीरताका कुछ अंदाज मिलेगा। इस कारण मैंने सात दिनके उपवास और साढ़े चार मासतक एकासना करनेका विचार किया। मि० केलनबेकने मुझे रोकनेकी बहुत कोशिश की, पर उनकी न चली। अंतको उन्होंने प्रायश्चित्तके औचित्यको माना और अपने लिए भी मेरे साथ व्रत रखनेपर जोर दिया। उनके निर्मल-प्रेमको मैं न रोक सका। इस निश्चयके बाद ही तुरंत मेरा हृदय हल्का हो गया, मुझे शांति मिली। दोष करने वालों पर जो कुछ गुस्सा आया था वह दूर हुआ और उनपर मनमें दया ही आती रही।

इस तरह ट्रेनमें ही अपने हृदयको हल्का करके मैं फिनिक्स पहुंचा। पूछ-ताछ कर जो-कुछ और बातें जाननी थीं वे जान लीं। यद्यपि इस मेरे उपवाससे सबको बहुत कष्ट हुआ, पर उससे वातावरण शुद्ध हुआ। पापकी भयंकरताको सबने समझा। और विद्यार्थी-विद्यार्थिनियोंका और मेरा संबंध अधिक मजबूत और सरल हुआ।

इस दुर्घटनाके सिलसिलेमें ही, कुछ समयके बाद, मुझे फिर चौदह उपवास करनेकी नौबत आई थी और मैं मानता हूं कि उसका परिणाम

आशासे भी अधिक अच्छा निकला। परतु इन उदाहरणोंसे मैं यह नही सिद्ध करना चाहता कि शिष्योंके प्रत्येक दोषके लिए हमेशा शिक्षकोंको उपवासादि करना ही चाहिए। पर मैं यह जरूर मानता हूं कि मौके-मौकेपर ऐसे प्रायश्चित्त-रूप उपवासके लिए अवश्य स्थान है। किंतु उसके लिए विवेक और अधिकारकी आवश्यकता है। जहां शिक्षक और शिष्यमें शुद्ध प्रेम-बंधन नही, जहां शिक्षकको अपने शिष्यके दोषसे सच्ची चोट नहीं पहुंचती, जहां शिष्यके मनमें शिक्षकके प्रति आदर नहीं, वहां उपवास निरर्थक है और शायद हानिकारक भी हो। परंतु ऐसे उपवास या एकासनेके विषयमें भले ही कुछ शंका हो; किंतु शिष्यके दोषोंके लिए शिक्षक थोड़ा-बहुत जिम्मेदार जरूर है, इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं।

ये सात उपवास और साढ़े चार मासके एकासने हमें कठिन न मालूम हुए। उन दिनों मेरा कोई भी काम बंद या मंद नहीं हुआ था। उस समय मैं केवल फलाहार ही करता था चौदह उपवासका अंतिम भाग मुझे खूब कठिन मालूम हुआ था। उस समय मैं राम-नामका पूरा चमत्कार नहीं समझा था। इसलिए दुःख सहन करनेका सामर्थ्य कम था। उपवासके दिनोंमे जिस किसी तरह भी हो पानी खूब पीना चाहिए। इस बाह्य कलाका ज्ञान मुझे न था। इस कारण भी यह उपवास मेरे लिए भारी हुए। फिर पहलेके उपवास सुख-शांति से बीते थे, इसलिए चौदह उपवासके समय कुछ लापरवाह भी रहा था। पहले उपवासके समय हमेशा कूनेके कटि-स्नान करता; चौदह उपवासके समय दो-तीन दिन बाद वे बंद कर दिये गये। कुछ ऐसा हो गया था कि पानीका स्वाद ही अच्छा नहीं मालूम होता था, और पानी पीते ही जी मिचलाने लगता था, जिससे पानी बहुत कम पिया जाता था। इससे गला सूख गया, शरीर क्षीण हो गया; और अंतके दिनोंमें बहुत धीमे बोल सकता था। इतना होते हुए भी लिखने-लिखानेका आवश्यक काम मैं आखिरी दिनतक कर सका था और रामायण इत्यादि अंततक सुनता था। कुछ प्रश्नों और विषयोंपर राय इत्यादि देनेका आवश्यक कार्य भी कर सकता था।

: ३७ :

गोखलेसे मिलने

यहां दक्षिण-अफ्रिकाके कितने ही संस्मरण छोड़ देने पड़ते हैं। १९१४ ई०में जब सत्याग्रह-संग्रामका अंत हुआ तब गोखलेकी इच्छासे मैंने इंग्लैंड होकर देश आनेका विचार किया था। इसलिए जुलाई महीनेमें कस्तूरबाई, केलनबेक और मैं, तीनों विलायतके लिए रवाना हुए। सत्याग्रह-संग्रामके दिनोंमें मैंने रेलमें तीसरे दर्जेमें सफर शुरू कर दिया था। इस कारण जहाजमें भी तीसरे दर्जेके ही टिकट खरीदे, परंतु इस तीसरे दर्जेमे और हमारे तीसरे दर्जेमें बहुत अंतर है। हमारे यहां तो सोने-बैठनेकी जगह भी मुश्किलसे मिलती है और सफाईकी तो बात ही क्या पूछना! किंतु इसके विपरीत यहांके जहाजोंमे जगह काफी रहती थी और सफाईका भी अच्छा खयाल रखा जाता था। कंपनीने हमारे लिए कुछ और भी सुविधायें कर दी थी। कोई हमको दिक न करने पाये, इस खयालसे एक पाखानेमे ताला लगाकर उसकी ताली हमें सौप दी गई थी; और हम फलाहारी थे इसलिए हमको ताजे और सूखे फल देनेका आज्ञा भी जहाजके खजांचीको दे दी गई थी। मामूली तौरपर तीसरे दर्जेके यात्रियोंको फल कम ही मिलते है और मेवा तो कतई नही मिलता। पर इस सुविधाकी बदौलत हम लोग समुद्रपर बहुत शांतिसे १० दिन बिता सके।

इस यात्राके कितने ही संस्मरण जानने योग्य है। मि० केलनबेकको दूरबीनोका बड़ा शौक था। दो-एक कीमती दूरबीनें उन्होंने अपने साथ रखी थीं। इसके विषयमें रोज हमारे आपसमें बहस होती। मैं उन्हें यह जंचानेकी कोशिश करता कि यह हमारे आदर्शके और जिस सादगीको हम पहुंचना चाहते है उसके अनुकूल नहीं है। एक रोज तो हम दोनोंमें इस विषयपर गरमागरम बहस हो गई। हम दोनों अपनी कैबिनकी खिड़कीके पास खड़े थे।

मैंने कहा—"आपके और मेरे बीच ऐसे झगड़े होनेसे तो क्या यह बेहतर नहीं है कि इस दूरबीनको समुद्रमें फेंक दें और इसकी चर्चा ही न करें ?"

मि० केलनबेकने तुरंत उत्तर दिया—"जरूर इस झगड़ेकी जड़को फेंक ही दीजिए।"

मैंने कहा—"देखो, मैं फेंके देता हूं !"

उन्होंने बे-रोक उत्तर दिया —"मैं सचमुच कहता हूं, फेंक दीजिए।"

और, मैंने दूरबीन फेंक दी। उसका दाम कोई सात पौंड था। परंतु उसकी कीमत उसके दामकी अपेक्षा मि० केलनबेकके उसके प्रति मोहमें थी। फिर भी मि० केलनबेकने अपने मनको कभी इस बातका दुःख न होने दिया। उनके मेरे बीच तो ऐसी कितनी ही बाते हुआ करती थी—यह तो उसका एक नमूना पाठकोंको दिखाया है।

हम दोनों सत्यको सामने रखकर ही चलनेका प्रयत्न करते थे। इसलिए मेरे उनके इस संबंधके फलस्वरूप हम रोज कुछ-न-कुछ नई बात सीखते। सत्यका अनुसरण करते हुए हमारे क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही शमन हो जाते थे और यदि न होते तो सत्यकी प्राप्ति न होती थी। भले ही राग-द्वेषादिसे भरा मनुष्य सरस हो सकता है, वह वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति नही हो सकती। शुद्ध सत्यकी शोध करनेके मानी हैं राग-द्वेषादि द्वंदसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।

जिन दिनों हमने यह यात्रा आरंभ की, पूर्वोक्त उपवासोंको पूरा किये मुझे बहुत समय नहीं बीता था। अभी मुझमें पूरी ताकत नही आई थी। जहाजमें डेकपर खूब घूमकर काफी खानेका और उसे पचानेका यत्न करता। पर ज्यों-ज्यों मैं अधिक घूमने लगा त्यों-त्यों पिंडलियोंमें ज्यादा दर्द होने लगा। विलायत पहुंचनेके बाद तो उलटा यह दर्द और बढ़ गया। वहां डाक्टर जीवराज मेहतासे मुलाकात हो गई थी। उपवास और इस दर्दका इतिहास सुनकर उन्होंने कहा कि "यदि आप थोड़े समय-तक आराम नहीं करेंगे तो आपके पैरोंके सदाके लिए सुन्न पड़ जानेका अंदेशा है।" अब जाकर मुझे पता लगा कि बहुत दिनोंके उपवाससे

गई ताकत जल्दी लानेका या बहुत खानेका लोभ नही रखना चाहिए। उपवास करनेकी अपेक्षा छोड़ते समय अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद इसमें अधिक संयम भी होता है।

मदीरामें हमे समाचार मिले कि लड़ाई अब छिड़ने ही वाली है। इंग्लैंडकी खाड़ीमें पहुचते-पहुंचते खबर मिली कि लड़ाई शुरू हो गई और हम रोक लिये गये। पानीमें जगह-जगह गुप्त मार्ग बनाये गये थे और उनमेंसे होकर हमे साउदेम्प्टन पहुंचते हुए एक-दो दिनकी देरी हो गई। युद्धकी घोषणा ४ अगस्तको हुई; हम लोग ६ अगस्तको विलायत पहुंचे।

: ३८ :

लड़ाईमें भाग

विलायतमें पहुंचने पर खबर मिली कि गोखले तो पेरिसमे रह गये हैं पेरिसके साथ आवागमनका संबंध बंद हो गया है, और यह नही कहा जा सकता कि वह कब आयेगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधारके लिए फ्रांस गये थे; किंतु बीचमे युद्ध छिड़ जानेसे वहीं अटक रहे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नही था; और वह कब आवेगे, यह कोई कह नहीं सकता था।

अब सवाल यह खड़ा हुआ कि इस दरमियान करें क्या? इस लड़ाईके संबंधमे मेरा धर्म क्या है? जेलके मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायतमे बैरिस्टरीका अध्ययन कर रहे थे। सोराबजी को एक श्रेष्ठ सत्याग्रहीके तौरपर इंग्लैंडमें बैरिस्टरीकी तालीमके लिए भेजा था कि जिससे वे दक्षिण अफ्रिकामें आकर मेरा स्थान ले ले। उनका खर्च डॉक्टर प्रणजीवनदास मेहता देते थे। उनके और उनके मार्फत डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादिके साथ, विलायतमें पढ़ रहे थे, इस विषयपर सलाह-मशवरा किया। विलायतमें उस समय जो हिंदुस्तानी

लोग रहते थे उनकी एक सभा की गई और उसमें मैंने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा यह मत हुआ कि विलायतमें रहनेवाले हिंदुस्तानियोंको इस लड़ाईमें अपना हिस्सा देना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थी लड़ाईमें सेवा करनेका अपना निश्चय प्रकाशित कर चुके हैं। हम हिंदुस्तानियोंको भी इससे कम सहयोग न देना चाहिए। मेरी इस बातके विरोधमें इस सभामें बहुतेरी दलीलें पेश की गईं। कहा गया कि हमारी और अंग्रेजोंकी परिस्थितिमें हाथी-घोड़े जितना अंतर है—एक गुलाम दूसरा सरदार। ऐसी स्थितिमें गुलाम अपने प्रभुकी विपत्तिमें उसे स्वेच्छा-पूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामीमेंसे छूटना चाहता है उसका धर्म क्या यह नही कि प्रभुकी विपत्तिसे लाभ उठाकर अपना छुटकारा कर लेनेकी कोशिश करे? पर यह दलील मुझे उस समय कैसे पट सकती थी? यद्यपि मैं दोनोंकी स्थितिका महान् अंतर समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलामीकी स्थिति नहीं मालूम होती थी। उस समय मैं यह समझे हुए था कि अंग्रेजी-शासन-पद्धतिकी अपेक्षा कितने ही अंग्रेज अधिकारियोंका दोष अधिक था और उस दोषको हम प्रेमसे दूर कर सकते हैं। मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजोंके द्वारा और उनकी सहायतासे हम अपनी स्थितिका सुधार चाहते हों तो हमें उनकी विपत्तिके समय सहायता पहुचाकर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। ब्रिटिश-शासन-पद्धतिको मैं दोषमय तो मानता था, परंतु आजकी तरह वह उस समय असह्य नही मालूम होती थी। अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धतिपरसे मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्यकी सहायता नही कर सकता, इसी तरह उस समय जिन लोगोंका विश्वास इस पद्धतिपरसे ही नही, बल्कि अंग्रेजी अधिकारियोंपरसे भी उठ चुका था, वे मदद करनेके लिए कैसे तैयार हो सकते थे?

उन्होंने इस समयको प्रजाकी मांगे जोरके साथ पेश करने और शासनमें सुधार करानेकी आवाज उठानेके लिए बहुत अनुकूल पाया। किंतु मैंने इसे अंग्रेजोंकी आपत्तिका समय समझकर मांगे पेश करना उचित न समझा

और जबतक लड़ाई चल रही है तबतक हक मांगना मुल्तवी रखनेके संयममें सभ्यता और दीर्घ-दृष्टि समझी। इसलिए मैं अपनी सलाहपर मजबूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वयं-सेवकोंमें नाम लिखाना हो वे लिखा दें। नाम अच्छी संख्यामें आये। उनमें लगभग सब प्रांतों और सब धर्मोंके लोगोंके नाम थे।

फिर लार्ड क्रूके नाम एक पत्र भेजा गया। उसमें हम लोगोंने अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हम हिंदुस्तानियोंके लिए घायल सिपाहियोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेकी तालीमकी यदि आवश्यकता दिखाई दे तो उसके लिए हम तैयार हैं। कुछ सलाह-मशवरा करनेके बाद लार्ड क्रूने हम लोगोंका प्रस्ताव स्वीकार किया और इस बातके लिए हमारा अहसान माना कि हमने ऐसे ऐन मौकेपर साम्राज्यकी सहायता करनेकी तैयारी दिखाई।

जिन-जिन लोगों न अपने नाम लिखवाये थे उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टर कैंटलीकी देख-रेखमें घायलोंकी शुश्रूषा करनेकी प्राथमिक तालीम लेना शुरू किया। छः सप्ताहका छोटा-सा शिक्षा-क्रम रखा गया था और इतने समयमें घायलोंकी प्राथमिक सहायता करनेकी सब विधियां सिखा दी जाती थी। हम कोई ८० स्वयं-सेवक इस शिक्षा-क्रममें सम्मिलित हुए। छः सप्ताहके बाद परीक्षा ली गई तो उसमें सिर्फ एक ही शख्स फेल हुआ। जो लोग पास हो गये उनके लिए सरकारकी ओरसे कवायद वगैरा सिखानेका प्रबंध हुआ। कवायद सिखानेका भार कर्नल बेकरको सौंपा गया और वह इस टुकड़ीके मुखिया बनाये गये।

इस समय विलायतका दृश्य देखने लायक था। युद्धसे लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब उसमें यथाशक्ति मदद करनेके लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था, वे नवयुवक सैनिक शिक्षा ग्रहण करने लगे। परंतु अशक्त बूढ़े और स्त्री आदि भी खाली हाथ न बैठे रहे। उनके लिए भी वे चाहें तो काम था ही। वे युद्धमें घायल सैनिकोंके लिए कपड़ा इत्यादि सीने-काटनेका काम करने लगे। वहां स्त्रियोंका 'लाइसियम' नामक एक

क्लब है। उसके सभ्योंने सैनिक-विभागके लिए आवश्यक कपड़े यथा-शक्ति बनानेका जिम्मा ले लिया। सरोजिनी देवी भी इसकी सभ्य थीं। उन्होंने इसमे खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा वह प्रथम ही परिचय था। उन्होंने कपड़े ब्योंत व काटकर मेरे सामने उनका एक ढेर रख दिया और कहा कि जितने सिला सको, उतने सिलाकर मुझे दे देना। मैंने उनकी इच्छाका स्वागत करते हुए घायलोंकी शुश्रूषाकी उस तालीमके दिनोंमें जितने कपड़े तैयार हो सके उतने करके दे दिये।

: ३९ :

धर्मकी समस्या

युद्धमें काम करनेके लिए हम कुछ लोगोंने सभा करके जो अपने नाम सरकारको भेजे, इसकी खबर दक्षिण अफ्रिका पहुंचते ही वहांसे दो तार मेरे नाम आये। उसमेंसे एक पोलकका था। उन्होंने पूछा था—"आपका यह कार्य अहिंसा-सिद्धांतके खिलाफ तो नहीं है?"

मैं ऐसे तारकी आशंका कर ही रहा था; क्योंकि 'हिंद-स्वराज्य'में मैंने इस विषयकी चर्चाकी थी और दक्षिण अफ्रिकामे तो मित्रोंके साथ उसकी चर्चा निरंतर हुआ ही करती थी। हम सब इस बातको मानते थे कि युद्ध अनीति-मय है। ऐसी हालतमें और जबकि मैं अपनेपर हमला करनेवालेपर भी मुकदमा चलानेके लिए तैयार नहीं हुआ था तो फिर जहां दो राज्योंमें युद्ध चल रहा हो और जिसके भले या बुरे होनेका मुझे पता न हो उसमें मैं सहायता कैसे कर सकता हूं, यह प्रश्न था। हालांकि मित्र लोग यह जानते थे कि मैंने बोअर-संग्राममें योग दिया था तो भी उन्होंने यह मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारोंमें परिवर्तन हो गया होगा।

और बात दरअसल यह थी कि जिस विचार-सरणिके अनुसार मैं बोअर-युद्धमे सम्मिलित हुआ था उसीका अनुसरण इस समय भी किया गया था। मैं ठीक-ठीक देख रहा था कि युद्धमें शरीक होना अहिंसाके सिद्धांतके अनुकूल नहीं है, परंतु बात यह है कि कर्त्तव्यका भान मनुष्यको हमेशा दिनकी तरह स्पष्ट नही दिखाई देता। सत्यके पुजारीको बहुत बार इस तरह गोते खाने पड़ते है।

अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसाकी होलीमे फंसे हुए है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नही है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये विना नहीं जी सकता। खाते-पीते, बैठते-उठते, तमाम क्रियाओंमें इच्छासे या अनिच्छासे कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसासे छूट जानेके वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावनामे केवल अनुकंपा हो, वह सूक्ष्म जंतुका भी नाश न चाहता हो, और उसे बचानेका यथाशक्ति प्रयास करता हो, तो समझना चाहिए कि वह अहिंसाका पुजारी हैं। उसकी प्रवृत्तिमें निरंतर संयमकी वृद्धि होती रहेगी, उसका करुणा निरंतर बढ़ती रहेगी, परंतु इसमें कोई संदेह नही कि कोई भी देहधारी बाह्य हिंसासे सर्वथा मुक्त नही हो सकता।

फिर अहिंसाके पेटमे ही अद्वैत भावनाका भी समावेश है। और यदि प्राणिमात्रमें भेद-भाव हो तो एकके पापका असर दूसरेपर होता है और इस कारण भी मनुष्य हिंसासे सोलहों आना अछूता नही रह सकता। जो मनुष्य समाजमें रहता है वह, अनिच्छासे ही क्यों न हो, मनुष्य-समाजकी हिंसाका हिस्सेदार बनता है। ऐसी दशामे जब दो राष्ट्रोंमें युद्ध हो तो अहिंसाके अनुयायी व्यक्तिका यह धर्म है कि वह उस युद्धको रुकवावे। परतु जो इस धर्मका पालन न कर सके, जिसे विरोध करनेका सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करनेका अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्यमें शामिल हो सकता है और ऐसा करते हुए भी उसमेंसे अपनेको, अपने देशको, और संसारको निकालनेकी हार्दिक कोशिश करता है।

मैं चाहता था कि अंग्रेजी राज्यके द्वारा अपनी, अर्थात् अपने राष्ट्रकी, स्थितिका सुधार करूं। पर मैं तो इंग्लैंडमें बैठा हुआ इंग्लैंडकी नौ-सेनासे सुरक्षित था। उस बलका लाभ इस तरह उठाकर मैं उसकी हिंसकतामें सीधे-सीधे भागी हो रहा था। इसलिए मुझे यदि इस राज्यके साथ किसी तरह संबंध रखना हो, इस साम्राज्यके झंडेके नीचे रहना हो, तो या तो मुझे युद्धका खुल्लम-खुल्ला विरोध करके जबतक उस राज्यकी युद्ध-नीति नहीं बदल जाय तबतक सत्याग्रह-शास्त्रके अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए, अथवा भंग करने योग्य कानूनोंका सविनय भंग करके जेलका रास्ता लेना चाहिए, या उसके युद्ध-कार्यमें शरीक होकर उसका मुकाबला करनेका सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। विरोधकी शक्ति मेरे अंदर थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्धमें शरीक होनेका एक रास्ता ही मेरे लिए खुला था।

जो मनुष्य बंदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनोंमें अहिंसाकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओंकी टोलीमें उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करनेका काम करता है, वह उस डकैतीके लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टिसे जो मनुष्य युद्धमें घायलोंकी सेवा करता है, वह युद्धके दोषोंसे मुक्त नहीं रह सकता।

पोलकका तार आनेके पहले ही मेरे मनमें ये सब विचार उठ चुके थे। उनका तार आते ही मैंने कुछ मित्रोंसे इसकी चर्चा की। मैंने अपना धर्म समझकर युद्धमें योग दिया था और आज भी मैं विचार करता हूं तो इस विचार-सरणिमें मुझे दोष नहीं दिखाई पड़ता। ब्रिटिश-साम्राज्यके संबंधमें उस समय जो विचार मेरे थे उनके अनुसार ही मैं युद्धमें शरीक हुआ था और इसलिए मुझे उसका कुछ भी पश्चात्ताप नहीं है।

मैं जानता हूं कि अपने इन विचारोंका औचित्य मैं अपने समस्त मित्रोंके सामने उस समय भी सिद्ध नहीं कर सका था। यह प्रश्न सूक्ष्म

है। इसमें मत-भेदके लिए गुंजाइश है। इसीलिए अहिंसा-धर्मको माननेवाले और सूक्ष्म रीतिसे उसका पालन करनेवालोंके सामने जितनी हो सकती है खोलकर मैंने अपनी राय पेश की है। सत्यका आग्रही व्यक्ति रूढ़िका अनुसरण करके ही हमेशा कार्य नहीं करता, न वह अपने विचारोंपर हठ-पूर्वक आरूढ़ रहता है। वह हमेशा उसमें दोष होनेकी संभावना मानता है और उस दोषका ज्ञान हो जानेपर हर तरहकी जोखिम उठाकर भी उसको मंजूर करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है।

: ४० :

सत्याग्रहकी चकमक

इस तरह अपना धर्म समझकर मैं युद्धमें पड़ा तो सही, पर मेरे नसीबमें यह नहीं बदा था कि उसमें सीधा भाग लूं, बल्कि ऐसे नाजुक मौकेपर सत्याग्रहतक करनेकी नौबत आ गई।

मैं लिख चुका हूं कि जब हमारे नाम मंजूर हो गये और लिखे जा चुके तब हमें पूरी कवायद सिखानेके लिए एक अधिकारी नियुक्त किया गया। हम सबकी यह समझ थी कि यह अधिकारी महज युद्धकी तालीम देनेके लिए हमारे मुखिया थे, शेष सब बातोंमें टुकड़ीका मुखिया मैं था। मेरे साथियोंके प्रति मेरी जवाबदेही थी और उनकी मेरे प्रति। अर्थात् हम लोगोंका खयाल था कि अधिकारीको सारा काम मेरी मार्फत लेना चाहिए। परंतु जिस तरह 'पूतके पांव पालनेमें ही नजर आ जाते हैं' उसी तरह उस अधिकारीकी आंखें हमे पहले ही दिन कुछ और हा दिखाई दीं। सोराबजी बहुत होशियार आदमी थे। उन्होंने मुझे चेताया, 'भाई साहब, सम्हलकर रहना। यह आदमी तो मालूम होता है अपनी जहांगारी चलाना चाहता है। हमें उसका हुक्म उठानेकी जरूरत नहीं

है। हम उसे अपना एक शिक्षक समझते है। पर जो यह नौजवान आये है वे तो हमपर हुक्म चलाने आये हैं, ऐसा मै देखता हू।" यह नवयुवक आक्सफोर्डके विद्यार्थी थे और हमें सिखानेके लिए आये थे। उन्हें बड़े अफसरने हमारे ऊपर नायब अफसर मुकर्रर किया था। मैं भी सोराबजीकी बताई बात देख चुका था। मैंने सोराबजीको तसल्ली दिलाई और कहा—"कुछ फिकर मत करो।" परंतु सोराबजी ऐसे आदमी नहीं थे, जो झट मान जाते।

"आप तो हैं भोले-भंडारी। ये लोग मीठी-मीठी बातें बनाकर आपको धोखा देंगे और जब आपकी आंखें खुलेंगी तब कहेंगे—'चलो; अब सत्याग्रह करो। और फिर आप हमे परेशान करेंगे।" सोराबजीने हंसते हुए कहा।

मैंने जवाब दिया—"मेरा साथ करनेमे सिवा परेशानीके और क्या अनुभव हुआ है? और सत्याग्रहीका जन्म तो धोखा खानेके लिए ही हुआ है। इसलिए परवा नही, अगर ये साहब मुझे धोखा दे दे। मैंने आपसे बीसों बार नही कहा है कि अंतको वही धोखा खाता है, जो दूसरोंको धोखा देता है?"

यह सुनकर सोराबजीने कहकहा लगाया—"तो अच्छी बात है; लो, धोखा खाया करो। इस तरह किसी दिन सत्याग्रहमे मर मिटोगे और साथ-साथ हमको भी ले डूबोगे।"

इन शब्दोंको लिखते हुए मुझे स्वर्गीय मिस हाबहाउसके असहयोगके दिनोंमे लिखे शब्द याद आते हैं—"आपको सत्यके लिए किसी दिन फांसी-पर लटकना पड़े तो आश्चर्य नही। ईश्वर आपको सन्मार्ग दिखावे और आपकी रक्षा करे।" सोराबजीके साथ यह बातचीत तो उस समय हुई थी जब उस अधिकारीकी नियुक्तिका आरंभ-काल था। परंतु उस आरंभ और अंतका अंतर थोड़े ही दिनका था। इसी बीच मुझे पसलीमे वरमकी बीमारी जोरके साथ पैदा हो गई थी।

चौदह दिनके उपवासके बाद अभी मेरा शरीर पनपा नही था, फिर

भी मैं कवायदमें पीछे नहीं रहता था। और कई बार घरसे कवायदके मैदानतक पैदल जाता था। कोई दो मील दूर वह जगह थी। और उसीके फलस्वरूप अन्तमें मुझे खटिया पकड़नी पड़ी थी।

इसी स्थितिमें मुझे कैंपमें जाना पड़ता था। दूसरे लोग तो वहां रह जाते थे और मैं शामको घर वापस आ जाता। यहीं सत्याग्रहका अवसर खड़ा हो गया था। उस अफसरने अपनी हकूमत चलाई। उसने हमें साफ-साफ कह दिया कि हर बातमें मैं ही आपका मुखिया हूं। उसने अपनी अफसरीके दो-चार पदार्थ-पाठ (नमूने) भी हमें बताये। सोराबजी मेरे पास पहुचे। वह इस 'जहांगीरी'को बरदाश्त करनेके लिए तैयार न थे। उन्होंने कहा—हमें सब हुक्म आपकी मार्फत ही मिलने चाहिएं। अभी तो हम तालीमी छावनीमें हैं; पर अभीसे देखते हैं कि बेहूदे हुक्म छूटने लगे हैं। उन जवानोंमें और हममें बहुतेरी बातोंमें भेद-भाव रखा जाता है। यह हमें बरदाश्त नहीं हो सकता। इसकी व्यवस्था तुरंत होनी चाहिए, नहीं तो हमारा सब काम बिगड़ जायगा। ये सब विद्यार्थी तथा दूसरे लोग, जो इस काममें शरीक हुए हैं, एक भी बेहूदा हुक्म बरदाश्त न करेंगे। स्वाभिमानकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे जो काम हमने अंगीकार किया है, उसमें यदि हमें अपमान ही सहन करना पड़े तो यह नहीं हो सकता।"

मैं उस अफसरके पास गया और मेरे पास जितनी शिकायतें आई थीं, सब उसे सुना दीं। उसने कहा—"ये सब शिकायतें मुझे लिखकर दो।" साथ ही उसने अपना अधिकार भी जताया। कहा—"शिकायत आपकी मार्फत नहीं हो सकती। उन नायब अफसरोंके मार्फत मेरे पास आनी चाहिए।" मैंने उत्तरमें कहा—"मुझे अफसरी नहीं करनी है। फौजी रूपमें तो मैं एक मामूली सिपाही ही हूं। परंतु हमारी टुकड़ीके मुखियाके नाते आपको मुझे उनका प्रतिनिधि मंजूर करना चाहिए।" मैंने अपने पास आई शिकायतें भी पेश कीं—"नायब अफसर हमारा चुनाव किए बिना ही मुकर्रर किये गये हैं और उनके व्यवहारसे हमारे

अंदर बहुत असंतोष फैल गया है। इसलिए उनको वहांसे हटा दिया जाय और हमारी टुकड़ीको अपना मुखिया चुननेका अधिकार दिया जाय।"

पर यह बात उनको जची नहीं। उन्होंने मुझसे कहा कि टुकड़ीका अपने अफसरोंको चुनना ही फौजी कानूनके खिलाफ है और यदि उस अफसरको हटा दिया जाय तो टुकड़ीमें आज्ञा-पालनका नाम-निशान न रह जायगा।'

इसपर हमने अपनी टुकड़ीकी सभा की और उसमें सत्याग्रहके गंभीर परिणामोंकी ओर सबका ध्यान दिलाया। लगभग सबने सत्याग्रहकी सौगंध खाई। हमारी सभाने प्रस्ताव किया कि यदि ये वर्तमान अफसर नहीं हटाये गये और टुकड़ीको अपना मुखिया पसंद न करने दिया गया तो हमारी टुकड़ी कवायदमें और कैंपमें जाना बंद कर देगी।

अब मैंने अफसरको एक पत्र लिखकर उसमें उसके रवैयेपर अपना घोर असंतोष प्रकट किया और कहा कि मुझे अधिकारकी जरूरत नहीं है। मैं तो केवल सेवा करके इस कामको सांगोपांग पूरा करना चाहता हूं। मैंने उन्हें यह भी बताया कि बोअर-संग्राममें मैंने कभी अधिकार नहीं पाया था। फिर भी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ीमें कभी झगड़ेका मौका नहीं आया था और वह मेरे द्वारा ही मेरी टुकड़ीकी इच्छा जानकर सब काम करते थे। इस पत्रके साथ उस प्रस्तावकी नकल भी भेज दी थी।

किंतु उस अफसरपर इसका कुछ भी असर न हुआ। उसका तो उल्टा यह खयाल हुआ कि सभा करके हमारी टुकड़ीने जो यह प्रस्ताव पास किया है, वह भी सैनिक नियम और मर्यादाका भारी उल्लंघन था।

उसके बाद भारत-मंत्रीको मैंने एक पत्रमें ये सब बातें लिख दीं और अपनी सभाका प्रस्ताव भी उनके पास भेज दिया।

भारत-मंत्रीने मुझे उत्तरमें सूचित किया कि दक्षिण अफ्रिकाकी हालत दूसरी थी। यहां तो टुकड़ीके बड़े अफसरको नायब अफसर मुकर्रर करनेका हक है। फिर भी भविष्यमें वे अफसर आपकी सिफारिशोंपर ध्यान दिया करें।

उसके बाद तो उनके मेरे बीच बहुत पत्र-व्यवहार हुआ है। परंतु उन सब कड़वे अनुभवोंका वर्णन यहां करके इस अध्यायको मैं लंबा करना नही चाहता।

परंतु इतना तो कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि वे अनुभव वैसे ही थे, जैसे कि रोज हमें हिंदुस्तानमे होते रहते हैं। अफसरोंने कहीं धमका-कर, कही तरकीबसे काम लेकर, हमारे अंदर फूट डाल दी। कसम खानेके बाद भी कितनें ही लोग छल और बलके शिकार हो गये।

इसी बीच नेटली अस्पतालमें एकाएक घायल सिपाही अकल्पित संख्यामे आ पहुंचे और इनकी शुश्रूषाके लिए हमारी सारी टुकड़ीकी जरूरत पड़ी। अफसर जिनको अपनी ओर कर सके थे वे तो नेटली पहुंच गये पर दूसरे लोग न गये। इंडिया आफिसको यह बात अच्छी न लगी। मैं था तो बीमार और बिछौने पर पड़ा रहता था; परंतु टुकड़ीके लोगोंसे मिलता रहता था। मि० राबर्ट्ससे मेरा काफी परिचय हो गया था। वह मुझसे मिलने आ पहुंचे और जो लोग बाकी रह गये थे उन्हें भी भेजनेका आग्रह करने लगे। उनका सुझाव यह था कि वे एक अलग टुकड़ी बनाकर जावे। नेटली अस्पतालमें तो टुकड़ीको वहीके अफसरके अधीन रहना होगा, इसलिए आपकी मानहानिका भी सवाल नही रहेगा। इधर सर-कारको उनके जानेसे संतोष हो जायगा और उधर जो बहुतेरे जख्मी एका-एक आ गये हैं, उनको भी शुश्रूषा हो जायगी। मेरे साथियों और मुझको यह तजवीज पसंद हुई और जो विद्यार्थी रह गये थे वे भी नेटली चले गये। अकेला मै ही दांत पीसता बिछौनेमें पड़ा रहा।

: ४१ :

गोखलेकी उदारता

ऊपर मैं लिख आया हूं कि विलायतमें मुझे पसलीके वरमकी शिकायत हो गई थी। इस बीमारीके वक्त गोखले विलायतमें आ पहुंचे थे। उनके पास मैं व केलनबेक हमेशा जाया करते। उनसे अधिकांशमें युद्धकी ही बातें हुआ करतीं। जर्मनीका भूगोल केलनबेककी जबानपर था, यूरोपकी यात्रा भी उन्होंने बहुत की थी, इसलिए वह नक्शा फैलाकर गोखलेको लड़ाईकी छावनियां दिखाते।

जब मैं बीमार हुआ था तब मेरी बीमारी भी हमारी चर्चाका एक विषय हो गई थी। मेरे भोजनके प्रयोग तो उस समय भी चल ही रहे थे। उस समय मैं मूंगफली; कच्चे और पक्के केले, नीबू, जैतूनका तेल टमाटर, अंगूर इत्यादि चीजें खाता था। दूध, अनाज, दाल, वगैरा चीजें बिलकुल न लेता था। मेरी देख-भाल जीवराज मेहता करते थे। उन्होंने मुझे दूध और अनाज लेनेपर बड़ा जोर दिया। इसकी शिकायत ठेठ गोखलेतक पहुंची। फलाहार-संबंधी मेरी दलीलोंके वह बहुत कायल न थे। तंदुरुस्तीकी हिफाजतके लिए डाक्टर जो-जो बतावे वह लेना चाहिए, यही उनका मत था।

गोखलेके आग्रहको न मानना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी। जब उन्होंने बहुत ही जोर दिया तब मैंने उनसे २४ घंटेतक विचार करनेकी इजाजत मांगी। केलनबेक और मैं घर आये। रास्तेमें मैंने उनके साथ चर्चाकी कि इस समय मेरा क्या धर्म है। मेरे प्रयोगमें वह मेरे साथ थे। उन्हें यह प्रयोग पसंद भी था। परंतु उनका रुख इस बातकी तरफ था कि यदि स्वास्थ्यके लिए मैं इस प्रयोगको छोड़ दूं तो ठीक होगा। इसलिए अब अपनी अंतरात्माकी आवाजका फैसला लेना ही बाकी रह गया था।

सारी रात मैं विचारमें डूबा रहा। अब यदि मैं अपना सारा प्रयोग छोड़ दूं तो मेरे सारे विचार और मंतव्य धूलमें मिल जाते थे। फिर उन विचारोंमे मुझे कही भी भूल न मालूम होती थी। इसलिए प्रश्न यह था कि किस अंशतक गोखलेके प्रेमके अधीन होना मेरा धर्म है, अथवा शरीर-रक्षाके लिए ऐसे प्रयोग किस तरह छोड़ देने चाहिएं। अंतको मैंने यह निश्चय किया कि धार्मिक दृष्टिसे प्रयोगका जितना अंश आवश्यक है उतना रखा जाय और शेष बातोंमें डाक्टरोंकी आज्ञाका पालन किया जाय। मेरे दूध त्यागनेमें धर्म-भावनाकी प्रधानता थी। कलकत्तेमें गाय-भैंसका दूध जिन घातक विधियों द्वारा निकाला जाता है उसका दृश्य मेरी आंखोंके सामने था। फिर यह विचार भी मेरे सामने था कि मांसकी तरह पशुका दूध भी मनुष्यकी खुराक नही हो सकती। इसलिए दूध-त्यागका दृढ़ निश्चय करके मैं सुबह उठा। इस निश्चयसे मेरा दिल बहुत हलका हो गया था, किंतु फिर भी गोखलेका भय तो था ही। किंतु साथ ही मुझे यह विश्वास था कि वह मेरे निश्चयको उलटनेका उद्योग न करेंगे।

शामको 'नेशनल लिबरल क्लब'में हम उनसे मिलने गये, उन्होंने तुरंत पूछा--"क्यों डाक्टरकी सलाहके अनुसार चलनेका निश्चय किया है न?"

मैंने धीरेसे जवाब दिया—"और सब बात मान लूंगा, परंतु आप एक बातपर जोर न दीजिएगा। दूध और दूधकी बनी चीजें और मांस, इतनी चीजें मैं न लूंगा। और इनके न लेनेसे यदि मौत भी आती हो तो मैं समझता हूं उसका स्वागत कर लेना मेरा धर्म है।"

"आपने यह अंतिम निर्णय कर लिया है?" गोखलेने पूछा।

"मैं समझता हूं कि इसके सिवा मैं आपको दूसरा उत्तर नही दे सकता। मैं जानता हूं कि इससे आपको दुःख होगा। परंतु मुझे क्षमा कीजिएगा।" मैंने जवाब दिया।

गोखलेने कुछ दुःखसे, परंतु बड़े ही प्रेमसे कहा—"आपका यह निश्चय

मुझे पसंद नहीं। मुझे इसमे धर्मकी कोई बात नही दिखाई देती। पर अब मैं इस बातपर जोर न दूंगा।" यह कहते हुए जीवराज मेहताकी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा--"अब गांधीको ज्यादा दिक न करो। उन्होंने जो मर्यादा बांध ली है उसके अंदर उन्हे जो-जो चीजें दी जा सकती है वही देनी चाहिएं।

डाक्टरने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; पर वह लाचार थे। मुझे मूंगका पानी लेनेकी सलाह दी। कहा---"उसमे हीगका बघार दे लेना।" मैंने इसे मंजूर कर लिया। एक-दो दिन मैंने वह पानी लिया भी; परंतु इससे उलटे मेरा दर्द बढ़ गया। मुझे वह मुआफिक नही हुआ। इससे मैं फिर फलाहारपर आ गया। ऊपरके इलाज तो डाक्टरने जो मुनासिब समझे किये ही। उससे अलबत्ता कुछ आराम था। परतु मेरी इन मर्यादाओंपर वह बहुत बिगड़ते। इसी बीच गोखले देस (भारत) को रवाना हुए, क्योंकि वह लंदनका अक्तूबर-नवबरका कोहरा सहन नहीं कर सके।

: ४२ :

इलाज क्या किया ?

पसलीका दर्द मिट नही रहा था। इससे मेरी चिंता बढ़ी। पर मैं इतना जरूर जानता था कि दवा-दारूसे नही, बल्कि भोजनमे परिवर्तन करनेसे और कुछ बाह्य उपचारसे बीमारी जरूर अच्छी हो जानी चाहिए।

१८९० ई०में डाक्टर एलिन्सनसे मिला था, जोकि फलाहारी थे और भोजनके परिवर्तन द्वारा ही बीमारियोंका इलाज करते थे। मैंने उन्हें बुलाया। उन्होंने आकर मेरा शरीर देखा। तब मैंने उनसे अपने दूधके विरोधका जिक्र किया। उन्होंने मुझे दिलासा दिया और कहा, "दूधकी कोई जरूरत नही। मै तो आपको कुछ दिन ऐसी ही खुराकपर

रखना चाहता हूं, जिसमें किसी तरह चर्बीका अंश न हो।" यह कहकर पहले तो मुझे सिर्फ सूखी रोटी, कच्चे शाक और फलपर ही रहनेको कहा। कच्चे शाकोंमें मूली, प्याज तथा इसी तरहकी दूसरी चीजें और सब्जी एवं फलोंमे खासकर नारंगी। इन शाकोंको कीसकर या पीसकर खानेकी विधि बताई थी। कोई तीनेक दिन इसपर रहा होऊंगा। परंतु कच्चे शाक मुझे बहुत मुआफिक नही हुए। मेरे शरीरकी हालत ऐसी नहीं थी कि वह प्रयोग विधि-पूर्वक किया जा सके, और न उस समय मेरा इस बातपर विश्वास ही था। इसके अलावा उन्होने इतनी बातें और बताईं—चौबीसों घटे खिड़की खुली रखना, रोज गुनगुने पानीसे नहाना, दर्दकी जगहपर तेल मलना और पाव-आध घंटेतक खुली हवामें घूमना। यह सब मुझे पसंद आया। घरमें खिड़कियां फ्रेंच-तर्जकी थी। उनको सारा खोल देनेसे अंदर वर्षाका पानी आता था। ऊपरका रोशनदान ऐसा नहीं था जो खुल सकता। इसलिए उसके कांच तुड़वाकर वहांसे चौबीसों घटे हवा आनेका रास्ता कर लिया। फ्रेंच खिड़कियां इतनी खुली रखता था कि जिससे पानीकी बौछारे भीतर न आने पावे।

इतना सब करनेसे स्वास्थ्य कुछ सुधरा जरूर। अभी बिलकुल अच्छा तो नहीं हो पाया था। कभी-कभी लेडी सिसिलिया राबर्ट्‌स मुझे देखने आती। उनसे मेरा अच्छा परिचय हो गया था। उनकी प्रबल इच्छा थी कि मैं दूध पिया करूं। सो तो में करता नही था। इसलिए उन्होंने दूधके गुणवाले पदार्थोंकी छान-बीन शुरू की। उनके किसी मित्रने 'माल्टेड मिल्क' बताया और अनजानमे ही उन्होंने कह दिया कि इसमे दूधका लेशमात्र नही है, बल्कि रासायनिक विधिसे बनाई दूधके गुण रखनेवाली वस्तुओंकी बुकनी है। मैं यह जान चुका था कि लेडी राबर्ट्‌स मेरी धार्मिक भावनाओंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखती थी। इस कारण मैंने उस बुकनीको पानीमे डालकर पिया तो मुझे उसमें दूध जैसा ही स्वाद आया। अब मैंने 'पानी पीकर जात पूछने' जैसी बातकी। पी चुकनेके बाद बोतलपर लगी चिटको पढ़ा तो

मालूम हुआ कि यह तो दूधकी ही बनावट है। इसलिए एक ही बार पीकर उसे छोड़ देना पड़ा। लेडी राबर्ट्सको मैंने इसकी खबर की और लिखा कि आप जरा भी चिंता न करें। सुनते ही वह मेरे घर दौड़ आईं और इस भूलपर बड़ा अफसोस प्रकट किया। उनके मित्रने बोतलवाली चिट पढ़ी ही नही थी। मैंने इस भली बहनको तसल्ली दी और इस बातके लिए उनसे माफी मांगी कि जो चीज इतने कष्टके साथ आपने भिजवाई, उसे मैं ग्रहण न कर सका। और मैंने उनसे यह भी कह दिया कि मैंने तो अनजानमे यह बुकनी ली है सो इसके लिए मुझे पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करनेका कोई कारण नही है।

लेडी राबर्ट्सके साथके और भी मधुर सस्मरण है तो, पर उन्हें मैं यहां छोड़ ही देना चाहता हूं। ऐसे तो बहुत-से संस्मरण है जिनका महान् आनंद मुझे बहुत विपत्तियों और विरोधमे भी मिल सका है। श्रद्धावान् मनुष्य ऐसे मीठे संस्मरणोंमें यह देखता है कि ईश्वर जिस तरह दुःख-रूपी कड़ुवी औषध देता है उसी तरह वह मैत्रीके मीठे अनुपान भी उसके साथ देता है।

दूसरी बार जब डाक्टर एलिन्सन देखने आये तो उन्होंने और भी चीजोंके खानेकी छुट्टी दी और शरीरमे चर्बी बढ़ानेके लिए मूगफली आदि सूखे मेवोंके बीजोंका मक्खन अथवा जैतूनका तेल लेनेके लिए कहा। कच्चे शाक मुआफिक न हो तो उन्हें पकाकर चावलके साथ लेनेकी सलाह दी। यह तजवीज मुझे बहुत मुआफिक हुई।

परंतु बीमारी अभी निर्मूल न हुई थी। सम्हाल रखनेकी जरूरत तो अभी थी ही। अभी बिछौने पर ही पड़ा रहना पड़ता था। डाक्टर मेहता बीच-बीचमे आकर देख जाया करते थे। और जब आते तभी कहा करते—"अगर मेरा इलाज कराओ तो देखते-देखते आराम हो जाय।"

यह सब हो रहा था कि एक रोज मि० राबर्ट्स मेरे घर आये और मुझे जोर देकर कहा कि आप देस चले जाओ। उन्होंने कहा, 'ऐसी हालतमें आप नेटली हर्गिज नही जा सकते। कड़ाकेका जाड़ा तो अभी

आगे आनेवाला है। मैं तो आग्रहके साथ कहता हूं कि आप देश चले जायं और वहां जाकर चंगे हो जायंगे। तबतक यदि युद्ध जारी रहा तो उसमें मदद करनेके और भी बहुत अवसर मिल जायंगे। नहीं तो जो कुछ आपने यहां किया है उसे भी मैं कम नहीं समझता।"

मुझे उनकी यह सलाह अच्छी मालूम हुई और मैंने देश जानेकी तैयारी की।

: ४३ :

बिदा

मि० केलनबेक देस जानेके निश्चयसे हमारे साथ रवाना हुए थे। विलायतमें हम साथ ही रहते थे। युद्ध शुरू हो जानेके कारण जर्मन लोगोंपर खूब कड़ी देख-रेख थी और हम सबको इस बातपर शक था कि केलनबेक हमारे साथ आ सकेंगे या नहीं। उनके लिए पास प्राप्त करनेका मैंने बहुत प्रयत्न किया। मि० राबर्ट्स खुद उन्हें पास दिला देनेकेलिए रजामंद थे। उन्होंने सारा हाल तार द्वारा वाइसरायको लिखा, परंतु लार्ड हार्डिजका सीधा और सूखा जवाब आया—"हमें अफसोस है; हम इस समय किसी तरह जोखिम उठानेके लिए तैयार नहीं हैं।" हम सबने इस जवाबके औचित्यको समझा। केलनबेकके वियोगका दुःख तो मुझे हुआ ही, परंतु मैंने देखा कि मेरी अपेक्षा उनको ज्यादा हुआ। यदि वे भारतवर्षमें आ सके होते तो आज एक बढ़िया किसान और बुनकरका सादा जीवन व्यतीत करते होते। अब वह दक्षिण अफ्रिकामें अपना वही असली जीवन व्यतीत करते हैं और स्थपति (मकान बनानेवाले) का धंधा मजेसे कर रहे हैं।

हमने तीसरे दरजेका टिकट लेनेकी कोशिश की; परंतु 'पी एंड ओ'के जहाजमें तीसरे दरजेका टिकट नहीं मिलता था, इसलिए दूसरे दरजेका

लेना पड़ा। दक्षिण अफ्रिकासे हम कितना ही ऐसा फलाहार साथ बांध लाये थे जो जहाजोंमें नहीं मिल सकता। वह हमने साथ रख लिया था और दूसरी चीजें जहाजमें मिलती ही थीं।

डाक्टर मेहताने मेरे शरीरको मीड्स प्लास्टरके पट्टेसे बांध दिया था और मुझे कहा था कि पट्टा बंधा रहने देना। दो दिनके बाद वह मुझे सहन न हो सका और बड़ी मुश्किलके बाद मैंने उसे उतारा और नहाने-धोने भी लगा। मुख्यत: फल और मेवेके सिवाय और कुछ नही खाता था। इससे तबियत दिन-दिन सुधरने लगी और स्वेजकी खाड़ीमें पहुचने-तक तो अच्छी हो गई। यद्यपि इससे शरीर कमजोर हो गया था फिर भी बीमारीका भय मिट गया था। और मैं रोज धीरे-धीरे कसरत बढ़ाता गया। स्वास्थ्यमें यह शुभ परिवर्तन तो मेरा यह ख्याल है कि समशीतोष्ण हवाकी बदौलत ही हुआ।

पुराने अनभव अथवा और किसी कारणसे हो, अंग्रेज यात्रियों और हमारे अंदर जो अंतर मैं यहां देख पाया वह दक्षिण अफ्रिकासे आते हुए भी नहीं देखा था। वहां भी अंतर तो था, परंतु यहां उससे और ही प्रकारका भेद दिखाई दिया। किसी-किसी अंग्रेजके साथ बातचीत होती; परंतु वह भी 'साहब-सलामत'से आगे नहीं। हार्दिक भेंट नहीं होती थी। किंतु दक्षिण अफ्रिकाके जहाजोंमें और दक्षिण अफ्रिकामें हार्दिक भेंट हो सकती थी। इस भेदका कारण तो मैं यही समझा कि इधरके जहाजोंमें अंग्रेजोंके मनमें यह भाव कि 'हम शासक हैं' और हिंदुस्तानियोंके मनमें यह भाव कि 'हम गैरोंके गुलाम हैं' जानमें या अनजानमें काम कर रहा था।

ऐसे वातावरणमेंसे जल्दी छूटकर देस पहुंचनेके लिए मैं आतुर हो रहा था। अदन पहुंचनेपर ऐसा भास हुआ मानो थोड़े-बहुत घर आ गये हैं। अदनवालोके साथ दक्षिण अफ्रिकामें ही हमारा अच्छा सबंध बंध गया था; क्योंकि भाई कैकोबाद कावसजी दीनशा डरबन आ गये थे और उनके तथा उनकी पत्नीके साथ मेरा अच्छा परिचय हो चुका था। थोड़े ही दिनमें हम बंबई आ पहुंचे। जिस देशमें मैं १९०५में लौटनेकी

आशा रखता था वहां १० वर्ष बाद पहुचनेसे मेरे मनको बड़ा आनंद हो रहा था। बंबईमें गोखलेने सभा वगैराका प्रबंध कर ही डाला था। उनकी तबियत नाजुक थी। फिर भी वह बंबई आ पहुंचे थे। उनकी मुलाकात करके उनके जीवनमें मिलकर अपने सिरका बोझ उतार डालनेकी उमंगसे मैं बंबई पहुचा था, परंतु विधाताने कुछ और ही रचना रच रखी थी।

'मेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।'

: ४४ :

वकालतकी कुछ स्मृतियां

हिंदुस्तानमें आनेके बाद मेरे जीवनका प्रवाह किस ओर किस तरह बहा—इसका वर्णन करनेके पहले कुछ ऐसी बातोंका वर्णन करनेकी जरूरत मालूम होती है, जो मैंने जान-बूझकर छोड़ दी थी। कितने ही वकील मित्रोंने चाहा है कि मैं अपने वकालतके दिनोंके और एक वकीलकी हैसियतसे अपने कुछ अनुभव सुनाऊं। अनुभव इतने ज्यादा हैं कि यदि सबको लिखने बैठूं तो उन्हींसे एक पुस्तक भर जायगी। परंतु ऐसे वर्णन इस पुस्तकके विषयकी मर्यादाके बाहर चले जाते हैं। इसलिए यहां केवल उन्हीं अनुभवोंका वर्णन करना कदाचित् अनुचित न होगा, जिनका संबंध सत्यसे है।

जहांतक मुझे याद है, मैं यह बता चुका हूं कि वकालत करते हुए मैंने कभी असत्यका प्रयोग नहीं किया और वकालतका एक बड़ा हिस्सा केवल लोक-सेवाके लिए ही अर्पित कर दिया था एवं उसके लिए मैं जेब-खर्चसे अधिक कुछ नही लेता था और कभी-कभी तो वह भी छोड़ देता था। मैं यह मानकर चला था कि इतनी प्रतिज्ञा इस विभागके लिए

काफी है। परंतु मित्र लोग चाहते हैं कि इससे भी कुछ आगेकी बातें लिखूं, क्योंकि उनका खयाल है कि यदि मैं ऐसे प्रसंगोंका थोड़ा-बहुत भी वर्णन करूं कि जिनमें मैं सत्यकी रक्षा कर सका, तो उससे वकीलोंको कुछ जानने योग्य बातें मिल जायंगी।

मै अपने विद्यार्थी-जीवनसे ही यह बात सुनता आ रहा हू कि वकालतमें विना भूठ बोले काम नहीं चल सकता। परतु मुझे तो झूठ बोलकर न तो कोई पद प्राप्त करना था न कुछ धन जुटाना था। इसलिए इन बातोंका मुझपर कोई प्रभाव नही पड़ता था।

दक्षिण अफ्रिकामे इसकी कसौटीके मौके बहुत बार आये। मै जानता था कि हमारे विपक्षके गवाह सिखा-पढ़ाकर लाये गये है और मै यदि थोड़ा भी अपने मवक्किलको या गवाहको भूठ बोलनेमे उत्साहित करूं तो मेरा मवक्किल जीत सकता है; परंतु मैंने हमेशा इस लालचको पास नहीं फटकने दिया। ऐसे एक ही प्रसंगका स्मरण मुझे होता है कि जब अपने मवक्किलकी जीत हो जानेके बाद मुझे ऐसा शक हुआ कि उसने मुझे धोखा दिया। मेरे अंतःकरणमें भी हमेशा यही भाव रहा करता कि यदि मेरे मवक्किलका पक्ष सच्चा हो तो उसकी जीत हो और भूठा हो तो उसकी हार हो। मुझे यह नहीं याद पड़ता कि मैंने अपनी फीसकी दर मामलेकी हार-जीतपर निश्चित की हो। मवक्किलकी हार हो या जीत, मै तो हमेशा मिहनताना ही मांगता और जीत होनेके बाद भी उसीकी आशा रखता। मवक्किलको भी पहले ही कह देता कि यदि मामला झूठा हो तो मेरे पास न आना। गवाहोंको बनानेका काम करनेकी आशा मुझसे न रखना। आगे जाकर तो मेरी ऐसी साख बढ़ गई थी कि कोई भूठा मामला मेरे पास लाता ही नही था। ऐसे मवक्किल भी मेरे पास थे जो अपने सच्चे मामले ही मेरे पास लाते और जिनमे जरा भी गंदगी होती तो वे दूसरे वकीलके पास ले जाते।

एक ऐसा समय भी आया था कि जिसमें मेरी बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। एक मेरे अच्छे-से-अच्छे मवक्किलका मामला था। उसमें जमा-

खर्चकी बहुतेरी उलझनें थीं। बहुत समयसे मामला चल रहा था। कितनी ही अदालतोंमें उसके कुछ-कुछ हिस्से गये थे। अंतकी अदालत द्वारा नियुक्त हिसाब-परीक्षक पंचोंके जिम्मे उसका हिसाब सौंपा गया था। पंचके ठहरावके अनुसार मेरे मवक्किलकी पूरी जीत होती थी; परंतु उसके हिसाबमें एक छोटी-सी परंतु भारी भूल रह गई थी। जमा-नामेकी रकम पंचकी भूलसे उलटी लिख दी गई थी। विपक्षीने इस पंचके फैसलेको रद्द करनेकी दरख्वास्त दी थी। अपने मवक्किलकी तरफसे मैं छोटा वकील था। बड़े वकीलने पंचकी भूल देख ली थी; परंतु उनकी राय यह थी कि पंचकी भूल कबूल करनेके लिए मवक्किल बाध्य नहीं था; उनकी यह साफ राय थी कि अपने खिलाफ जाने वाली किसी बातको मंजूर करनेके लिए कोई वकील बाध्य नहीं है। पर मैंने कहा, इस मामलेकी भूल तो हमें कबूल करनी ही चाहिए।

बड़े वकीलने कहा—"यदि ऐसा करें तो इस बातका पूरा अंदेशा है कि अदालत इस सारे फैसलेको रद्द कर दे और कोई भी समझदार वकील अपने मवक्किलको ऐसी जोखिम मे नहीं डालेगा। मै तो ऐसी जोखिम उठानेके लिए कभी तैयार न होऊंगा। यदि मामला उलट जाय तो मवक्किलको कितना खर्च उठाना पड़े और अंतको कौन कह सकता है कि नतीजा क्या हो?"

इस बातचीतके समय हमारे मवक्किल भी मौजूद थे।

मैंने कहा, "मै तो समझता हूं कि मवक्किलको और हम लोगोंको ऐसी जोखिम जरूर उठानी चाहिए। फिर इस बातका भी क्या भरोसा कि अदालतको भूल मालूम हो जाय और हम उसे मंजूर न करें तो भी वह भूल-भरा फैसला कायम ही रहेगा और यदि भूल सुधरते हुए मव-क्किलको नुकसान सहना पड़े तो क्या हर्ज है!"

"पर यह तो तभी न होगा जब हम भूल कबूल करें!" बड़े वकील बोले।

"हम यदि मंजूर न करें तो भी अदालत उसे न पकड़ लेगी अथवा

विपक्षी भा उसको न देख लेंगे इस बातका क्या निश्चय ?" मैंने उत्तर दिया।

"तो इस मुकद्दमेमें आप बहस करने जायंगे ? भूल मंजूर करनकी शर्तपर मैं बहस करनेके लिए तैयार नहीं।" बड़े वकीलने दृढ़ताके साथ कहा।

मैंने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया, "यदि आप न जायंगे और मवक्किल चाहेंगे तो मैं जानेके लिए तैयार हूं। यदि भूल कबूल न की जाय तो इस मुकद्दमेमें मेरे लिए काम करना असंभव है।"

इतना कहकर मैंने मवक्किलके मुंहकी ओर देखा। वह जरा चितामें पड़े। क्योंकि इस मुकदमेमें मैं शुरूसे ही था और उनका मुझपर पूरा-पूरा विश्वास था। वह मेरी प्रकृतिसे भी पूरे-पूरे वाकिफ थे। इसलिए उन्होंने कहा—"तो अच्छी बात है, आप ही बहस करने जाइए। शौकसे भूल मान लीजिए। हार ही नसीबमें लिखी होगी तो हार जायंगे। आखिर सांचको आंच क्या ?"

यह देखकर मुझे बड़ा आनंद हुआ। मैंने दूसरे उत्तरकी आशा ही नहीं रखी थी। बड़े वकीलने मुझे खूब चेताया और मेरी 'हठधर्मी'के लिए मुझपर तरस खाया और साथ ही धन्यवाद भी दिया।

अब अदालतमे क्या हुआ सो अगले अध्यायमें।

: ४५ :

चालाकी ?

मेरी इस सलाहके औचित्यके विषयमें मेरे मनमें बिलकुल संदेह न था; परंतु इस बातकी मेरे मनमें जरूर हिचकिचाहट थी कि मैं इस मुकदमेमें योग्यता-पूर्वक बहस कर सकूंगा या नहीं। जोखिमवाले मुकदमेमें

बड़ी अदालतमें मेरा बहस करनेके लिए जाना मुझे बहुत भयावह मालूम हुआ। मैं मनमे बहुत डरते और कांपते हुए न्यायाधीशोंके सामने खड़ा रहा। ज्योंही इस भूलकी बात निकली, त्योंही एक न्यायाधीश कह बैठे—

"क्या यह चालाकी नही है ?"

यह सुनकर मेरी त्यौरी बदली। जहां चालाकीकी बू तक नहीं थी वहां उसका शक आना मुझे असह्य मालूम हुआ। मैंने मनमे सोचा कि जहां पहलेसे ही न्यायाधीशका खयाल खराब है, वहां इस कठिन मामलेमें कैसे जीत होगी ?

पर मैंने अपने गुस्सेको दबाया और शांत होकर जवाब दिया—

"मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बातें सुननेसे पहले ही चालाकीका इलजाम लगाते हैं !"

"मै इलजाम नही लगाता, सिर्फ अपनी शंका प्रकट करता हूं।" वह न्यायाधीश बोले।

"आपकी यह शंका ही मुझेतो इलजाम जैसी मालूम होती है। मेरी सब बातें पहले सुन लीजिए और फिर यदि कही शंकाके लिए जगह हो तो आप अवश्य शंका उठावे"—मैंने उत्तर दिया।

"मुझे अफसोस है कि मैंने आपके बीचमें बाधा डाली। आप अपना स्पष्टीकरण कीजिए।" शांत होकर न्यायाधीश बोले।

मेरे पास स्पष्टीकरणके लिए पूरा-पूरा मसाला था। मामलेकी शुरुआतमें ही शंका उठ खडी हुई और मै जजको अपनी दलीलका कायल कर सका। इससे मेरा हौसला बढ़ गया। मैंने उसे सब बातें ब्योरेवार समझाई। जजने मेरी बात धीरजके साथ सुनी और अंतको वह समझ गये कि यह भूल महज भूल ही थी और बड़े परिश्रमसे तैयार किये इस हिसाबको रद्द करना उन्हें अच्छा न मालूम हुआ।

विपक्षके वकीलको तो यह विश्वास ही था कि इस भूलके मान लिये जानेपर तो उन्हें बहुत बहस करनेकी जरूरत न रहेगी। परंतु न्याया-धीश ऐसी भूलके लिए, जो स्पष्ट हो गई है और सुधर सकती है, पंचके

फैसलेको रद्द करनेके लिए बिलकुल तैयार न थे। विपक्षके वकीलने बहुत माथा-पच्ची की, परंतु जिस जजने शंका उठाई थी वही मेरे हिमायती हो बैठे।

"मि० गांधीने भूल न कबूलकी होती तो आप क्या करते?" न्यायाधीशने पूछा।

"जिन हिसाब-विशारदोंको हमने नियुक्त किया उससे अधिक होशियार या ईमानदार विशेषज्ञोंको हम कहांसे ला सकते हैं?"

"हमे मानना होगा कि आप अपने मुकदमेकी असलियत अच्छी तरह जानते हैं। बड़े-से-बड़े हिसाबके अनुभवी भूल कर सकते हैं। और इस भूलके अलावा यदि कोई दूसरी भूल बता सकें तो फिर कानूनकी कमजोर बातोंका सहारा लेकर अदालत दोनों फरीकैनको फिरसे खर्चमें डालनेके लिए तैयार नही हो सकती। और यदि आप कहें कि अदालत ही फिर नये सिरेसे इस मुकद्दमेकी सुनवाई करे तो यह नहीं हो सकता।"

इन तथा इस तरहकी दूसरी दलीलोंसे वकीलको शांत करके उस भूलको सुधारकर फिर अपना फैसला भेजनेका हुक्म पंचके नाम लिखकर न्यायाधीशने उस सुधारे हुए फैसलेको कायम रखा।

इससे मेरे हर्षका पार न रहा। क्या मेरे मवक्किल और क्या बड़े वकील दोनों खुश हुए और मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि वकालतमें भी सत्यका पालन करके सफलता मिल सकती है।

परंतु पाठक इस बातको न भूले कि जो वकालत पेशेके तौरपर की जाती है उसकी मूलभूत बुराइयोंको यह सत्यकी रक्षा छिपा नहीं सकती।

: ४६ :

मवक्किल साथी बने

नेटाल और ट्रांसवालकी वकालतमें भेद था। नेटालमें एड्वोकेट और अटर्नी ये दो विभाग होते हुए भी दोनों तमाम अदालतोंमें एक साथ वकालत कर सकते थे। परंतु ट्रांसवालमें बंबईकी तरह भेद था। वहां एडवोकेट मवक्किल संबंधी सारा काम अटर्नीके मार्फत ही कर सकता था। नेटालमें मैंने एडवोकेटकी सनद ली थी और ट्रांसवालमें अटर्नीकी। यदि एडवोकेटकी ली होती तो मैं तो वहांके हिंदुस्तानियोंके सीधे संपर्कमें न आ पाता और दक्षिण अफ्रिकामें ऐसा वातावरण भी नहीं था कि गोरे अटर्नी मुझे मुकदमे ला-लाकर देते।

ट्रांसवालमें इस तरह वकालत करते हुए मजिस्ट्रेटकी अदालत में बहुत बार जा सकता था। ऐसा करते हुए एक मौका ऐसा आया कि मुकदमेकी सुनवाईके बीचमें मुझे पता चला कि मवक्किलने मुझे धोखा दिया है। उसका मुकदमा झूठा था। वह कटघरेमें खड़ा हुआ तो मानो गिरा पड़ता था। इससे मैं मजिस्ट्रेटको यह कहकर बैठ गया कि आप मेरे मवक्किलके खिलाफ फैसला दीजिए। विपक्षका वकील यह देखकर दंग रह गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मैंने मवक्किलको बड़ा उलाहना दिया। क्योंकि उसे पता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता था। उसने भी यह बात मंजूर की और मैं समझता हूं कि उसके खिलाफ फैसला होनेसे वह मुझसे नाराज नहीं हुआ। जो हो। पर इतना जरूर है कि मेरे सत्य-व्यवहारका कोई बुरा असर पेशे पर नहीं हुआ और अदालतमें मेरा काम बड़ा सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्य-पूजाका बदौलत वकील-बंधुओंमें भी मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी और परिस्थितिकी

विचित्रताके रहते हुए भी मैं उनमेंसे कितनोंकी ही प्रीति संपादन कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने अपनी एक ऐसी आदत भी डाल ली थी कि मैं अपना अज्ञान न मवक्किलसे छिपाता न वकीलोंसे। जहां बात मेरी समझमें नहीं आती वहां मैं मवक्किलको दूसरे वकीलोंके पास जानेको कहता अथवा यदि वे मुझे ही वकील बनाते तो अधिक अनुभवी वकीलकी सलाह लेकर काम करनेकी प्रेरणा करता। अपने इस शुद्ध-भावकी बदौलत मैं मवक्किलोंका अटूट प्रेम और विश्वास संपादन कर सका था। बड़े वकीलोंकी फीस भी वे खुशी-खुशी देते थे।

इस विश्वास और प्रेमका पूरा-पूरा लाभ मुझे सार्वजनिक कामोंमें मिला।

पिछले अध्यायोंमें यह बता चुका हूं कि दक्षिण अफ्रिकामें वकालत करनेमें मेरा हेतु केवल लोक-सेवा था। इससे सेवा-कार्यके लिए भी मुझे लोगोंका विश्वास प्राप्त कर लेनेकी आवश्यकता थी। परंतु वहांके उदार-हृदय भारतीय भाइयोंने फीस लेकर की हुई वकालतको भी सेवाका ही गौरव प्रदान किया और जब उन्हें उनके हकोंके लिए जेल जाने और वहांके कष्टोंके सहन करनेकी सलाह मैंने दी तब उसको अंगीकार उनमेंसे बहुतोंने ज्ञान-पूर्वक करने की अपेक्षा मेरे प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेमके कारण ही अधिक किया था।

यह लिखते हुए वकालतके समयका कितनी ही मीठी बातें कलममें भर रही है। सैकड़ों मवक्किल मित्र बन गये, सार्वजनिक सेवामें मेरे सच्चे साथी बने, और उन्होंने मेरे कठिन जीवनको रस-मय बना डाला था।

: ४७ :

मवक्किल जेलसे कैसे बचा ?

पारसी रुस्तमजीके नामसे इन अध्यायोंके पाठक भली-भांति परिचित है। पारसी रुस्तमजी मेरे मवक्किल, और सार्वजनिक कार्यमे साथी, एक ही साथ बने; बल्कि यह कहना चाहिए कि पहले साथी बने और बादको मवक्किल। उनका विश्वास तो मैंने इस हदतक प्राप्त कर लिया था कि वह अपनी घरू और खानगी बातोमें भी मेरी सलाह मांगते और उसका पालन करते। उन्हें यदि कोई बीमारी भी हो तो वह मेरी सलाहकी जरूरत समझते और उनके और मेरे रहन-सहनमे बहुत-कुछ भेद रहनेपर भी वह खुद मेरा उपचार करते।

मेरे इस साथीपर एक बार बड़ी भारी विपत्ति आ गई थी। हालांकि वह अपनी व्यापार-सबंधी भी बहुत-सी बातें मुझसे किया करते थे, फिर भी एक बात मुझसे छिपा रखी थी। वह चुंगी चुरा लिया करते थे। बंबई-कलकत्तेसे जो माल मंगाते उसकी चुंगीमे चोरी कर लिया करते थे। तमाम अधिकारियोसे उनका राह-रसूख अच्छा था। इसलिए किसीको उनपर शक नही होता था। जो बीजक वह पेश करते उसीपर से चुंगीकी रकम जोड़ ली जाती। शायद कुछ कर्मचारी ऐसे भी होंगे, जो उनकी चोरीकी ओरसे आंखे मूंद लेते हों।

परंतु आखा भगतकी यह वाणी कही झूठी हो सकती है ?—

"काचो पारो खावो अन्न, तेवुं छे चोरी नुं धन।"

(यानी कच्चा पारा खाना और चोरीका धन खाना बराबर हैं।)

एक बार पारसी रुस्तमजीकी चोरी पकड़ी गई। तब वह मेरे पास दौड़े आये। उनकी आखोंसे आंसू निकल रहे थे। मुझसे कहा—"भाई, मैंने तुमको धोखा दिया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मै चुगीकी

चोरी करता रहा हूं। अब तो मुझे जेल भोगनेके सिवा दूसरी गति नहीं है। बस, अब मैं बरबाद हो गया। इस आफतमेंसे तो आप ही मुझे बचा सकते हैं। मैंने वैसे आपसे कोई बात छिपा नही रखी है; परंतु यह समझकर कि यह व्यापारकी चोरी है, इसका जिक्र आपसे क्या करूं, यह बात मैंने आपसे छिपाई थी। अब इसके लिए पछताता हूं।"

मैंने उन्हें धीरज और दिलासा देकर कहा—"मेरा तरीका तो आप जानते ही हैं। छुड़ाना-न-छुड़ाना तो खुदाके हाथ है। मैं तो आपको उसी हालतमें छुड़ा सकता हूं जब आप अपना गुनाह कबूल कर लें।"

यह सुनकर उस भले पारसीका चेहरा उतर गया।

"परंतु मैंने आपके सामने कबूल कर लिया, इतना ही क्या काफी नहीं है ?" रुस्तमजी सेठने पूछा।

"आपने कसूर तो सरकारका किया है, तो मेरे सामने कबूल करनेसे क्या होगा ?" मैंने धीरेसे उत्तर दिया।

"अंतको तो मै वही करूंगा; जो आप बतावेंगे; परतु मेरे पुराने वकील-की भी तो सलाह ले लें, वह मेरे मित्र भी हैं।" पारसी रुस्तमजीने कहा।

अधिक पूछ-ताछ करनेसे मालूम हुआ कि यह चोरी बहुत दिनोसे होती आ रही थी। जो चोरी पकड़ी गई थी वह तो थोड़ी ही थी। पुराने वकीलके पास हम लोग गये। उन्होंने सारी बात सुनकर कहा कि "यह मामला जूरीके पास जायगा। यहांके जूरी हिंदुस्तानीको क्यों छोड़ने लगे ? पर मैं निराश होना नही चाहता।"

इन वकीलके साथ मेरा गाढ़ा परिचय न था। इसलिए पारसी रुस्तमजीने ही जवाब दिया—"इसके लिए आपको धन्यवाद है। परंतु इस मुकदमेमें मुझे मि० गांधीका सलाहके अनुसार काम करना है। वह मेरी बातोंको अधिक जानते हैं। आप जो कुछ सलाह देना मुनासिब समझें हमे देते रहिएगा।"

इस तरह थोड़ेमें समेटकर हम रुस्तमजी सेठकी दूकानपर गये।

मैंने उन्हें समझाया—"मुझे वह मामला अदालतमें जाने लायक नहीं

दिखाई देता। मुकदमा चलाना-न-चलाना चुंगी अफसरके हाथमें है। उसे भी सरकारके प्रधान वकीलकी सलाहसे काम करना होगा। मैं इन दोनोंके लिए तैयार हूं, परंतु मुझे तो उनके सामने यह चोरीकी बात कबूल करनी पड़ेगी, जो कि वे अभी तक नहीं जानते हैं। मैं तो यह सोचता हूं कि जो जुरमाना वे तजवीज कर दें उसे मंजूर कर लेना चाहिए। बहुत मुमकिन है कि वे माने जायंगे। परंतु यदि न मानें तो फिर आपको जेल जानेके लिए तैयार रखना होगा। मेरी राय तो यह है कि लज्जा जेल जानेमें नहीं, बल्कि चोरी करनेमें है। अब लज्जाका काम तो हो चुका; यदि जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त ही समझना चाहिए। सच्चा प्रायश्चित्त तो यह है कि अब आगेसे ऐसी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए।" मैं यह नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इन सब बातोंको ठीक-ठीक समझ गये हों। वह बहादुर आदमी थे। पर इस समय हिम्मत हार गये थे। उनकी इज्जत बिगड़ जानेका मौका आ गया था और उन्हें यह भी डर था कि खुद मिहनत करके जो यह इमारत खड़ी की थी वह कहीं सारी-की-सारी न ढह जाय।

उन्होंने कहा—"मैं तो आपसे कह चुका हूं कि मेरी गर्दन आपके हाथमें है। जैसा आप मुनासिब समझें वैसा करें।"

मैंने इस मामले में अपनी सारी कला और सौजन्य खर्च कर डाला। चुंगीके अफसरसे मिला, चोरीकी सारी बात मैंने नि:शंक होकर उनसे कह दी, यह भी कह दिया कि "आप चाहे तो सब कागज-पत्र देख लीजिए। पारसी रुस्तमजीको इस घटना पर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है।"

अफसरने कहा—"मैं इस पुराने पारसीको चाहता हूं। उसने की तो यह बेवकूफी है; पर इस मामलेमें मेरा फर्ज क्या है, सो आप जानते हैं। मुझे तो प्रधान वकीलकी आज्ञाके अनुसार करना होगा। इसलिए आप अपनी समझानेकी सारी कलाका जितना उपयोग कर सकें वहां करें।"

यदि पारसी रुस्तमजीको अदालतमें घसीट ले जानेपर जोर न दिया जाय तो मेरे लिए बस है।"

इस अफसरसे अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकीलके साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया और उनसे मिला भी। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्य-प्रियताको उन्होंने देख लिया और उनके सामने मैं यह सिद्ध कर सका कि मैं कोई बात उनसे छिपाता नहीं था। इस अथवा किसी दूसरे मामलेमें उनसे साबका पड़ा तो उन्होंने मुझे यह प्रमाण-पत्र दिया था—"देखता हूं कि आप जवाबमें 'ना' तो लेना ही नहीं जानते।"

रुस्तमजीपर मुकदमा नहीं चलाया गया। हुक्म हुआ कि जितनी चोरी पारसी रुस्तमजीने कबूल की है उसके दूने रुपये उनसे ले लिये जायं और उनपर मुकदमा न चलाया जाय।

रुस्तमजीने अपनी इस चुंगी-चोरी का किस्सा लिखकर कांचमें जड़ाकर अपने दफ्तरमें टांग दिया और अपने वारिसों तथा साथी व्यापारियोंको ऐसा न करनेके लिए खबरदार कर दिया। रुस्तमजी सेठके व्यापारी मित्रोंने मुझे सावधान किया कि यह सच्चा वैराग्य नहीं, स्मशान-वैराग्य है।

पर मैं नहीं कह सकता कि इस बातमें कितनी सत्यता होगी। जब मैंने यह बात रुस्तमजी सेठसे कही तो उन्होंने जवाब दिया कि आपको धोखा देकर मैं कहां जाऊंगा।

पांचवां भाग

: १ :

पहला अनुभव

मेरे देश पहुंचनेसे पहले ही फिनिक्ससे देश पहुचनेवाले लोग वहां पहले पहुंच चुके थे। हिसाव तो हम लोगोंने यह लगाया था कि मैं उनसे पहले पहुंच जाऊंगा, परतु मैं महायुद्धके कारण लंदनमें रुक गया था, इसलिए मेरे सामने सवाल यह था कि फिनिक्स-वासियोंको रखूं कहां ? मैं चाहता तो यह था कि सब एकसाथ ही रह सकें और फिनिक्स-आश्रमका जीवन विता सकें तो अच्छा। किसी आश्रमके संचालकसे मेरा परिचय भी नहीं था कि जिससे मैं उन्हे वहां जानेके लिए लिख देता। इसलिए मैंने उन्हें लिखा था कि वे एंड्रूज साहवसे मिलकर उनकी सलाहके मुताविक काम करें।

पहले वे कांगड़ी-गुरुकुलमें रखे गये। वहां स्वर्गीय श्रद्धानंदजीने उन्हें अपने बच्चोंकी तरह रखा। उसके बाद वे शांति-निकेतनमें रखे गये, जहां कविवरने और उनके समाजने उनपर उतनी ही प्रेम-वृष्टि की। इन दो स्थानोंपर जो अनुभव उन्हें मिला वह उनके तथा मेरे लिए बड़ा उपयोगी साबित हुआ।

कविवर, श्रद्धानंदजी और श्री सुशील रुद्रको मैं एंड्रूजकी 'त्रिमूर्ति' मानता था। दक्षिण अफ्रिकामें वह इन तीनोंकी स्तुति करते हुए थकते नहीं थे। दक्षिण अफ्रिकामें हमारे स्नेह-सम्मेलनकी बहुत-सी स्मृतियोंमें यह सदा मेरी आंखोंके सामने नाचा करती है कि इन तीन महापुरुषोंके

नाम तो उनके हृदयमें और ओठोंपर रहते ही थे। सुशील रुद्रके परिचयमें भी एंड्रूजने मेरे बच्चोंको ला दिया था। रुद्रके पास कोई आश्रम नहीं था, उनका अपना घर ही था; परंतु उस घरका कब्जा उन्होने मेरे इस परिवारको दे दिया था। उनके बाल-बच्चे इनके साथ एक ही दिनमें इतने हिल-मिल गये थे कि ये फिनिक्सको भूल गये।

जिस समय मैं बंबई बंदरपर उतरा तो वहां मुझे खबर हुई कि उन दिनों यह परिवार शांति-निकेतनमें था। इसलिए गोखलेसे मिलकर मै वहां जानेके लिए अधीर हो रहा था।

बबंईमें स्वागत-सत्कारके समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था। मि० पेटिटके यहां मेरे निमित्त स्वागत-सभा की गई थी। वहां तो स्वागतका उत्तर गुजरातीमे देनेकी मेरी हिम्मत न हुई। इस महलमे और आंखोंको चौंधिया देनेवाले वहांके ठाट-बाटमे मै, जो गिरमिटियोंके सहवासमे रहा था, देहातके एक गंवारकी तरह मालूम होता था। आज जिस तरहकी वेष-भूषा मेरी है, उससे तो उस समयका अंगरखा, साफा इत्यादि अधिक सभ्य पहनावा कहा जा सकता है। फिर भी उस अलकृत समाजमें मैं एक बिलकुल अलग आदमी मालूम होता था; परंतु वहां तो मैंने ज्यों-त्यों करके अपना काम चलाया और फिरोजशाह मेहताकी छायामे जैसे-तैसे आश्रय लिया।

ऐसे अवसरपर गुजराती लोग भला मुझे क्यो छोड़ने लगे? स्वर्गीय उत्तमलाल त्रिवेदीने भी एक सभा निमंत्रित की थी। इस सभाके संबंधमे कुछ बाते मैंने पहले ही जान ली थी। गुजराती होनेके कारण मि० जिना भी उसमे आये थे। वह सभापति थे या प्रधान वक्ता थे, यह बात मैं भूल गया हू। उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेजीमे किया और मुझे ऐसा याद पड़ता है कि और लोगोके भाषण अंग्रेजीमे ही हुए थे; परंतु जब मेरे बोलनेका अवसर आया तब मैंने अपना जवाब गुजराती मे ही दिया और गुजराती तथा हिंदुस्तानी भाषा-विषयक अपना पक्षपात मैंने वहां थोडे शब्दोंमे प्रकट किया। इस प्रकार गुजरातियोकी सभामें

अंग्रेजी भाषाके प्रयोगके प्रति मैंने अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया। ऐसा करते हुए मेरे मनमें संकोच तो बड़ा होता था। बहुत समयतक देससे बाहर रहनेके बाद जो शख्स स्वदेशको लौटता है वह, देसकी बातोंसे अपरिचित आदमी, यदि प्रचलित प्रथाके विपरीत आचरण करे, तो यह अविवेक तो न होगा, यह शंका मनमें बराबर आया करती थी; परंतु गुजरातीमें जो मैंने उत्तर देनेका साहस किया उसका किसीने उलटा अर्थ नहीं लगाया और मेरे विरोधको सबने सहन कर लिया, यह देखकर मुझे आनंद हुआ और इसपरसे मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरे दूसरे, नये-से प्रतीत होनवाले, विचार भी यदि मैं लोगोंके सामने रखूं तो इसमें कोई कठिनाई नहीं आवेगी।

इस तरह बंबईमें दो-एक दिन रहकर देसका आरंभिक अनुभव ले गोखलेकी आज्ञासे मैं पूना गया।

: २ :

गोखलेके साथ पूनामें

मेरे बंबई पहुंचते ही गोखलेने मुझे तुरत खबर दी कि बंबईके गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आनेके पहले आप उनसे मिल आवें तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने गया। मामूली बातचीत होनेके बाद उन्होंने मुझसे कहा—

"आपसे मैं एक वचन लेना चाहता हूं। मैं यह चाहता हूं कि सरकारके संबंधमें यदि आपको कहीं कुछ आंदोलन करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातचीत कर लें।"

मैंने उत्तर दिया कि यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है; क्योंकि सत्याग्रहीकी हैसियतसे मेरा यह नियम ही है कि किसीके खिलाफ कुछ

करनेके पहले उसका दृष्टि-बिंदु खुद उसीसे समझ लूं और अपनेसे जहांतक हो सके उसके अनुकूल होनेका यत्न करूं। मैंने हमेशा दक्षिण अफ्रिकामें इस नियमका पालन किया है और यहां भी मैं ऐसा ही करनेका विचार करता हूं।

लार्ड विलिंग्डनने इसपर मुझे धन्यवाद दिया और कहा—

"आप जब कभी मिलना चाहें, मुझसे तुरंत मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुराई करना नहीं चाहती।"

मैंने जवाब दिया—"इसी विश्वासपर तो मैं जी रहा हूं।"

अब मैं पूना पहुंचा। वहाके तमाम संस्मरण लिखना मेरे सामर्थ्यके बाहर है। गोखलेने और भारत-सेवक-समितिके सदस्योंने मुझे प्रेमसे पाग दिया। जहातक मुझे याद है उन्होंने तमाम सदस्योंको पूना बुलाया था। सबके साथ दिल खोलकर मेरी बातें हुईं। गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी समितिमे आजाऊं। इधर मेरी तो इच्छा थी ही; परंतु उसके सदस्योंकी यह धारणा हुई कि समितिके आदर्श और उसकी कार्य-प्रणाली मुझसे भिन्न थी। इसलिए वे दुविधामे थे कि मुझे सदस्य होना चाहिए या नही। गोखलेकी यह मान्यता थी कि अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेकी जितनी प्रवृत्ति मेरी थी उतनी ही दूसरोंके आदर्शकी रक्षा करने और उनके साथ मिल जानेका स्वभाव भी था। उन्होने कहा—"परंतु हमारे साथी आपके दूसरोको निभा लेनेके इस गुणको नही पहचान पाये हैं। वे अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेवाले स्वतंत्र और निश्चित विचारके लोग हैं। मै आशा तो यही रखता हूं कि वे आपको सदस्य बनाना मंजूर कर लेगे; परतु यदि न भी करे तो आप इससे यह तो हर्गिज न समझेंगे कि आपके प्रति उनका प्रेम या आदर कम है। आपने इस प्रेमको अखण्डित रहने देनेके लिए ही वे किसी तरहकी जोखिम उठानेसे डरते है; परतु आप समितिके बाकायदा सदस्य हों, या न हों, मै तो आपको सदस्य मान-कर ही चलूंगा।"

मैंने अपना संकल्प उनपर प्रकट कर दिया था। समितिका सदस्य बनूं या न बनूं, एक आश्रमकी स्थापना करके फिनिक्सके साथियोंको उसमें रखकर मैं बैठ जाना चाहता था। गुजराती होनेके कारण गुजरातके द्वारा सेवा करनेकी पूंजी मेरे पास अधिक होनी चाहिए, इस विचारसे गुजरातमें ही कहीं स्थिर होनेकी इच्छा थी। गोखलेको यह विचार पसंद आया और उन्होंने कहा—

"जरूर आश्रम स्थापित करो। सदस्योंके साथ जो बातचीत हुई है उसका फल कुछ भी निकलता रहे, परंतु आपको आश्रमके लिए धन तो मुझहीसे लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूंगा।"

यह सुनकर मेरा हृदय फूल उठा। चंदा मांगनेकी झंझटसे बचा, यह समझकर बड़ी खुशी हुई, और इस विचारसे कि अब मुझे अकेले अपनी जिम्मेदारीपर कुछ न करना पड़ेगा, बल्कि हरेक उलझनके समय मेरे लिए एक पथ-दर्शक यहां है, ऐसा मालूम हुआ मानो मेरे सिरका बोझ उतर गया।

गोखलेने स्वर्गीय डाक्टर देवको बुलाकर कह दिया—"गांधीका खाता अपनी समितिमें डाल लो और उनको अपने आश्रमके लिए तथा सार्वजनिक कामोंके लिए जो कुछ रुपया चाहिए, वह देते जाना।"

अब मैं पूना छोड़कर शांति-निकेतन जानेकी तैयारी कर रहा था। अंतिम रातको गोखलेने खास मित्रोंकी एक पार्टी इस विधिसे की, जो मुझे रुचिकर होती। उसमें वही चीजें अर्थात् फल और मेवे मंगाये थे, जो मैं खाया करता था। पार्टी उनके कमरेसे कुछ ही दूरपर थी। उनकी हालत ऐसी न थी कि वे वहांतक भी आ सकते; परंतु उनका प्रेम उन्हें कैसे रुकने देता! वह जिद करके आये थे; परतु उनको गश आ गया और वापस लौट जाना पड़ा। ऐसा गश उन्हें बार-बार आ जाया करता था, इसलिए उन्होंने कहलाया कि पार्टीमें किसी प्रकारकी गड़बड़ न होनी चाहिए। पार्टी क्या थी, समितिके आश्रममें अतिथि-घरके पासके मैदानमें जाजम बिछाकर हम लोग बैठ गये थे और मूंगफली, खजूर वगैरा

खाते हुए प्रेम-वार्ता करते थे, एवं एक-दूसरेके हृदयको अधिक जाननेका उद्योग करते थे।

किंतु उनकी यह मूर्छा मेरे जीवनके लिए कोई मामूली अनुभव नहीं था।

: ३ :

धमकी

बंबईसे मुझे अपनी विधवा भौजाई और दूसरे कुटुंबियोंसे मिलनेके लिए राजकोट और पोरबंदर जाना था। इसलिए मैं राजकोट गया। दक्षिण अफ्रिकामे सत्याग्रह-आंदोलनके सिलसिलेमें मैंने अपना पहनावा लगभग गिरमिटिया मजूरकी तरह कर लिया था। विलायतमें भी यही लिबास रखा था। देसम आकर मैं काठियावाड़का पहनावा पहनना चाहता था, दक्षिण अफ्रिकामे काठियावाड़ी कपड़े मेरे पास थे। इससे बंबईमें काठियावाड़ी लिबासमें अर्थात् कुरता, अंगरखा, धोती और सफेद साफा पहने हुए उतर सका था। ये सब कपड़े देसी मिलके बने हुए थे। बंबईसे काठियावाड़तक तीसरे दरजेमे सफर करनेका निश्चय था। सो वह साफा और अंगरखा मुझे एक जंजाल मालूम हुए। इसलिए सिर्फ एक कुरता, धोती और आठ-दस आनेकी काश्मीरी टोपी, साथ रखे थे। ऐसे कपड़े पहननेवाला आम तौरपर गरीब आदमियोंमें ही गिना जाता है। इस समय वीरमगाम और वढवाणमे, प्लेगके कारण, तीसरे दरजेके मुसाफिरोकी जांच-पड़ताल होती थी। मुझे उस समय हलका-सा बुखार था। जांच करनेवाले अफसरने मेरा हाथ देखा तो उसे वह गरम मालूम हुआ, इसलिए उसने हुक्म दिया कि राजकोट जाकर डाक्टरसे मिलो और मेरा नाम लिख लिया।

बंबईसे शायद किसीने तार या चिट्ठी भेज दी होगी, इस कारण

बढ़वाण स्टेशनपर दर्जी मोतीलाल, जो वहांके एक प्रसिद्ध प्रजा-सेवक माने जाते थे, मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझसे वीरमगामकी जकातकी बाबत तथा उसके संबंधमें होनेवाली तकलीफोंका जिक्र किया। मुझे बुखार आ रहा था, इसलिए बात करनेकी इच्छा कम ही थी। मैंने थोड़ेमें ही उत्तर दिया—

"आप जेल जानेके लिए तैयार हैं?"

इस समय मैंने मोतीलालको वैसा ही एक युवक समझा, जो बिना विचारे उत्साहमें हां कर लेते हैं, परन्तु उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—

"हां, अवश्य जेल जायंगे; पर आपको हमारा अगुआ बनना पड़ेगा। काठियावाड़ी हैसियतसे आपपर हमारा पहला हक है। अभी तो हम आपको नहीं रोक सकते, परन्तु वापस लौटते समय आपको वढवाण जरूर उतरना पड़ेगा। यहांके युवकोंका काम और उत्साह देखकर आप खुश होंगे। आप जब चाहें, तब हमारी सेनामें हमें भर्ती कर सकेंगे।"

अस्पताल गया। वहां तो मैं किसीके लिए अजनबी था नहीं। डाक्टर मुझे देखकर शर्माये और उस जांच-कर्मचारीपर गुस्सा होने लगे। मुझे इसमें गुस्सेकी कोई वजह मालूम नहीं होती थी। उसने तो अपना फर्ज अदा किया था। एक तो वह मुझे पहचानता न था और दूसरे पहचाननेपर भी उसका तो फर्ज यही था कि जो हुक्म मिला उसकी तामील करे; परंतु मैं था मशहूर आदमी। इसलिए राजकोटमें मुझे कहीं जांच करनेके लिए जानेके बदले लोग घर आकर मेरा पूछ-ताछ करने लगे।

तीसरे दरजेके मुसाफिरोंकी जांच ऐसे मामलोंमें आवश्यक है। जो लोग बड़े समझे जाते हैं वे भी अगर तीसरे दरजेमें सफर करें तो उन्हें उन नियमोंका पालन, जो गरीबोंपर लगाये जाते हैं, खुद-ब-खुद करना चाहिए और कर्मचारियोंको भी उनका पक्षपात न करना चाहिए; परंतु मेरा तो अनुभव यह है कि कर्मचारी लोग तीसरे दरजेके मुसाफिरोंको आदमी नहीं, बल्कि जानवर समझते हैं। अबे-तबेके सिवाय उनसे बोलते नहीं हैं। तीसरे दरजेका मुसाफिर न तो सामने जवाब दे सकता है, न कोई बात कह सकता है। बेचारोंको इस तरह पेश आना पड़ता है मानो वह उच्च कर्मचारीका कोई नौकर हो। रेलके नौकर उसे पीट देते हैं, रुपये-पैसे छीन लेते हैं, उसकी ट्रेन चुका देते हैं। टिकट देते समय उनको बहुत रुलाते हैं। ये सब बातें मैंने खुद अनुभव की हैं। इस बुराईका सुधार उसी हालतमें हो सकता है, जबकि पढ़े-लिखे और धनी लोग गरीबकी तरह रहने लगें और तीसरे दरजेमें सफर करके ऐसी एक भी सुविधाका लाभ न उठावें जो गरीब मुसाफिरोंको न मिलती हो और वहांकी असुविधा अविवेक, अन्याय और बीभत्सताको चुपचाप न सहन करते हुए उसका विरोध करें और उसको मिटा दें।

काठियावाड़में मैं जहां-जहां गया, वहां-वहां वीरमगामकी जकातकी जांचसे होनेवाली तकलीफोंकी शिकायतें मैंने सुनीं।

इसलिए लार्ड विलिंग्डनने जो निमन्त्रण मुझे दे रखा था उसका मैंने तुरंत उपयोग किया। इस संबंधमें जितने कागज-पत्र मिल सकते थे

सब मैंने पढ़े। मैंने देखा कि इन शिकायतोंमें बहुत तथ्य था। उसको दूर करनेके लिए मैंने बंबई-सरकारसे लिखा-पढ़ी की। उसके सेक्रेटरीसे मिला। लार्ड विलिंग्डनसे भी मिला। उन्होंने सहानुभूति दिखाई; परंतु कहा कि दिल्लीकी तरफसे ढील हो रही है। "यदि यह बात हमारे हाथमें होती तो हम कभीके इस जकातको उठा देते। आप भारत-सरकारके पास अपनी शिकायत ले जाइए।" सेक्रेटरीने कहा।

मैंने भारत-सरकारके साथ लिखा-पढ़ी शुरू की; परंतु वहांसे पहुंचके अलावा कुछ भी जवाब न मिला। जब मुझे लार्ड चेम्सफोर्डसे मिलनेका अवसर आया, तब अर्थात् दो-तीन वर्षकी लिखा-पढ़ीके बाद कुछ सुनवाई हुई। लार्ड चेम्सफोर्डसे मैंने इसका जिक्र किया तो उन्होंने इसपर आश्चर्य प्रकट किया। वीरमगामके मामलेका उन्हे कुछ पता न था। उन्होंने मेरी बातें गौरके साथ सुनी और उसी समय टेलीफोन करके वीरमगामके कागज-पत्र मंगाये और वचन दिया कि यदि इसके खिलाफ कर्मचारियोंका कुछ कहना न होगा तो जकात रद कर दी जायगी। इस मुलाकातके थोड़े ही दिन बाद अखबारमें पढ़ा कि जकात रद हो गई।

इस जीतको मैंने सत्याग्रहकी बुनियाद माना; क्योंकि वीरमगामके संबंधमें जब बातें हुई तब बंबई-सरकारके सेक्रेटरीने मुझसे कहा था कि बगसरामे इस सबंधमे आपका जो भाषण हुआ था उसकी नकल मेरे पास है। और उसमें मैंने जो सत्याग्रहका उल्लेख किया था उसपर उन्होंने अपने नाराजगी भी बतलाई। उन्होंने मुझसे पूछा—"आप इसे धमकी नहीं कहते ? इस प्रकार बलवान् सरकार कही धमकीकी परवाह कर सकती है ?"

मैंने जवाब दिया—"यह धमकी नही है। यह तो लोकमतको शिक्षित करनेका उपाय है। लोगोंको अपने कष्ट दूर करनेके लिए तमाम उचित उपाय बताना मुझ-जैसोका धर्म है। जो प्रजा स्वतंत्रता चाहती है उसके पास अपनी रक्षाका अतिम इलाज अवश्य होना चाहिए। आम तौरपर ऐसे इलाज हिंसात्मक होते है; परंतु सत्याग्रह शुद्ध अहिंसात्मक

शस्त्र है। उसका उपयोग और उसकी मर्यादा बताना मैं अपना धर्म समझता हूं। अंग्रेज सरकार बलवान् है, इस बातपर मुझे संदेह नहीं; परंतु सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र है, इस विषयमें भी मुझे कोई संदेह नहीं।"

इसपर उस समझदार सेक्रेटरीने सिर हिलाया और कहा—"देखेंगे।"

: ४ :

शांति-निकेतन

राजकोटसे मैं शांति-निकेतन गया। वहाके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने मुझपर बड़ी प्रेम-वृष्टि की। स्वागतकी विधिमे सादगी, कला और प्रेमका सुंदर मिश्रण था। वहा काका साहब कालेलकरसे मेरी पहली बार मुलाकात हुई।

कालेलकर 'काका साहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था; पर बादको मालूम हुआ कि केशवराव देशपांडे, जो विलायतमें मेरे समकालीन थे और जिनके साथ विलायतमें मेरा बहुत परिचय हो गया था, बड़ौदा राज्यमें 'गगानाथ विद्यालयका संचालन कर रहे थे। उनकी बहुतेरी भावनाओंमें एक यह भी थी कि विद्यालयमें कुटुंब-भाव होना चाहिए। इस कारण वहां तमाम अध्यापकोंके कौटुंबिक नाम रखे गये थे। इसमे कालेलकरको 'काका' नाम दिया था। फड़के 'मामा' हुए। हरिहर शर्मा 'अण्णा' बने। इसी तरह और भी नाम रखे गये। आगे चलकर इस कुटुंबमें आनंदानंद (स्वामी) काकाके साथीके रूपमें और पटवर्धन (अप्पा) मामाके मित्रके रूपमे इस कुटुंबमें शामिल हुए। इस कुटुंबके ये पांचों सज्जन एकके-बाद-एक मेरे साथी हुए। देशपाडे 'साहेब' के नाम से विख्यात हुए। साहेबका विद्यालय बंद होनेके बाद वह कुटुंब तितर-बितर हो गया; परंतु इन लोगोंने अपना आध्यात्मिक

संबंध नही छोड़ा। काका साहव तरह-तरहके अनुभव लेने लगे और इसी क्रममें वह शांति-निकेतनमे रह रहे थे। उसी मंडलके एक और सज्जन चितामणि शास्त्री भी वहां रहते थे। ये दोनों संस्कृत पढ़ानेमें सहायता देते थे।

शांति-निकेतनमे मेरे मंडलको अलग स्थानमें ठहराया गया था। वहां मगनलाल गांधी उस मंडलकी देख-भाल कर रहे थे और फिनिक्स आश्रमके तमाम नियमोंका बारीकीसे पालन कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने शाति-निकेतनमे अपने प्रेम,ज्ञान और उद्योग-शीलताके कारण अपनी सुगंध फैला रखी थी। एड्रूज तो वहां थे ही। पीयर्सन भी थे। जगदानंद बाबू, संतोषबाबू, क्षितिमोहन बाबू, नगीनबाबू, शरद बाबू और काली बाबूसे उनका अच्छा परिचय हो गया था।

अपने स्वभावके अनुसार मै विद्यार्थियों और शिक्षकोंमें मिल-जुल गया और शारीरिक श्रम तथा काम करनेके बारेमें वहां चर्चा करने लगा। मैंने सूचित किया कि वैतनिक रसोइयाकी जगह यदि शिक्षक और विद्यार्थी ही अपनी रसोई पका लें तो अच्छा हो। रसोई-घरपर आरोग्य और नीतिकी दृष्टिसे शिक्षक-गण देख-भाल करें और विद्यार्थी स्वावलंबन और स्वयं-पाकका पदार्थ-पाठ ले। यह बात मैने वहांके शिक्षकोके सामने उपस्थित की। एक-दो शिक्षकोंने तो इसपर सिर हिला दिया; परंतु कुछ लोगोंको मेरी बात बहुत पसंद भी आई। बालकोंको तो वह बहुत ही जंच गई; क्योंकि उनको तो स्वभावसे ही हरेक नई बात पसंद आ जाया करती है। बस, फिर क्या था, प्रयोग शुरू हुआ। जब कविवरतक यह बात पहुंची तो उन्होंने कहा, यदि शिक्षक लोगोंको यह बात पसंद आ जाय तो मुझे यह जरूर प्रिय है। उन्होंने विद्यार्थियोसे कहा कि यह स्वराज्यकी कुंजी है।

पीयर्सनने इस प्रयोगको सफल करनेमें जी-जानसे मिहनत की। उनको यह बात बहुत ही पसंद आई थी। एक ओर शाक काटनेवालोंका जमघट हो गया, दूसरी ओर अनाज साफ करनेवाली मंडली बैठ गई।

रसोई-घरके आसपास शास्त्रीय शुद्धि करनेमे नगीन बाबू आदि डट गये। उनको कुदाली-फावड़े लेकर काम करते हुए देख मेरा हृदय बासों उछलनें लगा।

परंतु यह शारीरिक श्रमका काम ऐसा नही था कि सवा-सौ लड़के और शिक्षक एकाएक बरदाश्त कर सकें। इसलिए रोज इसपर बहस होती। कितने ही लोग थक भी जाते; किंतु पीयर्सन क्यों थकने लगे? वह हमेशा हंसमुख रहकर रसोईके किसी-न-किसी काममें लगे ही रहते। बड़े-बड़े बर्तनोंको मांजना उन्हीका काम था। बर्तन माजनेवाली टुकड़ीकी थकावट उतारनेके लिए कितने ही विद्यार्थी वहां सितार बजाते। हर कामको विद्यार्थी बड़े उत्साहके साथ करने लगे और सारा शांति-निकेतन शहदके छत्तेकी तरह गूंजने लगा।

इस तरहके परिवर्तन जो एक बार आरंभ होते हैं तो फिर वे रुकते नही। फिनिक्सका रसोई-घर केवल स्वावलंबी ही नही था; बल्कि उसमें रसोई भी बहुत सादा बनती थी। मसाले वगैरा काममे नही लाये जाते थे। इसलिए भात, दाल, शाक और गेहूंकी चीजे भापमें पका ली जाती थी। बंगाली भोजनमे सुधार करनेके इरादेसे इस प्रकारकी एक पाक-शाला रखी गई थी। इसमें एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी शामिल हुए थे। ऐसे प्रयोगोंके फल-स्वरूप सार्वजनिक अर्थात् बड़े भोजनालयको स्वावलंबी रखनेका प्रयोग शुरू हो सका था।

परंतु अंतको कुछ कारणोसे वह प्रयोग बंद हो गया। मेरा यह निश्चित मत है कि थोड़े समयके लिए भी इस जग-विख्यात संस्थाने इस प्रयोगको करके कुछ खोया नही है और उससे जो-कुछ अनुभव हुए हैं वे उसके लिए उपयोगी साबित हुए थे।

मेरा इरादा शांति-निकेतनमें कुछ दिन रहनेका था; परंतु मुझे विधाता जबर्दस्ती वहांसे घसीट ले गया। मैं मुश्किलसे वहां एक सप्ताह रहा होऊंगा कि पूनासे गोखलेके अवसानका तार मिला। सारा शांति-निकेतन शोकमें डूब गया। मेरे पास सब मातम-पुरसीके लिए आये।

वहांके मंदिरमें खास सभा हुई। उस समय वहांका गंभीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूना रवाना हुआ। साथमें पत्नी और मगनलालको लिया। बाकी सब लोग शांति-निकेतनमें रहे।

एंड्रूज बर्दवानतक मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या आपको प्रतीत होता है कि हिंदुस्तानमें सत्याग्रह करनेका समय आवेगा? यदि हां, तो कब? इसका कुछ खयाल होता है?"

मैंने इसका उत्तर दिया—"यह कहना मुश्किल है। अभी तो एक सालतक मैं कुछ करना ही नही चाहता। गोखलेने मुझसे वचन लिया है कि मैं एक सालतक भ्रमण करूं। किसी भी सार्वजनिक प्रश्नपर अपने विचार न बनाऊं न प्रकट करूं। मैं अक्षरशः इस वचनका पालन करना चाहता हूं। इसके बाद भी मैं तबतक कोई बात न कहूंगा, जबतक किसी प्रश्नपर कुछ कहनेकी आवश्यकता न होगी। इसलिए मैं नही समझता कि अगले पांच वर्षतक सत्याग्रह करनेका कोई अवसर आवेगा।"

यहां इतना कहना आवश्यक है कि 'हिंद स्वराज्य'में मैंने जो विचार प्रदर्शित किये हैं गोखले उनपर हंसा करते और कहते थे, 'एक वर्ष तुम हिंदुस्तानमे रहकर देखोगे तो तुम्हारे ये विचार अपने-आप ठिकाने लग जायंगे।'

: ५ :

तीसरे दरजेकी फजीहत

बर्दवान पहुंचकर हम तीसरे दरजेका टिकट लेना चाहते थे; पर टिकट लेनेमें बड़ी मुसीबत हुई। टिकट लेने पहुंचा तो जवाब मिला—"तीसरे दर्जेके मुसाफिरके लिए पहलेसे टिकट नहीं दिया जाता।" तब स्टेशन-मास्टरके पास गया। मुझे भला वहां कौन जाने देता?

किसीने दया करके बताया कि स्टेशन-मास्टर वहां है। मैं पहुंचा। उनके पाससे भी वही उत्तर मिला। जब खिड़की खुली तब टिकट लेने गया; परंतु टिकट मिलना आसान नहीं था। हट्टे-कट्टे मुसाफिर मुझ-जैसोंको पीछे धकेलकर आगे घुस जाते। अखिर टिकट तो किसी तरह मिल गया।

गाड़ी आई। उसमें भी जो जबर्दस्त थे, वे घुस गये। उतरनेवालों और चढ़नेवालोंके सिर टकराने लगे और धक्का-मुक्की होने लगी। इसमें भला मैं कैसे शरीक हो सकता था? इसलिए हम तीनों एक जगहसे दूसरी जगह जाते। सब जगहसे यही जवाब मिलता—"यहां जगह नहीं है।" तब मैं गार्डके पास गया। उसने जवाब दिया—"जगह मिले तो बैठ जाओ, नहीं तो दूसरी गाड़ीसे जाना।" मैंने नरमीसे उत्तर दिया—"पर मुझे जरूरी काम है।" गार्डको यह सुनने का वक्त नही था। अब मै सब तरहसे हार गया। मगनलालसे कहा—"जहां जगह मिल जाय, बैठ जाओ।" और मैं पत्नीको लेकर तीसरे दर्जेके टिकटसे ही ड्यौढ़े दर्जेमें घुसा। गार्डने मुझे देख लिया था।

आसनसोल स्टेशनपर गार्ड ड्यौढ़े दर्जेका किराया लेने आया। मैंने कहा—"आपका फर्ज था कि आप मुझे जगह बताते। वहां जगह न मिलनेसे मै यहां बैठ गया। मुझे तीसरे दर्जेमे जगह दिलाइए तो मैं वहां जानेको तैयार हूं।"

गार्ड साहब बोले—"मुझसे तुम दलील न करो। मेरे पास जगह नही है, किराया न दोगे तो तुमको गाड़ीसे उतर जाना होगा।"

मुझे तो किसी तरह जल्दी पूना पहुंचना था। गार्डसे लड़नेकी मेरी हिम्मत नहीं थी। लाचार होकर मैंने किराया चुका दिया। उसने ठेठ पूनातक ड्यौढ़ दर्जेका किराया वसूल किया। मुझे यह अन्याय बहुत अखरा।

सुबह हम मुगलसराय आये। मगनलालको तीसरे दर्जेमे जगह मिल गई थी। वहां मैंने टिकट-कलेक्टरको सब हाल सुनाया और इस घटनाका प्रमाण-पत्र उससे मांगा। उसने इन्कार कर दिया मैंने रेलवेके

बड़े अफसरको अधिक भाड़ा वापस मिलनेके लिए दरख्वास्त दी। उसका इस आशयका उत्तर मिला--"प्रमाण-पत्रके बिना अधिक भाड़ेका रुपया लौटानेका रिवाज हमारे यहां नहीं है; परंतु यह आपका मामला है, इसलिए आपको लौटा देते हैं। बर्दवानसे मुगलसरायतकका अधिक किराया वापस नहीं दिया जा सकता।"

इसके बाद तीसरे दर्जेके सफरके इतने अनुभव हुए हैं कि उनकी एक पुस्तक बन सकती है; परंतु प्रसंगोपात्त उनका जिक्र करनेके उपरांत इन अध्यायोंमें उनका समावेश नहीं हो सकता। शरीर-प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण मेरा तीसरे दर्जेकी यात्रा बंद हो गई। यह बात मुझे सदा खटकता रहती है और खटकती रहेगी। तीसरे दर्जेके सफरमें कर्मचारियोंकी 'जी हुक्मी'की जिल्लत तो उठानी ही पड़ती है; परंतु तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी जहालत, गंदगी, स्वार्थ-भाव और अज्ञानका भी कम अनुभव नहीं होता। खेदकी बात तो यह है कि बहुत बार तो मुसाफिर जानते ही नही कि वे उद्दंडता करते हैं या गंदगी बढ़ाते है या स्वार्थ-सिद्धि चाहते है। वे जो कुछ करते है वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है। और इधर हम, जो सुधारक कहे जाते हैं, उनकी बिलकुल पर्वाह नहीं करते।

कल्याण जंकशनपर हम किसी तरह थके-मांदे पहुंचे। नहानेकी तैयारी की। मगनलाल और मैं स्टेशनके नलसे पानी लेकर नहाये। पत्नीके लिए मैं कुछ तजवीज कर रहा कि इतनेमें भारत-सेवक-समिति-के भाई कौलने हमको पहचाना। वह भी पूना जा रहे थे। उन्होंने कहा--"इनको तो नहानेके लिए दूसरे दर्जेके कमरेमें ले जाना चाहिए। उनके इस सौजन्यसे लाभ उठाते हुए मुझे संकोच हुआ। मैं जानता था कि पत्नीको दूसरे दर्जेके कमरेसे लाभ उठानेका अधिकार न था; परंतु मैंने इस अनौचित्यकी ओरसे उस समय आंखें मूंद लीं। सत्यके पुजारीको सत्यका इतना उल्लंघन भी शोभा नही देता। पत्नीका आग्रह नहीं था कि वह उसमें जाकर नहावे; परंतु पतिके मोहरूपा सुवर्ण-पात्रने सत्यको ढांक लिया था।

: ६ :

मेरा प्रयत्न

पूना पहुंचकर उत्तर-क्रिया इत्यादिसे निवृत्त हो हम सब लोग इस बातपर विचार करने लगे कि समितिका काम कैसे चलाया जाय और मैं उसका सदस्य बनूं या नही। इस समय मुझपर बड़ा बोझ आ पड़ा था। गोखलेके जीते-जी मुझे समितिमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता ही नही थी। मैं तो सिर्फ गोखलेकी आज्ञा और इच्छाके अधीन रहना चाहता था। यह स्थिति मुझे भी पसंद थी; क्योंकि भारतवर्ष-जैसे तूफानी समुद्रमें कूदते हुए मुझे एक दक्ष कर्णधारकी आवश्यकता थी। और गोखले जैसे कर्णधारके आश्रयमें मैं अपनेको सुरक्षित समझता था।

अब मेरा मन कहने लगा कि मुझे समितिमें प्रविष्ट होनेके लिए जरूर प्रयत्न करना चाहिए। मैंने सोचा कि गोखलेकी आत्मा यही चाहती होगी। मैंने बिना संकोचके दृढ़ताके साथ प्रयत्न शुरू किया। इस समय समितिके सब सदस्य वहां मौजूद थे। मैंने उनको समझाने और मेरे संबंधमें जो भय उन्हें था उसको दूर करनेकी भरसक कोशिश की, पर मैंने देखा कि सदस्योंमें इस विषयपर मतभेद था। कुछ सदस्योंकी राय थी कि मुझे समितिमें ले लेना चाहिए और कुछ दृढ़तापूर्वक इसका विरोध करते थे; परंतु दोनोंके मनमें मेरे प्रति प्रेम-भावकी कमी न थी; किंतु, हां, मेरे प्रति प्रेमकी अपेक्षा समितिके प्रति उनकी वफादारी शायद अधिक थी; मेरे प्रति प्रेमसे तो कम किसी हालतमें न थी।

इससे हमारी यह सारी बहस मीठी थी और केवल सिद्धांतपर ही थी। जो मित्र मेरा विरोध कर रहे थे उनका यह खयाल हुआ कि कई बातोंमें मेरे और उनके विचारोंमें जमीन-आसमानका अंतर है। इससे भी आगे चलकर उनका यह खयाल हुआ कि जिन ध्येयोंको सामने रखकर गोखले-समितिकी रचना की थी, मेरे समितिमें आ जानेसे उन्हींके जोखिम-

में पड़ जानेकी संभावना थी और यह बात उन्हें स्वाभाविक तौरपर ही असह्य मालूम हुई। बहुत-कुछ चर्चा हो जानेके बाद हम अपने-अपने घर गये। सभ्योंने अंतिम निर्णय सभाकी दूसरी बैठकतक स्थगित रखा। घर जाते हुए मैं बड़े विचारके भंवरमें पड़ गया। बहुमतके बलपर मेरा समितिमें दाखिल होना क्या उचित है? क्या गोखलेके प्रति यह मेरी वफादारी होगी? यदि बहुमत मेरे खिलाफ हो जाय तो क्या इससे समितिकी स्थितिको विषम बनानेका निमित्त न बनूंगा? मुझे यह साफ दिखाई पड़ा कि जबतक समितिके सदस्योंमें मुझे सदस्य बनानेके विषयमे मत-भेद हो, तबतक मुझे खुद ही उसमें दाखिल हो जानेका आग्रह छोड़ देना चाहिए, और इस तरह विरोधी पक्षको नाजुक स्थितिमें पड़नेसे बचा लेना चाहिए। इसीमें मुझे समिति और गोखलेके प्रति अपनी वफादारी दिखाई दी। अंतरात्मामें यह निर्णय होते ही तुरंत मैंने श्रीशास्त्रीको पत्र लिखा कि आप सदस्य बनानेके विषयमें सभा न बुलावें। विरोधी पक्षको मेरा यह निश्चय बहुत पसंद आया। वे धर्म-संकटसे बच गये। उनकी मेरे साथ स्नेह-गांठ अधिक मजबूत हो गई, और इस तरह समितिमें दाखिल होनेकी अपनी दरख्वास्तको वापस लेकर मैं समितिका सच्चा सदस्य बना।

अब अनुभवसे मैं देखता हूं कि मेरा बाकायदा समितिका सदस्य न होना ठीक ही हुआ, और कुछ सदस्योंने मेरे सदस्य बननेका जो विरोध किया था, वह वास्तविक था। अनुभवने दिखला दिया है कि उनके और मेरे सिद्धांतोंमें भेद था; परंतु मत-भेद जान लेनेके बाद भी हम लोगोंकी आत्मामें कभी अंतर न पड़ा, न कभी मन-मुटाव ही हुआ। मत-भेद रहते हुए भी हम बंधु और मित्र बने हुए हैं। समितिका स्थान मेरे लिए यात्रा-स्थल हो गया है। लौकिक दृष्टिसे भले ही मैं उसका सदस्य न बना हूं, पर आध्यात्मिक दृष्टिसे तो हूं ही। लौकिक संबंधकी अपेक्षा आध्यात्मिक संबंध अधिक कीमती है। आध्यात्मिक संबंधसे हीन लौकिक संबंध प्राण-हीन शरीरके समान है।

: ७ :

कुंभ

मुझे डाक्टर प्राणजीवनदास मेहतासे मिलने रंगून जाना था। रास्तेमें कलकत्तामें श्री भूपेंद्रनाथ बसुके निमंत्रणसे मैं उनके यहां ठहरा। यहां तो मैंने बंगालके शिष्टाचारकी हद देखी। इन दिनों मैं सिर्फ फलाहार ही करता था। मेरे साथ मेरा लड़का रामदास भी था। भूपेंद्रबाबूके यहां जितने फल और मेवे कलकत्तेमें मिलते थे सब लाकर जुटाये गये थे। स्त्रियोंने रातों-रात जगकर बादाम, पिस्ता वगैराको भिगोकर उनके छिलके निकाले थे। तरह-तरहके फल भी जितना हो सकता था सुरुचि और सचाईके साथ तैयार किये गये थे। मेरे साथियोंके लिए तरह-तरहके पकवान बनवाये गये थे। इस प्रेम और विवेकके आंतरिक भावको तो मैं समझा, परंतु यह बात मुझे असह्य मालूम हुई कि एक-दो मेहमानोंके लिए सारा घर दिन-भर काममें लगा रहे; किंतु इस संकटसे बचनेका मेरे पास कोई उपाय न था।

रंगून जाते हुए जहाजमें मैंने डेकपर यात्रा की थी। श्रीबसुके यहां यदि प्रेमकी मुसीबत थी तो जहाजमें प्रेमके अभावकी। यहां डेकके यात्रियोंके कष्टोंका बहुत बुरा अनुभव हुआ। नहानेकी जगहपर इतनी गंदगी थी कि खड़ा नहीं हुआ जाता था। पाखाना तो नरक ही समझिए। मल-मूत्रको छूकर या लाँघकर ही पाखानेमें जा सकते थे। मेरे लिए वे कठिनाइयां बहुत भारी थीं। मैंने कप्तानसे इसकी शिकायत की; पर कौन सुनने लगा? इधर यात्रियोंने खूब गंदगी कर-करके डेकको बिगाड़ रखा था। जहां बैठे होते वहीं थूक देते, वहीं तंबाकूकी पिचकारियां चला देते, वहीं खा-पीकर छिलके और कचरा डाल देते। बातचीतकी आवाज और शोर-गुलका तो कहना ही क्या? हर शख्स ज्यादा-से-ज्यादा जगह रोकने-की कोशिश करता था, कोई किसीकी सुविधाका जरा भी खयाल न करता

था। खुद जितनी जगहपर कब्जा करते उससे ज्यादा जगह सामानसे रोक लेते। ये दो दिन मैंने राम-राम करके बिताये।

रंगून पहुंचनेपर मैंने एजेंटको इस दुर्दशाकी कथा लिख भेजी। लौटते वक्त भी मै आया तो डेक पर ही, परंतु उस चिट्ठीके तथा डाक्टर मेहताके इंतजामके फल-स्वरूप उतने कष्ट न उठाने पड़े।

मेरे फलाहारकी झंझट यहां भी आवश्यकतासे अधिक की जाती थी। डाक्टर मेहतासे तो मेरा ऐसा संबंध है कि उनके घरको मैं अपना घर समझ सकता हूं। इससे मैंने खानेकी चीजोंकी संख्या तो कम कर दी थी, परंतु अपने लिए उसकी कोई मर्यादा नहीं बनाई थी। इससे तरह-तरहका मेवा वहां आता और मैं उसका विरोध न करता। उस समय मेरी हालत यह थी कि यदि तरह-तरहकी चीजें होती तो वे आंख और जीभको रुचतीं थीं। खानेके वक्तका कोई बंधन तो था ही नहीं। मैं खुद जल्दी खाना पसंद करता था, इसलिए बहुत देर नही होती थी; हालांकि रातके आठ-नौ तो सहज बज ही जाते।

इस साल (१९१५) हरद्वारमें कुंभका मेला पड़ता था। उसमें जानेकी मेरी प्रबल इच्छा थी। फिर मुझे महात्मा मुंशीरामजीके दर्शन भी करने थे। कुंभके मेलेके अवसरपर गोखलेके सेवक-समाजने एक बड़ा स्वयं-सेवक दल भेजा था। उसकी व्यवस्थाका भार श्री हृदयनाथ कुंजरूको सौंपा गया था। स्वर्गीय डाक्टर देव भी उसमें थे। यह बात तय पाई कि उन्हें मदद देनेके लिए मैं भी अपनी टुकड़ीको ले जाऊं। इसलिए मगनलाल गांधी शांति-निकेतनवाली हमारी टुकड़ीको लेकर मुझसे पहले हरद्वार गये थे। मै भी रंगूनसे लौटकर उनके साथ शामिल हो गया।

कलकत्तेसे हरद्वार पहुंचते हुए रेलमें बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी। डिब्बोंमें कभी-कभी तो रोशनी तक भी न होती। सहारनपुरसे तो यात्रियोंको मवेशीकी तरह मालगाड़ीके डिब्बोंमें भर दिया था। खुले डिब्बे, ऊपरसे मध्याह्नका सूर्य तप रहा था, नीचे लोहेकी जमीन गरम हो रही थी। इस मुसीबतका क्या पूछना ? फिर भी भावुक हिंदू प्याससे

गला सूखने पर भी 'इस्लामी पानी' आता तो नही पीते। जब 'हिंदू-पानी' का आवाज आती तभी पानी पीते। यही भावुक हिंदू दवामें जब डाक्टर शराब देते हैं, मुसलमान या ईसाई पानी देते हैं, मांसका सत्व देते हैं, तब उसे पीनेमे संकोच नहीं करते। उसके संबंधमें तो पूछ-ताछ करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझते।

मैंने यह बात शांति-निकेतनमें ही देख ली थी कि हिंदुस्तानमें भंगीका काम करना हमारा विशेष कार्य हो जायगा। स्वयं-सेवकोंके लिए वहां किसी धर्मशालामें तंबू ताने गये थे। पाखानेके लिए डाक्टर देवने गड्ढे खुदवाए थे; परंतु उनकी सफाईका इंतजाम तो वह उन्ही थोड़ेसे मेहतरोंसे करा सकते थे, जो ऐसे समय वेतनपर मिल सकते थे। ऐसी दशामे मैंने यह प्रस्ताव किया कि गड्ढोंमें मलको समय-समयपर मिट्टीसे ढांकना तथा और तरह से सफाई रखना, यह काम फिनिक्सके स्वयं-सेवकोके जिम्मे किया जाय। डाक्टर देवने इसे खुशीसे स्वीकार किया। इस सेवाको मांगकर लेनेवाला तो था मैं; परंतु उसे पूरा करनेका बोझा उठाने वाले थे मगनलाल गांधी।

मेरा काम वहां क्या था? डेरेमें बैठकर जो अनेक यात्री आते उन्हें 'दर्शन' देना और उनके साथ धर्म-चर्चा तथा दूसरी बातें करना। दर्शन देते-देते मैं घबरा उठा, उससे मुझे एक मिनटकी भी फुरसत नही मिलती थी। मैं नहाने जाता तो वहां भी मुझे दर्शनाभिलाषी अकेला नही छोड़ते और फलाहारके समय तो एकांत मिल ही कैसे सकता था? तंबूमें कही भी एक पलके लिए अकेला न बैठ सकता। दक्षिण अफ्रिकामे जो-कुछ सेवा मुझसे हो सकी उसका इतना गहरा असर सारे भारत-खडमें हुआ होगा, यह बात मैंने हरद्वारमें अनुभव की।

मैं तो मानो चक्कीके दो पाटोमें पिसने लगा। जहां लोग पहचानते नही, वहां तीसरे दर्जेके यात्रीके रूपमे मुसीबत उठाता; जहां ठहर जाता वहा दर्शनार्थियोके प्रेमसे घबरा जाता। दोमेसे कौन-सी स्थिति अधिक दयाजनक है, यह मेरे लिए कहना बहुत बार मुश्किल हुआ है। हां, इतना

तो जानता हूं कि दर्शनार्थियोंके प्रदर्शनसे मुझे गुस्सा आया है और मन-ही-मन तो उससे अधिक वार संताप हुआ है। तीसरे दर्जेकी मुसीवतोंसे सिर्फ मुझे कष्ट ही उठाने पड़े हैं, गुस्सा मुझे शायद ही आया हो और कष्ट-से तो मेरी उन्नति ही हुई है।

इस समय मेरे शरीरमें घूमने-फिरनेकी शक्ति अच्छी थी। इससे मैं इधर-उधर ठीक-ठीक घूम-फिर सका। उस समय मैं इतना प्रसिद्ध नही हुआ था कि जिससे रास्ता चलना भी मुश्किल होता हो। इस भ्रमण-में मैंने लोगोंकी धर्म-भावनाकी अपेक्षा उनकी मूढ़ता, अधीरता, पाखंड और अव्यवस्थितता अधिक देखी। साधुओंके और जमातोके तो दल टूट पड़े थे। ऐसा मालूम होता था मानो वे महज मालपुए और खीर खानेके लिए ही जनमे हों। यहां मैंनें पांच पांववाली गाय देखी। उसे देखकर मुझे वड़ा आश्चर्य हुआ; परंतु अनुभवी आदमियोंने तुरंत मेरा अज्ञान दूर कर दिया। यह पांच पैरोंवाली गाय तो दुष्ट और लोभी लोगों-का शिकार थी——वलिदान थी। जीते बछड़ेके पैर काटकर गायके कंधेका चमड़ा चीरकर उसमें चिपका दिया जाता था और इस दुहरी घातक क्रियाके द्वारा भोले-भाले लोगोंको दिन-दहाड़े ठगनेका उपाय निकाला गया था! कौन हिंदू ऐसा है, जो इस पांच पांववाली गायके दर्शनके लिए उत्सुक न हो? इस पांच पांववाली गायके लिए वह जितना ही दान दें उतना ही कम समझा जाता था!

अब कुंभका दिन आया। मेरे लिए वह घड़ी धन्य थी; परंतु मैं तीर्थ-यात्राकी भावनासे हरद्वार नही गया था। पवित्रताकी खोजके लिए तीर्थ-क्षेत्रमें जानेका मोह मुझे कभी नहीं रहा। मेरा खयाल यह था कि सत्रह लाख आदमियोंमें सभी पाखंडी नही हो सकते। यह कहा जाता था कि मेलेमे सत्रह लाख आदमी इकट्ठे हुए थे। मुझे इस विषयमें कुछ संदेह नही था कि इनमें असंख्य लोग पुण्य कमानेके लिए, अपनेको शुद्ध करनेके लिए, आये थे; परंतु इस प्रकारकी श्रद्धासे आत्माकी उन्नति होती होगी, यह कहना असंभव नही तो मुश्किल जरूर है।

बिछौने में पड़ा-पड़ा मैं विचार-सागरमें डूब गया—'चारों ओर फैले इस पाखंडमें वे पवित्र आत्मायें भी हैं। वे लोग ईश्वरके दरबारमें दंडके पात्र नहीं माने जा सकते। ऐसे समय हरद्वारमें आना ही यदि पाप हो तो फिर मुझे प्रकटरूपसे उनका विरोध करके कुंभके दिन तो हरद्वार अवश्य छोड़ ही देना चाहिए। यदि यहां आना और कुंभके दिन रहना पाप न हो तो मुझे कोई कठोर व्रत लेकर इस प्रचलित पापका प्रायश्चित्त करना चाहिए—आत्म-शुद्धि करनी चाहिए।' मेरा जीवन व्रतोंपर रचा गया है, इसलिए कोई कठोर व्रत लेनेका निश्चय किया। इसी समय कलकत्ता और रंगूनमें मेरे निमित्त यजमानोंको जो अनावश्यक परिश्रम करना पड़ा उसका भी स्मरण हो आया। इस कारण मैंने भोजनकी वस्तुओंकी संख्या मर्यादित कर लेनेका और शामको अंधेरेके पहले भोजन कर लेनेका व्रत लेना निश्चित किया। मैंने सोचा कि यदि मैं अपने भोजनकी मर्यादा नहीं रखूंगा तो यजमानोंके लिए बहुत असुविधा-जनक होता रहूंगा और सेवा करनेकी बजाय उनको अपनी सेवा करनेमें लगाता रहूंगा। इसलिए चौबीस घंटोंमें पांच चीजोंसे अधिक न खानेका और रात्रि-भोजन-त्यागका व्रत ले लिया। दोनोंकी कठिनाईका पूरा-परा विचार कर लिया था। इन व्रतोंमें एक भी अपवाद न रखनेका निश्चय किया। बीमारीमें दवाके रूपमे ज्यादा चीजें लेना या न लेना, दवाको भोजनकी वस्तुमें गिनना या न गिनना, इन सब बातोंका विचार कर लिया और निश्चय किया कि खानेकी कोई चीज पांचसे अधिक न लूंगा। इन दो व्रतोंको आज तेरह साल हो गये। इन्होंने मेरी खासी परीक्षा ली है; परंतु जहां एक ओर इन्होंने परीक्षा ली है तहां उन्होंने मेरे लिए ढालका भी काम दिया है। मैं मानता हूं कि इन व्रतोंने मेरी आयु बढ़ा दी है; इनकी बदौलत, मेरी धारणा है कि, मैं बहुत बार बीमारियोसे बच गया हूं।

: ८ :

लक्ष्मण-झूला

पहाड़-जैसे दीखनेवाले महात्मा मुंशीरामके दर्शन करने और उनके गुरुकुलको देखने जब मैं गया तब मुझे बहुत शांति मिली। हरद्वारके कोलाहल और गुरुकुलकी शांतिका भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्मा-जीने मुझपर भरपूर प्रेमकी वृष्टि की। ब्रह्मचारी लोग मेरे पाससे हटते ही नहीं थे। रामदेवजीसे भी उसी समय मुलाकात हुई और उनकी कार्य-शक्तिको मैं तुरंत पहचान सका था। यद्यपि हमारी मत-भिन्नता हमें उसी समय दिखाई पड़ गई थी, फिर भी हमारी आपसमें स्नेह-गांठ बंध गई। गुरुकुलमें औद्योगिक शिक्षणका प्रवेश करनेकी आवश्यकताके संबंधमें रामदेवजी तथा दूसरे शिक्षकोंके साथमें मेरा ठीक-ठीक वार्तालाप भी हुआ। इससे जल्दी ही गुरुकुलको छोड़ते हुए मुझे दुःख हुआ।

लक्ष्मण-झूलाकी तारीफ मैंने बहुत सुन रखी थी। ऋषिकेश गये बिना हरद्वार न छोड़नेकी सलाह मुझे बहुत-से लोगोंने दी। मैंने वहां पैदल जाना चाहा। एक मंजिल ऋषिकेशकी और दूसरी लक्ष्मण-झूले-की की।

ऋषिकेशमेंके बहुत-से सन्यासी मिलनेके लिए आये थे। उनमेंसे एकको मेरे जीवन-क्रममें बहुत दिलचस्पी पैदा हुई। फिनिक्स-मंडली मेरे साथ थी ही। हम सबको देखकर उन्होंने बहुतेरे प्रश्न पूछे। हम लोगोंमें धर्म-चर्चा भी हुई। उन्होंने देख लिया कि मेरे अंदर तीव्र धर्म-भाव है। मैं गंगा-स्नान करके आया था और मेरा शरीर खुला था। उन्होंने मेरे सिरपर न चोटी देखी और न बदनपर जनेऊ। इससे उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने कहा—

"आप हैं तो आस्तिक, परंतु शिखा-सूत्र नहीं रखते, इससे हम

जैसोंको दुःख होता है। हिंदू-धर्मकी ये दो बाह्य संज्ञायें हैं और प्रत्येक-हिंदूको इन्हें धारण करना चाहिए।"

जब मेरी उमर कोई दस वर्षकी रही होगी तब पोरबंदरमें ब्राह्मणोंके जनेऊसे बंधी चाबियोंकी झंकार मैं सुना करता था और उसकी मुझे ईर्ष्या भी होती थी। मनमें यह भाव उठा करता कि मै भी इसी तरह जनेऊमें चाबियां लटकाकर झंकार किया करूं तो अच्छा हो। कठियावाड़के वैश्य-कुटुंबोंमे उस समय जनेऊका रिवाज नहीं था। हां, नये सिरेसे इस बातका प्रचार अलबत्ता हो रहा था कि द्विज-मात्रको जनेऊ अवश्य पहनना चाहिए। उसके फल-स्वरूप गांधी-कुटुबके कितने ही लोग जनेऊ पहनने लगे थे। जिन ब्राह्मणने हम दो-तीन सगे-सबधियोंको राम-रक्षाका पाठ सिखाया था, उन्होंने हमें जनेऊ पहनाया। मुझे अपने पास चाबियां रखनेका कोई प्रयोजन नहीं था। तो भी मैंने दो-तीन चाबियां लटका लीं। जब वह जनेऊ टूट गया तब उसका मोह उतर गया था या नहीं, येह तो याद नही पड़ता, परंतु मैंनें नया जनेऊ फिर नहीं पहना।

बड़ी उमरमे दूसरे लोगोंने फिर हिंदुस्तानमें तथा दक्षिण अफ्रिकामें जनेऊ पहनानेका प्रयत्न किया था, परतु उनकी दलीलोंका असर मेरे दिलपर नही हुआ। शूद्र यदि जनेऊ नही पहन सकता तो फिर दूसरे लोगोंको क्यों पहनना चाहिए? जिस बाह्य चिह्नका रिवाज हमारे कुटुंबमें नही था उसे धारण करनेका एक भी सबल कारण मुझे नही दिखाई दिया। मुझे जनेऊसे अरुचि नही थी, परतु उसे पहननेके कारणोंका अभाव मालूम होता था। हां, वैष्णव होनेके कारण मैं कंठी जरूर पहनता था। शिखा तो घरके बड़े-बूढ़े हम भाइयोंके सिरपर रखवाते थे, परंतु विलायतमें सिर खुला रखना पड़ता था। गोरे लोग देखकर हंसेंगे और हमे जंगली समझेंगे, इस शर्मसे शिखा कटा डाली थी। मेरे भतीजे छगनलाल गांधी, जो दक्षिण अफ्रिकामें मेरे साथ रहते थे, बड़े भावके साथ शिखा रख रहे थे, परंतु इस वहमसे कि उनकी शिखा वहां सार्व-

जनिक कामोंमें बाधा डालेगी, मैंने उनके दिलको दुखाकर भी छुड़ा दी थी। इस तरह शिखासे मुझे उस समय शर्म लगती थी।

इन स्वामीजीसे मैंने यह सब कथा सुनाकर कहा—

"जनेऊ तो मै धारण नहीं करूंगा; क्योंकि असंख्य हिंदू जनेऊ नहीं पहनते है फिर भी वे हिंदू समझे जाते हैं, तो फिर मैं अपने लिए उनकी जरूरत नहीं देखता। फिर जनेऊ-धारणके मानी हैं—दूसरा जन्म लेना अर्थात् हम विचार-पूर्वक शुद्ध हों, ऊर्ध्वगामी हों। आज तो हिंदू समाज और हिन्दुस्तान दोनों गिरी दशामें है। इसलिए हमें जनेऊ पहननेका अधिकार ही कहां है? जब हिंदू-समाज अस्पृश्यताका दोष धो डालेगा, ऊंच-नीचका भेद भूल जायगा, दूसरी गहरी बुराइयोंका मिटा देगा, चारों तरफ फैले अधर्म और पाखंडको दूर कर देगा, तब उसे भले ही जनेऊ पहननेका अधिकार हो। इसलिए जनेऊ-धारण करनेकी आपकी बात तो मुझे पट नहीं रही है। हां, शिखा-संबंधी आपकी बातपर मुझे अवश्य विचार करना पड़ेगा। शिखा तो मैं रखता था, परंतु शर्म और डरसे उसे कटा डाला। मै समझता हूं कि वह तो मुझे फिर धारण कर लेनी चाहिए। अपने साथियोंके साथ इस बातका विचार कर लूंगा।"

स्वामीजीको जनेऊ-विषयक मेरी दलील न जंची। जो कारण मैंने जनेऊ न पहनने के पक्षमें पेश किये, वे उन्हें पहननेके पक्षमें दिखाई दिये। खैर। जनेऊके संबंधमें उस समय ऋषिकेशमें जो विचार मैंने प्रदर्शित किया था वह आज भी प्रायः वैसा ही कायम है। जबतक संसारमें भिन्न-भिन्न धर्मोंका अस्तित्व है, तबतक प्रत्येक धर्मके लिए बाह्य संज्ञाकी आवश्यकता भी शायद हो; परन्तु जब वह बाह्य संज्ञा आडंबरका रूप धारण कर लेती है अथवा अपने धर्मको दूसरे धर्मसे पृथक् दिखलानेका साधन हो जाती है, तब वह त्याज्य हो जाती है। आजकल मुझे जनेऊ हिंदू-धर्मको ऊंचा उठानेका साधन नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए मैं उसके संबंधमें उदासीन रहता हूं।

शिखाके त्यागकी बात जुदा है। वह शर्म और भयके कारण हुआ

था; इसलिए अपने साथियोंके साथ विचार करके मैंने उसे धारण करनेका निश्चय किया।

पर अब हमको लक्ष्मण-झूलेकी ओर चलना चाहिए। ऋषिकेश और लक्ष्मण-झूलेके प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत पसंद आये। हमारे पूर्वजोंकी प्राकृतिक कलाको पहचाननेकी क्षमताके प्रति और कलाको धार्मिक स्वरूप देनेकी उनकी दूरंदेशीके प्रति मेरे मनमें बड़ा आदर उत्पन्न हुआ, परंतु दूसरी ओर मनुष्यकी कृतिको यहां देखकर चित्तको शांति न हुई। हरद्वारकी तरह ऋषिकेशमें भी लोग रास्तोंको और गंगाके सुंदर किनारोंको गंदा कर डालते थे। गंगाके पवित्र पानीको बिगाड़ते हुए भी उन्हें कुछ संकोच न होता था। दिशा-जंगल जानेवाले आम जगह और रास्तेपर ही बैठ जाते, यह देखकर मेरे चित्तको बड़ी चोट पहुंची।

लक्ष्मण-झूला जाते हुए रास्तेमें लोहेका एक झूलता हुआ पुल देखा। लोगोंसे मालूम हुआ कि पहले यह पुल रास्सीका और बहुत मजबूत था, उसे तोड़कर एक उदार-हृदय मारवाड़ी सज्जनने बहुत रुपये लगाकर यह लोहेका पुल बना दिया और उसकी कुंजी सौंप दी सरकारको ! रस्सीके पुलका तो मुझे कुछ खयाल नहीं हो सकता, परंतु यह लोहेका पुल तो वहांके प्राकृतिक सौंदर्यको कलुषित करता था और बहुत भद्दा मालूम होता था। फिर यात्रियोंके इस रास्तेकी कुंजी सरकारको सौंप दी गई, यह बात तो मेरी उस समयकी वफादारीको भी असह्य मालूम हुई।

वहांसे भी अधिक दुःखद दृश्य स्वर्गाश्रमका था। टीनके तबेले-जैसे कमरोंका नाम स्वर्गाश्रम रखा गया था। कहा गया था कि ये साधकोंके लिए बनाये गये हैं, परंतु उस समय शायद ही कोई साधक वहां रहता हो। वहांकी मुख्य इमारतमें जो लोग रहते थे उन्होंने भी मेरे दिलपर अच्छी छाप नहीं डाली।

जो हो; पर इसमें संदेह नहीं कि हरद्वारके अनुभव मेरे लिए अमूल्य साबित हुए। मैं कहां जाकर बसूं और क्या करूं, इसका निश्चय करनेमें हरद्वारके अनुभवोंने मुझे बहुत सहायता दी।

: ९ :

आश्रमकी स्थापना

कुंभकी यात्राके पहले मैं एक वार और हरद्वार आ चुका था। सत्याग्रह-आश्रमकी स्थापना २५ मई १९१५को हुई। श्रद्धानंदजीकी यह राय थी कि मैं हरद्वारमें वसूं। कलकत्तेके कुछ मित्रोंकी सलाह थी कि वैद्यनाथ-धाममें डेरा डालूं। और कुछ मित्र इस वातपर जोर दे रहे थे कि राजकोटमें रहूं।

पर जव मैं अहमदाबादसे गुजरा तो बहुतेरे मित्रोंने कहा कि आप अहमदाबादको चलिए। और आश्रमके खर्चका भार भी अपने जिम्मे उन्होंने ले लिया। मकान खोजनेका भी आश्वासन दिया।

अहमदाबादपर मेरी नजर ठहर गई थी। मैं मानता था कि गुजराती होनेके कारण मैं गुजराती भाषाके द्वारा देशकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूंगा। अहमदाबाद पहले हाथ-बुनाईका बड़ा भारी केंद्र था, इससे चर्खेका काम यहा अच्छी तरह हो सकेगा; और गुजरातका प्रधान नगर होनेके कारण यहाके धनाढ्च लोग धन द्वारा अधिक सहायता दे सकेंगे, यह भी खयाल था।

अहमदाबादके मित्रोंके साथ जब आश्रमके विषयमें बातचीत हुई तो अस्पृश्योंके प्रश्नकी भी चर्चा उनसे हुई थी। मैंने साफ तौरपर कहा था कि यदि कोई योग्य अंत्यज भाई आश्रममें प्रविष्ट होना चाहेंगे तो मैं उन्हे अवश्य आश्रममें लूंगा।

"आपकी शर्तोका पालन कर सकनेवाले अंत्यज ऐसे कहां रास्तेमें पड़े हुए हैं?" एक वैष्णव मित्रने ऐसा कहकर अपने मनको संतोष दे लिया और अंतको अहमदाबादमें वसनेका निश्चय हुआ।

अव हम मकानकी तलाश करने लगे। श्री जीवनलाल बैरिस्टरका

मकान, जो कोचरबमें है, किरायेपर लेना तय पाया। वही मुझे अहमदाबादमें बसानेवालोंमें अग्रणी थे।

इसके बाद आश्रमका नाम रखनेका प्रश्न खड़ा हुआ। मित्रोंसे मैंने मशवरा किया। कितने ही नाम आये। सेवाश्रम, तपोवन इत्यादि नाम सुझाये गये। सेवाश्रम नाम हमलोगोंको पसंद आता था, परंतु उससे सेवाकी पद्धतिका परिचय नहीं होता था। तपोवन नाम तो भला स्वीकृत कैसे हो सकता था? क्योंकि यद्यपि तपश्चर्या हम लोगोंको प्रिय थी, फिर भी यह नाम हम लोगोंका अपने लिए भारी मालूम हुआ। हम लोगोंका उद्देश्य तो था सत्यकी पूजा, सत्यकी शोध करना, उसीका आग्रह रखना और दक्षिण अफ्रिकामें जिस पद्धतिका उपयोग हम लोगोंने किया था, उसीका परिचय भारतवासियोंको कराना; एवं हमें यह भी देखना था कि उसकी शक्ति और प्रभाव कहांतक व्यापक हो सकता है। इसलिए मैंने और साथियोंने 'सत्याग्रहाश्रम'-नाम पसंद किया। उसमें सेवा और सेवा-पद्धति दोनोंका भाव अपने आप आ जाता था।

आश्रमके संचालनके लिए नियमावलीकी आवश्यकता थी, इसलिए नियमावली बनाकर उसपर जगह-जगहसे राये मंगवाई गईं। बहुतेरी सम्मतियोंमें सर गुरुदास बनर्जीकी राय मुझे याद रह गई है। उन्हें नियमावली पसंद आई; परंतु उन्होंने सुझाया कि इन व्रतोंमें नम्रताके व्रतको भी स्थान मिलना चाहिए। उनके पत्रकी ध्वनि यह थी कि हमारे युवक-वर्गमें नम्रताकी कमी है। मैं भी जगह-जगह नम्रताके अभावको अनुभव कर रहा था; मगर व्रतमें स्थान देनेसे नम्रताके नम्रता न रह जानेका आभास होता था। नम्रताका पूरा अर्थ तो है शून्यता। शून्यता प्राप्त करनेके लिए दूसरे व्रत होते है। शून्यता मोक्षकी स्थिति है। मुमुक्षु या सेवकके प्रत्येक कार्य यदि नम्रता—निरभिमानतासे न हो तो वह मुमुक्षु नहीं, सेवक नही; वह स्वार्थी है अहंकारी है।

आश्रममें इस समय लगभग तेरह तामिल लोग थे। मेरे साथ दक्षिण अफ्रिकासे पांच तामिल बालक आये। वे तथा यहांके लगभग पच्चीस

स्त्री-पुरुष मिलकर आश्रमका आरंभ हुआ था सब एक भोजनालयमें भोजन करते थे और इस तरह रहनेका प्रयत्न करतेथे, मानो सब एकही कुटुंबके हों।

: १० :

कसौटीपर

आश्रमकी स्थापनाको अभी कुछही महीने हुए थे कि इतने में हमारी एक ऐसी कसौटी हो गई, जिसकी हमने आशा नही की थी। एक दिन मुझे भाई अमृतलाल ठक्करका पत्र मिला—'एक गरीब और दयानतदार अंत्यज कुटुंबकी इच्छा आपके आश्रममें आकर रहने की है। क्या आप उसे ले सकेंगे?

चिट्ठी पढ़कर मैं चौंका तो; क्योंकि मैंने यह बिलकुल आशा न की थी कि ठक्कर बापा-जैसोंकी सिफारिश लेकर कोई अंत्यज कुटुंब इतनी जल्दी आ जायगा। मैंने साथियोंको वह चिट्ठी दिखाई। उन लोगोंने उसका स्वागत किया। मैंने अमृतलालभाईको चिट्ठी लिखी कि यदि वह कुटुंब आश्रमके नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार हो तो हम उसे लेनेके लिए तैयार हैं।

बस, दूधाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दुधमुंही लक्ष्मी आश्रममें आ गये। दूधाभाई बंबईमें शिक्षक थे। वह आश्रमके नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार थे। इसलिए वह आश्रममें ले लिये गये।

पर इससे सहायक मित्र-मंडलीमें बड़ी खलबली मची। जिस कुएंमें बंगलेके मालिकका भाग था उसमेंसे पानी भरनेमें दिक्कत आने लगी। चरस हांकनेवालेको भी यदि हमारे पानीके छींटे लग जाते तो उसे छूत लग जाती। उसने हमें गालियां देना शुरू किया। दूधाभाईको भी

वह सताने लगा। मैंने सबसे कह रखा था कि गालियां सह लेनी चाहिएं और दृढ़तापूर्वक पानी भरते रहना चाहिए। हमको चुपचाप गालियां सुनते देखकर चरसवाला शर्मिंदा हुआ और उसने हमारा पिंड छोड़ दिया; परंतु इससे आर्थिक सहायता मिलनी बंद हो गई। जिन भाइयोंने पहलेसे उन अछूतोंके प्रवेशपर भी, जो आश्रमके नियमोंका पालन करते हों, शंका खड़ी की थी उन्हें तो यह आशा ही नहीं थी कि आश्रममें कोई अंत्यज आ जायगा। इधर आर्थिक सहायता बंद हुई उधर हम लोगोंके बहिष्कारकी अफवाह मेरे कानमें आने लगी। मैंने अपने साथियोंके साथ यह विचार कर रखा था कि यदि हमारा बहिष्कार हो जाय और हमें कहीं से सहायता न मिले तो भी हमें अहमदाबाद न छोड़ना चाहिए। हम अछूतोंके मुहल्लोंमें जाकर बस जायंगे, और जो कुछ मिल जायगा उसपर अथवा मजदूरी करके गुजर कर लेंगे।

अंतको मगनलालने मुझे नोटिस दिया कि अगले महीने आश्रम-खर्चके लिए हमारे पास रुपये न रहेंगे। मैंने धीरजके साथ जवाब दिया —"तो हम लोग अछूतोंके मुहल्लोंमें रहने लगेंगे।

मुझपर यह संकट पहली ही बार नहीं आया था; परंतु हर बार अखीरमें जाकर उस सांवलियाने कहीं-न-कहींसे मदद भेज दी है।

मगनलालके इस नोटिसके थोड़े ही दिन बाद एक रोज सुबह किसी बालकने आकर खबर दी कि बाहर एक मोटर खड़ी है। एक सेठ आपको बुला रहे हैं। मैं मोटरके पास गया। सेठने मुझसे कहा—"मैं आश्रमको कुछ मदद देना चाहता हूं; आप लेंगे?" मैंने उत्तर दिया—"हां आप दें तो मैं जरूर ले लूंगा। और इस समय तो मुझे जरूरत भी है।"

"मैं कल इसी समय यहां आऊंगा तो आप आश्रममें ही मिलेंगे न?" मैंने कहा—"हां।" और सेठ अपने घर गये। दूसरे दिन नियत समयपर मोटरका भोंपू बजा। बालकोंने मुझे खबर की। वह सेठ अंदर नहीं आये। मैं ही उनसे मिलनेकेलिए गया। मेरे हाथमें १३,०००) के नोट रखकर वह बिदा हो गये। इस मददकी मैंने बिलकुल आशा न की थी। मदद

देनेका यह तरीका भी नया ही देखा। उन्होंने आश्रममें इससे पहले कभी पैर न रखा था। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि मैं उनसे एक बार पहले भी मिला था। न तो वह आश्रमके अंदर आये, न कुछ पूछ-ताछ की। बाहरसे ही रुपया देकर चलते बने। इस तरहका यह पहला अनुभव मुझे था। इस मददसे अछूतोंके मुहल्लेमें जानेका विचार स्थगित रहा; क्योंकि लगभग एक वर्षके खर्चका रुपया मुझे मिल गया था।

परंतु बाहरकी तरह आश्रमके अंदर भी खलबली मची। यद्यपि दक्षिण अफ्रिकामें अछूत वगैरा मेरे यहां आते रहते, और खाते थे, परंतु यहां अछूत-कुटुंबका आना और आकर रहना पत्नीको तथा दूसरी स्त्रियोंको पसंद न हुआ। दानीबहनके प्रति उनका तिरस्कार तो नहीं, पर उदासीनता मेरी सूक्ष्म आंखें और तीक्ष्ण कान, जो ऐसे विषयोंमें खासतौरपर सतर्क रहते हैं, देखते और सुनते थे। आर्थिक सहायताके अभावसे न तो मैं भयभीत हुआ, न चिंता-ग्रस्त ही, परंतु यह भीतरी क्षोभ कठिन था। दानीबहन मामूली स्त्री थी। दूधाभाईकी पढ़ाईभी मामूली थी; पर वह ज्यादा समझदार थे। उनका धीरज मुझे पसंद आया। कभी-कभी उन्हें गुस्सा आ जाता; परंतु आमतौरपर उनकी सहनशीलताकी अच्छी ही छाप मुझपर पड़ी है। मैं दूधाभाईको समझाता कि छोटे-छोटे अपमानोंको हमें पी जाना चाहिए। वह समझ जाते और दानीबहनको भी सहन करनेकी प्रेरणा करते।

इस कुटुंबको आश्रममें रखकर आश्रमने बहुत सबक सीखे हैं। और आरंभ-कालमें ही यह बात साफतौरसे स्पष्ट हो जानेसे कि आश्रममें अस्पृश्यताकेलिए जगह नहीं है, आश्रमकी मर्यादा बंध गई और इस दिशामें उसका काम बहुत सरल हो गया। इतना होते हुए भी, आश्रमका खर्च बढ़ते जाते हुए भी, ज्यादातर सहायता उन्हीं हिंदुओंकी तरफसे मिलती आ रही है जो कट्टर माने जाते हैं, यह बात स्पष्ट रूपसे शायद इसी बातको सूचित करती है कि अस्पृश्यताकी जड़ अच्छी तरह हिल गई है। इसके दूसरे प्रमाण तो बहुतेरे हैं; परंतु जहां अछूतके साथ खान-पानमें

परहेज नहीं रखा जाता वहां भी वे हिंदू-भाई मदद करें, जो अपनेको सनातनी मानते हैं, तो यह प्रमाण न-कुछ नहीं समझा जासकता।

इसी प्रश्नके संबंधमें एक और बात भी आश्रममें स्पष्ट हो गई। इस विषयमें जो-जो नाजुक सवाल पैदा हुए उनका भी हल मिला। कितनी ही अकल्पित असुविधाओंका स्वागत करना पडा। इन तथा और भी सत्यका शोधके सिलसिलेमें हुए प्रयोगोंका वर्णन आवश्यक तो है; पर मैं उन्हें यहां छोड़ें देता हूं। इस बातपर मुझे दु.ख तो है; परंतु अब आगेके अध्यायोंमें वह दोष थोड़ा-बहुत रहता ही रहेगा—कुछ जरूरी बातें मुझे छोड़ देनी पड़ेगी; क्योंकि उनमें योग देनेवाले बहुतेरे पात्र भी मौजूद हैं और उनकी इजाजतके बिना उनके नाम और उनसे संबंध रखनेवाली बातोंका वर्णन आजादीसे करना अनुचित मालूम होता है। सबकी स्वीकृति समय-समयपर मांगना अथवा उनसे संबंध रखनेवाली बातें उनको भेजकर सुधरवाना एक असभव बात है, फिर यह इस आत्म-कथाकी मर्यादाके भी बाहर है। इसलिए अब आगेकी कथा यद्यपि मेरी दृष्टिसे सत्यके शोधककेलिए जानने योग्य है, फिर भी मुझे डर है कि वह अधूरी छपती रहेगी। इतना होते हुए भी ईश्वरकी इच्छा होगी तो असह-योगके युगतक पहुचनेकी मेरी इच्छा व आशा है।

: ११ :

गिरमिट-प्रथा

अब इस नये बसे हुए आश्रमको छोड़कर, जो कि अब भीतरी और बाहरी तूफानोंसे निकल चुका था, गिरमिट-प्रथा या कुली-प्रथापर थोड़ा-सा विचार कर लेनेका समय आ गया है। गिरमिटिया उस कुली या

मजूरको कहते हैं, जो पांच या उससे कम वर्षकेलिए मजूरी करनेका लेखी इकरार करके भारतके बाहर चला जाता है। नेटालके ऐसे गिरमिटियों-परसे तीन पौंडका वार्षिक कर १९१४में उठा दिया गया था; परंतु यह प्रथा अभी बंद नहीं हुई थी। १९१६में भारत-भूषण पंडित मालवीयजीने इस सवालको धारा-सभामें उठाया था, और लार्ड हार्डिजने उनके प्रस्तावको स्वीकार करके यह घोषणा की थी कि यह प्रथा 'समय आते ही' उठा देनेका वचन मुझे सम्राट्की ओरसे मिला है। परंतु मेरा तो यह स्पष्ट मत हुआ कि इस प्रथाको तत्काल बंद कर देनेका निर्णय हो जाना चाहिए। हिंदुस्तान अपनी लापरवाहीसे इस प्रथाको बहुत वर्षोंतक दरगुजर करता रहा; पर अब मैंने यह देखा कि लोगोमें इतनी जागृति आगई है कि अब यह बंद की जा सकती है, इसलिए मैं कितने ही नेताओंसे इस विषयमें मिला, कुछ अखबारोंमें इस संबंधमें लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथाका उच्छेद कर देनेके पक्षमें था। मेरे मनमें प्रश्न उठा कि क्या इसमें सत्याग्रहका कुछ उपयोग हो सकता है? मुझे उसके उपयोगके विषयमें तो कुछ संदेह नहीं था; परंतु यह बात मुझे नहीं दिखाई पड़ती थी कि उपयोग किया कैसे जाय।

इस बीच वायसरायने 'समय आनेपर' इन शब्दोंका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया। उन्होंने प्रकट किया कि दूसरी व्यवस्था करनेमें जितना समय लगेगा, उतने समयमें यह प्रथा निर्मूल कर दी जायगी। इसपरसे फरवरी १९१७में भारत-भूषण मालवीयजीने गिरमिट-प्रथाको कतई उठा देनेका कानून पेश करनेकी इजाजत बड़ी धारा-सभामें मांगी, तो वाइसरायने उसे नामंजूर कर दिया। तब इस मसलेको लेकर मैंने हिंदुस्तानमें भ्रमण शुरू कर दिया।

भ्रमण शुरू करनेके पहले वाइसरायसे मिल लेना मैंने उचित समझा। उन्होंने तुरंत मुझे मिलनेका समय दिया। उस समय मि० मेफी, अब सर जान मेफी, उनके मंत्री थे। मि० मेफीके साथ मेरा ठीक संबंध बंध गया था। लार्ड चेम्सफोर्डके साथ इस विषयपर संतोष-जनक बात-

चीत हुई। उन्होंने निश्चय-पूर्वक तो कुछ नही कहा—परंतु उनसे मदद मिलनेकी आशा जरूर मेरे मनमें बंधी।

भ्रमणका आरंभ मैंने बंबईसे किया। बंबईमें सभा करनेका जिम्मा मि० जहांगीरजी पेटिटने लिया। इंपीरियल सिटीजनशिप असोसियेशनके नामपर सभा हुई। उसमें जो प्रस्ताव उपस्थित किये जानेवाले थे, उनका मसविदा वनानेकेलिए एक समिति बनाई गई। उसमें डा० रीड, सर लल्लूभाई शामलदास, मि० नटराजन इत्यादि थे। मि० पेटिट तो थे ही। प्रस्तावमें यह प्रार्थना की गई थी कि गिरमिट-प्रथा बंद कर दी जाय; पर सवाल यह था कि कब बंद की जाय? इसके संबंधमें तीन सूचनायें पेश हुई—(१) 'जितनी जल्दी हो सके', (२) 'इकत्तीस जुलाई" और (३) 'तुरंत'। 'इकत्तीस जुलाई' वाली सूचना मेरी थी। मुझे तो निश्चित तारीखकी जरूरत थी कि जिससे उस मियादतक यदि कुछ न हो तो इस बातकी सूझ पड़ सके कि आगे क्या किया जाय और क्या किया जा सकता है। सर लल्लूभाईकी राय थी कि 'तुरत' शब्द रखा जाय। उन्होंने कहा कि 'इकत्तीस जुलाई'से तो 'तुरंत' शब्दमें अधिक जल्दीका भाव आता है। इसपर मैंने यह समझानेकी कोशिश की कि लोग 'तुरंत' शब्दका तात्पर्य न समझ सकेंगे। लोगोंसे यदि कुछ काम लेना हो तो उनके सामने निश्चयात्मक शब्द रखना चाहिए। 'तुरंत'का अर्थ सब अपनी मर्जीके अनुसार कर सकते हैं। सरकार एक कर सकती है, लोग दूसरा कर सकते हैं। परंतु 'इकत्तीस जुलाई'का अर्थ सब एक ही करेंगे और उस तारीखतक यदि कोई फैसला न हो तो हम यह विचार कर सकते हैं कि अब हमें क्या कार्रवाई करनी चाहिए। यह दलील डा० रीडको तुरंत जंच गई। अंतको सर लल्लूभाईको भी 'इकत्तीस जुलाई' रुची और प्रस्तावमें वही तारीख रखी गई। सभामें यह प्रस्ताव रखा गया और सब जगह 'इकत्तीस जुलाई'की मर्यादा घोषित हुई।

बंबईसे श्रीमती जायजी पेटिटकी अथक मिहनतसे स्त्रियोंका एक प्रतिनिधि-मंडल वाइसरायके पास गया। उसमें लेडी ताता, स्वर्गीय

दिलशाह बेगम वगैरा थीं। सब बहनोंके नाम तो मुझे इस समय याद नहीं हैं; परंतु इस प्रतिनिधि-मंडलका असर बहुत अच्छा हुआ और वाइसराय साहबने उसका आशा-वर्धक उत्तर दिया था। कराची, कलकत्ता वगैरा जगह भी मैं हो आया था। सब जगह अच्छी सभायें हुईं और जगह-जगह लोगोंमें खूब उत्साह था। जब मैंने इस कामको उठाया तब ऐसी सभायें होनेकी और इतनी संख्यामें लोगोंके आनेकी आशा मैंने नहीं की थी।

इस समय मैं अकेला ही सफर करता था, इससे अलौकिक अनुभव प्राप्त होता था। खुफिया पुलिस तो पीछे लगी ही रहती थी; पर इनके साथ झगड़नेकी मुझे कोई जरूरत नहीं थी। मेरे पास कुछ भी छिपी बात नही थी। इसलिए वे न मुझे सताते और न मैं उन्हें सताता था। सौभाग्यसे उस समय मुझपर 'महात्मा'की छाप नही लगी थी, हालांकि जहां लोग मुझे पहचान लेते वहां इस नामका घोष होने लगता था। एक दफा रेलमें जाते हुए, बहुतसे स्टेशनोंपर खुफिया मेरा टिकट देखने आते और नंबर वगैरा लेते। मैं तो वे जो सवाल पूछते उनका जवाब तुरत दे देता। इससे साथी मुसाफिरोंने समझा कि मैं कोई सीधा-सादा साधु या फकीर हूं। जब दो-चार स्टेशनोंपर खुफिया आये तो वे मुसाफिर विगड़े और उस खुफियाको गाली देकर डाटने लगे—"इस बेचारे साधुका नाहक क्यों सताते हो?" और मेरी तरफ मुखातिब होकर कहा—"इन बदमाशोंको टिकट मत बताओ।"

मैंने धीमेसे इन यात्रियोंसे कहा—"उनके टिकट देखनेसे मुझे कोई कष्ट नहीं होता, वे अपना फर्ज अदा करते हैं, इससे मुझे किसी तरहका दुःख नहीं है।"

उन मुसाफिरोंको यह बात जंची नहीं। वे मुझपर अधिक तरस खाने लगे और आपसमें बातें करने लगे कि देखो, निरपराध लोगोंको भी ये कैसे हैरान करते हैं।

इन खुफियोंसे तो मुझे कोई तकलीफ न मालूम हुई; परंतु लाहौरसे

लेकर देहलीतक मुझे रेलवेकी भीड़ और तकलीफका बहुत ही कड़वा अनुभव हुआ। कराचीसे लाहौर होकर मुझे कलकत्ता जाना था। लाहौरमें गाड़ी बदलनी पड़ती थी। यहां गाड़ीमें मेरी कहीं दाल नहीं गलती थी। मुसाफिर जबरदस्ती घुस पड़ते थे। दरवाजा बंद होता तो खिड़कीमेंसे अंदर घुस जाते थे। इधर मुझे नियत तिथिको कलकत्ता पहुंचना जरूरी था। यदि यह ट्रेन छूट जाती तो मैं कलकत्ते समयपर नही पहुंच सकता था। मै जगह मिलनेकी आशा छोड रहा था। कोई मुझे अपने डिब्बेमे नही लेता था। आखिरको मुझे जगह खोजता हुआ देखकर एक मजदूरने कहा—"मुझे बारह आने दो तो मै जगह दिला दूं।" मैंने कहा—"जगह दिलवा दो तो मैं बारह आने जरूर दूंगा।" बेचारा मजदूर मुसाफिरोंके हाथ-पांव जोड़ने लगा; पर वे मुझे जगह देनेकेलिए तैयार नही होते थे। गाडी छूटनेकी तैयारी थी। इतनेमें एक डब्बेके कुछ मुसाफिर बोले—"यहां जगह नही है; लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो; खड़ा रहना होगा।" मजदूरने मुझसे पूछा—"क्योंजी?" मैंने कहा—"हां, घुसा दो! तब उसने मुझे उठाकर खिड़कीमेंसे अंदर फेक दिया। मै अंदर घुसा और मजदूरने बारह आने कमाये।

मेरी यह रात बड़ी मुश्किलोंसे बीती। दूसरे मुसाफिर तो किसी तरह ज्यों-त्यों करके बैठ गये; परतु मै ऊपरकी बैठककी जंजीर पकड़कर खड़ा ही रहा। बीच-बीचमें यात्री लोग मुझे डांटते भी जाते—"अरे, खड़ा क्यों है, बैठ क्यों नही जाता?" मैंने उन्हें बहुतेरा समझाया कि बैठनेकी जगह नही है; परंतु उन्हे मेरा खडा रहना भी बर्दाश्त नहीं होता था, हालांकि वे खुद ऊपरकी बैठकमें आरामसे पैर ताने हुए पड़े थे! पर मुझे बार-बार दिक करते थे। ज्यों-ज्यों वे मुझे दिक करते, त्यों-त्यों मैं उन्हें शांतिसे जवाब देता। इससे वे कुछ शांत हुए। फिर मेरा नाम-ठाम पूछने लगे। मुझे अपना नाम बताना पड़ा, तब वे बडे शर्मिंदा हुए। मुझसे माफी माँगने लगे और तुरंत अपने पास जगह कर दी।

सबरका फल मीठा होता है'—यह कहावत मुझे याद आई। इस समय मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। जब बैठनेकी जगहकी सचमुच जरूरत थी तब ईश्वरने उसकी सुविधा कर दी।

इस तरह धक्के खाता हुआ आखिर समयपर कलकत्ते पहुंच गया। कासिमबाजारके महाराजने अपने यहां ठहरनेका मुझे निमंत्रण दे रखा था। कलकत्तेकी सभाके सभापति भी वही थे। कराचीकी तरह कलकत्तेमें भी लोगोंका उत्साह उमड रहा था, कुछ अंग्रेज लोग भी आये थे।

इकत्तीस जुलाईके पहले कुली-प्रथा बंद होनेकी घोषणा प्रकाशित हुई। १८९४में इस प्रथाका विरोध करनेकेलिए पहली दरखास्त मैंने बनाई थी और यह आशा रखी थी कि किसी दिन यह 'अर्ध-गुलामी' जरूर रद हो जायगी। १९७४में शुरू हुए इस कार्यमें यद्यपि बहुतेरे लोगोंकी सहायता थी; परंतु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस बारके प्रयत्नके साथ शुद्ध सत्याग्रह भी सम्मिलित था।

इस घटनाका अधिक ब्योरा और उसमें भाग लेनेवाले पात्रोंका परिचय दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहके इतिहासमें पाठकोंको मिलेगा।

: १२ :

नीलका दाग

चंपारन राजा जनककी भूमि है। चंपारनमें जैसे आमके बन हैं उसी तरह, १९१७में, नीलके खेत थे। चंपारनके किसान अपनी ही जमीनके $\frac{३}{२०}$ हिस्सेमें नीलकी खेती जमीनके असली मालिकके लिए करनेपर कानूनन बाध्य थे। इसे वहां 'तीन कठिया' कहते थे। २० कट्ठेका वहां एक एकड़ था और उसमेंसे ३ कट्ठे नील बोना पड़ता था। इसीलिए उस प्रथाका नाम पड़ गया था 'तीन कठिया'।

मैं यह कह देना चाहता हूं कि चंपारनमें जानेके पहले मैं उसका नाम निशान नहीं जानता था। यह खयाल भी प्रायः नहींके बराबर ही था कि वहां नीलकी खेती होती है। नीलकी गोटियां देखी थीं; परंतु मुझे यह बिलकुल पता न था कि वे चंपारनमें बनती थी और उनके लिए हजारों किसानोंको वहां दुःख उठाना पड़ता था।

राजकुमार शुक्ल नामके एक किसान चंपारनमें रहते थे। उनपर नीलकी खेतीके सिलसिलेमें बड़ी बुरी बीती थी। वह दुःख उन्हें खल रहा था और उसीके फलस्वरूप सबकेलिए इस नीलके दागको धो डालनेका उत्साह उनमें पैदा हुआ था।

जब मैं कांग्रेसमें लखनऊ गया था, तब इस किसानने मेरा पल्ला पकड़ा। "वकीलबाबू आपको सब हाल बतायेंगे" यह कहते हुए चंपारन चलनेका निमंत्रण मुझे देते जाते थे।

यह वकीलबाबू और कोई नही, मेरे चंपारनके प्रिय साथी, बिहारके सेवा-जीवनके प्राण, बृजकिशोरबाबू ही थे। उन्हे राजकुमार शुक्ल मेरे डेरेमें लाये। वह काले अलपकेका अचकन, पतलून वगैरा पहने हुए थे। मेरे दिलपर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने समझा कि ये इस भोले किसानको लूटनेवाले कोई वकील होंगे।

मैंने उनसे चंपारनकी थोड़ी-सी कथा सुन ली और अपने रिवाजके मुताबिक जवाब दिया—"जबतक मैं खुद जाकर सब हाल न देख लूं तबतक मैं कोई राय नही दे सकता। आप कांग्रेसमें इस विषयपर बोलें; किंतु मुझे तो अभी छोड़ ही दीजिए।" राजकुमार शुक्ल तो चाहते थे कि कांग्रेसकी मदद मिले। चंपारनके विषयमें कांग्रेसमे बृजकिशोरबाबू बोले और सहानभूतिका एक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्लको इससे खुशी हुई; परंतु इतने हीसे उन्हें संतोष न हुआ। वह तो खुद चंपारनके किसानों के दुःख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा—"मैं अपने भ्रमणमें चंपारनको भी ले लूंगा, और एक-दो दिन

वहांकेलिए दे दूंगा।" उन्होंने कहा—"एक दिन काफ़ी होगा, अपनी नजरोंसे देखिए तो सही।"

लखनऊसे में कानपुर गया था। वहां भी देखा तो राजकुमार शुक्ल मौजूद। "यहांसे चंपारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिए।" "अभी तो मुझे माफ कीजिए; पर में यह वचन देता हूं कि मैं आऊंगा जरूर।" यह कहकर वहां जानेकेलिए मैं और भी बंध गया।

मैं आश्रम पहुंचा तो वहां भी राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे-पीछे मौजूद। "अब तो दिन मुकर्रर कर दीजिए।" मैंने कहा—"अच्छा, अमुक तारीखको मुझे कलकत्ते जाना है, वहां आकर मुझे ले जाना।" कहां जाना, क्या करना, क्या देखना, मुझे इसका कुछ पता न था। कलकत्तेमें भूपेनबाबूके यहां मेरे पहुंचनेके पहले ही राजकुमार शुक्लका पड़ाव पड़ चुका था। अब तो इस अपढ़-अनघढ़ परंतु निश्चयी किसानने मुझे जीत लिया।

१९१७के आरंभमें कलकत्तेसे हम दोनों रवाना हुए। हम दोनोंकी एक-सी जोड़ी—दोनों किसान-से दीखते थे। राजकुमार शुक्ल और मैं—हम दोनों एक ही गाड़ीमें बैठे। सुबह पटना उतरे।

पटनेकी यह मेरी पहली यात्रा थी। वहां मेरी किसीसे इतनी पहचान नहीं थी कि कहीं ठहर सकूं।

मैंने मनमें सोचा था कि राजकुमार शुक्ल है तो अनघढ़ किसान, परंतु यहां उनका कुछ-न-कुछ जरिया जरूर होगा। ट्रेनमें उनका मुझे अधिक हाल मालूम हुआ। पटनेमें जाकर उनकी कलई खुल गई। राजकुमार शुक्लका भाव तो निर्दोष था, परंतु जिन वकीलोंको उन्होंने मित्र माना था वे मित्र न थे; बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रितकी तरह थे। इस किसान मवक्किल और उन वकीलोंके बीच उतना ही अंतर था, जितना कि बरसातमें गंगाजीका पाट चौड़ा हो जाता है।

मुझे वह राजेंद्रबाबूके यहां ले गये। राजेंद्रबाबू पुरी या कहीं और गये थे। बंगलेपर एक-दो नौकर थे। खानेकेलिए कुछ तो मेरे साथ था;

परंतु मुझे खजूरकी जरूरत थी, सो बेचारे राजकुमार शुक्लने बाजारसे ला दी।

परंतु बिहारमें छुआछूतका बड़ा सख्त रिवाज था। मेरे डोलके पानीके छींटेंसे नौकरको छूत लगती थी। नौकर बेचारा क्या जानता कि मैं किस जातिका था? अंदरके पाखानेका उपयोग करनेके लिए राजकुमारने कहा, तो नौकरने बाहरके पाखानेकी तरफ उंगली उठाई। मेरे लिए इनमे असमंजसकी या रोषकी कोई बात न थी; क्योंकि ऐसे अनुभवोंसे मैं पक्का हो गया था। नौकर तो बेचारा अपने धर्मका पालन कर रहा था, और राजेंद्रबाबूके प्रति अपना फ़र्ज अदा करता था। इन मजेदार अनुभवोंसे राजकुमार शुक्लके प्रति जहां एक ओर मेरा मान बढ़ा, तहां उनके संबंधमे मेरा ज्ञान भी बढ़ा। अब पटनासे लगाम मैंने अपने हाथमें ले ली।

: १३ :

बिहारकी सरलता

मौलाना मजहरुलहक और मैं एक साथ लंदनमें पढ़ते थे। उसके बाद हम बंबईमें १९१५की कांग्रेसमें मिले थे। उस साल वह मुसलिम-लीगके सभापति थे। उन्होंने पुरानी पहचान निकालकर जब कभी मैं पटना आऊं तो अपने यहां ठहरनेका निमंत्रण दिया था। इस निमंत्रणके आधारपर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी और अपने कामका परिचय भी दिया। वह तुरंत अपनी मोटर लेकर आये और मुझे अपने यहां चलनेका इसरार करने लगे। इसके लिए मैंने उनको धन्यवाद दिया और कहा कि "मुझे अपने जानेके स्थानपर पहली ट्रेनसे रवाना कर दीजिए। रेलवे गाइडसे मुकामका मुझे कुछ पता नहीं लग सकता।" उन्होंने राजकुमार

शुक्लके साथ बात की और कहा कि पहले मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन शामको मुजफ्फरपुरकी गाड़ी जाती थी। उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया। मुजफ्फरपुरमें उस समय आचार्य कृपलानी भी रहते थे। उन्हे मैं पहचानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महा-त्यागकी, उनके जीवनकी, और उनके द्रव्यसे चलनेवाले आश्रमकी बात डॉक्टर चोइथराम के मुखसे सुनी थी। वह मुजफ्फरपुर कॉलिजमें प्रोफेसर थे; पर उस समय वहांसे मुक्त हो बैठे थे। मैंने उन्हें तार किया। ट्रेन मुजफ्फरपुर आधीरातको पहुचती थी। वह अपने शिष्य-मंडलको लेकर स्टेशन आ पहुंचे थ; परतु उनके घर-बार कुछ न था। वह अध्यापक मलकानीके यहां रहते थे; मुझे उनके यहां ले गये। मलकानी भी वहाके कालेजमे प्रोफेसर थे और उस जमानेमें सरकारी कॉलेजके प्रोफेसरका मुझे अपने यहां ठहराना एक असाधारण बात थी।

कृपलानीजीने बिहारकी और उसमें तिरहुत-विभागकी दीन दशाका वर्णन किया और मुझे अपने कामकी कठिनाईका अंदाज बताया। कृपलानीजीने बिहारियोंके साथ गाढ़ा संबंध कर लिया था। उन्होंने मेरे कामकी बात वहांके लोगोसे कर रखी थी। सुबह होते ही कुछ वकील मेरे पास आये। उनमेसे रामनवमीप्रसादजीका नाम मुझे याद रह गया है। उन्होंने अपने इस आग्रहके कारण मेरा ध्यान अपनी ओर खीचा था—

"आप जिस कामको करने यहां आये है वह इस जगहसे नहीं हो सकता। आपको तो हम-जैसे लोगोंके यहां चलकर ठहरना चाहिए। गयाबाबू यहांके मशहूर वकील है। उनकी तरफसे मैं आपको उनके यहां ठहरनेका आग्रह करता हूं। हम सब सरकारसे तो जरूर डरते हैं; परंतु हमसे जितनी हो सकेगी आपकी मदद करेंगे। राजकुमार शुक्लकी बहुतेरी बातें सच हैं। हमें अफसोस है कि हमारे अगुआ आज यहां नही है। बाबू बृजकिशोरप्रसादको और राजेंद्रप्रसादको मैंने तार दिया है। दोनों यहां जल्दी आ जायंगे और आपको पूरी-पूरी वाकफियत

और मदद दे सकेंगे। मिहरबानी करके आप गयाबाबूके यहां चलिए।"

यह भाषण सुनकर मैं ललचाया; पर मुझे इस भयसे संकोच हुआ, कि मुझे ठहरानेसे कहीं गयाबाबूकी स्थिति विषम न हो जाय; परंतु गया-बाबूने इसके विषयमें मुझे निश्चित कर दिया।

अब मैं गयाबाबूके यहां ठहरा। उन्होंने तथा उनके कुटुंबी-जनोंने मुझपर बड़े प्रेमकी वर्षा की।

बृजकिशोरबाबू दरभंगासे और राजेंद्रबाबू पुरीसे यहां आये। यहां जो मैंने देखा तो यह लखनऊवाले बृजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनके अंदर बिहारी की नम्रता, सादगी, भलमनसी और असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्षसे फूल उठा। बिहारी वकील-मंडलका उनके प्रति आदर-भाव-देखकर मुझे आनंद और आश्चर्य दोनों हुए।

तबसे इस वकील-मंडल और मेरे बीच जन्म-भरकेलिए स्नेह-गांठ बंध गई। बृजकिशोरबाबूने मुझे सब बातोंसे वाकिफ कर दिया। वह गरीब किसानोंकी तरफसे मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे उस समय चल रहे थे। ऐसे मुकदमोंके द्वारा वह कुछ व्यक्तियोंको राहत दिलाते थे; पर कभी-कभी इसमें भी असफल हो जाते थे। इन भोले-भाले किसानोंसे वह फीस लिया करते थे। त्यागी होते हुए भी बृजकिशोरबाबू या राजेंद्रबाबू फीस लेनेमें संकोच न करते थे। पेशेके काममें अगर फीस न लें तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगोंकी मदद भी नहीं कर सकते।" यह उनकी दलील थी। उनकी तथा बंगाल-बिहारके बैरिस्टरोंकी फीसके कल्पनातीत अंक सुनकर मैं तो चकित रह गया। "...को हमने 'ओपीनियन'के लिए दस हजार रुपये दिये।" हजारोंके सिवाय तो मैंने बात ही नहीं सुनी।

इस मित्र-मंडलने इस विषयमें मेरा मीठा उलाहना प्रेमके साथ सुना। उन्होंने उसका उलटा अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा—"इन मुकदमोंकी मिसलें देखनेके बाद मेरी तो यह

होती है कि हम यह मुकदमेवाजी अव छोड़ दें। ऐसे मुकदमोंसे वहुत कम लाभ होता है। जहां प्रजा इतनी कुचली जाती ह, जहां सव लोग इतने भयभीत रहते है, वहां अदालतोंके द्वारा वहुत कम राहत मिल सकती है। इसका सच्चा इलाज तो है लोगोंके दिलसे डरको निकाल देना। इसलिए अव जवतक यह 'तीन कठिया' प्रथा मिट नहीं जाती, तवतक हम आरामसे नहीं वैठ सकते। मै तो अभी दो दिन में जितना देख सकूं, देखनेके लिए आया हूं; परंतु मै देखता हूं कि इस काममें दो वर्ष भी लग सकते हैं; परंतु इतने समयकी भी जरूरत हो तो मैं देनेकेलिए तैयार हूं। यह तो मुझे सूझ रहा है कि मुझे क्या करना चाहिए; परंतु आपकी मददकी जरूरत है।"

मैंने देखा कि वृजकिशोरवावू निश्चित विचारके आदमी हैं। उन्होंने शांतिके साथ उत्तर दिया—"हमसे जो-कुछ वन सकेगी वह मदद हम जरूर करेंगे; परंतु हमें आप वतलाइए कि आप किस तरहकी मदद चाहते है।"

हम लोग रात-भर वैठकर इस विषयपर विचार करते रहे। मैंने कहा—"मुझे आपकी वकालतकी सहायताकी जरूरत कम होगी। आप-जैसोंसे मै लेखक और दुभाषियेके रूपमें सहायता चाहता हूं। संभव है, इस काममें जेल जानेकी भी नौवत आ जाय। यदि आप इस जोखिममें पड़ सकें तो मै इसे पसंद करूंगा; परंतु यदि आप न पड़ना चाहें तो भी कोई वात नहीं। वकालतको अनिश्चित समयके लिए वंद करके लेखकके रूपमे काम करना भी मेरी कुछ कम मांग नहीं है। यहांकी वोली समझनेमें मुझे वहुत दिक्कत पड़ती है। कागज-पत्र सव उर्दू या कैथीमें लिखे होते हैं, जिन्हें मै पढ नहीं सकता। उनके अनुवादकी में आपसे आशा रखता हूं। रुपये देकर यह काम कराना चाहें तो वह अपने सामर्थ्यके वाहर है। यह सव सेवा-भावसे, विना पैसेके, होना चाहिए।"

वृजकिशोरवावू मेरी वातको समझ तो गये; परंतु उन्होंने मुझसे तथा अपने साथियोंसे जिरह शुरू की। मेरी वातोंका फलितार्थ उन्हें

बताया। मुझसे पूछा—"आपके अंदाजमें कबतक वकीलोंको यह त्याग करना चाहिए, कितना करना चाहिए, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधिकेलिए आते रहें तो काम चलेगा या नही ?" इत्यादि। वकीलोंसे उन्होंने पूछा कि आप लोग कितना-कितना त्याग कर सकेंगे ?

अंतमें उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया—"हम इतने लोग तो आप जो काम सौंपेंगे करनेकेलिए तैयार रहेंगे। इनमेंसे जितनोंको आप जिस समय चाहेंगे आपके पास हाजिर रहेंगे। जेल जानेकी बात अलबत्ता हमारे लिए नई है; पर उसकी भी हिम्मत करनेकी हम कोशिश करेंगे।"

: १४ :

अहिंसादेवीका साक्षात्कार

मुझे तो किसानोंकी हालतकी जांच करनी थी। यह देखना था कि नीलके मालिकोंकी जो शिकायत किसानोंको थी, उसमे कितनी सचाई है। इसमें हजारों किसानोसे मिलनेकी जरूरत थी; परंतु इस तरह आमतौरपर उनसे मिलने-जुलनेके पहले, निलहे मालिकोंकी बात सुन लेने और कमिश्नरसे मिलनेकी आवश्यकता मुझे दिखाई दी। मैंने दोनोंको चिट्ठी लिखी।

मालिकोंके मंडलके मंत्रीसे मिला तो उन्होंनें मुझे साफ कह दिया, "आप तो बाहरी आदमी है। आपको हमारे और किसानोंके झगड़ेमें न पड़ना चाहिए। फिर भी यदि आपको कुछ कहना हो तो लिखकर भेज दीजिए।" मैंने मंत्रीसे सौजन्यके साथ कहा—"मैं अपनेको बाहरी आदमी नही समझता और किसान यदि चाहते हों तो उनकी स्थितिकी जांच करनेका मुझे पूरा अधिकार है।" कमिश्नर साहबसे मिला तो

उन्होंने तो मुझे धमकानेसे ही शुरुआत की और आगे कोई कार्रवाई न करते हुए मुझे तिरहुत छोड़नेकी सलाह दी।

मैंने साथियोंसे ये सब बातें करके कहा कि संभव है, सरकार जांच करनेसे मुझे रोकें और जेल-यात्राका समय शायद मेरे अंदाजसे पहले ही आजाय। यदि पकड़े जानेका ही मौका आवे तो मुझे मोतीहारी और हो सके तो बेतियामें गिरफ्तार होना चाहिए। इसलिए जितनी जल्दी हो सके मुझे वहां पहुंच जाना चाहिए।

चंपारन तिरहुत जिलेका एक विभाग था और मोतीहारी उसका एक मुख्य शहर। बेतियाके ही आसपास राजकुमार शुक्लका मकान था। और उसके आसपासकी कोठियोंके किसान सबसे ज्यादा गरीब थे। उनकी हालत दिखानेका लोभ राजकुमार शुक्लको था और मुझे अब उन्हींको देखनेकी इच्छा थी, इसलिए साथियोंको लेकर मैं उसी दिन मोतीहारी जानेके लिए रवाना हुआ। मोतीहारीमें गोरखबाबूने आश्रय दिया और उनका घर खासी धर्मशाला बन गया। हम सब ज्यों-त्यों करके उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुंचे उसी दिन हमने सुना कि मोतीहारीसे पांचेक मील दूर एक किसान रहता था और उसपर बहुत अत्याचार हुआ था। निश्चय हुआ कि उसे देखनेके लिए धरणीधरप्रसाद वकीलको लेकर सुबह जाऊं। तदनुसार सुबह होते ही हम हाथीपर सवार होकर चल पड़े। चंपारनमें हाथी लगभग वही काम देता है जो गुजरातमें बैलगाड़ी देती है। हम आधे रस्ते पहुंचे होंगे कि पुलिस-सुपरिंटेंडेंटका सिपाही आ पहुंचा और उसने मुझसे कहा—"सुपरिंटेंडेंट साहबने आपको सलाम भेजा है।" मैं उनका मतलब समझ गया। धरणीधरबाबूसे मैंने कहा, आप आगे चलिए; और मैं उस जासूसके साथ उस गाड़ीमें बैठा, जो वह किरायेपर लाया था। उसने मुझे चंपारन छोड़ देनेका नोटिस दिया। घर लेजाकर उसपर मेरे दस्तखत मांगे। मैंने जवाब दिया कि "मैं चंपारन छोड़ना नहीं चाहता। आगे मुफस्सिलातमें जाकर जांच करनी है।" इस हुक्मका अनादर करनेके

अपराधमें दूसरे ही दिन मुझे अदालतमें हाजिर होनेका समन मिला।

सारी रात जागकर मैंने जगह-जगह आवश्यक चिट्ठियां लिखीं और जो-जो आवश्यक बातें थीं वे बृजकिशोरबाबूको समझा दी।

समनकी बात एक क्षणमें चारों ओर फल गई और लोग कहते थे कि ऐसा दृश्य मोतीहारीमें पहले कभी नही देखा गया था। गोरखबाबूके घर और अदालतमे खचाखच भीड़ हो गई। खुशकिस्मतीसे मैंने अपना सारा काम रातको ही खतम कर लिया था, इससे इस भीड़का मै इंतजाम कर सका। इस समय अपने साथियोंकी पूरी-पूरी कीमत देखनेका मुझे मौका मिला वे लोगोंको नियमसे अंदर रखनेमें जुट पड़े और अदालतमें मैं जहां जाता वहां लोगोंकी भीड़ मेरे पीछे-पीछे आती। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिटेंडेट वगैरा के और मेरे दरमियान भी एक तरहका अच्छा संबंध हो गया। सरकारी नोटिस इत्यादिका अगर मै बाकायदा विरोध करता तो कर सकता था; परंतु ऐसा करनेंकी बजाय मैंने उनके तमाम नोटिसोंको मंजूर कर लिया फिर राज-कर्मचारियोके साथ मेरे जाती ताल्लुकातमे जिस मिठासका मैंने अवलंबन किया उससे वे समझ गये कि मैं उनका विरोध नही करना चाहता; बल्कि उनके हुक्मका सविनय विरोध करना चाहता हूं। इससे वे एक प्रकारसे निश्चित हुए। मुझे दिक करनेकी बजाय उन्होंने लोगोंको नियममें रखनेके काममें मेरी और मेरे साथियोंकी सहायता खुशीसे ली; पर साथ ही वे यह भी समझ गये कि आजसे हमारी सत्ता यहांसे उठ गई। लोग थोड़ी देरके लिए सजाका भय छोड़कर अपने नये मित्रके प्रेमकी सत्ताके अधीन हो गये।

यहां पाठक याद रखें कि चंपारनमे मुझे कोई पहचानता न था। किसान लोग बिलकुल अनपढ़ थे। चंपारन गंगाके उसपार, ठेठ हिमालयकी तराईमे नैपालके नजदीकका हिस्सा है। उसे नई दुनिया ही कहना चाहिए। यहां कांग्रेसका नाम-निशान भी नही था, न उसके कोई मेंबर ही थे। जिन लोगोने कांग्रेसका नाम सुन रखा था वे उसका

नाम लेते हुए और उसमें शरीक होते हुए डरते थे; पर आज वहां कांग्रेसके नामके विना कांग्रेसने और कांग्रेसके सेवकोंने प्रवेश किया और कांग्रेसकी दुहाई घूम गई।

साथियोंके साथ कुछ सलाह करके मैंने यह निश्चय किया था कि कांग्रेसके नामपर कुछ भी काम यहां न किया जाय। हमको नामसे नहीं कामसे मतलव है। 'कथनीकी—कहनेकी—नहीं, करनीकी' जरूरत है। कांग्रेसका नाम यहां लोगोंको खलता है। इस प्रांतमें कांग्रेसका अर्थ है वकीलोंको तू-तू, मैं-मैं, कानूनकी गलियोंमेंसे निकल भागनेकी कोशिश। कांग्रेसका अर्थ यहां है वम-गोले, और कहना कुछ, करना कुछ। ऐसा खयाल कांग्रेसके वारेमें यहां सरकार और सरकारकी सरकार यानी निलहे मालिकोंके मनमे था; परंतु हमें यह सावित करना था कि कांग्रेस ऐसी नहीं,दूसरी ही वस्तु है। इसलिए हमने यह निश्चय किया था कि कहीं भी कांग्रेसका नाम न लिया जाय और लोगोंको कांग्रेसके भौतिक देहका भी परिचय न कराया जाय। हमनें सोचा कि वे कांग्रेसके अक्षरको—नामको न जानते हुए उसकी आत्माको जानें और उसका अनुसरण करें तो वस है। यही वास्तविक वात है।

इसलिए कांग्रेसकी तरफसे किन्ही छिपे या प्रकट दूतोंके द्वारा कोई जमीन तैयार नहीं कराई गई थी; कोई पेशवंदी नही की गई थी। राजकुमार शुक्लमें हजारों लोगोंमें प्रवेश करनेका सामर्थ्य न था, वहां लोगोंके अंदर किसीनें भी आजतक कोई राजनीतिक काम नहीं किया था। चंपारनके सिवा दूसरी दुनियाको वे जानते ही न थें। फिर भी उनका और मेरा मिलाप किसी पुराने मित्रके मिलाप-सा था। अतएव यह कहनेंमें मुझे कोई अत्युक्ति नहीं मालूम होती, वल्कि यह अक्षरशः सत्य है, कि मैनें वहां ईश्वरका, अहिंसाका, और सत्यका साक्षात्कार किया। जव साक्षात्कार-विषयक अपनें इस अधिकारपर विचार करता हूं तो मुझे उसमें लोगोंके प्रति प्रेमके सिवा दूसरी कोई वात नहीं दिखाई पड़ती और यह प्रेम अथवा अहिंसाके प्रति मेरी अचल श्रद्धाके सिवा और कुछ नहीं है।

चंपारनका यह दिन मेरे जीवनमें ऐसा था, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता। यह मेरे तथा किसानोंकेलिए उत्सवका दिन था। मुझपर सरकारी कानूनके मुताबिक मुकदमा चलाया जानेवाला था; परंतु सच पूछा जाय तो मुकदमा सरकारपर चल रहा था। कमिश्नरने जो जाल मेरेलिए फैलाया था उसमें उसने सरकारको ही फंसा मारा।

: १५ :

मुकदमा वापस

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट वगैरा चिंतित हो रहे थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ता था कि क्या करें। सरकारी वकील तारीख बढ़ानेकी कोशिश कर रहा था। मैं बीचमें पड़ा और मैंने अर्ज किया कि "तारीख बढ़ानेकी कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि मैं अपना यह अपराध कबूल करना चाहता हूं कि मैंने चंपारन छोड़नेके नोटिसका अनादर किया है।" यह कहकर मैंने जो अपना छोटा-सा वक्तव्य तैयार किया था वह पढ़ सुनाया। वह इस प्रकार था—

> "अदालतकी आज्ञा लेकर मैं संक्षेपमें यह बतलाना चाहता हूं कि जाब्ता फौजदारीकी दफा १४४ की रूसे दिये नोटिस द्वारा मुझे जो आज्ञा दी गई है, उसकी स्पष्ट अवज्ञा मैंने क्यों की। मेरी समझमें यह अवज्ञाका नहीं बल्कि स्थानीय अधिकारियों और मेरे बीच मत-भेदका प्रश्न है। मैं इस प्रदेशमें जन-सेवा तथा देश-सेवा करनेके विचारसे आया हूं। यहां आकर उन रैयतोंकी सहायता करनेकेलिए मुझसे बहुत आग्रह किया गया था, जिनके साथ कहा जाता है कि निलहे साहब अच्छा व्यवहार नहीं करते; इसीलिए मैं यहां आया हूं। पर जबतक मैं सब बातें

अच्छी तरह जान न लेता, तबतक उन लोगोंकी कोई सहायता नहीं कर सकता था। इसलिए यदि हो सके तो अधिकारियों और निलहे साहबोंकी सहायतासे मैं सब बातें जाननेकेलिए आया हूं। मैं किसी दूसरे उद्देश्यसे यहां नहीं आया हूं। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि मेरे यहां आनेसे किसी प्रकार शांति-भंग या प्राण-हानि हो सकती है। मैं कह सकता हूं कि मुझे ऐसी बातोंका बहुत अनुभव है। अधिकारियोंको जो कठिनाइयां होती है, उनको मैं समझता हूं; और मैं यह भी मानता हूं कि उन्हें जो सूचना मिलती है, वे केवल उसीके अनुसार काम कर सकते हैं। कानून माननेवाले व्यक्तिकी तरह मेरी प्रवृत्ति यही होनी चाहिए थी, और ऐसी प्रवृत्ति हुई भी कि मैं इस आज्ञा का पालन करूं; परंतु ऐसा करना मुझे उन लोगोके प्रति, जिनके कारण मैं यहां आया हूं, अपने कर्त्तव्यका घात करना मालूम हुआ। मैं समझता हूं कि मैं उन लोगोंके बीच रहकर ही उनकी भलाई कर सकता हूं। इस कारण मैं स्वेच्छासे इस स्थानसे नहीं जा सकता था। ऐसे धर्म-संकटकी दशामें केवल यही कर सकता था कि अपनेको हटानेकी सारी जिम्मेदारी शासकोंपर छोड़ दूं। मैं भली-भांति जानता हूं कि भारतके सार्वजनिक जीवनमें मेरी जसी प्रतिष्ठा रखनेवाले लोगोंको अपने किसी कार्यके द्वारा आदर्श उपस्थित करनेमें बहुत ही सचेत रहना चाहिए। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस अटपटी स्थितिमें हम लोग हैं उसमें मुझ जैसी स्थितिके स्वाभिमानी व्यक्तिके पास दूसरा कोई अच्छा व सम्मानपूर्ण मार्ग नहीं है सिवा इसके कि उस हुक्मका अनादर करे व उसके बदले जो सजा मिले उसे चुपचाप सह ले। मैंने जो बयान दिया है, वह इसलिए नहीं है कि जो दंड मुझे मिलनेवाला है, वह कम किया जाय; बल्कि इस बातको दिखलानेकेलिए कि मैंने जो सरकारी आज्ञाकी अवज्ञा की है वह कानून स्थापित सर-

कारका अपमान करनेके इरादे से नहीं बल्कि इस कारणसें कि मैंने उससे भी उच्चतर आज्ञा---अपनी अंतरात्माकी आज्ञा---का पालन करना उचित समझा है।"

अब मुकदमेकी सुनवाई मुल्तवी रखनेका तो कुछ कारण ही नहीं रह गया था; परंतु मजिस्ट्रेट या सरकारी वकील उस परिणामकी आशा नही रखते थे। अतएव सजाकेलिए अदालतने फैसला मुल्तवी रखा। मैंने वाइसरायको तार द्वारा सब हालतकी सूचना दे दी थी, पटना भी तार दे दिया था। भारत-भूषण पडित मालवीयजी वगैरा को भी तार द्वारा समाचार भेज दिया था। अब सजा सुननेकेलिए अदालतमें जानेका समय आनेके पहले ही मुझे मजिस्ट्रेटका हुक्म मिला कि लाट साहबके हुक्मसे मुकदमा उठा लिया गया है और कलेक्टरकी चिट्ठी मिली कि आप जो कुछ जाँच करना चाहें, शौकसे करें और उसमे जो कुछ मदद सरकारी कर्मचारियोंकी ओरसे लेना चाहे, लें। ऐसे तत्काल और शुभ परिणामकी आशा हममेंसे किसीने नही की थी।

मै कलेक्टर मि० हेकाकसे मिला। वह भला आदमा मालूम हुआ और इंसाफ करनेकेलिए तत्पर नजर आया। उसने कहा कि आप जो-कुछ कागज-पत्र या और कुछ देखना चाहे, देख सकते हैं। जब कभी मिलना चाहें, जरूर मिल सकते हैं।

दूसरी तरफ सारे भारतवर्षको सत्याग्रहका अथवा कानूनके सविनय भंगका पहला स्थानिक पदार्थ-पाठ मिला। अखबारोंमे इस प्रकरणकी खूब चर्चा चली और चंपारनको तथा मेरी जांचको अकल्पित विज्ञापन मिल गया।

मुझे अपनी जांचकेलिए जहां एक ओर सरकारके निष्पक्ष रहनेकी जरूरत थी, तहां दूसरी ओर अखबारोंमे चर्चा होने की और उनके संवाद-दाताओंकी जरूरत नही थी। यही नहीं, बल्कि उनकी कड़ी टीका और जांचकी बड़ी-बड़ी रिपोर्टों से हानि होनेका भी भय था। इसलिए मैंने मुख्य-मुख्य अखबारोके संपादकोंसे अनुराध किया कि "आप अपने संवाददाताओंको भेजनेका खर्च न उठावे। जितनी बातें प्रकाशित करने

योग्य होंगी, वह मैं आपको खुद भेजता रहूंगा और खबर भी देता रहूंगा।"

इधर चंपारनके निलहे मालिक खूब बिगड़े हुए थे, यह मैं जानता था; और यह भी मैं समझता था कि अधिकारी लोग भी मनमें खुश न रहते होंगे।

अखबारोंमें जो झूठी-सच्ची खबरें छपती उनसे वे और भी चिढ़ते। उनकी चिढ़का असर मुझपर तो क्या होता; परंतु बेचारी गरीब, डरपोक रैय्यतपर उनका गुस्सा उतरे बिना न रहता और ऐसा होनेसे जो वास्तविक स्थिति मैं जानना चाहता था उसमें विघ्न पड़ता। निलहोंकी तरफसे जहरीला आंदोलन शुरू हो गया था। उनकी तरफसे अखबारोंमे मेरे तथा मेरे साथियोंके विषयमें मनमानी झूठी बातें फैलाई जाती थी; परंतु मेरी अत्यंत सावधानीके कारण, और छोटी-से-छोटी बातमें भी सत्यपर दृढ रहनेकी आदतके कारण, उनके सब तीर बेकार गये।

बृजकिशोरबाबूकी अनेक तरहसे निंदा करनेमें निलहोंने किसी बातकी कमी न रखी थी; परंतु वे ज्यों-ज्यो उनकी निंदा करते गये त्यों-त्यों बृजकिशोरबाबूकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

ऐसी नाजुक हालतमें मैंने संवाद-दाताओंको वहां आनेकेलिए बिलकुल उत्साहित नहीं किया। नेताओंको भी नही बुलाया। मालवीयजीने मुझे कहला रखा था कि जब जरूरत हो तब मुझे बुला लेना; मै आनेकेलिए तैयार हूं; पर उन्हें भी कष्ट नही दिया और न आंदोलनको राजनीतिक रूप ही ग्रहण करने दिया। वहांके सामाचारोंका विवरण मैं समय-समयपर मुख्य-मुख्य पत्रोंको भेजता रहता था। राजनीतिक कामोंमे भी जहां राजनीतिकी गुंजाइश न हो वहां राजनीतिक रूप दे-देनेसे "माया मिली न राम" वाली मसल होती और इस तरह विषयोंका स्थानांतर न करनेसे दोनों सुधरते है, यह मैंने बहुत बार अनुभव करके देखा था। शुद्ध लोक-सेवामें प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष रूपमे राजनीति समाई ही रहती है, यह बात चंपारनका आंदोलन सिद्ध कर रहा था।

: १६ :

कार्य-पद्धति

चंपारनकी जांचका विवरण देना मानो चंपारनके किसानोंका इतिहास देना है। यह सारा इतिहास इन अध्यायोंमें नही दिया जा सकता। फिर चंपारनकी जांच क्या थी, अहिंसा और सत्यका एक बड़ा प्रयोग ही था। और जितनी बातोंका संबंध इस प्रयोगसे है वे जैसे-जैसे मुझे सूझती जाती है, प्रति सप्ताह देता जाता हूं।[1]

अब मूल विषय पर आता हूं। गोरखबाबूके यहां रहकर जांच की जाती तो गोरखबाबूको अपना घरही खाली करना पड़ता। मोतीहारीमें लोग इतने निर्भय नही थे कि मांगतेही अपना मकान किरायेपर देदें; परंतु चतुर बृजकिशोरबाबूने एक अच्छा चौगानवाला मकान किराये पर ले लिया और हम लोग वहां चले गये। वहांका काम-काज चलानेके लिए धनकी आवश्यकता थी। सार्वजनिक कामके लिए लोगोंसे रुपया मांगनेकी प्रथा आजतक न थी। बृजकिशोरबाबूका यह मंडल मुख्यतः वकील-मंडल था। इसलिए जब कभी आवश्यकता होती तो वे या तो अपनी जेब से रुपया देते या कुछ मित्रोंसे मांग लेते। उनका खयाल यह था कि जो लोग खुद रुपये-पैसेसे सुखी है वे सर्व-साधारणसे धनकी भिक्षा कैसे मांग सकते है? और मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चंपारन की रैय्यतसे एक कौड़ी न लेनी चाहिए। यदि ऐसा करते तो उसका उलटा अर्थ होता। यह भी निश्चय था कि इस जांचके लिए भारतवर्षमें भी आम लोगोसे चंदा न करना चाहिए। ऐसा करनेसे इस जांचको राष्ट्रीय और राजनीतिक स्वरूप प्राप्त हो जाता। बंबईसे मित्रोंने १५०००) सहायता भेजनेका

---

१ 'अधिक विवरण जाननेके लिए बाबू राजेंद्रप्रसाद-लिखित चम्पारनमें महात्मागांधी' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिए। अनु०

तार दिया; पर उनकी सहायता मैंने सधन्यवाद अस्वीकार कर दी। यह सोचा था कि चंपारनके बाहरसे, परंतु बिहारके हैसियतदार और सुखी लोगोंसे ही बृजकिशोरबाबूका मंडल जितनी सहायता प्राप्त कर सके उतनी ले लू और शेष रकम मैं डाक्टर प्राणजीवनसे मंगा लू। डाक्टर मेहताने लिखा कि जितनी आवश्यकता हो मंगा लीजिएगा। इससे हम रुपये-पैसेके बारेमें निश्चित हो गए। गरीबोंके साथ भरसक कम खर्च करके यह आंदोलन चलाना था। इसलिए बहुत रुपयोंकी आवश्यकता न थी। और दर-हकीकत जरूरत पड़ी भी नहीं। मेरा खयाल है कि सब मिलाकर दो-तीन हजारसे ज्यादा खर्च न हुआ होगा। और मुझे याद है कि जितना रुपया इकट्ठा किया था उसमेंसे भी पांचसौ या हजार बच गया था।

शुरूमें वहां हमारी रहन-सहन बड़ा विचित्र था। और मेरे लिए तो वह रोज हंसी-मजाकका विषय हो गई थी। इस वकील-मंडलमें हरेकके पास एक नौकर रसोइया होता। हरेककी अलग रसोई बनती। रातके बारह बजे तक भी वे लोग खाना खाते। ये महाशय खर्च वगैरा तो सब अपना ही करते थे; फिर भी मेरे लिए यह रहन-सहन एक आफत था। अपने इन साथियोंके पास मेरी स्नेह-गांठ ऐसी मजबूत हो गई थी कि हमारे दरमियान कभी गलत-फहमी न होने पाती थी। मेरे शब्द-बाणोंको वे प्रेमसे झेलते। अंतको यह तय पाया कि नौकरों को छुट्टी दे दी जाय, सब एकसाथ खाना खावें और भोजनके नियमोंका पालन करें। उसमें सभी निरामिषाहारी न थे और तरह-तरहकी अलग रसोई बनाने का इंतजाम करनेसे खर्च बढ़ता था। इससे यही निश्चय किया गया कि निरामिष भोजन ही पकाया जाय और एक ही जगह सबकी रसोई बनाई जाय। भोजन भी सादा ही रखनेपर जोर दिया जाता था। इससे खर्च बहुत कम पड़ा हम लोगोंके काम करनेका सामर्थ्य बढ़ा, और समय भी बच गया।

हमें अधिक शक्ति बचानेकी आवश्यकता भी थी; क्योंकि किसानोंके झुंड-के-झुंड अपनी कहानी लिखानेके लिए आने लगे थे। एक-एक

कहानी लिखनेवालेके साथ एक भीड़-सी भी रहती थी। इससे मकानका चौगान भर जाता था। मुझे दर्शनाभिलाषियोंसे बचानेकेलिए साथी लोग बहुत प्रयत्न करते; परंतु वे निष्फल हो जाते। एक निश्चित समय पर दर्शन देनेके लिए मुझे बाहर लानेपर ही पिंड छूटता था। कहानी-लेखक हमेशा पांच-सात रहते थे। फिर भी शाम-तक सबके बयान पूरे न हो पाते थे। यों इतने सब लोगोंके बयानोंकी जरूरत नहीं थी; फिर भी उनके लिख लेनेसे लोगोंको संतोष हो जाता था, और मुझे उनके मनोभावोंका पता लग जाता था।

कहानी-लेखकोंको कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। वे ये थे—"प्रत्येक किसानसे जिरह करनी चाहिए। जिरहमे जो गिर जाय उसका बयान न लिखा जाय। जिसकी बात शुरूसे ही कमजोर पाई जाय वह न लिखी जाय।" इन नियमोंके पालनसे यद्यपि कुछ समय अधिक जाता था फिर भी उससे सच्चे और साबित होने लायक बयान ही लिखे जाते थे।

जब ये बयान लिखे जाते तो खुफिया पुलिसके कोई-न-कोई कर्मचारी वहां मौजूद रहते। इन कर्मचारियोंको हम रोक सकते थे; परंतु हमने शुरूसे यह निश्चय किया था कि उन्हें रोका न जाय। यही नहीं बल्कि उनके प्रति सौजन्य रखा जाय और जो खबर उन्हें दी जा सकती हो दी जाय। जो बयान लिये जाते उनको वे देखते और सुनते थे। इससे लाभ यह हुआ कि लोगोंमे अधिक निर्भयता आ गई। और बयान उनके सामने लिये जानेसे अत्युक्तिका भय कम रहता था। इस डरसे कि झूठ बोलेंगे तो पुलिसवाले फंसा देगे, उन्हे सोच-समझकर बोलना पड़ता था।

मै निलहे मालिकोंको चिढ़ाना नही चाहता था; बल्कि अपने सौजन्यसे उन्हें जीतनेका प्रयत्न करता था। इसलिए जिनके बारेमे विशेष शिकायतें होती, उन्हें मै चिट्ठी लिखता और मिलने की कोशिश भी करता। उनके मंडलसे भी मै मिला था और रैय्यतकी शिकायते उनके सामने पेश की थी और उनका कहना भी सुन लिया था। उनमंसे कितने तो मेरा तिरस्कार करते थे, कितने हीं उदासीन थे और बाज-बाज सौजन्य भी दिखाते थे।

: १७ :

साथी

बृजकिशोरबाबू और राजेंद्रबाबू की जोड़ी अद्वितीय थी। उन्होंने प्रेमसे मुझे ऐसा अपग बना दिया था कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे न रख सकता था। उनके शिष्य कहिए या साथी कहिए, शंभुबाबू, अनुग्रहबाबू, धरणीबाबू और रामनवमीबाबू—ये वकील प्रायः निरंतर साथ-साथ ही रहते थे। विंध्याबाबू और जनकधारीबाबू भी समय-समय पर रहते थे। यह तो हुआ बिहारी-संघ। इनका मुख्य काम था लोगोंके बयान लिखना। इसमें अध्यापक कृपलानी भला बिना शामिल हुए कैसे रह सकते थे? सिंधी होते हुए भी वह बिहारीसे भी अधिक बिहारी हो गये थे। मैने ऐसे थोड़े सेवकोंको देखा है जो जिस प्रांतमें जाते है वहींके लोगोंमें दूध-शक्करकी तरह घुल-मिल जाते है, और किसीको यह नहीं मालूम होने देते कि यह गैर प्रांतके है। कृपलानी इनमें एक हैं। उनके जिम्मे मुख्य काम था द्वारपाल का; दर्शन करनेवालोसे मुझे बचा लेनेमें ही उन्होंने उस समय अपने जीवनका सार्थकता मान ली थी। किसीको हंसी-दिल्लगीसे और किसीको अहिंसक धमकी देकर वह मेरे पास आनेसे रोकते थे। रातको अपनी अध्यापकी शुरू करते और तमाम साथियोंको हंसा मारते और यदि कोई डरपोक आदमी वहां पहुंच जाता तो उसका हौसला बढ़ाते।

मौलाना मजहरुलहकने मेरे सहायकके रूपमे अपना हक लिखवा रखा था और महीने में एक-दो बार आकर मुझसे मिल जाया करते। उस समयके उनके ठाट-बाट और शानमे तथा आजकी सादगीमें जमीन-आसमानका अंतर है। वह हम लोगोंमें आकर अपने हृदयको तो मिला जाते, परतु अपने साहबी ठाट-बाटके कारण बाहरके लोगोंको वह हमसे भिन्न मालूम होते थे।

ज्यों-ज्यों मैं अनुभव प्राप्त करता गया त्यों-त्यों मुझे मालूम हुआ कि यदि चंपारनमे ठीक-ठीक काम करना हो तो, गांवोंमें शिक्षाका प्रवेश होना चाहिए। वहां लोगोंका अज्ञान दयाजनक था। गांवमे लड़के-बच्चे इधर-उधर भटकते फिरते थे, या मां-बाप उनसे दो-तीन पैसे रोजकी मजदूरीपर दिन-भर नीलके खेतोंमे मजदूरी कराते। इस समय मर्दोंको दस-पैसेसे ज्यादा मजदूरी नही मिलती थी। स्त्रियोंको छः पैसे, और बच्चोंको तीन। जिस किसीको चार आना मजदूरी मिल जाती, वह अपनेको भाग्यवान् समझा जाता था।

अपने साथियोंके साथ विचार करके पहले तो छः गांवोंमे बच्चोंकेलिए पाठशाला खोलनेका विचार हुआ। शर्त यह थी कि उन गांवोके अगुआ मकान और शिक्षकके खानेका खर्च दे और दूसरे खर्चका इंतजाम हमलोग कर दे। यहांके गावोमे रुपये-पैसेकी बहुतायत नही थी; परंतु लोग अनाज वगैरा दे सकते थे, इसलिए वे अनाज देनेको तैयार हो गये।

अब यह एक महा प्रश्न था कि शिक्षक कहांसे लावें? बिहारमें थोड़ा वेतन लेनेवाले या कुछ न लेनेवाले अच्छे शिक्षकोंका मिलना कठिन था। मेरा खयाल सच था कि बच्चोंकी शिक्षाका भार मामूली शिक्षकको न देना चाहिए। शिक्षकको पुस्तक-ज्ञान चाहे कम हो; परतु उसमें चरित्र-बल अवश्य होना चाहिए

इस कामके लिए मैंने आमतौरपर स्वयं-सेयक मांगे। उसके जवाबमें गंगाधरराव देशपांडेने बाबासाहब सोमण और पुडलीकको भेजा। बंबईसे अवंतिकाबाई गोखले आईं। दक्षिणसे आनंदीबाई आगई। मैंने छोटेलाल, सुरेद्रनाथ तथा अपने लड़के देवदासको बुला लिया। इन्हीं दिनों महादेवदेसाई और नरहरि परीख मुझसे मिले। महादेव देसाईकी पत्नी दुर्गाबहन तथा नरहरि परीखकी पत्नी मणिबहन भी आ पहुंची। कस्तूरबाईको भी मैंने बुला लिया था शिक्षकों और शिक्षि-काओंका यह संघ काफी था। श्रामती अवंतिकाबाई और आनदीबाई तो पढ़ी-लिखी समझी जा सकती थी; परंतु मणिबहन परीख और दुर्गा

बहन देसाई थोड़ी-बहुत गुजराती जानती थीं; कस्तूरबाईको तो नहीके बराबर हिंदीका ज्ञान था। अब सवाल यह था कि ये बहनें बालकोंको हिंदी पढ़ावेंगी किसी तरह ?

बहनोंको मैंने दलीलें देकर समझाया कि बालकोंको व्याकरण नहीं बल्कि रहन-सहन सिखाना है। पढ़ने-लिखनेकी अपेक्षा, उन्हें सफाईके नियम सिखानेकी जरूरत है। हिंदी, गुजराती और मराठीमें कोई भारी भेद नहीं है, यह भी उन्हें बताया, और समझाया कि शुरूमे तो सिर्फ गिनती और वर्णमाला सिखानी होगी। इसलिए दिक्कत न आयगी। इसका फल यह हुआ कि बहनोंकी पढ़ाईका काम बहुत अच्छी तरह चल निकला और उनका आत्म-विश्वास बढ़ा। उन्हें अपने काममें रस भी आने लगा। अवंतिकाबाईकी पाठशाला आदर्श बन गई। उन्होंने अपनी पाठशालामें जीवन डाल दिया। वह इसी कामको जानती भी खूब थीं। इन बहनोंकी मार्फत देहातके स्त्री-समाजमें भी हमारा प्रवेश हो गया था।

परंतु मुझे पढ़ाई तक ही न रुक जाना था। गांवोंमें गंदगी बेहद थी। रास्तों और गलियोंमें कूड़े और कंकरका ढेर, कुओंके पास कीचड़ और बदबू, आंगन इतने गंदे कि देखा न जाता था। बड़े-बूढ़ोंको सफाई सिखानेकी जरूरत ी। चंपारनके लोग बीमारियोंके शिकार दिखाई पड़ते थे। इसलिए जहांतक हो सके उनका सुधार करने और इस तरह लोगोके जीवनके प्रत्येक विभागमे प्रवेश करनेकी इच्छा थी।

इस काममें डाक्टरकी सहायताकी जरूरत थी। इसलिए मैंने गोखलेकी समितिसे डाक्टर देवको भेजनेका अनुरोध किया। उनके साथ मेरा स्नेह तो पहले ही हो चुका था। छः महीनेकेलिए उनकी सेवाका लाभ मिला। यह तय हुआ कि उनकी देख-रेखमें शिक्षक और शिक्षिका सुधारका काम करें।

इन सबके साथ यह बात तय पाई थी कि इनमेंसे कोई भी निलहोंके शिकायतोंके झगड़ेमें न पड़ें। राजनीतिक बातोंको न छुएं। जो शिकायत लावें उनको सीधा मेरे पास भेज दे। कोई भा अपने क्षेत्र और कामको

छोड़कर एक कदम इधर-उधर न हों। चंपारनके मेरे इन साथियोंका नियम-पालन अद्‌भुत था। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नहीं आता कि जब किसीने भी नियमों व हिदायतोंका उल्लंघन किया हो।

: १८ :

ग्राम-प्रवेश

बहुत करके हर पाठशालामे एक पुरुष और स्त्रीकी योजना की थी। उन्हींकी मार्फत दवा और सुधारके काम करनेका निश्चय किया था। स्त्रियोंके द्वारा स्त्री-समाज मे प्रवेश करना था। दवाका काम बहुत आसान कर दिया था। अंडीका तेल, कुनैन और मरहम---इतनी चीजे हर पाठशालामे रखी गई थी। जीभ मैली दिखाई दे और कब्जकी शिकायत हो तो अंडीका तेल पिला देना, बुखारकी शिकायत हो तो अंडीका तेल पिलानेके बाद कुनैन पिला देना, और फोड़े-फुसी हों तो उन्हें धोकर मरहम लगा देना, बस इतना ही काम था। खानेकी दवा या पिलानेकी दवा किसीको घर ले जानेके लिए शायद ही दी जाती थी। कोई ऐसी बीमारी हो, जो समझमे नही आई हो या जिसमे कुछ जोखिम हो, तो डा० देवको दिखा लिया जाता। डा० देव नियमित समयपर जगह-जगह जाते। इस सादी सुविधासे लोग ठीक-ठीक लाभ उठाते थे। आमतौरपर फैली हुई बीमारियोंकी सख्या कम ही होती है और उनके लिए बड़े विशारदोकी जरूरत नही होती। यह बात अगर ध्यानमे रखी जाय तो पूर्वोक्त योजना किसीको हास्य-जनक न मालूम होगी। वहांके लोगोंको तो नही मालूम हुई।

परतु सुधारका काम कठिन था। लोग गंदगी दूर करनेकेलिए तैयार नहीं होते थे। अपने हाथसे मैला साफ करनेके लिए वे लोग भी तैयार न

होते थे जो रोज खेतपर मजदूरी करते थे; परंतु डा०देव झट निराश होनेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने खुद तथा स्वयं-सेवकोंने मिलकर एक गांवके रास्ते साफ किये, लोगोंके आंगनसे कूड़ा-करकट निकाला, कुएके आसपासके गढ़े भरे, कीचड़ निकाली और गांवके लोगोंको प्रेमपूर्वक समझाते रहे कि इस कामकेलिए स्वयं-सेवक दो। कहीं लोगोंने शरम खाकर काम करना शुरू भी किया, और कहीं-कहीं तो लोगोंने मेरी मोटरके लिए रास्ता भी खुद ही ठीक कर दिया। इन मीठे अनुभवोंके साथ ही लोगोंकी लापरवाहीके कड़वे अनुभव भी मिल जाते थे। मुझे याद है कि यह सुधारकी बात सुनकर कितनी ही जगह लोगोंके मनमें अरुचि भी पैदा हुई थी।

इस जगह एक अनुभवका वर्णन करना अनुचित न होगा, हालांकि उसका जिक्र मैंने स्त्रियोंकी कितनी ही सभाओंमें किया है। भीतिहरवा नामक एक छोटा-सा गांव है। उसके पास उससे भी छोटा एक गांव है। यहां कितनी ही बहनोंके कपड़े बहुत मैले दिखाई दिये। मैंने कस्तूरबाईसे कहा कि इनको कपड़े धोने और बदलनेके लिए समझाओ। उसने उनसे बातचीत की तो एक बहन उसे अपने झोपड़ेमें ले गई और बोली कि "देखो यहां कोई संदूक या आलमारी नहीं, कि जिसमें कोई कपड़े रखे हों। मेरे पास सिर्फ यह एक ही धोती है, जिसे मैं पहने हूं। अब मैं इसको किस तरह धोऊं? महात्माजीसे कहो कि हमें कपड़ा दिलावें, तो मैं रोज नहाने और कपड़े धोने और बदलनेके लिए तैयार हूं।" ऐसे झोंपड़े हिंदुस्तानमें इने-गिने नहीं हैं। असंख्य झोंपड़े ऐसे मिलेंगे जिनमें साज-सामान, संदूक-पिटारा, कपड़े-लत्ते नहीं होते और असंख्य लोग उन्हीं कपड़ोंपर अपनी जिंदगी निकालते हैं जो वे पहने होते हैं।

एक दूसरा अनुभव भी लिखने लायक है। चंपारनमें बांस और घासकी कमी नहीं है। लोगोंने भीतिहरवामें पाठशालाका जो छप्पर बांस और घासका बनाया था, किसीने एक रातको उसे जला डाला। शक गया आस-पासके निलहे लोगोंके आदमियोंपर। दुबारा घास और बांसका मकान बनाना ठीक न मालूम हुआ। यह पाठशाला श्रीसोमण

और कस्तूरबाईके जिम्मे थी। श्री सोमणने ईंटका पक्का मकान बनानेका निश्चय किया और वह खुद उसके बनानेमें लग गये। दूसरोंपर भी उसका रंग चढ़ा और देखते-देखते ईंटोंका मकान खड़ा हो गया और फिर मकानके जलनेका डर न रहा।

इस तरह पाठशाला, स्वच्छता, सुधार और दवाके कामोसे लोगोंमें स्वयं-सेवकोंके प्रति विश्वास और आदर बढ़ा और उनके मनपर अच्छा असर हुआ।

परंतु मुझे दु:खके साथ कहना पड़ता है कि इस कामको कायम करनेकी मेरी मुराद बर न आई। जो स्वयं-सेवक मिले थे वे खास समय तककेलिए मिले थे। दूसरे नये स्वयं-सेवक मिलनेमें कठिनाईयां पेश आईं और विहारसे इस कामकेलिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी चंपारनका काम खतम होनेके बाद दूसरा काम, जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतना होते हुए भी छ: मासके कामने इतनी जड़ जमा ली कि एक नहीं तो दूसरे रूपमें उसका असर आज तक कायम है।

: १९ :

उज्ज्वल पक्ष

एक तरफ तो पिछले अध्यायमें वर्णन किये अनुसार समाज-सेवाके काम चल रहे थे और दूसरी ओर लोगोंके दु:खकी कथाये लिखते रहनेका काम दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। जब हजारों लोगोंकी कहानिया लिखी गईं, तो भला इसका असर हुए बिना कैसे रह सकता था? मेरे मुकामपर लोगोंकी ज्यों-ज्यो आमद-रफ्त बढ़ती गई त्यो-त्यों निलहे लोगोंका क्रोध भी बढ़ता चला। मेरी जांच बद करानेकी कोशिशें उनकी ओरसे दिन-दिन अधिकाधिक होने लगी। एक दिन मुझे बिहार-सरकारका पत्र मिला,

जिसका भावार्थ यह था, "आपका जांचमें काफी दिन लग गये हैं और आपको अब अपना काम खतम करके विहार छोड़ देना चाहिए।" पत्र यद्यपि सौजन्यसे युक्त था; परंतु उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा—"जांचमें तो अभी और दिन लगेंगे, और जांचके बाद भी जबतक लोगोंका दुःख दूर न होगा मेरा इरादा विहार छोड़नेका नहीं है।"

मेरी जांच बद करनेका एक ही अच्छा इलाज सरकारके पास था। लोगोंकी शिकायतोंको सच मानकर उन्हें दूर करना अथवा उनकी शिकायतोंपर ध्यान देकर अपनी तरफसे एक जांच-समिति नियुक्त कर देना। गवर्नर सर एडवर्ड गेटने मुझे बुलाया और कहा कि मैं जाच-समिति नियुक्त करनेकेलिए तैयार हूं, और उसका सदस्य बननेकेलिए उन्होंने मुझे निमंत्रण दिया। दूसरे सदस्योंके नाम देखकर और अपने साथियोसे सलाह करके इस शर्तपर मैंने सदस्य होना स्वीकार किया कि मुझे अपने साथियोके साथ सलाह-मशविरा करनेकी छूट्टी रहनी चाहिए और सरकार को समझ लेना चाहिए कि सदस्य बन जानेसे किसानोंका हिमायती रहनेका मेरा अधिकार नहीं जाता रहेगा, एवं जांच होनेके बाद यदि मुझे संतोष न हो ता किसानोंकी रहनुमाई करनेकी मेरी स्वतंत्रता जाती न रहे।

सर एडवर्ड गेटने इन शर्तोको वाजिब समझकर मंजूर किया। स्वर्गीय सर फ्रेंक स्लाई उसके अध्यक्ष बनाये गये। जांच-समितिने किसानोकी तमाम शिकायतोंको सच्चा बताया और यह शिफारिश की कि निलहे लोग अनुचित रीतिसे पाये रुपयोका कुछ भाग वापस दे और 'तीनकठिया'-का कायदा रद किया जाय।

इस रिपोर्टके सांगोपांग तैयार होनेमें और अंतको कानून पास करानेमें सर एडवर्ड गेटका बड़ा हाथ था। वह यदि मजबूत न रहे होते और पूरी-पूरी कुशलतासे काम न लिया होता तो जो रिपोर्ट एक मतसे लिखी गई, वह नहीं लिखी जा सकती थी और अंतको जो कानून बना वह न बन पाता। निलहोंकी सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्ट हो जानेके बाद भी कितनोंने

बिलका विरोध किया था; परंतु सर एडवर्ड गेट अंततक दृढ़ रहे और समितिकी सिफारिशोका पूरा-पूरा पालन उन्होने कराया।

इस तरह सौ वर्षका पुराना यह 'तीन कठिया' कानून रद हुआ और उसके साथ ही निलहोका राज्य भी अस्त हो गया। रैयतने, जो दबी हुई थी, अपने बलको कुछ पहचाना और उसका यह वहम दूर होगया कि नील का दाग तो धोया नही धुलता।

मेरी इच्छा थी कि चंपारनमे जो रचनात्मक कार्य आरंभ हुआ है उसे जारी रखकर लोगोमें कुछ वर्षोंतक काम किया जाय और अधिक पाठशालायें खोलकर अधिक गावोंमें प्रवेश किया जाय। क्षेत्र तो तैयार था, परतु मेरे मनसूबे ईश्वरने बहुत बार पार नही पड़ने दिये है। मैंने सोचा था एक और दैवने मुझे दूसरे ही काममे ले घसीटा।

: २० :

मजदूरोंसे संबंध

अभी मै चंपारनमें जांच-समितिका काम खतम कर ही रहा था कि इतनेमें खेडासे मोहनलाल पड्या और शकरलाल परीखका पत्र मिला कि खेड़ा जिलेमे फसल नष्ट हो गई है और उसका लगान माफ होना जरूरा है। आप आइए और वहा चलकर लोगोको राह दिखाइए। वहां जाकर जबतक मै खुद जाच न कर लू, तबतक कुछ सलाह देनेकी इच्छा मुझे न थी, और न ऐसा सामर्थ्य और साहस ही था।

दूसरी ओर श्रीमती अनसूयाबहनकी चिट्ठी उनके 'मजूर-संघ'के संबधमें मिली। मजदूरोंका वेतन कम था। बहुत दिनोसे उनकी माग थी कि वेतन बढ़ाया जाय। इस सबंधमें उनका पथ-प्रदर्शन करनेका

उत्साह मुझे था। यह काम यों-तो छोटा-सा था; परंतु मै उसे दूर बैठकर नहीं कर सकता था। इससे मै तुरंत अहमदाबाद पहुंचा। मैंने सोचा तो यह था कि दोनों कामोकी जांच करके थोड़े ही समयमें चंपारन लौट आऊंगा और वहाके रचनात्मक कामको संभाल लूंगा।

परंतु अहमदाबाद पहुंचनेके बाद ऐसे काम निकल आये कि मै बहुत समय तक चंपारन न जा सका और जो पाठशालाएं वहां चलती थीं वे एकके बाद एक टूट गईं। साथियोंने और मैंने जो कितने ही हवाई किले बांध रखे थे, वे कुछ समयकेलिए टूट गये।

चंपारनमें ग्राम-पाठशाला और ग्राम-सुधारके अलावा गो-रक्षाका काम भी मैंने अपने हाथमें ले लिया था। अपने भ्रमणमे मैं यह बात देख चुका था कि गोशाला और हिंदी-प्रचारके कामका ठेका मारवाड़ी भाइयोंने ले लिया है। बेतियामें एक मारवाड़ी सज्जनने अपनी धर्म-शालामें मुझे आश्रय दिया था। बेतियाके मारवाड़ी सज्जनोंने मुझे उनकी गोशालाकी ओर आकृष्ट किया था। गो-रक्षाके संबंधमे जो विचार मेरे आज है वही उस समय बन चुके थे। गो-रक्षाका अर्थ है गो-वंशकी वृद्धि, गो-जातिका सुधार, बैलसे मर्यादित काम लेना, गोशालाको आदर्श दुग्धालय बनाना इत्यादि। इस काममें मारवाड़ी भाइयोने पूरी मदद देनेका वचन दिया था; परंतु मैं चंपारन में जमकर नही बैठ सका। इसलिए वह काम अधूरा ही रह गया। बेतियामे गोशाला तो आज भी चल रही है; परंतु वह आदर्श दुग्धालय नहीं बन सकी। चंपारनमें बैलोसे आज भी ज्यादा काम लिया जाता है। हिंदू-नामधारी अब भी बैलोंको निर्दयतासे पीटते है और इस तरह अपने धर्मको डुबोते हैं। यह अफसोस मुझे हमेशाकेलिए रह गया है। मै जब-जब चंपारन जाता हूं तब-तब उन अधूरे कामोंको स्मरण करके एक लबी सांस छोड़ता हूं और उन्हें अधूरा छोड़ देनेके लिए मारवाड़ी भाइयों और बिहारियोंका मीठा उलाहना सुनता हूं।

पाठशालाओंका काम तो एक दूसरी रीतिसे दूसरी जगह चल रहा

है; परंतु गो-सेवाके कार्य-क्रमकी तो जड़ ही नही जमी थी; इसलिए उसे आवश्यक दिशामें गति नही मिल सकी।

अहमदावादमें खेड़ाके कामकेलिए सलाह-मशवरा चल रहा था कि इतनेमें मजदूरोका काम मैंने अपने हाथमे ले लिया।

इसमें मेरी स्थिति बड़ी नाजुक थी। मजदूरोंका पक्ष मुझे मजबूत मालूम हुआ। श्रीमती अनसूयाबहनको अपने सगे भाईके साथ लड़नेका प्रसंग आ गया था। मजूरों और मालिकोंके इस दारुण युद्धमे श्री अंबालाल साराभाईने मुख्य भाग लिया था। मिल-मालिकोंके साथ मेरा मीठा संबंध था। उनके साथ लड़ना मेरे लिए विषम काम था। मैंने उनसे आपसमें बातचीत करके अनुरोध किया कि पंच बनाकर मजदूरोंकी मांगका फैसला कर लीजिए; परंतु मालिकोंने अपने और मजदूरोंके बीचमें पंचकी मध्यस्थताके औचित्यको पसंद न किया।

तब मजदूरोंको मैंने हड़ताल कर देनेकी सलाह दी। यह सलाह देनेके पहले मैंने मजदूरों और उनके नेताओंसे काफी पहचान और बात-चीत कर ली थी। उन्हें मैंने हड़तालकी नीचे लिखी शर्तें समझाईं—

(१) किसी हालतमे शांति-भंग न करना।

(२) जो कामपर जाना चाहे उनके साथ किसी किस्मकी ज्यादती या जबरदस्ती न करना।

(३) मजदूर भिक्षान्न न खावे।

(४) हड़ताल चाहे जबतक करनी पड़े; पर वे दृढ़ रहें; और जब रुपया-पैसा न रहे,तो दूसरी मजदूरी करके पेट पालें।

अगुआ लोग इन शर्तोंको समझ गये और उन्हे पसंद भी आई। अब मजदूरोंने एक आम सभा की और उसमे प्रस्ताव किया कि जबतक हमारी मांग स्वीकार न की जाय अथवा उसपर विचार करनेके लिए पंच न मुकर्रर हों तबतक हम काम पर न जायंगे।

इस हड़तालमें मेरा परिचय श्री वल्लभभाई पटेल और श्री शकरलाल

बेकरसे बहुत अच्छी तरह हो गया। श्रीमती अनसूयाबहनसे तो मेरा परिचय पहले ही खूब हो चुका था।

हड़तालियोंकी सभा रोज साबरमतीके किनारे एक पेड़के नीचे होने लगी। वे सैकड़ोंकी संख्यामे आते। मै रोज उन्हें अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण कराता। शांति रखने और स्व-मानकी रक्षा करनेकी आवश्यकता उन्हें समझाता था। वे अपना 'एक टेक'का झंडा लेकर रोज शहरमें जुलूस निकालते और सभामें आते।

यह हड़ताल २१ दिन चली। इस बीचमें समय-समयपर मालिकोंसे बातचीत करता और उन्हें इंसाफ करनेकेलिए समझाता। "हमे भी तो अपनी टेक रखनी है। हमारा और मजदूरोंका बाप-बेटोंका संबंध है।...उसके बीचमे यदि कोई पड़ना चाहे तो इसे हम कैसे सहन कर सकते है? बाप-बेटोंमे पंचकी क्या जरूरत है?" यह जवाब मुझे मिलता।

: २१ :

आश्रमकी झांकी

मजदूर-प्रकरणको आगे ले चलनेके पहले आश्रमकी एक झलक देख लेनेकी आवश्यकता है। चपारनमे रहते हुए भी मै आश्रमको भूल नहीं सकता था। कभी-कभी वहां आ भी जाता था।

कोचरब अहमदाबादके पास एक छोटा-सा गांव है। आश्रमका स्थान इसी गांवमें था। कोचरबमें प्लेग शुरू हुआ। बालकोंको मैं बस्तीके भीतर सुरक्षित नहीं रख सकता था। स्वच्छताके नियमोंका पालन चाहे लाख करें; मगर आस-पासकी गंदगीसे आश्रमको अछूता रखना असंभव था। कोचरबके लोगोसे स्वच्छताके नियमोंका पालन करवानेकी अथवा ऐसे समयमे उनकी सेवा करनेकी शक्ति हममें न थी। हमारा

आदर्श तो आश्रमको शहर या गांवसे दूर रखना था, हालांकि इतना दूर नहीं कि वहां जानेमें बहुत मुश्किल पड़े। आश्रमको आश्रमके रूपमें सुशोभित होनेके पहले उसे अपनी जमीनपर खुली जगह में स्थिर तो हो ही जाना था।

इस महामारीको मैंने कोचरब छोड़नेका नोटिस माना। श्री पुंजाभाई हीराचंद आश्रमके साथ बहुत निकट संबंध रखते और आश्रमकी छोटी-बड़ी सेवायें निरभिमान-भावसे करते थे। उन्हें अहमदाबादके काम-काजका बहुत अनुभव था। उन्होने आश्रमके लायक आवश्यक जमीन तुरत ही ढूंढ देनेका बीड़ा उठाया। कोचरबके उत्तर-दक्षिणका भाग मैं उनके साथ घूम गया। फिर मैंने उनसे कहा कि उत्तरकी ओर तीन-चार मील दूर पर अगर जमीनका टुकड़ा मिले तो खोजिए। अब जहां पर आश्रम है, वह जमीन उन्हींकी ढूंढ़ी हुई है। मेरे लिए यह खास प्रलोभन था कि वह जमीन जेलके निकट है। मैंने यह माना है कि सत्याग्रहाश्रमवासीके भाग्यमें जेल तो लिखा ही है, जेलका पड़ौस पसंद पड़ा। इतना तो मैं जानता था कि हमेशा जेलकेलिए वैसा ही स्थान ढूंढा जाता है, जिसके आस-पासकी जगह साफ-सुथरी हो।

कोई आठ दिनोंमें ही जमीनका सौदा हो गया। जमीनपर मकान एक भी न था। न कोई झाड़-पेड़ ही था। उसके लिए सबसे बड़ी सिफारिश तो यह थी कि वह एकांत और नदीके किनारे पर है। शुरूमें हमने तंबूमें रहनेका निश्चय किया। रसोईकेलिए टीनका एक काम-चलाऊ छप्पर बना लिया और सोचा कि स्थायी मकान धीरे-धीरे बना लेंगे।

इस समय आश्रममें काफी आदमी थे। छोटे-बड़े कोई चालीस स्त्री-पुरुष थे। इतनी सुविधा थी कि सब एक ही रसोईमें खाते थे। योजनाकी कल्पना मेरी थी, उसे अमलमें लानेका भार उठानेवाले तो नियमानुसार स्व० मगनलाल ही थे।

स्थायी मकान बननेके पहले असुविधाका तो कोई पार ही न था। बरसातका मौसम सिरपर था। सारा सामान चार मील दूर शहरसे लाना

था। इस उजाड़ जमीनमें सांप वगैरा तो थे ही। ऐसे उजाड़ स्थानमें बालकोंको संभालनेकी जोखिम ऐसी-वैसी नहीं थी। सांप वगैराको मारते न थे; मगर उनके भयसे मुक्त तो हममेंसे कोई न था, आज भी नही हैं।

हिंसक जीवोंको न मारनेके नियमका यथा-शक्ति पालन फिनिक्स, टॉलस्टाय-फार्म और साबरमती—तीनों जगहोंमें किया है। तीनों जगहोंमें उजाड़ जंगलमें रहना पड़ा है। तीनों जगहोंमे सांप वगैराका उपद्रव खूब ही था; मगर तो भी अबतक एक भी जान हमें खोनी नहीं पड़ी है। इसमे मेरे-जैसा श्रद्धालु तो ईश्वरका हाथ, उसकी कृपा, ही देखता है। ऐसी निरर्थक शंका कोई न करे कि ईश्वर पक्षपात नही करता, मनुष्यके रोजके काममें हाथ डालनेको वह बेकार नहीं बैठा है। अनुभवकी दूसरी भाषामें इस भावको रखना मैं नहीं जानता। ईश्वरकी कृतिको लौकिक भाषामें रखते हुए भी मैं जानता हूं कि उसका 'कार्य' अवर्णनीय है; किंतु अगर पामर मनुष्य उसका वर्णन करे तो उनके पास तो अपनी तोतली बोली ही होगी। आम तौर पर सांपको न मारते हुए भी वहांका समाज जब पचीस वर्ष तक बचा रहा तो इसे संयोग या आकस्मिक घटना माननेके बदले ईश्वर-कृपा मानना वहम हो तो, यह वहम भी अपनाने लायक है।

जिस समय मजदूरोंकी हड़ताल हुई उस समय आश्रमका पाया चुना जा रहा था। आश्रमकी प्रधान प्रवृत्ति बुनाई की थी। कताईकी तो मै अभी खोज ही नहीं कर सका था। इसलिए निश्चय था कि पहले बुनाई-घर बनाया जाय। इस समय उसकी नीव डाली जा रही थी।

: २२ :

उपवास

मजदूरोंने पहले दो हफ्ते बड़ी हिम्मत दिखलाई; शांति भी खूब रखी। रोजकी सभाओंमें भी वे बड़ी संख्यामें आते थे। मैं उन्हें रोज ही प्रतिज्ञाका स्मरण कराता था। वे रोज पुकार-पुकारकर कहते थे, "हम मर जायंगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

किंतु अंतमें वे ढीले पड़ने लगे। और जैसे कि निर्बल आदमी हिंसक होता है, वैसे ही, वे निर्बल पड़ते ही मिलमें जानेवाले मजदूरोंसे द्वेष करने लगे और मुझे डर लगा कि शायद कहीं उनपर ये बलात्कार न कर बैठें। रोजकी सभामें आदमियोंकी हाजिरी कम हुई। जो आते भी उनके चेहरोंपर उदासी छाई हुई थी। मुझे खबर मिली कि मजदूर डिगने लगे हैं। मैं तरद्दुदमें पड़ा। मैं सोचने लगा कि ऐसे समयमें मेरा क्या कर्त्तव्य हो सकता है। दक्षिण अफ्रिकाके मजदूरोंकी हड़तालका अनुभव मुझे था; मगर यह अनुभव मेरे लिए नया था। जिस प्रतिज्ञा करानेमें मेरी प्रेरणा थी, जिसका साक्षी मैं रोज ही बनता था, वह प्रतिज्ञा कैसे टूटे? यह विचार या तो अभिमान कहा जा सकता है, या मजदूरोंके और सत्यके प्रति प्रेम समझा जा सकता है!

सबेरेका समय था। मैं सभामें था। मुझे कुछ पता नहीं था कि क्या करना है; मगर सभामें ही मेरे मुंहसे निकल गया—"अगर मजदूर फिरसे तैयार न हो जायं और जबतक कोई फैसला न हो जाय तबतक हड़ताल न निभा सकें, तो तबतक मैं उपवास करूंगा।" वहां पर जो मजदूर थे, वे हैरतमें आगये। अनसूयाबहनकी आंखोंसे आंसू निकल पड़े। मजदूर बोल उठे—"आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आपको उपवास नहीं करने देंगे। हमें माफ कीजिए। हम अपनी टेकपर अड़े रहेंगे।"

मैंने कहा, "तुम्हारे उपवास करनेकी कोई जरूरत नहीं है। तुम अपनी प्रतिज्ञाका ही पालन करो तो बस है। हमारे पास द्रव्य नहीं है। मजदूरोंको भिक्षान्न खिलाकर हमें हड़ताल नहीं करनी है। तुम कहीं कुछ मजदूरी करके अपना पेट भरने लायक कमा लो तो, चाहे हड़ताल कितनी ही लंबी क्यों न हो, तुम निश्चिंत रह सकते हो। और मेरा उपवास तो कुछ-न-कुछ फैसलेके पहले छूटनेवाला नहीं है।"

वल्लभभाई मजदूरोंकेलिए म्युनिसिपैलिटीमें काम ढूंढ़ते थे; मगर वहांपर कुछ मिलने लायक नहीं था। आश्रमके बनाई-घरमें बालू भरनी थी। मगनलालने सुझाया कि उसमें बहुत-से मजदूरोंको काम दिया जा सकता है। मजदूर काम करनेको तैयार हुए। अनसूयाबहनने पहली टोकरी उठाई और नदीमेंसे बालूकी टोकरियां उठाकर लानेवाले मजदूरोंका ठठ लग गया। यह दृश्य देखने लायक था। मजदूरोंमें नया जोर आया; उन्हे पैसा चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थक जाते थे।

इस उपवासमे एक दोष था। मै यह लिख चुका हूं कि मिल-मालिकोंके साथ मेरा मीठा संबंध था। इसलिए यह उपवास उन्हें स्पर्श किये बिना रह नहीं सकता था। मै जानता था कि बतौर सत्याग्रहीके उनके विरुद्ध मैं उपवास नहीं कर सकता। उनके ऊपर जो-कुछ असर पड़े, वह मजदूरोंकी हड़तालका ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषके लिए न था; किंतु मजदूरोंके दोषके लिए था। मै मजदूरोंका प्रतिनिधि था, इसलिए इनके दोषसे दूषित होता था। मालिकोंसे तो मैं सिर्फ विनय ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना तो बलात्कार गिना जायगा। तो भी मैं जानता था कि मेरे उपवासका असर उनपर पड़े बिना नहीं रह सकता। पड़ा भी सही; किंतु मैं अपनेको रोक नहीं सकता था। मैंने ऐसा दोषमय उपवास करनेका अपना धर्म प्रत्यक्ष देखा।

मालिकोंको मैंने समझाया, "मेरे उपवाससे आपको अपना मार्ग जरा भी छोड़नेकी जरूरत नहीं है।" उन्होंने मुझे कड़वे-मीठे ताने भी मारे। उन्हें इसका अधिकार था।

इस हड़तालके विरुद्ध अचल रहनेमे सेठ अंबालाल अग्रसर थे। उनकी दृढ़ता आश्चर्य-जनक थी। उनकी स्पष्ट-हृदयता भी मुझे उतनी ही रुची। उनके खिलाफ लड़ना मुझे प्रिय लगा। इनके-जैसे अग्रसर जहां विरोधी पक्षमे हों, उपवासके द्वारा उनपर पड़नेवाला बुरा असर मुझे खटका। फिर मेरे ऊपर उनकी पत्नी सरलादेवीका सगी बहनके समान स्नेह था मेरे उपवाससे होनेवाली उनकी व्यग्रता मुझसे देखी नही जाती थी।

मेरे पहले उपवासमे तो अनसूयाबहन और दूसरे कई मित्र तथा कुछ मजदूर शामिल हुए। और अधिक उपवास न करने की जरूरत में उन्हें मुश्किलसे समझा सका। इस तरह चारों ओरका वातावरण प्रेममय बन गया। मिल-मालिक तो केवल दया की ही खातिर समझौता करनेके रास्ते ढूंढ़ने लगे। अनसूयाबहनके यहां उनकी बातचीत होने लगी। श्री आनंदशंकर ध्रुव भी बीचमें पड़े। अंतमें वह पंच चुने गए और हड़ताल छूटी। मुझे तीन ही दिन उपवास करना पड़ा। मालिकोंने मजदूरोंको मिठाई वांटी। इक्कीसवे दिन समझौता हुआ। समझौतेका सम्मेलन हुआ। उसमें मिल-मालिक और उत्तर विभागके कमिश्नर आये थे। कमिश्नरने मजदूरोंको सलाह दी थी—"तुम्हें हमेशा मि० गांधी-की बात माननी चाहिए।" इन्ही कमिश्नर साहबके खिलाफ इस घटनाके कुछ दिनों बाद तुरत ही मुझे लड़ना पड़ा था। समय बदला, इसलिए, वह भी बदल गए और खेड़ाके पाटीदारोंको मेरी सलाह न माननेके लिए, कहने लग !

एक मजेदार मगर उतनी ही करुणा-जनक घटनाका भी उल्लेख यहां करना उचित है। मालिकोंकी तैयार कराई मिठाई बहुत थी और सवाल यह हो पड़ा था कि हजारों मजदूरोंमें वह बांटी किस तरह जाय ? यह समझकर कि जिस पेड़के आश्रयमें मजदूरोंने प्रतिज्ञा की थी वही पर बांटना उचित होगा, और दूसरी किसी जगह हजारों मज-दूरोंको इकट्ठा करना भी असुविधाकी बात थी, उनके आस-पासके खले

मैदानमें मिठाई बांटनेकी बात तय पाई थी। मैंने अपने भोलेपनमें मान लिया कि इक्कीस दिनों तक अनुशासनमें रहे मजदूर बिना किसी प्रयत्नके ही पंक्तिमें खड़े होकर मिठाई ले लेंगे और अधीर होकर मिठाई पर हमला नहीं कर बैठेंगे; किंतु मैदानमें बांटनेके दो-तीन तरीके आजमाये और निष्फल हुए। दो-तीन मिनट ठीक-ठीक चले और फिर बंधी-बंधाई पंक्ति टूट जाती। मजदूरोंके नेताओंने खूब प्रयत्न किया; मगर वे कुछ इंतजाम नहीं कर सके। अंतमें भीड़, शोर-गुल और हमला ऐसा हुआ कि कितनी ही मिठाई कुचलकर बरबाद गई। मैदानमें बांटना बंद करना पड़ा और बची हुई मिठाई मुश्किलसे सेठ अंबालालके मिर्जापुर वाले मकानमें पहुंचाई जा सकी। यह मिठाई दूसरे दिन बंगलेके मैदानमें ही बांटनी पड़ी।

इसमेंका हास्यरस स्पष्ट है। 'एक टेक' वाले पेड़के पास मिठाई बांटी न जा सकनेके कारणोंको ढूंढ़नेपर हमने देखा कि मिठाई बंटनेकी खबर पाकर अहमदाबादके भिखारी वहां आ पहुंचे थे और उन्होंने कतार तोड़कर मिठाई छीननेकी कोशिशें की। यह करुण रस था। यह देश फाके-कशीसे ऐसा पीड़ित है कि भिखारियोंकी संख्या बढ़ती ही जाती है और वे खाने-पीनेकी चीजे प्राप्त करनेकेलिए आम मर्यादाको तोड़ डालते है। धनिक लोग ऐसे भिखारियोंकेलिए काम ढूंढ़ देनेके बदले उन्हें भीख दे-देकर पालते हैं।

: २३ :

खेड़ामें सत्याग्रह

मजदूरोंकी हड़ताल पूरी होनेके बाद मुझे दम मारनेकी भी फुरसत न मिली और खेड़ा जिलेके सत्याग्रहका काम उठा लेना पड़ा। खेड़ा

जिलेमें अकालके जैसी स्थिति होनेसे वहांके पाटीदार लगान माफ करवानेके-लिए प्रयत्न कर रहे थे। इस संबंधमें श्री अमृतलाल ठक्करने जांच करके रिपोर्ट भेजी थी। मैंने कुछ भी पक्की सलाह देनेके पहले कमिश्नरसे भेंट की। श्री मोहनलाल पंड्या और श्री शंकरलाल परीख अथक परिश्रम कर रहे थे। स्व० गोकुलदास कहानदास परीख और श्री विट्ठलभाई पटेलके द्वारा वे धारा-सभामें हलचल करा रहे थे। सरकारके पास शिष्ट-मंडल गये थे।

इस समय मैं गुजरात-सभाका अध्यक्ष था। सभाने कमिश्नर और गवर्नरको अर्जियां दीं, तार दिये, कमिश्नरके अपमान सहन किये; उनकी धमकियां पी ली गईं। उस समयके अफसरोंका रौब-दाब अब तो हास्य-जनक लगता है। अफसरोंका तबका बिलकुल हलका व्यवहार अब तो असंभव-सा जान पड़ता है।

लोगोंकी मांग ऐसी साफ और मामूली थी कि उसके लिए लड़ाई लड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। यह कानून था कि अगर फसल चार आने या उससे भी कम हो तो उस साल लगान माफ होना चाहिए; किंतु सरकारी अफ़सरोंका अनुमान चार आनेसे अधिकका था। लोगोंकी ओरसे इसके सबूत पेश किये गये कि फसल चार आने से कम हुई है। मगर सरकार मानने ही क्यों लगी? लोगोंकी ओरसे पंच बनानेकी मांग हुई। सरकार को वह असह्य लगी। जितनी विनय की जा सकती थी उतनी कर लेनेके बाद, साथियोंके साथ सलाह करके, मैंने लोगोंको सत्याग्रह करने-की सलाह दी।

साथियोंमें खेड़ा जिलेके सेवकोंके अलावा खास तौरपर श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन, श्री इंदुलाल कन्हैयालाल याज्ञिक, श्री महादेव देसाई वगैरा थे। वल्लभभाई अपनी बड़ी और दिनों-दिन बढ़ती हुई वकालतका त्याग करके आये थे। यह भी कहा जा सकता है कि उसके बाद वह फिर कभी जमकर वकालत कर ही नहीं सके।

हमने नड़ियाद-अनाथाश्रममें डेरा जमाया। अनाथाश्रममें ठहरनेमें

कोई विशेषता नही थी; किंतु इसके समान कोई दूसरा खाली मकान नड़ियादमें नहीं था, जहां इतने अधिक आदमी रह सकें। अंतमें नीचे लिखी प्रतिज्ञापर हस्ताक्षर लिये गये —

"हम जानते है कि हमारे गांवमें फसल चार आनेसे भी कम हुई है। इसलिए हमने अगले साल तक कर वसूल करना मुल्तवी रखनेकी अर्जी सरकारको दी है; मगर फिर भी लगानकी वसूली बंद नहीं हुई है इसलिए हम नीचे सही करनेवाले प्रतिज्ञा करते है कि इस सालका सरकारका पूरा या बकाया लगान अदा न करेंगे; किंतु उसे वसूल करनेके लिए सरकार जो-कुछ कानूनी कार्रवाई करे उसे करने देंगे और उससे होने वाला कष्ट सहेगें। यदि इससे हमारी जमानें जब्त होंगी तो वह भी होने देंगे; किंतु अपने हाथों लगान चुकाकर, झूठे बनकर, हम स्वाभिमान नही खोएंगे। अगर सरकार दूसरी किस्त तक बकाया लगान वसूल करना सभी जगह मुल्तवी कर दे तो हममें जो लाग समर्थ है वे पूरा या बकाया लगान चुकानेको तैयार है। हममें जो समर्थ है उनके लगान न देनेका कारण यह है कि अगर खुशहाल लोग दे दें तो जो असमर्थ है वे घबराहटमें पड़कर अपनी चाहे जो वस्तु बेचकर या कर्ज करके लगान चुकावेंगे और दुःख भोगेंगे। हम मानते हैं कि ऐसी हालतमें गरीबोंका बचाव करना समर्थोंका धर्म है।"

इस लड़ाईके वर्णनकेलिए मै अधिक प्रकरण नही दे सकता। इसलिए कितने ही मीठे संस्मरण छोड़ देने पड़ेंगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाईका विशेष हाल जानना चाहें, उन्हे श्री शंकरलाल परीखका लिखा 'खेड़ाकी लड़ाईका सविस्तर और प्रामाणिक इतिहास'[1] पढ़ जानेकी मेरी सलाह है।

---

[1]यह पुस्तक गुजरातीमें है।—अनु०

: २४ :

प्याज-चोर

चंपारन हिंदुस्तानके एक ऐसे कोनेमे पड़ा था और वहांकी लड़ाईको अखवारोंसे इस तरह अलग रखा जा सका था कि वहां बाहरसे देखनेवाले नहीं आते थे। परंतु खेड़ाकी लड़ाईकी खबर अखबारोंमें छप चुकी थी। गुजरातियोंकी इस नई चीजमे खूब दिलचस्पी हो रही थी। वे धन लुटानेको तैयार थे। यह बात तुरंत ही उनकी समझमे नही आती थी कि सत्याग्रहकी लड़ाई धनसे नही चल सकती, उसे धनकी जरूरत कम-से-कम रहती है। मना करनेपर भी बंबईके सेठोने जरूरतसे अधिक धन दिया था और लड़ाईके अंतमे उसमेसे कुछ रकम बची भी थी।

दूसरी ओर सत्याग्रही सेनाको भी सादगीका नया पाठ सीखना बाकी था। यह तो नही कह सकते कि उन्होंने पूरा-पूरा पाठ सीख लिया था; किंतु हां, अपने रहन-सहनमे उन्होंने बहुत-कुछ सुधार जरूर कर लिया था।

पाटीदारोकेलिए भी इस प्रकारकी लड़ाई नई ही थी। गांव-गांवमें घूमकर उसका रहस्य समझाना पडता था। यह समझाकर लोगोंका भय दूर करना मुख्य काम था कि सरकारी अफसर प्रजाके मालिक नहीं किंतु नौकर है, उसके पैसेसे तनख्वाह पानेवाले हैं। और निर्भय बनते हुए भी उन्हें विनयके पालन करनेका ढंग बतलाना और गले उतारना लगभग अशक्य-सा ही लगता था। अफसरोका डर छोड़नेके बाद उनके किये अपमानोंका बदला लेनेकी इच्छा किसे न होती? मगर फिर भी सत्याग्रहीके लिए अविनयी होना तो दूधमे जहर पडनेके समान है। पीछेसे मैंने यह और अधिक समझा कि पाटीदार अभी विनयका पूरा पाठ नहीं पढ़ सके थे। अनुभवसे देखता हूं कि विनय सत्याग्रहका सबसे कठिन अंश है। विनयका अर्थ यहांपर केवल मानके साथ वचन बोलना-भर

ही नहीं है। विनय है विरोधीके प्रति भी मनमें आदर रखना, सरल भाव, उसके हितकी इच्छा और उसीके अनुसार वर्ताव रखना।

शुरूके दिनोंमें लोगोंमें खूब हिम्मत दिखाई पड़ती थी। शुरू-शुरूमें सरकारी कार्रवाइयां भी नर्म होती थी; किंतु जैसे-जैसे लोगोंकी दृढ़ता वढ़ती हुई जान पड़ी, वैसे-वैसे सरकार भी अधिक उग्र उपाय करने लगी। जब्तीवालोंने लोगोंके ढोर बेच दिये, घरमेंसे मनचाहा माल उठा ले गये। चौथाई जुरमानेके नोटिस निकले। किसी-किसी गांवकी सारी फसल जब्त हो गई। अब लोग घबराये। कुछ लोगोंने लगान दे दिया। दूसरे यह चाहने लगे कि अगर सरकारी अफसर ही हमारा कुछ माल जब्त करके लगान अदा कर ले तो हम सस्ते ही छूटे। पर कितने ऐसे भी निकले, जो मरते दमतक टेकपर अड़े रहनेवाले थे।

इतने ही मे शंकरलाल परीखकी जमीनपर रहनेवाले उनके आदमीने उनका लगान भर दिया। इससे हाहाकार हो गया। शंकरलाल परीखने वह जमीन देशको अर्पण करके अपने आदमाकी भूलका प्रायश्चित्त किया। उनकी प्रतिष्ठा अक्षत रही। दूसरोंकेलिए यह उदाहरण हुआ।

एक अनुचित रूपसे जब्त किये गये खेतमें प्याजकी फसल तैयार थी। मैंने डरे हुए लोगोंको उत्साह देनेकेलिए मोहनलाल पंड्याके नेतृत्वमें उस खेतकी फसल काट लेनेकी सलाह दी। मेरी दृष्टिमें उसमें कानूनका भंग नही होता था। मैंने समझाया, अगर होता भी हो तो भी जरा-सें लगानकेलिए सारी खड़ी फसलकी जब्ती कानून-सम्मत होनेपर भी नीति-विरुद्ध है और सरासर लूट है; तथा इस तरह की गई जब्तीका अनादर करना धर्म है। ऐसा करनेमें जेल जाने तथा सजा पानेकी जो जोखिम थी सो लोगोंको मैंने स्पष्ट रूपसे वतला दी थी। मोहनलाल पंड्याको तो यही चाहिएथा। उन्हें यह रुचिकर नही लग रहा था कि सत्याग्रहसे अविरोधी तौरपर किसीके जेल जानेके पहलेही खेड़ाकी लड़ाई खतम हो जाय। उन्होंने इस खेतकी प्याज खोद लानेका बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियोंने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकड़े बिना भला कैसे रहती ? मोहनलाल पंड्या और उनके साथी पकड़े गये। इससे लोगोंका उत्साह बढा। लोग जहांपर जेल इत्यादिसे निर्भय बनते हैं वहां राज-दंड लोगोंको दबानेके बदले उल्टा बहादुरी देता है। अदालतमें लोगोंके झुंड मुकदमा देखनेको इकट्ठे होने लगे। पंड्याको तथा उनके साथियोंको बहुत थोड़े दिनोंकी कैद मिली। मैं मानता हूं कि अदालतका फैसला गलत था। प्याज उखाड़नेकी कार्रवाई चोरीकी कानूनी व्याख्यामे नहीं आती है; किंतु अपील करनेकी ओर किसीकी रुचि ही नहीं थी।

जेल जानेवालोंको पहुंचानेकेलिए एक जलूस गया, और उस दिनसे मोहनलाल पंड्याने जो 'प्याज-चोर'की सम्मानित उपाधि लोगोसे पाई उसका गौरव उन्हे आजतक प्राप्त है।

अब यह वर्णन करके कि इस लड़ाईका कैसा किस तरह अंत आया, यह खेड़ा-प्रकरण पूरा करूंगा।

: २५ :

खेड़ाकी लड़ाईका अंत

इस लड़ाईका अंत विचित्र रीतिसे हुआ। यह स्पष्ट था कि लोग थक गये थे। जो लोग आन पर अड़े थे, उन्हें अंत तक ख्वार होने देनेमें संकोच होता था। मेरा झुकाव इस ओर था कि एक सत्याग्रहीको जो उचित मालूम हो सके, ऐसा कोई उपाय अगर इस युद्धको समाप्त करनेका मिल जाय तो वही करना चाहिए। सो ऐसा एक अकल्पित उपाय आप-ही-आप आ भी गया। नड़ियाद ताल्लुकेके मामलतदार (तहसीलदार) ने खबर भेजी कि अगर धनी पाटीदार लगान अदा कर दें तो गरीबोंका लगान मुल्तवी रहेगा। मैंने इस विषयमें तहरीरी हुक्म मांगा। वह मिल भी

गया। मामलतदार तो अपने ही ताल्लुकेकी जिम्मेदारी ले सकता है। सारे जिलेकी ओरसे कलेक्टर ही कह सकता है। इसलिए मैंने कलेक्टरसे पूछा। जवाब मिला कि ऐसा हुक्म तो कबका निकल चुका है। मुझे उसकी खबर न था; किंतु अगर ऐसा हुक्म निकला हो तो लोगोंकी प्रतिज्ञा पूरी हुई समझनी चाहिए। प्रतिज्ञामें यही बात थी। इसलिए इस हुक्मसे हमने संतोष माना।

फिर भी इस अंतसे हममेंसे कोई भी खुश न हो सका। क्योंकि सत्याग्रहकी लड़ाईके पीछे जो मिठास होनी चाहिए सो इसमें नहीं थी। कलेक्टर समझता था मैंने मानो कुछ नया किया ही नहीं है। गरीब लोगोंको छूट देनेकी बात थी, मगर वे भी शायद ही बचे। यह कहनेका अधिकार कि गरीब कौन है, प्रजा नहीं आजमा सकी। मुझे इस बातका दुःख था कि प्रजामें यह शक्ति नहीं रह गई थी। इसलिए सत्याग्रहके अंतका उत्सव तो मनाया गया; मगर मुझे वह निस्तेज लगा।

सत्याग्रहका शुद्ध अंत वह समझा जा सकता है कि जब आरंभकी बनिस्बत अंतमें प्रजामें अधिक तेज और शक्ति दिखाई दे। किंतु ऐसा मुझे नहीं दिखाई दिया।

ऐसा होनेपर भी लड़ाईके जो अदृश्य परिणाम आये, उनका लाभ, तो आज भी देखा जा सकता है, और मिल भी रहा है। खेडाकी लड़ाईसे गुजरातके किसान-वर्गकी जागृतिका, उसके राजनीतिक शिक्षणका आरंभ हुआ।

विदुषी वसंतीदेवी (एनी बेसेंट) का 'होमरूल'की प्रतिभाशाली हलचलने उसको स्पर्श अवश्य किया था; किंतु किसानके जीवनमें शिक्षित-वर्गका, स्वयं-सेवकोंका, सच्चा प्रवेश हुआ तो इसी लडाईसे कहा जा सकता है। सेवक पाटीदारोंके जीवनमें ओत-प्रोत ही गये थे। स्वयं-सेवकोंको अपने क्षेत्रकी मर्यादा इस लड़ाईमें मालूम हुई, उनकी त्याग-शक्ति बढ़ी। वल्लभभाईने अपने-आपको इस लड़ाईमें पहचाना। अगर और कुछ नहीं तो एक यही परिणाम कुछ ऐसा-वैसा नहीं था। यह हम पिछले

साल बाढ़-संकट-निवारणके समय और इस साल बारडोलीमें देखचुके है। गुजरातके प्रजा-जीवनमे नया तेज आया, नया उत्साह भर गया। पाटीदारोको अपनी शक्तिका भान हुआ, जो कभी नहीं मिटा, सबने समझा कि प्रजाका मुक्तिका आधार खुद उसीके ऊपर है, उसीकी त्याग-शक्तिपर है। सत्याग्रहने खेड़ाके द्वारा गुजरातमें जड़ जमाई। इसलिए हालांकि लड़ाईके अंतसे मै संतुष्ट न हो सका, मगर खेड़ाकी प्रजाको तो उत्साह ही मिला; क्योंकि उसने देख लिया कि हमारी शक्तिके अनुपातसे हमें अधिक मिला है और आगेके लिए राजनीतिक कष्टोंके निवारणका एक मार्ग हमें मिल गया है, उनके उत्साहके लिए इतना ज्ञान काफी था।

किंतु खेड़ाकी प्रजा सत्याग्रहका स्वरूप पूरा नही समझ सकी थी, इसलिए उसे कैसे कड़वे अनुभव हुए सो हम आगे चलकर देखेंगे।

: २६ :

ऐक्यके प्रयत्न

जिस समय खेड़ाका आंदोलन जारी था, उसी समय यूरोपका महा-समर भी चल रहा था। उसके सिलसिलेमे वाइसरायने दिल्लीमे नेताओंको बुलवाया था। मुझे भी उसमे हाजिर रहनेका आग्रह किया था। मैं यह पहले ही लिख चुका हू कि लार्ड चेम्सफोर्डके साथ मेरा मैत्री-संबंध था।

मैने आमंत्रण मंजूर किया और दिल्ली गया; किंतु इस सभामें शामिल होनेमें मुझे एक संकोच था। इसका मुख्य कारण यह था कि उसमें अली-भाइयों, लोकमान्य तथा दूसरे नेताओंको नही बुलाया गया था। उस समय अली-भाई जेलमे थे। उनसे मैं एक-दो बार ही मिला था, सुना उनके बारेमें बहुत-कुछ था। उनके सेवा-भाव और बहादुरीकी स्तुति सभी कोई किया करते थे। हकीम साहबके साथ भी मेरा परिचय नहीं हुआ था। स्व० आचार्य रुद्र और दीनबंधु एंड्रूजके मुंहसे उनकी बहुत प्रशसा सुनी थी। कलकत्तावाले मुस्लिम-लीगके अधिवेशनमें श्वेब कुरैशी और बैरिस्टर ख्वाजासे मेरी मुलाकात हुई थी। डाक्टर

अंसारी और डाक्टर अब्दुर्रहमानसे भी परिचय हो चुका था। भले मुसलमानोंकी सोहवत मैं ढूंढ़ता रहता था और उनमें जो पवित्र तथा देशभक्त समझे जाते थे, उनके संपर्कमें आकर उनकी भावनायें जाननेकी मुझे तीव्र इच्छा रहती थी। इसलिए मुझे वे अपने समाजमें जहां कहीं ले जाते, मैं बिना कोई खींच-तान कराये ही चला जाता था। यह तो मैं दक्षिण अफ्रिकामें ही समझ चुका था कि हिंदुस्तानके हिन्दू-मुसलमानोंमें सच्चा मित्राचार नहीं है। दोनोंके मन-मुटावको मिटानेका एक भी मौका मैं यों ही जाने नही देता था। झूठी खुशामद करके या स्वत्त्व गंवाकर किसीको खुश करना मैं जानता ही नही था; किंतु मैं वहीसे यह भी समझता आया था कि मेरी अहिंसाकी कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस ऐक्यके सिलसिलेमें ही होनेवाला है। अब भी मेरी यह राय कायम है। प्रतिक्षण मेरी कसौटी ईश्वर कर रहा है। मेरा प्रयोग आज भी जारी है।

इन विचारोंको साथ लेकर मैं बंबईके बंदरपर उतरा था। इसलिए इन भाइयोंका मिलाप मुझे अच्छा लगा। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारा परिचय होनेके बाद तुरंत ही सरकारने अली-भाइयोंको जीते-जी ही दफन कर दिया था। मौलाना मुहम्मदअलीको जब-जब इजाजत मिलती, वह मुझे बैतूल-जेलसे या छिंदवाड़ा जेलसे लंबे-लंबे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलने जानेकी प्रार्थना सरकारसे की; मगर उसकी इजाजत न मिली।

अली-भाइयोके जेल जानेके बाद कलकत्ता मुस्लिम-लीगका सभामें मुझे मुसलमान भाई ले गये थे। वहां मुझसे बोलनेकेलिए कहा गया था। मैं बोला। अली-भाइयोंको छुड़ानेका धर्म मुसलमानोंको समझाया।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ़-कालेजमे भी ले गये थे। वहां मैंने मुसलमानोंको देशकेलिए फकीरी लेनेका न्यौता दिया था।

अली-भाइयोंको छुड़ानेके लिए मैंने सरकारके साथ पत्र-व्यवहार चलाया। इस सिलसिलेमें इन भाइयोंकी खिलाफत संबंधी हलचलका अध्ययन किया। मुसलमानोके साथ भी चर्चा की। मुझे लगा कि

अगर मैं मुसलमानोंका सच्चा मित्र बनना चाहूं ता मुझे अली-भाइयोंको छुड़ानेमें और खिलाफतका प्रश्न न्यायपूर्वक हल करनेमे पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफतका प्रश्न मेरे लिए सहल था। उसके स्वतंत्र गुण-दाष तो मुझ देखने भी नही थे। मुझे ऐसा लगा कि उस संबंधमें मुसलमानों की मांग नीति-विरुद्ध न हो तो मुझे उसमे मदद देनी चाहिए। धर्म के प्रश्न में श्रद्धा सर्वोपरि होती है। सबकी श्रद्धा एक ही वस्तुके बारेमें एक ही-सी हो तो फिर जगत्मे एक ही धर्म हो सकता है। खिलाफत-संबंधी मांग मुझे नीति-विरुद्ध नही जान पड़ी। इतना ही नही, बल्कि यही मांग इंग्लेडके प्रधानमंत्री लाइड जार्जने स्वीकार की थी, इसलिए मुझे तो उनसे अपने वचनका पालन कराने भरका ही प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दोंमे थे कि मर्यादित गुण-दोषकी परीक्षा मुझे महज अपनी अंतरात्माको प्रसन्न करनेकी ही खातिर करनी थी।

खिलाफतके प्रश्नमें मैंने मुसलमानोका जो साथ दिया, उसके विषयमें मित्रों और टीकाकारोंने मुझे खूब खरी-खोटी सुनाई है। इस सबका विचार करनेपर भी मैंने जो राय कायमकी, जो मदद दी या दिलाई, उसके लिए मुझे जरा भी पश्चात्ताप नही है। न उसमे कुछ सुधार ही करना है। आज भी ऐसा प्रश्न यदि उठ खड़ा हो तो, मुझे लगता है, मेरा आचरण उसी प्रकारका होगा।

इस तरहके विचारको लिये हुए मैं दिल्ली गया। मुसलमानोंकी इस शिकायतके बारेमे मुझे वाइसरायसे चर्चा करनी ही थी। खिलाफतके प्रश्नने अभी अपना पूर्ण रूप नही धारण किया था।

दिल्ली पहुंचते ही दीनबंधु एड्रूजने एक नैतिक प्रश्न ला खड़ा किया। इस अरसेमे इटली और इंग्लेडके बीच गुप्त-संधि-विषयक चर्चा अंग्रेजी अखबारोंमे आई। दीनबंधुने मुझसे उसके संबधमें बात की और कहा, "अगर ऐसी गुप्त सधियां इंग्लेडने किसी सरकारके साथ की हों ता फिर आप इस सभामें कैसे शामिल होकर मदद दे सकते है?" मै इस संधिके बारेमें कुछ नही जानता था। दीनबंधुका शब्द मेरे लिए बस था।

इस कारणका पेश करके मैंने लार्ड चेम्सफोर्डको लिखा कि मुझे सभामें आनेसे उज्र है। उन्होंने मुझे चर्चा करनेके लिए बुलाया। उनके साथ और फिर मि० मैफीके साथ मेरी लंबी चर्चा हुई। इसका अंत यह हुआ कि मैंने सभामें जाना स्वीकार कर लिया। संक्षेपमें वाइसरायकी दलील यह थी—"आप कुछ यह तो नही मानते कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल जो कुछ करे, वाइसरायको उसकी खबर होनी चाहिए ? मै यह दावा नही करता कि ब्रिटिश सरकार किसी दिन भूल करती ही नही। यह दावा मै ही क्या, कोई भी नही करता; मगर आप यदि यह कबूल करें कि उसका अस्तित्व संसारकेलिए लाभकारी है, उसके कारण इस देशको कुल मिलाकर लाभ ही पहुंचा है, तो क्या फिर आप यह नही कबूल करेंगे कि उसकी आपत्तिके समय उसे मदद पहुंचाना हरेक नागरिकका धर्म है। गुप्त-संधिके संबंधमें आपने अखबारोंमे जो देखा है, सो मैंने भी पढ़ा है। मै आपको विश्वास दिला सकता हूं कि इससे अधिक कुछ भी नही जानता। यह भी तो आप जानते ही है कि अखबारोंमें कैसी गप्पें आती है। तो क्या आप अखबारोंमें छपी एक निंदक बातसे ऐसे समयमें सल्तनतको छोड़ सकते है ? लड़ाई खतम होनेके बाद आपको जितने नीतिके प्रश्न उठाने हों, आप उठा सकते है, और जितनी छान-बीन करनी हों, कर सकते हैं।"

यह दलील नई न थी; परंतु जिस अवसरपर, जिस प्रकार वह रखी गई, उससे मुझे नई-सी जान पड़ी और मैंने सभामें जाना मंजूर कर लिया। यह निश्चित हुआ कि खिलाफतके बारेमें वाइसरायको पत्र लिखकर भेजूं।

: २७ :

रंगरूटोंकी भरती

सभामें मै हाजिर हुआ। वाइसरायकी तीव्र इच्छा थी कि मैं सैन्य-भरतीके प्रस्तावका समर्थन करूं। मैंने हिंदुस्तानीमें बोलनेकी प्रार्थना की। वाइसरायने वह स्वीकार कर ली; मगर साथ ही अंग्रेजीमें भी बोलनेका

अनुरोध किया। मुझे भाषण तो देना था ही नहीं। मैं इतना ही बोला—"मुझे अपनी जिम्मेदारीका पूरा भान है और उस जिम्मेदारीका समझते हुए मैं इस प्रस्तावका समर्थन करता हूं।" हिंदुस्तानीमें बोलनेके लिए मुझे बहुतोंने धन्यवाद दिया। वे कहते थे कि वाइसरायकी सभामें हिंदुस्तानी बोलनेका इस जमानेमें यह पहला ही दृष्टांत था। यह धन्यवाद और पहला ही दृष्टांत होनेकी खबर मुझे अखरी। मैं शरमाया। अपने ही देशमें देश-संबंधी कामकी सभामें; देशी भाषाका बहिष्कार या उनकी अवगणना होना कितने दुःखकी बात है? और मुझ जैसा कोई शख्स यदि हिंदुस्तानीमें एक या दो वाक्य बोल ही दे तो उसे धन्यवाद किस बात का? ऐसे प्रसंग हमें अपनी गिरी हुई दशाका भान कराते हैं। सभामें जो वाक्य मैंने कहे थे उनमें मेरेलिए तो बहुत वजन था। क्योंकि यह सभा या यह समर्थन ऐसे न थे, जिन्हें मैं भूल सकूं। अपनी एक जिम्मेदारी तो मुझे दिल्लीमें ही खत्म कर लेनी थी। वाइसरायको पत्र लिखनेका काम मुझे आसान नहीं लगा। सभामें जानेकी अपनी आनाकानी, उसके कारण, भविष्यकी आशायें वगैराका खुलासा, अपनेलिए, सरकारकेलिए, और प्रजाकेलिए, करनेकी आवश्यकता मुझे जान पड़ती थी।

मैंने वायसरायको पत्र लिखा। उसमें लोकमान्य तिलक, अलीभाई आदि नेताओंकी गैरहाजिरीके बारेमें अपना खेद प्रकट किया, लोगोंकी राजनीतिक मांगों और लडाईमेंसे उत्पन्न मुसलमानोंकी मांगोंका उल्लेख किया। यह पत्र छापनेकी इजाजत मैंने वायसरायसे मांगी, जो उन्होंने खुशीसे दे दी।

यह पत्र शिमला भेजना था; क्योंकि सभा खत्म होते ही वाइसराय शिमला चले गये थे। वहां डाकसे पत्र भेजनेमें ढील होती थी। मेरे मतमें पत्र महत्त्वपूर्ण था। समय बचानेकी जरूरत थी। चाहे जिसके हाथसे भेजनेकी इच्छा नही होती थी। मुझे ऐसा लगा कि अगर यह पत्र किसी पवित्र आदमीके हाथसे जाय तो बड़ा अच्छा है। दीनबंधु और

सुशीलरुद्रने रेवरेंड ग्रायलैंड महाशयका नाम सुझाया। उन्होंने यह मंजर किया कि पत्र पढ़नेपर अगर शुद्ध लगेगा तो ले जाऊंगा। पत्र खानगी तो था ही नही। उन्होने पढा, वह उन्हें पसंद आया और उसे ले जानेको राजी हो गयें। मैंने दूसरे दर्जेका रेल-भाड़ा देनेकी व्यवस्था की; किंतु उन्होंने उसे लेनेसे इन्कार कर दिया और रातका सफर होनेपर भी इंटरका ही टिकट लिया। उनकी इस सादगी, सरलता, स्पष्टता पर मैं मोहित हो गया। इस तरह पवित्र हाथों भेजे गये पत्रका परिणाम मेरी दृष्टिसे अच्छा ही हुआ। उससे मेरा मार्ग साफ हो गया।

मेरी दूसरी जिम्मेदारा रंगरूट भरती करनेकी थी। मैं यह याचना खेड़ामें न करूं तो और कहां करता? अपने साथियोंको अगर पहले न्योता न दूं तो और किसे दूं? खेड़ा पहुंचते ही वल्लभभाई वगराके साथ सलाह की। कितनों हीके गले यह घूंट तुरत न उतरी। जिन्हें यह वात पसंद भी पड़ी, उन्हें कार्यकी सफलताके वारेमें संदेह हुआ। फिर जिस वर्गमेंसे यह भर्ती करनी थी, उसके मनमे इस सरकारके प्रति कुछ भी प्रेम न था सरकारके अफसरोंके द्वारा हुए कड़वे अनुभव अभी उनके दिमागमें ताजे ही थे।

तो भी कार्यारंभ करनेके पक्षमें सभी हो गये। कार्यका आरंभ करते ही मेरी आंखे खुल गईं। मेरा आशावाद भी, कुछ ढीला पड़ा। खेड़ाकी लड़ाईमें लोग खुश होकर मुफ्तमें गाड़ी देते थे; जहां एक स्वयं-सेवककी जरूरत होती वहां तीन-चार मिल जाते थे। अव पैसा देनेपर भी गाड़ी दुर्लभ हो गई। किंतु इस तरह मै कोई निराश होनेवाला जीव नही था। गाड़ीके वदले पैदल ही सफर करनेका निश्चय किया। रोज वीस मीलकी मंजिल तै करनी थी। जब गाड़ी ही न मिलती थी तो खाना कहांसे मिलता? मांगना भी उचित नही जान पड़ता था। इसलिए यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयं-सेवक अपने भोजनका सामान अपने झोलेमें लेकर ही वाहर निकले। मौसम गर्मीका था। इसलिए ओढ़नेका कुछ सामान साथ रखनेकी जरूरत नही थी।

जिस-तिस गांवमें हम जाते, वहां सभा करते। लोग आते तो मगर भरतीकेलिए नाम मुश्किलसे एक या दो ही मिलते। 'आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार लेनेके लिए क्यों कहते हैं? सरकारने हिंदुस्तानका कौन-सा भला किया है जो आप उसे मदद देनेपर जोर देते हैं।' इस तरहके अनेक सवाल हमारे सामने पेश किये जाते थे।

ऐसा होनेपर भी हमारे सतत कामका असर लोगोंपर होने लगा था। नाम भी यों ठीक संख्यामें लिखे जाने लगे और हम मानने लग कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े तो दूसरीके लिए रास्ता साफ हो जायगा। कमिश्नरके साथ मैंने यह चर्चा शुरू कर दी थी कि जो रंगरूट भरती होजायं उन्हें कहां रखना चाहिए इत्यादि। दिल्लीके नमूनेपर कमिश्नर लोग जगह-जगह सभायें करने लगे थे। वैसी सभा गुजरातमें भी हुई। उसमें मुझे और मेरे साथियोंको भी आनेका आमंत्रण था। यहां भी मैं गया था। किंतु अगर दिल्लीमें मेरा जाना कम शोभता जान पड़ा था तो यहां और भी कम लगा। 'जी-हां' 'जी-हां'के वातावरणमें मुझे चैन नहीं पड़ता था। यहां मैं जरा ज्यादा बोला था। मेरे बोलनेमें खुशामद जैसा तो था नहीं, बल्कि दो-एक कड़वे वचन भी थे।

रंगरूटोंकी भरतीके संबंधमें मैंने पत्रिका छापी थी। उसमें भरती होनेके निमत्रणमें एक दलील दी थी, जो कमिश्नरको खटकी थी। उसका सार यह था—'ब्रिटिश राज्यके अनेक अपकृत्योंमें सारी जनताको शस्त्र-रहित करनेके कानूनका इतिहास उसका सबसे काला काम माना जायगा। यदि यह कानून रद्द कराना हो और शस्त्र चलाना सीखना हो तो उसके लिए यह सुवर्ण योग है। राज्यकी इस आपत्तिके समयमें मध्यमवर्ग यदि स्वेच्छासे मदद करेगा तो इससे पारस्परिक अविश्वास दूर होगा और जो शस्त्र-धारण करना चाहते हैं वे खुशीसे उन्हें रख सकेंगे।" इसको लक्ष्य करके कमिश्नरको कहना पड़ा था कि उनके और मेरे बीच मत-भेद होते हुए भी सभामें मेरी हाजिरी उन्हे प्रिय थी। मुझे भी अपने मतका समर्थन जहां तक हो सका, मीठे शब्दोंमें करना पड़ा था।

पहले जिस पत्रका उल्लेख किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है—

"सभामें उपस्थित होनेकेलिए मैं हिचकिचा रहा था, परंतु आपसे मुलाकात करनेके बाद मेरी हिचकिचाहट दूर हो गई है। और उसका एक कारण यह अवश्य है कि आपके प्रति मुझे बहुत आदर है। न आनेके कारणोंमें एक मजबूत कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, श्रीमती बेसेंट और अली-भाइयोंको निमंत्रण नहीं दिया गया था। इन्हें मैं जनताके बड़े ही शक्तिशाली नेता मानता हूं। मैं तो यह मानता हूं कि उनको निमंत्रण न भेजकर सरकारने बड़ी गंभीर भूल की है। मैं अब भी यह सुझाना चाहता हूं कि जब प्रांतीय सभायें की जायं तब उन्हें अवश्य निमंत्रण भेजा जाय। मेरी नाकिस रायमें चाहे कैसा ही मतभेद क्यों न हो, कोई भी सल्तनत ऐसे प्रौढ़ नेताओंकी अवगणना नहीं कर सकती। इसी कारण मैं सभाकी कमेटियोंमें शामिल न हो सका और सभामें प्रस्तावका समर्थन करके संतुष्ट हो गया। सरकारनें यदि मेरे सुझाव स्वीकृत कर लिये तो मैं तुरंत ही इस काममें लग जानेकी आशा रखता हूं।

"जिस सल्तनतमें हम भविष्यमें संपूर्ण हिस्सेदार बननेकी आशा करते हैं, उसको आपत्ति-कालमें पूरी मदद करना हमारा धर्म है। परंतु मुझे यह कहना चाहिए कि उसके साथ हमें यह आशा भी रही है कि इस मददके कारण हम अपने ध्येय तक जल्दी पहुंच सकेंगे। इसलिए लोगोंको यह माननेका अधिकार है कि जिन सुधारोंको देनेकी आशा आपने अपने भाषणमें दिखलाई है उनमें कांग्रेस और मुस्लिम लीगकी मुख्य-मुख्य मांगोंका भी समावेश होगा। अगर मुझसे बन पड़ता तो मैं ऐसे समयमें होमरूल वगैराका उच्चार तक न करता और साम्राज्यके ऐसे नाजुक समयपर तमाम शक्तिशाली भारतीयोंको उसकी रक्षामें चुपचाप कुरबान हो जानेके लिए कहता। इतना

करनेसे ही हम साम्राज्यके बड़े-से-बड़ और सम्माननीय हिस्सेदार बन जाते और रंग-भेद और देश-भेद दूर हो जाता।

"परंतु शिक्षित वर्गने इससे कम कारगर रास्ता अख्तियार किया है। जन-समाजमें उसकी पहुंच बहुत है। मैं जबसे हिंदुस्तानमें आया हूं तभीसे जन-समाजके गाढ़ परिचयमें आता रहा हूं और मैं आपको यह कहना चाहता हूं कि उनमें होमरूल प्राप्त करनेका उत्साह पैदा हो गया है। बिना होमरूलके प्रजाको कभी संतोष न होगा। वे यह समझते हैं कि होमरूल प्राप्त करनेके लिए जितना भी त्याग किया जा सके कम ही होगा। इसलिए यद्यपि साम्राज्यके लिए जितने भी स्वयं-सेवक दिये जा सकें, देने चाहिएं; किंतु मैं आर्थिक मददके लिए यह नहीं कह सकता हूं। लोगोंकी हालतको जानकर मैं यह कह सकता हूं कि हिंदुस्तान अबतक जितनी मदद कर चुका है वह भी उसकी शक्तिसे अधिक है। परंतु मैं इतना अवश्य समझता हूं कि जिन्होंने सभामें प्रस्तावका समर्थन किया उन्होंने इस कार्यमें प्राणांत तक मदद करनेका निश्चय किया है। परंतु हमारी स्थिति मुश्किल है। हम कोई दूकानके हिस्सेदार नहीं। हमारी मददकी नींव भविष्यकी आशापर स्थित है; और यह आशा क्या है, यह यहां विशेषरूपसे कहना चाहिए। मैं कोई सौदा करना नहीं चाहता। फिर भी मुझे इतना तो यहां अवश्य कहना चाहिए कि यदि इसमें हमें निराश होना पड़ा तो साम्राज्यके बारेमें आजतक हमारी जो धारणा है वह केवल भ्रम समझी जायगी।

"आपने अंदरूनी झगड़े भूल जानेकी जो बात कही है उसका अर्थ यदि यह हो कि जुल्म और अधिकारियोंके अपकृत्य सहन करें तो यह असंभव है। संगठित जुल्मके सामने अपनी सारी शक्ति लगा देना मैं अपना धर्म समझता हूं। इसलिए आप अधिकारियोंको हिदायत दें कि वे किसी भी जीवकी अवहेलना

न करें और पहले कभी जितना लोकमतका आदर नहीं किया उतना अब करें। चंपारनमें सदियोंके जुल्मका विरोध कर मैंने ब्रिटिश न्यायका सर्वश्रेष्ठ होना प्रमाणित कर दिया है। खेड़ाकी रैयतने यह देख लिया है कि जब उसमें सत्यके लिए कष्ट सहन करनेकी शक्ति है तब सच्ची शक्ति राज्य नहीं बल्कि लोकमत है। और इसलिए जिस सल्तनतको प्रजा शाप दे रही थी उसके प्रति अब कटुता कुछ कम हो गई है और जिस राज्य-सत्ताने सविनय कानून-भंग सहन कर लिया है वह लोकमतका सर्वथा अनादर नहीं करेगी, ऐसा उनको विश्वास हो गया है। इसलिए मैं यह मानता हूं कि चंपारन और खेड़ामें मैंने जो कार्य किया है वह लड़ाईके संबंधमें मेरी सेवा ही है। यदि आप मुझे इस प्रकार का कार्य बंद करनेको कहेंगे तो मैं यही समझूंगा कि आप मुझे अपने श्वासको ही रोक देनेके लिए कहते हैं। यदि शस्त्र-बलके स्थानमें मुझे आत्म-बल अर्थात् प्रेम-बलको लोकप्रिय बनानेमें सफलता मिले तो मैं यह जानता हूं कि हिंदुस्तानपर सारे विश्वकी त्यौरी चढ़ जाय तो भी वह उसका सामना कर सकेगा। इसलिए हर समय कष्ट सहन करनेकी इस सनातन रीतिको अपने जीवनमें उतारनेके लिए मैं अपनी आत्माको कसता रहूंगा और दूसरोंको भी इस नीतिको अंगीकार करनेके लिए कहता रहूंगा। और यदि मैं कोई और काम करता भी हूं तो वह इसी नीति की अद्वितीय उत्तमता सिद्ध करनेके लिए हो।

"अंतमें मैं आपसे विनती करता हूं कि आप मुसलमान राज्यके बारेमें निश्चित विश्वास दिलानेकी प्रेरणा ब्रिटिश प्रधानमंडलको करें। आप जानते हैं कि इस विषयमें प्रत्येक मुसलमानको चिंता बनी रहती है। एक हिंदू होकर मैं उनकी इस चिंताके प्रति लापरवाह नहीं रह सकता हूं। उनका दुःख तो हमारा ही दुःख है। मुसलमानी राज्यके हकोंकी रक्षा करनेमें, उनके धर्म-स्थानोंके

विषयमें उनके भावोंका आदर करनेमें, और हिंदुस्तानकी होम-रूलकी मांग स्वीकार करनेमें साम्राज्यकी सलामती है। मैंने यह पत्र इसलिए लिखा है कि मैं अंग्रेजोंको चाहता हूं और अंग्रेजोंमें जैसी वफादारी है, वैसी ही मैं प्रत्येक भारतीयमें जाग्रत करना चाहता हूं।"

: २८ :

मृत्यु-शय्यापर

रंगरूटोंकी भरती करनेमें मेरा शरीर काफी थक गया। उन दिनों केले इत्यादि कुछ फल, भुनी हुई मूंगफलीको कूटकर उसमें गुड़ मिला उसे दो-तीन नींबूके पानीके साथ लिया करता था। बस, यही मेरा भोजन था। मैं यह जानता तो था कि अधिक मूंगफली अपथ्य करती है, फिर भी वह अधिक खानेमें आ गई। इससे जरा पेचिश हो गई। मुझे बार-बार आश्रम तो आना ही पड़ता था। मैंने इस पेचिशकी अधिक परवा नही की। रातको आश्रम पहुंचा। उन दिनों मै दवा तो शायद ही कभी लेता था। मुझे विश्वास था कि एक बारका खाना बंद कर दूंगा तो तबियत ठीक हो जायगी। दूसरे दिन सुबह कुछ नहीं खाया। इससे दर्द तो लगभग मिट गया। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास और करना चाहिए, अथवा यदि कुछ खाना ही हो तो फलका रस जैसी कोई चीज लेनी चाहिए।

उस दिन कोई त्योहार था। मुझे स्मरण है कि मैंने कस्तूरबाईसे कह दिया था कि दोपहरको भी मैं भोजन नही करूंगा। पर उसने मुझे ललचाया और मैं भी लालचमे आ गया। उस समय मै किसीभी पशुका दूध नहीं पीता था। इसलिए घी और मट्ठा भी मेरे लिए त्याज्य ही था। अतः मेरे लिए तेलमें गेहूंका दलिया बनाया गया। वह और सावत मूंग भी मेरे लिए खास तौरपर रखे हुए हैं, ऐसा मुझसे कहा गया। बस, स्वादने मुझे फंसा लिया। फिरभी इच्छा तो यही थी कि कस्तूरबाईकी बात रखनेके लिए थोड़ा-सा खा लूंगा। इससे स्वाद भी आ जायगा और

शरीर की रक्षा भी हो जायगी। पर शैतान तो मौकेकी ताकमें ही बैठा था। मैंने भोजन शुरू किया और थोड़ा खानेके बदले डटकर पेटभर खा लिया। जायका तो खूब रहा, पर साथ ही जमराजको निमंत्रण भी दे दिया। खाये एक घंटा भी न हुआ कि पेटमें जोरोंसे दर्द शुरू हुआ।

रातको नड़ियाद तो वापस जाना ही था। साबरमती स्टेशनतक पैदल गया। पर वह सवा मीलका रास्ता कटना मुश्किल हो गया। अहमदाबादके स्टेशनपर वल्लभभाई आनेवाले थे। वह आये और मेरी तकलीफको जान गये। पर मेरी व्याधि असह्य थी, यह न तो मैंने उन्हें जानने दिया और न दूसरे साथियोंसे ही कहा।

नड़ियाद पहुचे। यहांसे अनाथाश्रम जाना था। सिर्फ आध मीलका फासला था। पर वह दस मील-सा मालूम हुआ बड़ी मुश्किलसे वहां पहुंचा। पर मरोड़ा बढ़ता जाता था। पंद्रह-पद्रह मिनटमें पाखाना जानेकी हाजत होने लगी। आखिर मैं हारा। अपनी असह्य वेदनाका हाल मित्रोंसे कहा और बिस्तर पकड़ा। अभी तक आश्रमकी मामूली टट्टियोंमें पाखानेकेलिए जाता था। अब कमोड ऊपर मंगाया। लज्जा तो बहुत मालूम हो रही रही थी, पर लाचार था। फूलचंद बापूजी बिजलीका तरह दौड़कर कमोड लाये। साथी चितातुर होकर मेरे आस-पास एकत्र हो गए। उन्होंने अपने प्रेमसे मुझे नहला दिया। पर मेरे दुःखको आप उठाकर तो बेंचारे हलका कर नहीं सकते थे। इधर मेरे हठका कोई ठिकाना न था। डाक्टरको बुलानेसे मैंने इन्कार कर दिया—"दवा तो हर्गिज नहीं लूंगा। अपने कियेका फल भोगूंगा।" साथियोंने यह सब दुखी मुंहसे सह लिया। चौबीस घंटेके अंदर तीस-चालीस बार मैं टट्टी गया। खाना तो मैंने बंद कर ही दिया था। शुरूके दिनोंमे तो फलोंका रस भी नहीं लिया। रुचि ही न थी।

जिस शरीरको आजतक मैं पत्थर के जैसा मानता था, वह मिट्टी-सा हो गया। सारी शक्ति जाने कहां चली गई। डॉ० कानूगा आये। उन्होंने दवा लेनेके लिए मुझे बहुत समझाया। पर मैंनें इन्कार कर दिया।

इंजेक्शन देनेकी बात कही। मैंने इसपर भी इन्कार ही किया। इंजेक्शनके विषयमें मेरा उस समयका अज्ञान हास्यजनक था। मेरा यही खयाल था कि इंजेक्शन तो किसी प्रकारकी लस-सीरम होगी। बादमें मुझे मालूम हुआ कि डॉक्टरनेजो इंजेक्शन बताया था वह तो एक प्रकारका बनिस्पति-तत्त्व था। पर जब यह ज्ञान हुआ तब तो अवसर बीत गया था। हाजतें जारी थीं। बहुत परिश्रमके कारण बुखार और बेहोशी भी आ गई। मित्र और भी घबराये। अन्य डॉक्टर भी आये, जो बीमार ही उनकी न सुनें तब उसकेलिए वे क्या कर सकते थे?

सेठ अंबालाल और उनकी धर्मपत्नी नड़ियाद आईं। साथियोंसे सलाह-मशविरा किया और बड़ी हिफाजतसे मुझे वे अपने मिरजापुरवाले बंगले पर ले गये। मैं यह तो जरूर कहूंगाकि इस बीमारीमें जो निर्मल, निष्काम सेवा मुझे मिली उससे अधिक सेवा तो कोई नही प्राप्त कर सकता। मंद-ज्वर आने लगा और शरीर भी क्षीण होता चला। मालूम हुआ कि बीमारी बहुत दिनतक चलेगी और शायद मैं बिस्तरेसे भी न उठ सकू। अंबालाल सेठके बंगलेमें प्रेमसे घिरा हुआ होनेपर भी मेरे चित्तमें अशांति पैदा हुई और मैंने उनसे मुझे आश्रममें पहुंचानेके लिए कहा। मेरा अत्यंत आग्रह देखकर वह मुझे आश्रम ले आये।

आश्रममें मैं यह पीड़ा भोग रहा था कि इतनेमें वल्लभभाई यह खबर लाये कि जर्मनी पूरी तरह हार गया और कमिश्नरने कहलाया है कि अब रंगरूटोंकी भरती करनेकी जरूरत नहीं है। इसलिए रंगरूटोंकी भरती करनेकी चितासे मैं मुक्त हो गया और इससे मुझे शांति मिली।

अब पानीके उपचारोंपर शरीर टिका हुआ था। दर्द चला गया पर शरीर किसी तरह पनप नहीं रहा था। वैद्य और डाक्टर मित्र अनेक प्रकारकी सलाह देते थे। पर मैं किसी तरह दवा लेनेके लिए तैयार न हुआ।

दो-तीन मित्रोंने दूध लेनेमें कोई बाधा होतो मांसका शोरबा लेनेकी सिफारिश की और अपने कथनकी पुष्टिमें आयुर्वेदसे इस आशयके प्रमाण

बताये कि दवाके वतौर मांसादि चाहे जिस वस्तुका सेवन करनेमें कोई हानि नहीं। एक मित्रने अंड खानेकी भी सलाह दी। पर उनमेंसे किसीका भी सलाहको मैं स्वीकार न कर सका। सबकेलिए मेरा तो एक ही जवाब था।

खाद्याखाद्यका सवाल मेरेलिए महज शास्त्रोंके श्लोकोंपर निर्भर न था। वह तो मेरे जीवनके साथ स्वतंत्र रीतिसे निर्माण हुआ था। हर कोई चीज खाकर हर किसी तरह जीनेका मुझे जरा भी लोभ न था। अपने पुत्रों, स्त्री और स्नेहियोंकेलिए मैंने जिस धर्मपर अमल किया उसका त्याग मैं अपने लिए कैसे कर सकता था ?

इस तरह इस बहुत लंबी बीमारीमें, जो कि गंभीरताके खयालसे मेरे जीवनमें मुझे पहले-ही-पहल हुई थी, मुझे धर्म-निरीक्षण करनेका तया उसे कसोटीपर चढ़ानेका अलभ्य लाभ मिला। एक रात तो मैं जीवनसे बिलकुल निराश हो गया था। मुझे मालूम हुआ कि अंतकाल आ पहुंचा। श्रीमती अनसूयाबहनको समाचार भिजवाये। वह आई। वल्लभभाई आये। डा० कानूगोने नब्ज देखकर कहा, "मुझे तो ऐसा एक भी चिह्न नहीं दिखाई देता, जो भयंकर हो। नब्ज बिलकुल अच्छी है केवल कमजोरीके कारण यह मानसिक अशांति आपको है।" पर मेरा दिल गवाही नहीं देता था। रात तो बीती। उस रात शायद ही मुझे नींद आई।

सवेरा हुआ। मृत्यु न आई। फिर भी मुझे जीनेकी आशा नही हो पाई थी। मैं तो यही समझ रहा था कि मृत्यु नजदीक आ पहुंची है। इसलिए जहांतक हो सका, अपने साथियोंसे गीता सुननेमें ही अपने समयका उपयोग मैं करने लगा। कुछ काम-काज करनेकी शक्ति तो थी ही नहीं। पढ़नेका शक्ति भी न रह गई थी। किसीसे बात तक करनेको जी न चाहता था। जरा-सी बातचीत करनेमें दिमाग थक जाता था। इससे जीनेमें कोई आनंद नहीं रहा था। महज जीनेकेलिए जीना मुझे कभी पसंद नहीं था। बिना कुछ काम-काज किये साथियोंसे सेवा लेते

हुए दिन-ब-दिन क्षीण होनेवाली देहको टिकाये रखना मुझे बड़ा कष्टकर प्रतीत होता था।

इस तरह मृत्युकी राह देख रहा था कि इतनेमें डा० तलवलकर एक विचित्र प्राणीको लेकर आये। वह महाराष्ट्रीय है। उनको हिंदुस्तान नहीं जानता। पर मेरे ही जैसे 'चक्रम' हैं, यह मैंनें उन्हें देखते ही जान लिया। वहं अपना इलाज मुझपर आजमानेकेलिए आए थे। बंबईके ग्रैंड मेडिकल कॉलेजमें पढ़ते थे। पर उन्होंने द्वारकाकी छाप—उपाधि—प्राप्त न की थी। मुझे बादमें मालूम हुआ कि वह सज्जन ब्रह्मसमाजी हैं। उनका नाम है केलकर। बड़े स्वतंत्र मिजाजके आदमी हैं। बरफके उपचारके बड़े हिमायती हैं।

मेरी बीमारीकी बात सुनकर जब वह अपने बरफके उपचार मुझ-पर आजमानेकेलिए आये, तबसे हमने उन्हें 'आइस डाक्टर'की उपाधि दे रखी है। अपनी रायके बारेमे वह बड़े आग्रही है। डिग्रीधारी डाक्टरोंकी अपेक्षा उन्होंनें कई अच्छे आविष्कार किये हैं, ऐसा उन्हे विश्वास है। वह अपना यह विश्वास मुझमे उत्पन्न नही कर सके, यह उनके और मेरे दोनोंकेलिए दुःखकी बात है। मै उनके उपचारोंको एक हद तकतो मानता हूं। पर मेरा खयाल है कि उन्होंने कितने ही अनुमान बांधनेमे कुछ जल्द-बाजी की है। उनके आविष्कार सच्चे हों या गलत, मैंने तो उन्हें उनके उपचारका प्रयोग अपने शरीर पर करने दिया। बाह्य उपचारोंसे अच्छा होना मुझे पसंद था। फिर ये तो बरफ अर्थात् पानीके उपचार थे। उन्होंने मेरे सारे शरीरपर बरफ मलना शुरू किया। यद्यपि इसका फल मुझपर उतना नही हुआ, जितना कि वह मानते थे, तथापि जो मैं रोज मृत्युकी राह देखता पड़ा रहता था सो अब नहीं रहा। मुझे जीनेकी आशा बंधन लगी। कुछ उत्साह भी मालूम होने लगा। मनके उत्साहके साथ-साथ शरीरमें भी कुछ ताजगी मालूम होने लगी। खुराक भी थोड़ी बढ़ी। रोज पांच-दस मिनट टहलने लगा। "अगर आप अंडेका रस पियें तो आपके शरीरमें इससे भी अधिक शक्ति आ जावेगी, इसका मैं आपका

विश्वास दिला सकता हूं। और अंडा तो दूधके ही समान निर्दोष वस्तु होती है। वह मांस तो हर्गिज नहीं कहा जा सकता। फिर यह भी नियम नहीं है कि प्रत्येक अंडेसे बच्चे पैदा होते ही हों। मै साबित कर सकता हूं कि ऐसे निर्जीव अंडे सेये जाते हैं जिनमेंसे बच्चे पैदा नही होते।" उन्होंने कहा। पर ऐसे निर्जीव अंडे लेनेको भी मैं तो राजी न हुआ। फिर भी मेरी गाड़ी कुछ आगे चली और मैं आस-पासके कामोंमें थोड़ी-बहुत दिल-चस्पी लेने लगा।

: २६ :

रौलेट-ऐक्ट और मेरा धर्म-संकट

माथेरान जानेसे शरीर जल्दी ही पुष्ट हो जायगा, ऐसी मित्रोंसे सलाह पाकर मैं माथेरान गया। परंतु वहांका पानी भारी था। इसलिए मुझ जैसे बीमारके लिए वहां रहना मुश्किल ही पड़ा। पेचिसके कारण गुदा-द्वार बहुत ही नाजुक पड़ गया था और वहां चमड़ी फट जानेसे मल-त्यागके समय बड़ा दर्द होता था। इसलिए कुछ भी खाते हुए डर लगता था अतःएक सप्ताहमें ही माथेरानसे लौट आया। अब मेरे स्वास्थ्यकी रखवालीका काम श्री शंकरलालने अपने हाथमें ले लिया। उन्होने डॉ० दलालकी सलाह लेनेपर बहुत जोर दिया। डा० दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करनेकी शक्तिने मुझे मोह लिया। उन्होने कहा—

"जबतक आप दूध न लेंगे तबतक आपका शरीर नहीं पनपेगा। शरीरकी पुष्टिकेलिए तो आपको दूध लेना चाहिए और लोहे व संखिये-की पिचकारी (इंजेक्शन) लेनी चाहिए। यदि आप इतना करे तो मैं आपका शरीर फिरसे पुष्ट करनेकी "गैरंटी" देता हूं।

"आप पिचकारी भले ही दे, लेकिन मै दूध नहीं लूंगा।" मैंने जवाब दिया।

"आपकी दूधकी प्रतिज्ञा क्या है?" डाक्टरने पूछा।

"गाय-भैंसके फूंका लगाकर दूध निकालनेकी क्रिया की जाती है। यह जाननेपर मुझे दूधके प्रति तिरस्कार हो आया, और यह तो मैं सदा मानता ही था कि वह मनुष्यकी खुराक नहीं है, इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।" मैंने कहा।

"तब तो बकरीका दूध लिया जा सकता है।" कस्तूरबाई, जो मेरी खाटके पास ही खड़ी थीं, बोल उठीं।

"बकरीका दूध ले तो मेरा काम चल जायगा।" डाक्टर दलाल बीचमें ही बोल उठे।

मैं झुका। सत्याग्रहकी लड़ाईके मोहने मुझमें जीवनका लोभ पैदा कर दिया था और मैंने प्रतिज्ञाके अक्षरोंके पालनसे संतोष मानकर उसकी आत्माका हनन किया। दूधकी प्रतिज्ञा लेते समय यद्यपि मेरी दृष्टिके सामने गाय-भैंसका ही विचार था, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूध-मात्रके लिए समझी जानी चाहिए, और जबतक मैं पशुके दूध-मात्रको मनुष्यकी खुराकके लिए निषिद्ध मानता हूं तबतक मुझे उसे लेनेका अधिकार नहीं है। यह जानते हुए भी बकरीका दूध लेनेके लिए मैं तैयार हो गया। इस तरह सत्यके एक पुजारीने सत्याग्रहकी लड़ाईकेलिए जीवित रहनेकी इच्छा रखकर अपने सत्यको धब्बा लगाया।

मेरे इस कार्यकी वेदना अबतक नहीं मिटी है और बकरीका दूध छोड़नेकी धुन अब भी लगी रहती है। बकरीका दूध पीते वक्त रोज मैं कष्ट अनुभव करता हूं। परंतु सेवा करनेका महासूक्ष्म मोह, जो मेरे पीछे लगा है, मुझे छोड़ नहीं रहा है। अहिंसाकी दृष्टिसे खुराकके अपने प्रयोग मुझे बड़े प्रिय हैं। उनमे मुझे आनंद आता है और यही मेरा विनोद भी है। परंतु बकरीका दूध मुझे इस दृष्टिके कारण नहीं अखरता। वह तो मुझे सत्यकी दृष्टिसे अखरता है। अहिंसाको जितना मैं जान सका हू उसकी बनिस्बत मैं सत्यको अधिक जानता हू, ऐसा मेरा खयाल है। और यदि मै सत्यको छोड़ दूं तो अहिंसाकी बड़ी उलझनें मैं कभी भी न सुलझा सकूंगा, ऐसा मेरा अनुभव है। सत्यके पालनका अर्थ है

लिये गये व्रतोंके शरीर और आत्माकी रक्षा, शब्दार्थ और भावार्थका पालन। यहांपर मैंने आत्माका—भावार्थका—नाश किया है। यह मुझे सदा ही अखरता रहता है। यह जाननेपर भी व्रतके संबंधमें मेरा क्या धर्म है, मै यह नही जान सका अथवा यों कहिए कि मुझमें उसके पालन करनेकी हिम्मत नही है। दोनो एक ही वात हैं, क्योंकि शंकाके मूलमे श्रद्धाका अभाव होता है, ईश्वर मुझे श्रद्धा दे!

बकरीका दूध शुरू करनेके थोड़े दिन वाद डाक्टर दलालने गुदा-द्वारमें आपरेशन किया और वह वहुत कामयाब सावित हुआ।

अभी यों मै वीमारीसे उठनेकी आशा वांध ही रहा था और अखबार पढ़ना शुरू किया था कि इतनेमें ही रौलेट-कमेटीकी रिपोर्ट मेरे हाथ लगी। उसमें जो सिफारिशें की हुई थी उन्हें देखकर मै चौंक उठा। भाई उमर और शंकरलालने कहा कि इसकेलिए तो कुछ जरूर करना चाहिए। एकाध महीनेमें मै अहमदावाद गया। वल्लभभाई मेरे स्वास्थ्यको हाल-चाल पूछने करीब-करीब रोज आते थे। मैंने इस वारेमें उनसे वातचीत की और यह सूचित भी किया कि कुछ करना चाहिए। उन्होंने पूछा—"क्या किया जा सकता है?" जवावमें मैंने कहा—"अगर कमेटीकी सिफारिशोंके अनुसार कानून बन ही जाय, और यदि इसके लिए प्रतिज्ञा लेनेवाले थोड़ेसे भी मनुष्य मिल जायं तो हमें सत्याग्रह करना चाहिए। अगर में रोग-शय्यापर न रहा तो मैं अकेला भी लड़ पड़ूं और यह आशा रखूं कि पीछेसे और लोग भी मिल जायंगे। पर अपनी इस लाचार हालतमे अकेले लड़नेकी मुझमें विलकुल ही शक्ति नहीं है।"

इस वातचीतके फल-स्वरूप ऐसे लोगोंकी एक छोटी-सी सभा करनेका निश्चय हुआ, जो मेरे संपर्कमें ठीक-ठीक आये थे। रौलेट-कमेटीको मिली गवाहियोंपर से मुझे यह तो स्पष्ट मालूम हो गया था कि उसने जैसी सिफारिश की है वैसे कानूनकी कोई जरूरत नहीं है और मेरे नजदीक यह बात भी उतनी ही स्पष्ट थी कि ऐसे कानूनको कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र स्वीकार नही कर सकता।

सभा हुई। उसमें शायद ही कोई बीस मनुष्योंको निमंत्रण दिया गया होगा। मुझे जहांतक स्मरण है, उसमें वल्लभभाईके सिवा श्रीमती सरोजिनी नायडू, मि० हार्निमेन, स्व० उमर सुबानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनसूयाबहन इत्यादि थे।

प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया गया और मुझे ऐसा स्मरण है कि जितने लोग वहां मौजूद थे सभी ने उसपर दस्तखत किये थे। इस समय मैं कोई अखबार नही निकालता था। हां, समय-समयपर अखबारोंमें लिखता जरूर था। वैसे ही इस समय भी मैंने लिखना शुरू किया और शकरलाल बैंकरने अच्छी हलचल शुरू कर दी। उनकी काम करनेकी और संगठन करनेकी शक्तिका उस समय मुझे अच्छा अनुभव हुआ।

मुझे यह असंभव प्रतीत हुआ कि उस समय कोई भी मौजूदा सस्था सत्याग्रह जैसे शस्त्रको उठा ले, इसलिए सत्याग्रह-सभाकी स्थापना की गई। उसमें मुख्यत: बंबईसे नाम मिले और उसका केंद्र भी बंबईमे ही रखा गया। प्रतिज्ञा-पत्रपर दस्तखत होने लगे और जैसा कि खेड़ाकी लड़ाईमें हुआ था इसमे भी पत्रिकायें निकाली गई और जगह-जगह सभायें की गईं।

इस सभाका अध्यक्ष मैं बना था। मैंने देखा कि शिक्षित-वर्गसे मेरी पटरी अधिक न बैठ सकेगी। सभामें गुजराती भाषा ही इस्तैमाल करनेका मेरा आग्रह और मेरी दूसरी कार्य-पद्धतिको देखकर वे चक्करमें पड़ गये। मगर मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि बहुतेरोंने मेरी कार्य-पद्धतिको निभा लेनेकी उदारता दिखाई। परतु आरभ हीमें मैंने यह देख लिया कि यह सभा दीर्घ काल तक नही चल सकेगी। फिर सत्य और अहिंसापर जो मै जोर देता था वह भी कुछ लोगोको अप्रिय हो पड़ा था। फिर भी शुरुआतमे तो यह नया काम बड़े जोरोंसे चल निकला।

: ३० :

वह अद्भुत दृश्य

एक ओर रौलेट-कमेटीके विरुद्ध आंदोलन बढ़ता चला और दूसरी ओर सरकार उसकी सिफारिशोंपर अमल करनेकेलिए कमर कसती गई। रौलेट-बिल प्रकाशित हुआ। मैं धारा-सभाकी बैठकमें सिर्फ एक ही बार गया हूं। सो भी रौलेट-बिलकी चर्चा सुनने। शास्त्रीजीने बहुत ही धुंआंधार भाषण किया और सरकारको चेतावनी दी। जब शास्त्रीजीकी वाग्धारा चल रही थी, उस समय वाइसराय उनकी ओर ताक रहे थे। मुझे तो ऐसा लगा कि शास्त्रीजीके भाषणका असर उनके मनपर पड़ा होगा। शास्त्रीजी पूरे-पूरे भावावेशमें आ गये थे।

किंतु सोये हुएको जगाया जा सकता है। जागता हुआ सोनेका ढोंग करे तो उसके कानमें ढोल बजानेसे भी क्या होगा। धारा-सभामें बिलोंकी चर्चा करनेका प्रहसन तो करना ही चाहिए। सरकारने वह प्रहसन खेला। किंतु जो काम उसे करना था उसका निश्चय तो हो ही चुका था। इसलिए शास्त्रीजीकी चेतावनी बेकार साबित हुई।

और इसमें मुझ जैसेकी तूतीकी आवाज तो सुनता ही कौन? मैंने वाइसरायसे मिलकर खूब विनय की, खानगी पत्र लिखे, खुली चिट्ठियां लिखी। उनमें मैंने यह साफ-साफ बतलाया था कि सत्याग्रह के सिवा मेरे पास दूसरा रास्ता नहीं है। किंतु सब बेकार गया।

अभी बिल गजटमें प्रकाशित नहीं हुआ था। मेरा शरीर था तो निर्बल, किंतु मैंने लंबे सफरका खतरा मोल लिया। अभी ऊची आवाजसे बोलनेकी शक्ति नहीं आई थी। खड़े होकर बोलनेकी शक्ति जो तबसे गई सो अब-तक नहीं आई है। खड़े होकर बोलते ही थोड़ी देरमें सारा शरीर कांपने लगता और छाती और पेटमें घबराहट मालूम होने लगती है। किंतु मुझे ऐसा लगा कि मद्राससे आये हुए निमंत्रणको अवश्य स्वीकार करना चाहिए दक्षिणके प्रांत उस समय मुझे घरके समान ही लगते थे। दक्षिण अफ्रिकाके

संबंधके कारण मैं मानता आया हूं कि तामिल-तैलगू आदि दक्षिण प्रांतके लोगोंपर मेरा कुछ हक है, और अबतक ऐसा नही लगा है कि मैंने यह विचार करनेमें जरा भी भूल की है। आमंत्रण स्वर्गीय श्री कस्तूरीरंगा ऐयंगरकी ओरसे आया था। मद्रास जाते ही मुझे जान पड़ा कि इस आमंत्रणके पीछे श्री राजगोपालाचार्य थे। श्री राजगोपालाचार्यके साथ मेरा यह पहला परिचय माना जा सकता है। पहली ही बार हम दोनोंने एक दूसरेको यहां देखा।

सार्वजनिक काममें ज्यादा भाग लेनेके इरादेसे और श्रीकस्तूरीरंगा-ऐयंगर आदि मित्रोंकी मांगसे वह सेलम छोड़कर मद्रास वकालत करने वाले थे। मुझे उन्हींके यहां ठहरानेकी व्यवस्थाकी गई थी। मुझे दो-एक दिन बाद मालूम हुआ कि मैं उन्हीके घर ठहराया गया हूं। वह बंगला श्री कस्तूरीरंगा ऐयंगरका होनेके कारण मैंने यही मान लिया था कि मैं उन्हींका अतिथि हूं। महादेव देसाईने मेरी यह भूल सुधारी। राज-गोपालाचार्य दूर-ही-दूर रहते थे। किंतु महादेवने उनसे भली-भांति परि-चय कर लिया था। महादेवने मुझे चेताया, "आपको श्री राजगोपालाचार्य-से परिचय कर लेना चाहिए।"

मैंने परिचय किया। उनके साथ रोज ही लड़ाईके संगठनकी सलाह किया करता था। सभाओंके अलावा मुझे और कुछ सूझता ही नहीं था। रौलेट-बिल अगर कानून बन जाय तो उसका सविनय-भंग कैसे हो? सविनय-भंगका अवसर तो तभी मिल सकता था, जब सरकार देती। दूसरे किन कानूनोंका सविनय-भंग हो सकता है? उसकी मर्यादा क्या निश्चित हो? ऐसी ही चर्चाएं होती थी।

श्री कस्तूरीरगा ऐयंगरने नेताओंकी एक छोटी-सी सभा की। उसमें भी खूब चर्चा हुई। उसमें श्री विजयराघवाचार्य खूब हाथ बंटाते थे। उन्होंने यह सुझाया कि तफसीलसे हिदायतें लिखकर मुझे सत्याग्रहका एक शास्त्र लिख डालना चाहिए। पर मैंने कहा कि यह काम मेरी शक्तिके बाहर है।

यों सलाह-मशवरा हो रहा था इसी बीच खबर आई कि बिल कानून बनकर गजटमें प्रकाशित हो गया है। जिस दिन यह खबर मिली, उस रातको मैं विचार करता हुआ सो गया। भोरमें बड़े सवेरे उठ खड़ा हुआ। अभी अर्ध-निद्रा होगी कि मुझे स्वप्नमें एक विचार सूझा। सवेरे ही मैंने श्री राजगोपालाचार्यको बुलाया और बात की—

"मुझे रातको स्वप्नमें विचार आया कि इस कानूनके जवाबमें हमें सारे देशसे हड़ताल करनेकेलिए कहना चाहिए। सत्याग्रह आत्म-शुद्धिकी लड़ाई है। यह धार्मिक लड़ाई है। धर्म-कार्यको शुद्धिसे शुरू करना ठीक लगता है। एक दिन सभी लोग उपवास करें और काम-धंधा बंद रखें। मुसलमान भाई रोजाके अलावा और उपवास नहीं रखते; इसलिए चौबीस घंटेका उपवास रखनेकी सलाह देनी चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इसमें सभी प्रांत शामिल होंगे या नहीं। बंबई, मद्रास, बिहार और सिंधकी आशा तो मुझे अवश्य है। पर इतनी जगहोंमें भी अगर ठीक हड़ताल हो जाय तो हमें संतोष मान लेना चाहिए।"

यह तजवीज श्री राजगोपालाचार्यको बहुत पसंद आई। फिर तुरंत ही दूसरे मित्रोंके सामने भी रखी। सबने इसका स्वागत किया। मैंने एक छोटा-सा नोटिस तैयार कर लिया। पहले सन् १९१९के मार्चकी ३० तारीख रखी गई थी, किंतु बादमें ६ अप्रैल कर दी गई। लोगोंको खबर बहुत थोड़े दिन पहले दी गई थी। कार्य तुरंत करनेकी आवश्यकता समझी गई थी। अतः तैयारीकेलिए लंबी मियाद देनेकी गुंजाइश ही नहीं थी। पर कौन जाने कैसे सारा संगठन हो गया! सारे हिंदुस्तानमें—शहरोंमें और गांवोंमें हड़ताल हुई। यह दृश्य भव्य था!

: ३१ :

वह सप्ताह!—१

दक्षिणमें थोड़ा भ्रमण करके बहुत करके मैं चौथी अप्रैलको बंबई पहुंचा। श्री शंकरलाल बैंकरका ऐसा तार था कि छठी तारीखका कार्य-

क्रम पूरा करनेकेलिए मुझे बंबईमे मौजूद रहना चाहिए ।

किंतु उससे पहले दिल्लीमे तो ३० मार्चकी ही हड़ताल मनाई जा चुकी थी। उन दिनों दिल्लीमें स्व० स्वामी श्रद्धानंदजी तथा स्व० हकीम अजमल खां साहबकी आन चलती थी। छठी तारीखतक हड़तालकी मुद्दत बढ़ा दी जानेकी खबर दिल्लीमें देरसे पहुंची थी। दिल्लीमे उस दिन जैसी हड़ताल हुई, वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। हिंदू और मुसलमान दोनों एक-दिल होने लगे। श्रद्धानंदजीको जुमा मस्जिदमें निमंत्रण दिया गया था और वहां उन्हें भाषण करने दिया गया था। ये सब बातें सरकारी अफसर सहन नही कर सकते थे। जलूस स्टेशनकी ओर चला जा रहा था कि पुलिसने रोका और गोली चलाई। कितने ही आदमी जख्मी हुए, और कुछ खून हुए। दिल्लीमें दमन-नीति शुरू हुई। श्रद्धानंदजीने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार किया कि बंबईमे छठी तारीख मनाकर में तुरंत दिल्ली रवाना होऊंगा।

जैसा दिल्लीमें हुआ, वैसा ही लाहौरमें और अमृतसरमें भी हुआ था। अमृतसरसे डा० सत्यपाल और किचलूके तार मुझे जरूरीमे वहां बुला रहे थे। उस समय मैं इन दोनों भाइयोको जरा भी नही पहचानता था। दिल्लीसे होकर जानेके निश्चयकी खबर मैंने उन्हे दी थी।

छठीको बंबईमे सुबह हजारों आदमी चौपाटीमे स्नान करने गये और वहांसे ठाकुरद्वार जानेकेलिए जलूस निकला। उसमे स्त्रियां और बच्चे भी थे। मुसलमान भी अच्छी तादादमे शामिल हुए थे। इस जलूसमेसे हमे मुसलमान भाई एक मस्जिदमे ले गये। वहां श्रीमती सरोजिनी देवीसे तथा मुझसे भाषण कराये। यहां श्री विट्ठलदास जेराजाणीने स्वदेशीकी तथा हिंदू-मुसलमान-ऐक्यकी प्रतिज्ञा लिवानेकेलिए सुझाया। मैंने ऐसी उतावलीमे प्रतिज्ञा लिवानेसे इन्कार कर दिया। जितना हो रहा था उतनेसे ही संतोष माननेकी सलाह दी। प्रतिज्ञा लेनेके बाद नही टूट सकती। हमें अभी स्वदेशीका अर्थ भी समझना चाहिए। हिंदू-मुसलमान-ऐक्यकी जिम्मेदारी का खयाल रखना चाहिए वगैरा कहा और

सुझाया कि जिन्हें प्रतिज्ञा लेनेकी इच्छा हो, वे कल सबेरे भले ही चौपाटीके मैदानमें आ जायं।

बंबईकी हड़ताल सोलहों आना संपूर्ण थी।

यहां कानूनके सविनय-भंगकी तैयारी कर रखी थी। भंग हो सकने लायक दो-तीन वस्तुएं थी। ये कानून ऐसे थे, जो रद्द होने लायक थे और इनको सब लोग सहज ही भंग कर सकते थे। इनमेंसे एकको ही चुननेका निश्चय हुआ था। नमकपर लगनेवाला कर बहुत ही अखरता था। उसे उठानेकेलिए बहुत प्रयत्न हो रहे थे। इसलिए मैंने यह सुझाया था कि सभी कोई अपने घरमें बिना परवानेके नमक बनावें। दूसरा कानून-भंग सरकारकी जब्तकी हुई पुस्तकें छपाने व बेचनेके संबंधमें था। ऐसी दो पुस्तकें खुद मेरी ही थीं 'हिंद-स्वराज्य' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तकोंको छपाना और बेचना सबसे सरल सविनय-भंग जान पड़ा। इसलिए इन्हे छपाया और सांझका उपवास छूटनेपर और चौपाटीकी विराट सभा विसर्जित होनेके बाद इन्हें बेचनेका प्रबंध हुआ।

सांझका बहुतसे स्वयं-सेवक ये पुस्तकें बेचने निकल पड़े। एक मोटरमें मैं और दूसरीमें श्रीमती सरोजिनी नायडू निकली थीं। जितनी प्रतियां छपाई थी उतनी बिक गईं। इनकी जो कीमत आती वह लड़ाईके खर्चमें ही काम आनेवाला थी। प्रत्येक प्रतिकी कीमत चार आना रखी गई थी; किंतु मेरे या सरोजनीदेवीके हाथमें शायद ही किसीने चार आने रखे हों। अपनी जेबमें जो कुछ मिल जाय, सभी देकर पुस्तक लेनेवाले बहुत आदमी पैदा हो गये। कोई दस रुपयेका तो कोई पांच रुपयेका नोट भी देते थे। मुझे याद है कि एक प्रतिके लिए तो ५०) का भी एक नोट मिला था। लोगोंको समझाया गया कि पुस्तक लेनेवालोंकेलिए भी जेल जानेका खतरा है; किंतु थोड़ी देरकेलिए लोगोंने जेलका भय छोड़ दिया था।

सातवी तारीखको मालूम हुआ कि जो किताब बेचनेकी मनाही सरकारनेकी थी, सरकारकी दृष्टिसे बिकी हुई नहीं मानी जा सकती। जो बिकीं, वे तो उसकी दूसरी आवृत्ति मानी जायंगी, जब्त किताबोंमें वे नहीं

ली जायंगी। इसलिए इस नई आवृत्तिको छापने, बेचने और खरीदनेमें कोई गुनाह नहीं माना जायगा। लोग यह खबर सुनकर निराश हुए।

इस दिन सबेरे चौपाटीपर लोगोंको स्वदेशी-व्रत तथा हिंदू-मुसिलम-ऐक्यके व्रतकेलिए इकट्ठा होना था। विट्ठलदास जेराजणीको यह पहला अनुभव हुआ कि उजला रंग होनेसे ही सब-कुछ दूध नहीं हो जाता। लोग बहुतही कम इकट्ठे हुए थे। इनमें दो-चार बहनोंका नाम मुझे याद हो आता है। पुरुष भी थोड़े ही थे। मैंने व्रतका मजमून गढ़ रखा था। उनका अर्थ उपस्थित लोगोंको खूब समझाकर उन्हें व्रत लेने दिया। थोड़े लोगोंकी मौजूदगीसे मुझे आश्चर्य न हुआ, न दुःख ही हुआ; किंतु तभी से जोशीले काम और धीमे रचनात्मक कामके बीच भेदका और पहलेके प्रति लोगोंके पक्षपात तथा दूसरेके प्रति अरुचिका अनुभव मैं बराबर करता आया हूं।

किंतु इस विषयकेलिए एक अलग ही प्रकरण देना ठीक रहेगा।

सातकी रातको मैं दिल्ली और अमृतसरके लिए रवाना हुआ। आठको मथुरा पहुंचते ही कुछ भनक मिली कि शायद मुझे पकड़ लें। मथुराके बाद एक स्टेशन पर गाड़ी खड़ी थी। वही पर मुझे आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने मुझे यह विश्वस्त खबर दी कि "आपको जरूर पकड़ेंगे और मेरी सेवाकी जरूरत हो तो मैं हाजिर हूं।" मैंने उपकार माना और कहा कि जरूरत पड़नेपर आपसे सेवा लेना नही भूलूंगा।

पलवल स्टेशन आनेके पहले ही पुलिस-अफसरने मेरे हाथमें एक हुक्म लाकर रखा। "तुम्हारे पंजाबमें प्रवेश करनेसे अशांति बढ़नेका भय है, इसलिए तुम्हें हुक्म दिया जाता है कि पंजाबकी सीमामें दाखिल मत होओ।" हुक्मका आशय यह था। पुलिसने हुक्म देकर मुझे उतर जानेकेलिए कहा। मैंने उतरनेसे इन्कार किया और कहा—"मै अशांति बढ़ाने नही; किंतु आमंत्रण मिलनेसे अशांति घटानेके लिए जाना चाहता हूं। इसलिए मुझे खेद है कि मैं इस हुक्मको नही मान सकता।"

पलवल आया। महादेव देसाई मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर

पलवल आया। महादेव देसाई मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर श्रद्धानंदजीको खबर देने और लोगोंको शांतिका संदेश देनेकेलिए कहा। हुक्मका अनादर करनेसे जो सजा हो, उसे सहनेका मैंने निश्चय किया है तथा सजा होनेपर भी शांत रहनेमें ही हमारी जीत है, यह समझानेके लिए भी कहा।

पलवल स्टेशनपर मुझे उतारकर पुलिसके हवाले किया गया। दिल्लीसे आनेवाली किसी ट्रेनके तीसरे दर्जेके डिब्बेमें मुझे बैठाया। साथमें पुलिसकी पार्टी बैठी। मथुरा पहुंचनेपर मुझे पुलिस-बैरकमें ले गये। यह कोई भी अफसर नहीं बता सका कि मेरा क्या होगा और मुझे कहां ले जाना है। सवेरे ४ बजे मुझे उठाया और बंबई जानेवाली एक माल-गाड़ीमें ले गये। दोपहरको सवाई माधोपुरमें उतार लिया। वहां बंबईकी मेल ट्रेनमें लाहौरसे इंसपेक्टर बोरिंग आये। मैं उनके हवाले किया गया।

अब मुझे पहले दर्जेमें बैठाया गया। साथमें साहब बैठे। अबतक मैं मामूली कैदी था। अबसे 'जेंटिलमैन' कैदी गिना जाने लगा। साहबने सर माइकेल ओडायरके बखान शुरू किये। उन्होंने मुझसे कहा कि हमें तो आपके खिलाफ कोई शिकायत नहीं है; किंतु आपके पंजाबमें जानेसे अशांतिका पूरा भय है।" और इसलिए मुझसे अपने-आप ही लौट जानेका और पंजाबकी सरहद पार न करनेका अनुरोध किया। मैंने उन्हें कह दिया कि मुझसे इस हुक्मका पालन नहीं हो सकेगा और मैं स्वेच्छासे लौट जानेको तैयार नहीं हूं। इसलिए साहबने लाचारीसे कानूनको काममें लानेकी बात कही। मैंने पूछा—'पर यह भी कुछ कहोगे कि आखिर मेरा करना क्या चाहते हो?" उसने जवाब दिया—"मुझे कुछ मालूम नहीं है। मुझे कोई दूसरा हुक्म मिलेगा। अभी तो मैं आपको बंबई ले जाता हूं।"

सूरत आया। वहांपर किसी दूसरे अफसरने मेरा जिम्मा लिया। उसने रास्तेमें मुझसे कहा, "आप स्वतंत्र हैं, किंतु आपके लिए मैं बंबईमें मरीन लाइंसपर गाड़ी खड़ी कराऊंगा। कोलाबापर ज्यादा भीड़ होनेकी संभावना है।" मैंने कहा—"जैसी आपकी मरजी हो।" वह खुश हुआ

सज्जनकी घोड़ा-गाड़ी देखी। वह मुझे रेवाशंकर जौहरीके घरपर छोड़ गई। रेवाशंकरभाईने मुझे खबर दी—"आपके पकड़े जानेकी खबर सुनकर लोग उत्तेजित हो गये हैं। पायधुनीके पास हुल्लड़का भय है। वहां पुलिस और मजिस्ट्रेट पहुंच गये हैं।"

मेरे घरपर पहुंचते ही उमर सुबानी और अनसूयाबहन मोटर लेकर आये और मुझसे पायधुनी चलनेकी बात कही—"लोग अधीर हो गये हैं और उत्तेजित हो रहे हैं। हम किसीके किये वे शांत नहीं रह सकते। आपको देख लेनेपर ही शांत होंगे।"

मैं मोटरमे बैठ गया पायधुनी पहुंचते ही रास्तेमे बहुत बड़ी भीड़ दिखी। मुझे देखकर लोग हर्षोन्मत्त हो गये। अब खासा जलूस बन गया। 'बंदेमातरम्', 'अल्लाहो अकबर'की आवाजसे आसमान फटने लगा। पायधुनीपर मैंने घुडसवार देखे। ऊपरसे ईंटोंकी वर्षा होती थी। मैं लोगों से शांत होनेकेलिए हाथ जोड़कर प्रार्थना करता था। किंतु ऐसा जान पड़ा कि हम भी इस ईंटोंकी वर्षासे न बच सकेंगे।

अब्दुलरहमान गलीमेंसे क्रॉफर्ड मार्केटकी ओर जाते हुए जलूसको रोकनेकेलिए घुड़सवारोंकी टुकड़ी सामने आ खड़ी हुई। जलूसको फोर्टकी ओर जानेसे रोकनेकेलिए वे महाप्रयत्न कर रहे थे। लोग समाते न थे। लोगोंने पुलिसकी लाइनको चीरकर आगे बढ़ना शुरू किया। हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़े। इसपर घुड़सवारोंकी टुकड़ीके अफसरने भीड़को तितर-बितर करनेका हुक्म दिया और इस टुकड़ीने भाले तानकर एकदम घोड़े छोड़ दिये। मुझे भय था कि इनमेंसे कोई भाला हम-मेंसे भी किसीका काम तमाम कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं; किंतु इस भय-केलिए कोई आधार नहीं था। बगलसे होकर सभी भाले रेलगाड़ीकी चालसे बढे चले जाते थे। लोगोंके झुंड टूट गए। भगदड़ मच गई। कई कुचल गये, कई घायल हुए। घुडसवारोंके निकलनेकेलिए रास्ता न था। लोगोंके इधर-उधर हटनेकी जगह न थी। वे अगर पीछे भी फिरना चाहें तो उधर भी हजारोंकी जबरदस्त भीड़ थी। सारा दृश्य भयंकर

लगा। घुड़सवार और लोग दोनों ही उन्मत्त जैसे मालूम हुए। घुड़सवार न ता कुछ देखते और न देख ही सकते थे। वे तो आंखें मूंदकर सरपट घोड़े दौड़ा रहे थे। जितने क्षण इस हजारोंके झुंडको चीरनेमें लगे, उतने तक तो मैंने देखा कि वे अंधाधुंध हो रहे थे।

लोगोंको यों बिखेरकर आगे जानेसे रोक दिया। हमारी मोटरको आगे जाने दिया। मैंने कमिश्नरके दफ्तरके आगे मोटर रुकवाई और मैं उनके पास पुलिसके व्यवहारकी शिकायत करने उतरा।

: ३२ :

वह सप्ताह !—२

मैं कमिश्नर ग्रिफिथ साहबके दफ्तरमें गया। उनकी सीढ़ीके पास जाते ही मैंने देखा कि हथियारबंद सोल्जर तैयार बैठे थे, मानो किसी लड़ाई पर जानेके लिए ही न तैयार हो रहें हों! बरामदेमें भी हलचल मच रही थी। मैं खबर भेजकर दफ्तरमें घुसा तो कमिश्नरके पास मि० बोरिंगको बैठे हुए देखा।

कमिश्नरसे मैंने जो कुछ देखा था उसका वर्णन किया। उसने संक्षेपमें जवाब दिया—"जलूसको हम फोर्टकी ओर जाने देना नहीं चाहते थे। वहां जलूस जाता तो उपद्रव हुए बिना नहीं रह सकता था। और मैंने देखा कि लोग केवल कहनेसे ही लौट जानेवाले नही थे। इसलिए भीड़में धंसे बिना और चारा ही नही था।"

मैंने कहा—"मगर उसका परिणाम तो आप जानते थे? लोग घोड़ोंके नीचे जरूर ही कुचल गए हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि घुड़सवारोंकी टुकड़ीको भेजनेकी ही जरूरत न थी।"

साहबने जवाब दिया—"इसका पता आपको नहीं चल सकता। हम पुलिसवालों को आपसे कही अधिक इसका पता रहता है कि लोगोंके ऊपर आपकी सीखका कैसा असर पड़ा है। हम अगर पहलेसे हा कड़ी कारंवाई न करें तो अधिक नुकसान होता है। मैं आपसे कहता हूं कि लोग

तो आपके प्रभावमें रहनेवाले नहीं हैं। कानून-भंगकी बात वे चट समझ लेते हैं, मगर शांतिकी बात समझना उनकी शक्तिके बाहर है। आपका हेतु अच्छा है, मगर लोग आपका हेतु नही समझते; वे तो अपने ही स्वभावके अनुसार काम करेंगे।"

मैंने कहा—"यही तो आपके और मेरे बीच मतभेद है। लोग स्वभावसे ही लड़ाके नहीं हैं; किंतु शांति-प्रिय हैं।"

अब बहस होने लगी।

अंतमें साहब बोले—"खैर अगर आपको यह विश्वास हो जाय कि लोगोने आपकी शिक्षाको नही समझा, तो आप क्या करेंगे?"

मैंने जवाब दिया—"अगर मुझे यह विश्वास हो जाय तो इस लड़ाईको मैं स्थगित कर दूंगा।"

"स्थगित करनेके क्या मानी? आपने तो मि० बोरिंग से कहा है कि मैं छूटते ही तुरत पंजाब लौटना चाहता हूं।"

"हां मेरा इरादा तो दूसरी ही ट्रेनसे लौटनेका था; किंतु यह तो आज नही हो सकता।"

"आप धीरज रखेंगे तो आपको और अधिक बातें मालूम होंगी। क्या आपको कुछ पता है कि अभी अहमदाबादमे क्या चल रहा है? अमृतसरमें क्या हुआ है? लोग तो सभी जगह पागल-से हो गये हैं। मुझे भी अभी तो पूरी खबरें नहीं मिली है। कितनी ही जगह तार भी टूटे हैं। मैं तो आपसे कहता हूं कि इस सारे उपद्रवकी जिम्मेदारी आपके सिर है।"

मैं बोला—"मेरी जिम्मेदारी जहां होगी, वहां उसे मैं अपने सिर ओटे बिना नहीं रहूंगा। अहमदाबादमे लोग अगर कुछ भी करे तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसरके बारेमें मैं कुछ नही जानता वहां तो मैं कभी गया भी नही हूं। वहां मुझे तो कोई जानता भी नही है; किंतु मैं इतना जानता हूं कि पंजाब सरकारने यदि मुझे वहां जानेसे रोका न होता तो मै शांति बनाये रखनेमें बहुत हाथ बंटा सकता था। मुझे रोक-

कर सरकार ने लोगों को भड़का दिया है।"

इस तरह हमारी बातें चली। हमारे मतमें मेल मिलनेकी सभावना नही थी।

चौपाटीपर सभा करने और लोगों को शाति पालन करनेकेलिए समझानेका अपना इरादा जाहिर करके मैने उनसे छुट्टा ली।

चौपाटीपर सभा हुई। मैने लोगोसे शांतिके बारेमे और सत्याग्रहकी मर्यादाके बारेम समझाया और कहा—"सत्याग्रह सच्चेका खेल है। लोग अगर शांतिका पालन न करें तो मुझसे सत्याग्रहकी लड़ाई कभी पार न लगेगी।"

अहमदाबादसे श्री अनसूयाबहनको भी खबर मिल चुकी था कि वहां हुल्लड़ हो गया है। किसीने अफवाह उड़ा दी थी कि वह भी पकड़ी गई हैं। इससे मजदूर पागल-से बन गये। उन्होंने हड़ताल की और हुल्लड़ भी किया। एक सिपाहीका खून भी हो गया था।

मै अहमदाबाद गया। नड़ियादके पास रेलकी पटरी उखाड़ डालनेका भी प्रयत्न हुआ था। वीरमगाममें एक सरकारी नौकरका खून हो गया था। जब मै अहमदाबाद पहुंचा, तो उस समय वहां मार्शल-लॉ जारी था। लोग भयभीत हो रहे थे। लोगोंने जैसा किया वसा भरा और उसका ब्याज भी पाया।

कमिश्नर मि० प्रैटके पास मुझे ले जानेकेलिए स्टेशनपर आदमी खड़ा था। मैं उनके पास गया। वह खूब गुस्सेमे थे। मैंने उन्हें शांतिसे उत्तर दिया। जो खून हुआ था, उसके लिए अपना खेद प्रकट किया। मार्शल-लॉकी अनावश्यकता भी बतलाई और जिसमे शांति फिरसे स्थापित हो वैसे उपाय, जो करने उचित हों, करनेकी अपनी तैयारी बतलाई। मैंने सार्वजनिक सभा करनेकी इजाजत मांगी व सभा आश्रमके मैदानमें करनेकी इच्छा प्रकट की। यह बात उन्हे पसंद आई। मुझे याद है कि इसके अनुसार १३ मई को रविवारके दिन सभा हुई थी। मार्शल-लॉ भी उसी दिन या उसके दूसरे दिन रद्द हो गया था। इस सभामें मैने लोगोको उनकी

गलतियां बतानेका प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्तके रूपमें तीन दिनका उपवास किया और लोगोंको एक दिनका उपवास करनेकी सलाह दी। जो खून वगैरामें शामिल हुए हों उन्हें अपना गुनाह कबूल कर लेनेकी सलाह दी।

अपना धर्म मैंने स्पष्ट देखा। जिन मजदूरों वगैराके बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी, और जिनसे मैं भलेकी ही आशा रखता था, उनका हुल्लड़में शामिल होना मुझे असह्य लगा और मैंने अपने-आपको उनके दोषमें हिस्सेदार माना।

जिस तरह लोगोंको अपना गुनाह कबूल कर लेनेकी सलाह दी, उसी प्रकार सरकारको भी उनका गुनाह माफ करनेकेलिए सुझाया। मेरी बात दोनोंमेंसे किसीने नही सुनी। न लोगोंने अपना गुनाह कबूल किया और न सरकारने ही उन्हें माफ ही किया।

स्व० सर रमन भाई वगैरा, अहमदाबादके नागरिक, मेरे पास आये और सत्याग्रह मुल्तवी रखनेका मुझसे अनुरोध किया। मुझे तो इसकी जरूरत भी न रही थी। जबतक लोग शांतिका पाठ न सीख लें, तबतक सत्याग्रहको मुल्तवी रखनेका निश्चय मैंने कर ही लिया था। इससे वे प्रसन्न हुए।

कितने ही मित्र नाराज भी हुए। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अगर मैं सर्वत्र शांतिकी आशा रखूं और यही सत्याग्रहकी शर्त हो, तो फिर बड़े पैमानेपर सत्याग्रह कभी चल ही न सकेगा। मैंने इससे अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगोंमें हमने काम किया हो, जिनके द्वारा सत्याग्रह चलानेकी हमने आशा रखी हो, वे अगर शांतिका पालन न करें तो सत्याग्रह जरूर ही नहीं चल सकता। मेरी दलील यह थी कि इतनी मर्यादित शांतिका पालन करनेकी शक्ति सत्याग्रही नेताओंको पैदा करनी चाहिए। इन विचारोंको मैं आज भी नही बदल सका हूं।

: ३३ :

'हिमालय-जैसी भूल'

अहमदाबादकी सभाके बाद मैं तुरंत नड़ियाद गया। 'हिमालय-जैसी भूल'के नामसे जो शब्द-प्रयाग प्रचलित हो गया है, उसका प्रयोग

मैंने पहले-पहल नड़ियादमें किया था। अहमदाबादमें ही मुझे अपनी भूल जान पड़ने लगी थी; किंतु नड़ियादमें वहांकी स्थितिका विचार करते हुए, खेड़ा जिलेके बहुतसे आदमियोंके गिरफ्तार होनेकी बात सुनते हुए, जिस सभामें मै इन घटनाओंपर भाषण कर रहा था, वहींपर मुझे एका-एक खयाल हुआ कि खेड़ा जिलेके तथा ऐसे ही दूसरे लोगोंको सविनय-भंग करनेंकेलिए निमंत्रण देनेमें मैंने उतावली करनेकी भूल की थी, और वह भूल मुझे हिमालय-जैसी बड़ी जान पड़ी।

मैंने इसे कबूल किया, इसलिए मेरी खूब ही हंसी हुई। तो भी मुझे यह कबूल करनेकेलिए पश्चात्ताप नहीं हुआ है। मैंने यह हमेशा माना है कि जब हम दूसरेके गज–बराबर दोषको रज-समान देखें और अपने राई-जैसे जान पड़नेवाले दोषको पर्वत जैसा देखना सीखेंगे तभी हम अपने और दूसरेके दोषोंका ठीक-ठीक हिसाब लगा सकेंगे। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बननेके इच्छुकको तो इस सामान्य नियमका पालन बहुत ही सूक्ष्मतासे करना चाहिए।

अब हम यह देखें कि वह हिमालय-जैसी दिखाई पड़नेवाली भूल थी क्या? कानूनका सविनय-भंग उन्हीं लोगोसे हो सकता है, जिन्होंने कानूनका विनय-पूर्वक स्वेच्छासे मान दिया हो–उसका पालन किया हो। बहुतांशमें हम कानूनके भगसे होनेवाली सजाके डरसे उसका पालन करते है। इसके अलावा यह बात विशेषकर उन कानूनोंपर लागू होता है, जिनमें नीति-अनीतिका सवाल नही होता। कानून हो, या न हो, सज्जन माने जाने-वाले लोग एकाएक चोरी नही करेंगे; मगर तो भी रातको बाइसिकल-की बत्ती जलानेके नियममेंसे छटक जानेमें भले आदमीको भी क्षोभ नही होगा। और ऐसे नियम पालनेकी कोई सलाह भी दे, तो भले लोग भी उसका पालन करनेको झट तैयार नही होंगे। किंतु जब कि यह कानून बन जाता है, उसका भंग करनेसे जुर्मानेका भय रहता है, तब जुर्माना देनेसे बचनेकेलिए ही रातको वह बत्ती जलावेगा। नियमके ऐसे पालनको स्वेच्छासे किया गया पालन नही कह सकते।

किंतु सत्याग्रही तो समाजके कानूनोंका पालन समझ-बूझकर, स्वेच्छासे और धर्म समझकर करेगा। इस प्रकार जिसने समाजके नियमोंका जान-बूझकर पालन किया है, उसीमें समाजके नियम, नीति-अनीतिका भेद समझनेकी शक्ति आती है, और उसे मर्यादित अवस्थाओंमे खास-खास नियमोंके भंग करनेका अधिकार प्राप्त होता है। ऐसा अधिकार प्राप्त करनेसे पहले ही सविनय-भंगकेलिए न्यौता देनेकी भूल मुझको हिमालय-जैसी लगी और खेड़ा जिलेमे प्रवेश करते ही मुझे वहांकी लड़ाई याद हो आई। मैंने समझ लिया कि मैं रास्ता चूक गया। मुझे लगा कि इसके पहले कि लोग सविनय-भंग करनेके लायक बनें, उन्हें उसका रहस्य खूब समझ लेना चाहिए। जो रोज ही अपने मनसे कानूनको तोड़ते हों, जो छिपाकर अनेकों बार कानूनको भंग करते हों, वे भला एकाएक कैसे सविनय-भंगको पहचान सकते है? उसकी मर्यादाका पालन कैसे कर सकते है?

यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि इस आदर्शतक हजारों-लाखों आदमी नही पहुंच सकते; किंतु बात अगर ऐसी ही हो तो सविनय भंग करानेके पहले ऐसे शुद्ध स्वय-सेवकोंका दल पैदा होना चाहिए जो लोगोंको इसका ज्ञान करावें और प्रतिक्षण उन्हें रास्ता बतलाते रहे और ऐसे दलको सविनय-भंग और उसकी मर्यादाकी पूरी-पूरी समझ होनी चाहिए।

ऐसे विचारोंको लेकर मैं बंबई पहुंचा और सत्याग्रह-सभाके द्वारा मैंने सत्याग्रही स्वयं-सेवकोंका एक दल खड़ा किया। उनके जरिये लोगोंका सविनय-भंगका तालीम देना शुरू की और सत्याग्रहका रहस्य बतलानेवाली पत्रिकायें निकाली।

यह काम चला तो सही, मगर मैंने देखा कि इसमे मै लोगोंकी बहुत दिलचस्पी नही पैदा कर सका। कभी काफी स्वयं-सेवक न हुए। यह नहीं कहा जा सकता कि जो भरती हुए उन सभीने नियमित तालीम भी पूरी कर ली हो। भरती मे नाम लिखानेवाले भी, जैसे-जैसे दिन जाने लगे, दृढ़ होनेके बदले खिसकने लगे। मैंने समझ लिया कि सविनय-भगकी गाड़ीके जिस चालसे चलनेकी मैं आशा रखता था, वह उससे कहीं धीमी चलेगी।

: ३४ :

'नवजीवन' और 'यंग इंडिया'

एक ओर यह धीमी किंतु शांति-रक्षक हलचल चल रही थी तो उधर दूसरी ओर सरकारकी दमन-नीति बड़े वेगसे चल रही थी। पंजाबमें उसका असर प्रत्यक्ष देखा गया। वहां फौजी-कानून यानी जो-हुक्मी शुरू हुई। नेताओंको पकड़ा। खास अदालतें अदालतें न रही; किंतु एक सूबेका हुक्म बजानेवाली संस्था बन गईं। उन्होंनें बिला सबूत ही सजायें ठोंक दी। फौजी सिपाहियोंने निर्दोष लोगोंको कीड़ोंकी तरह पेटके बल रेंगाया। इसके आगे तो मेरे सामने जलियांवाला बागके कत्ले-आमकी कोई बिसात ही न थी; हालांकि जनताका तथा दुनियाका ध्यान उस कत्लने ही खींचा था।

पंजाबमे चाहे जिसतरह हो, मगर प्रवेश करनेका दबाव मुझपर डाला गया। मैंने वाइसरायको पत्र लिखे, तार किये; किंतु इजाजत न मिली। इजाजतके बिना चला जाऊं तो अंदर तो जा ही नहीं सकता था। हां सविनय-भंग करनेका संतोष अलबत्ता मिल जाता। अब यह प्रश्न मेरे सामने आ खड़ा हुआ कि इस धर्म-संकटमें मुझे क्या करना चाहिए? मुझे लगा कि अगर मैं मनाही हुक्मका अनादर करके प्रवेश करू तो यह सविनय अनादर नही समझा जायगा। शांतिकी जिस प्रतीतिकी मैं इच्छा करता था, यह मुझे अबतक नही हो रही थी। पंजाबकी नादिर-शाहीने लोगोंकी अशांति-वृत्तिको बढ़ा दिया था। मुझे ऐसा लगा कि ऐसे समयमें मेरा कानून-भंग आगमे घी डालनेके समान होगा। और मैंने सहसा पंजाबमें प्रवेश करनेकी सूचना नहीं मानी। यह निर्णय मेरेलिए एक कड़वी घूंट थी। रोज पंजाबसे अन्यायकी खबरे आतीं और रोज मुझे उन्हे सुनना, और दांत पीसकर बैठ रहना पड़ता था।

इतनेमें प्रजाको सोता छोड़कर सरकार मि० हार्निमैनको चुरा ले गई। मि० हार्निमैनने 'बंबई क्रानिकल'को एक प्रचंड शक्ति बना दिया था। इस चोरीमें जो गंदगी थी उसकी बदबू मुझे अबतक आया करती है।

मैं जानता हूं कि मि० हार्निमैन अवावंधी नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह कमेटीकी सलाहके बिना ही पजाब सरकारके हुक्मको तोड़ा था सो उन्हें पसंद नही था। मैंने सविनय्-भंगको जो मुल्तवी किया, उससे वह पूरे सहमत थे। मेरे सत्याग्रह मुल्तवी रखनेका इरादा प्रकट करनेके पहले ही पत्र-द्वारा उन्होंने मुझे मुल्तवी रखनेकी सलाह दी थी और वह पत्र बंबई और अहमदाबादके फासलेके कारण, मेरा इरादा जाहिर कर चुकनेके बाद, मुझे मिला था। इसलिए उनके देश-निकालेपर मुझे जितना आश्चर्य हुआ, उतना ही दुःख भी हुआ।

इस घटनाके कारण 'क्रानिकल'के व्यवस्थापकोंने उसे चलानेका बोझा मुझपर डाला। मि० बरेलवी तो थे ही, इसलिए मुझे बहुत-कुछ करनेकी जरूरत नहीं थी; किंतु तो भी मेरे स्वभावानुसार यह जिम्मेदारी मेरे लिए बहुत हो गई थी। किंतु मुझे यह जिम्मेदारी बहुत दिन नही उठानी पड़ी। सरकारकी मिहरबानीसे 'क्रानिकल' बद हो गया।

जो 'क्रानिकल'के संचालक थे वे ही 'यंग इडिया'की व्यवस्थाकी भी देख-भाल करते थे—यानी उमर सुबानी और शकरलाल बैंकर। इन दोनों भाइयोने 'यंग-इडिया'की जिम्मेदारी लेनेका सुझाव किया और 'यंग-इंडिया' तथा क्रानिकल'की घटी थोड़ी कम करनेकेलिए हफ्तेमें एक बारके बदले दो बार प्रकाशित करना उन्हें और मुझे ठीक लगा। मुझे सत्याग्रहका रहस्य लोगोंको समझानेका उत्साह था। पजाबके बारेमें मैं और कुछ नही तो उचित टीका जरूर कर सकता था और यह सरकारको भी पता था कि उसके पीछे सत्याग्रहकी शक्ति मौजूद है। इसलिए मैंने इन मित्रोंका सुझाव मंजूर कर लिया। किंतु अंग्रेजीके जरिये भला सत्याग्रहकी तालीम कैसे दी जा सकती है। मेरे कार्यका मुख्य क्षेत्र गुजरात था। भाई इंदुलाल याज्ञिक उस समय इसी टोलीमें थे। उनके हाथमें मासिक नवजीवन था। उसका खर्च भी यही मित्र उठाते थे यह पत्र भाई इंदुलाल और उन मित्रोंने मुझे सौप दिया और भाई इदुलालने उसमें काम करनेका भार भी अपने सिर लिया। इस

मासिकको साप्ताहिक बनाया ।

इस बीच 'क्रानिकल' पुनर्जीवित हुआ । इसलिए 'यंग इंडिया' फिर साप्ताहिक हो गया और मेरे सुझावपर उसे अहमदाबाद ले गये । दो अखबार अलग-अलग शहरोंमें चलें तो खर्च अधिक होता और मेरी असुविधा अधिक बढ़ती । 'नवजीवन' तो अहमदाबादसे ही निकलता था । यह अनुभव तो मुझे 'इंडियन ओपीनियन'से ही हो गया था कि ऐसे अखबारोंकेलिए निजका छापाखाना जरूर चाहिए । फिर उस समय अखबारोके संबंधमें कानून-कायदे भी ऐसे थे कि मैं जो विचार प्रकट करना चाहू उन्हे व्यापारकी दृष्टिसे चलनेवाले छापाखान छापते हुए सकुचाते थे । स्वतंत्र छापाखाना खोलनेका यह भी एक प्रबल कारण था । और हालत यह थी कि यह अहमदाबादमें ही आसानीसे हो सकता था । इस-लिए 'यंग-इंडिया'को अहमदाबाद ले गये ।

इन अखबारोंके द्वारा मैंनें सत्याग्रहकी तालीम लोगोंको यथाशक्ति देनी शुरू की । दोनों अखबारोंकी खपत पहले बहुत कम थी, सो बढ़ते-बढ़ते ४०,०००के आस-पास जा पहुंची थी 'नवजीवन'की बिक्री एकदम बढ़ी, जब कि 'यंगइंडिया'की धीरे-धीरे मेरे जेल जानेके बाद उनकी बिक्रीमें घटी आई और आज दोनोंकी बिक्री आठ हजारसे नीचे चली गई है ।

इन अखबारोमे विज्ञापन न छापनेका मेरा आग्रह शुरूसे ही था । मेरी धारणा है कि इससे कुछ भी हानि नही है और अखबारोंकी विचार-स्वतंत्रता बनाये रखनेमें इस प्रथाने बहुत मदद की है ।

इन अखबारोके द्वारा मैं मनमें शांति प्राप्त कर सका । क्योंकि यद्यपि मैं तुरंत सविनय-भंग न कर सका, मगर तो भी अपने विचार आजादीके साथ जनताके सामने रख सका जो मेरा मुह जोह रहे थे, उन्हे आश्वासन दे सका और मुझे लगता है कि दोनों पत्रोंने उस कठिन प्रसंगपर जनता की ठीक-ठीक सेवाकी और फौजी कानूनके जुल्मको हलका करनेमें अच्छा काम किया,

: ३५ :

पंजाबमें

पंजाबमें जो कुछ हुआ, उसके लिए सर माइकेल ओड्वायरने मुझे गुनहगार ठहराया था। इधर वहांके कई नौजवान फौजी कानूनकेलिए मुझे भी गुनहगार ठहरानेमें हिचकते न थे। क्रोधके आवेशमें वे यह दलील देते थे कि यदि मैंने सविनय-कानून-भंग मुल्तवी न किया होता तो जलियांवाला बागमें कभी यह कत्ल न हुआ होता और न फौजी-कानून ही जारी हो पाता। कुछ लोगोंने तो धमकियां भी दी थीं कि यदि अब आपने पंजाबमें पैर रखा तो आपका खून कर डाला जायगा।

पर मैं तो मान रहा था कि मैंने जो कुछ किया है वह इतना उचित और ठीक था कि उसमें समझदार आदमियोंको गलतफहमी होनेकी संभावना ही न थी। मैं पंजाब जानेकेलिए अधीर हो रहा था। इससे पहले मैंने पंजाब नहीं देखा था; पर अपनी आंखों जो-कुछ देख सकूं, देखने की तीव्र इच्छा थी और मुझे बुलानेवाले डा० सत्यपाल, किचलू, रामभजदत्त चौधरी आदिसे मिलने की अभिलाषा हो रही थी। वे थे तो जेलमें, पर मुझे पूरा विश्वास था कि उन्हें सरकार अधिक दिनोंतक जेलमें नहीं रख सकेगी। जब-जब मैं बंबई जाता, तब-तब कितने ही पंजाबी भाई मिलनें आ जाते थे। उन्हें मैं प्रोत्साहन देता और वे प्रसन्न होकर उसे ले जाते। उस समय मेरा आत्म-विश्वास बहुत था।

पर मेरे पंजाब जानेका दिन दूर-ही-दूर होता जाता था। वाइसराय भी यह कहकर उसे दूर ढकेलते जाते थे कि अभी समय नहीं है।

इसी बीच हंटर-कमेटी आई। वह फौजी-कानूनके दौरमें पंजाबके अधिकारियों-द्वारा किये कृत्योंकी जांच करनेकेलिए नियुक्त हुई थी। दीनबंधु एंडरूज वहां पहुंच गये थे। उनकी चिट्ठियोंमें वहांका हृदय-द्रावक वर्णन होता था। उनके पत्रोंसे यह ध्वनि निकलती थी कि अखबारोंमें जो कुछ बातें प्रकाशित हो चुकी हैं उनसे भी अधिक जुल्म फौजी-

कानूनका था। वह भी पंजाब आनेका आग्रह कर रहे थे। दूसरी ओर मालवीयजीके भी तार आ रहे थे कि आपको पंजाब अवश्य पहुंच जाना चाहिए। तब मैंने फिर वाइसरायको तार दिया। उनका जवाब आया कि फलां तारीखको आप जा सकते हैं। अब तारीख ठीक-ठीक याद नहीं पड़ती, पर बहुत करके वह १७ अक्तूबर थी।

लाहौर पहुंचनेपर मैंने जो दृश्य देखा वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्टेशनपर मुझे लिवानेकेलिए ऐसी भीड़ इकट्ठी हुई थी, मानो किसी बहुत दिनके बिछुड़े प्रिय-जनसे मिलनेकेलिए उसके सगे-संबंधी आये हों। लोग हर्षसे पागल हो रहे थे। पंडित रामभजदत्त चौधरीके यहां मै ठहर गया था। श्रीमती सरलादेवी चौधरानीसे मेरा पहलेका परिचय था। मेरे आतिथ्यका भार उनपर आ पड़ा था। 'आतिथ्यका भार' शब्दका प्रयोग मैं जान-बूझकर रहा हूं; क्योंकि आजकी तरह तब भी मैं जहां ठहरता, वह घर एक धर्मशाला ही हो जाता था।

पंजाबमें मैंने देखा कि वहांके पजाबी नेताओंके जेलमे होनेंके कारण पंडित मालवीयजी, पंडित मोतीलालजी और स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजीने मुख्य नेताओंका स्थान ग्रहण कर लिया था। मालवीयजी और श्रद्धानंदजीके संपर्कमे तो मै अच्छी तरह आ चुका था; पर पडित मोतीलालजीके निकट संपर्कमें तो मैं लाहौरमें ही आया। इन तथा दूसरे स्थानिक नेताओंने, जिन्हें जेलमे जानेका गौरव प्राप्त नही हुआ था, तुरंत मुझे अपना बना लिया। कही भी मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं कोई अजनवी हूं।

हम सब लोगोंने एकमत होकर हंटर-कमेटीके सामने गवाही न देनेका निश्चय किया। इसके कारण उसी समय प्रकट कर दिये थे। अतएव यहां इनका उल्लेख छोड़ देता हूं। वे कारण सीधे थे और आज भी मेरा यही मत है कि कमेटीका, हमने जो बहिष्कार किया, वह उचित ही था।

पर यदि हंटर-कमेटीका बहिष्कार किया जाय तो फिर लोगोंकी तरफसे अर्थात् कांग्रेसकीओरसे कोई जांच-कमेटी नियुक्त होनी चाहिए, इस निश्चयपर हम लाग पहुंचे। पंडित मोतीलाल नेहरू, स्व० चितरंजन-

दास, श्री अब्बास तैयबजी, श्री जयकर और मैं इतनोंको पण्डित मालवीयजीने उसका सदस्य बनाया। हम जांचकेलिए अलग-अलग स्थानोंमें बंट गये। इस कमेटीकी व्यवस्थाका बोझ सहज ही मुझपर आ पड़ा था और मेरे हिस्सेमें अधिक-से-अधिक गांवोंकी जांचका काम आजानेके कारण मुझे पंजाबको और पंजाबके देहातको देखनेका अलभ्य लाभ मिला।

इस जांचके दिनोंमें पंजाबकी स्त्रियां तो मुझे ऐसी मालूम हुई, मानों मैं उन्हें युगोंसे पहचानता होऊं। मैं जहां जाता वहां झुंड-की-झुंड स्त्रियां आ जातीं और अपने कते सूतका ढेर मेरे सामने कर देती।। इस जांचके साथ ही मैं अनायास इस बातको भी देख सका कि पंजाब खादीका एक महान्-क्षेत्र हो सकता है।

ज्यों-ज्यों मैं लोगोंपर हुए जुल्मोंकी जांच अधिकाधिक गहराईसे करने लगा त्यों-त्यों मेरे अनुमानसे परे सरकारी अराजकता, हाकिमोंकी नादिरशाही और उनकी मनमानी अंधाधुंधीकी बाते सुन-सुनकर आश्चर्य और दुःख हुआ करता। वह पंजाब कि जहां सरकारको ज्यादा-से-ज्यादा सैनिक मिलते है, वहां लोग क्यों इतना बड़ा जुल्म सहन कर सके, इस बातसे मुझे बड़ा विस्मय हुआ और आज भी होता है।

इस कमेटीकी रिपोर्ट तैयार करनेका काम मेरे सुपुर्द किया गया था। जो यह जानना चाहते है कि पंजाबमें कैसे-कैसे अत्याचार हुए, उन्हें यह रिपोर्ट अवश्य पढ़नी चाहिए। इस रिपोर्टके बारेमें मै तो इतना ही कह सकता हूं कि इसमे जान-बूझकर कही भी अत्युक्तिसे काम नहीं लिया गया है। जितनी बातें लिखी गई हैं, सबकेलिए रिपोर्टमें प्रमाण मौजूद हे। रिपोर्टमें जो प्रमाण पेश किथे गये है उनसे बहुत अधिक प्रमाण कमेटीके पास थे। ऐसी एक भी बात रिपोर्टमें दर्ज नही की है जिसके बारेमे थोड़ा भी शक था। इस प्रकार बिलकुल सत्बको ही सामने रखकर लिखी गई रिपोर्टमें पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज्य अपनी सत्ता कायम रखनेकेलिए किस हद तक जा सकता है और कैसे अमानुषिक कार्य कर सकता है। जहांतक मुझे पता है इस रिपोर्टकी एक भी बात आजतक असत्य नही साबित हुई है।

: ३६ :

खिलाफतके बदलेमें गो-रक्षा ?

पंजाबके हत्याकांडको फिलहाल हम यहीं छोड़ दें। कांग्रेसकी-ओरसे पंजाबकी डायरशाहीकी जांच हो रही थी कि इतनेमें ही एक सार्वजनिक निमंत्रण मेरे हाथमें आ पहुंचा। उसनें स्वर्गीय हकीम साहब और भाई आसफअलीके नाम थे। यह भी लिखा था कि श्रद्धानंदजी भी सभामें आनेवाले हैं। मुझे तो खयाल पड़ता है कि वह उपसभापति थे। देहलीमें खिलाफतके तथा संधि-उत्सवमें भाग लेने न लेनेके संबंधमें विचार करनेके लिए हिंदू-मुसलमानोंकी संयुक्त सभा होनेवाली थी और उसम आनेकेलिए यह निमंत्रण मिला था। मुझे याद आता है कि यह सभा नवंबरमें हुई थी।

इस निमंत्रण-पत्रमें यह भी लिखा गया था कि इसमें खिलाफतके प्रश्नकी चर्चा की जायगी और साथ ही गो-रक्षाके विषयपर भी विचार किया जायगा, एवं यह सुझाया गया था कि गो-रक्षाको साधनेका यह बड़ा अच्छा अवसर है। मुझे यह वाक्य खटका। इस निमंत्रण-पत्रके उत्तरमें मैंने लिखा था कि आनेका यत्न करूंगा और साथ ही यह भी सूचित किया था कि खिलाफत और गो-रक्षाको एकसाथ मिलाकर उन्हें परस्पर बदलेका सवाल न बनाना चाहिए—हरेकके महत्त्वका निर्णय उनके गुण-दोषको देखकर करना चाहिए।

सभामें मैं गया। उपस्थिति अच्छी थी। फिर भी एसा दृश्य नहीं था कि हजारों लोग पीछेसे धक्का-मुक्की करते हों। इस सभामें श्रद्धानंदजी उपस्थित थे। उनके साथ इस विषयपर मैंने बातचीत कर ली। उन्हें मेरी दलील पसंद आई और उन्होंने कहा कि आप इसे सभामें पेश करें। हकीम साहबके साथ भी मशवरा कर लिया था। मेरा कहना यह था कि दोनों प्रश्नोंका विचार उनके गुण-दोषके अनुसार अलग-अलग होना चाहिए। यदि खिलाफतके प्रश्नमें तथ्य हो, उसमें सरकारकी ओरसे

अन्याय होता हो, तो हिंदुओंको मुससमानोंका साथ देना चाहिए, और इसके साथ गो-रक्षाको नहीं मिला सकते। और यदि हिंदू ऐसी कोई शर्त रखें तो वह शोभा नहीं देगी। मुसलमान खिलाफतमें मदद लेनेकेलिए, उसके एवजमें, गो-वध बंद करें तो इसमें उनकी शोभा नही; एक तो पड़ोसी, फिर एक ही भूमिके रहनेवाले होनेके कारण हिंदुओंके मनोभावोंका आदर करनेकेलिए यदि वे स्वतंत्र रूपसे गो-वध बंद करें तो यह उनकेलिए शोभाकी बात होगी। यह उनका कर्त्तव्य है; पर यह प्रश्न स्वतंत्र है। यदि वास्तवमें यह उनका कर्त्तव्य है, और इसे वे अपना कर्त्तव्य समझें भी, तो फिर हिंदू खिलाफतमें मदद करें या न करें, पर मुसलमानोंको गो-वध बंद कर देना उचित है। इस तरह दोनों प्रश्नोंपर स्वतंत्र रीतिसे विचार होना चाहिए और इस कारण सभामें तो सिर्फ खिलाफतके विषयपर ही विचार होना उचित है। यह मेरी दलील थी। सभाको वह पसंद आई। गो-रक्षाके सवालपर सभामें चर्चा न हुई। परंतु मौ० अब्दुल बारी साहबने कहा—'हिंदू लोग चाहे खिलाफतमें मदद करें या न करें, हम चूंकि एक ही मुल्कके हैं, मुसलमानोंको हिंदुओंके जजबातके खातिर गोकुशी बंद कर देनी चाहिए।' और एक बार तो ऐसा ही प्रतीत हुआ, मानो मुसलमान सचमुच ही गो-वध बंद कर देंगे।

कई लोगोंने तो यह भी सुझाया कि पंजाबके सवालको भी खिलाफतके साथ मिला देना चाहिए। मैंने इसका विरोध किया। मेरी दलील यह थी—'पंजाबका मसला स्थानिक है, पंजाबके कष्टोंके कारण हम सरकारके संधि-उत्सवसे अलग नही रह सकते। इसलिए पंजाबके मामलोंको खिलाफतके साथ जोड़ देनेसे हम नादानीके इल्जामके पात्र बन जायंगे। मेरी यह राय सबको ससद आई। इस सभामें मौलाना हसरत मोहानी भी थे। उनसे जान-पहचान तो हो ही गई थी पर वह कैसे लड़वैया है, इस बातका अनुभव मैंने यहीं किया। मेरे उनके दरमियान यहीं से मत-भेद शुरू हुआ तो वह अनेक बातोंमें अंततक कायम रहा।

अनेक प्रस्तावोंमें एक यह भी था कि हिंदू-मुसलमान सब स्वदेशी-

व्रतका पालन करें और उसके लिए विदेशी कपड़ेका वहिष्कार किया जाय। खादीका पुनर्जन्म अभी नहीं हो सकता था। वह तो चाहते थे कि यदि अंग्रेजी सल्तनत खिलाफतके वारेमें इंसाफ न करे तो उसका मजा उसे चखाया जाय, अतएव उन्होने तमाम ब्रिटिश मालका यथासंभव वहिष्कार करना सुझाया। मैंने समस्त ब्रिटिश मालके वहिष्कारकी अशक्यता और अनौचित्यके संबंधमे अपनी दलीलें पेश की, जो कि अव तो प्रसिद्ध हो चुकी है। अपनी अहिंसा-वृत्तिका प्रतिपादन मैंने किया। मैंने देखा कि सभापर मेरी वातोंका गहरा असर हुआ। हसरत मोहानीकी दलीलें सुनते हुए लोग इतना हर्ष-नाद करते थे कि मुझे प्रतीत हुआ कि यहां मेरी तूतीकी आवाज कौन सुनेगा ? पर यह समझकर कि मुझे अपने धर्मसे न चूकना चाहिए; अपनी वात छिपा न रखनी चाहिए, मै वोलनेकेलिए उठा। लोगोंने मेरे भाषणको खूब ध्यानसे सुना। सभा-मंचपर तो मेरा पूरा-पूरा समर्थन किया गया और मेरे समर्थनमे एकके वाद एक भाषण होने लगे। अग्रणी लोग जान गये कि ब्रिटिश मालके वहिष्कारके प्रस्तावसे मतलब तो कुछ भी नहीं सधेगा, उल्टे हंसी होकर रह जायगी। सारी सभामें शायद ही कोई ऐसा आदमी दिखाई पड़ता था, जिसके वदनपर कोई-न-कोई ब्रिटिश वस्तु न थी। सभामे उपस्थित रहनेवाले लोग भी जिस वातको करनेमें असमर्थ थे उसका प्रस्ताव करनेसे लाभके वदले हानि ही होगी—इस वातको बहुतेरे लोग समझ गये।

'हमें तो आपके विदेशी वस्त्रके वहिष्कारसे संतोष हो ही नहीं सकता। किस दिन हम अपनेलिए सारा कपड़ा यहां वना सकेंगे, और कव विदेशी वस्त्रका बहिष्कार होगा ? हम तो कोई ऐसी चीज चाहते है, जिससे ब्रिटिश लोगोंपर तुरंत असर हो। आपके वहिष्कारसे हमारा झगड़ा नहीं; पर हमें तो कोई तेज और तुरंत असर करनेवाली चीज वताइए।' इस आशयका भाषण मौलानाने किया। इस भाषणको मै सुन रहा था। मेरे मनमें विचार उठा कि विदेशी वस्त्रके बहिष्कारके साथ ही कोई और नवीन वात पेश करनी चाहिए। उस समय मुझे यह तो स्पष्ट मालूम होता

था कि विदेशी वस्त्रका बहिष्कार तुरंत नहीं हो सकता। सोलहों आना खादी उत्पन्न करनेकी शक्ति यदि हम चाहें तो हमारे अंदर है, यह बात जो मैं आगे चलकर देख पाया सो उस समय न देख पाया था। अकेली मिलें वक्तपर दगा देगी, यह मैं तब भी जानता था। जिस समय मौलाना साहबने अपना भाषण पूरा किया, उस समय मैं जवाब देनेकेलिए तैयार हो रहा था।

मुझे उस नई चीजकेलिए उर्दू-हिंदी शब्द न सूझा। मुसलमानोंकी ऐसी खास सभामें युक्ति-युक्त भाषण करनेका यह मुझे पहला अनुभव था। कलकत्तेमें मुस्लिम-लीगकी सभामें मैं कुछ बोला था; पर वह तो कुछ ही मिनटकेलिए और सो भी वहां हृदय-स्पर्शी भाषण करना था। यहां तो मुझे ऐसे समाजको समझाना था, जो मुझसे विपरीत मत रखता था पर अब मेरी झेंप मिट गई थी। देहलीके मुसलमानोंके सामने सकील उर्दूमें लच्छेदार भाषण नहीं करना था; बल्कि अपना मत टूटी-फूटी हिंदीमें समझाना था। यह काम मैं अच्छी तरह कर सका। हिंदी-उर्दू ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, इसका यह सभा प्रत्यक्ष प्रमाण थी। यदि मैंने अंग्रेजीमें वक्तृता दी होती तो मेरी गाड़ी आगे नहीं चल सकती थी। और मौलाना साहबने जो पुकार की उसका समय न आया होता और यदि आता तो मुझे उसका उत्तर न मिलता।

उर्दू अथवा गुजराती शब्द न सूझ पड़ा, इससे मुझे शर्म मालूम हुई पर उत्तर तो दिया ही। मुझे 'नांन-कोआपरेशन' शब्द हाथ लगा। जब मौलाना साहब भाषण कर रहे थे तब मेरे मनमें यह भाव उठ रहा था कि हम खुद कई बातोंमें जिस सरकारका साथ दे रहे हैं उसीके विरोधकी जो ये सब बातें करते है, सो व्यर्थ है। तलवारके द्वारा प्रतिकार नहीं करना है तो फिर उसका साथ न देना ही उसका प्रतिकार करना है, यह मुझे सूझा और मेरे मुखसे पहली बार 'नांन-कोआंपरेशन' शब्दका उच्चार उस सभामें हुआ अपने भाषणमें मैंने उसके समर्थनमे अपनी दलीलें पेश कीं। इस समय मुझे इस बातका खयाल न था कि इस शब्दमे क्या भाव आ जाते है। इस कारण

मैं उनकी तफसीलमें नहीं गया। मुझे इतना ही कहा याद पड़ता है—

"मुसलमान भाइयोंने एक और भी मार्केका फैसला किया है। खुदा-न-खास्ता अगर सुलहकी शर्तें उनके खिलाफ गईं तो सरकारकी सहायता करना बंद कर देंगे। मैं समझता हूं, लोगोंका यह हक है। सरकारी खिताबोंको रखने या सरकारी नौकरी करनेके लिए हम बंधे हुए नहीं हैं। जब कि खिलाफतके जैसे मजहबी मामलेमें हमें नुकसान पहुंचता हो तो हम उसकी मदद कैसे करेंगे? इसलिए अगर खिलाफतका फैसला हमारे खिलाफ जाय तो सरकारको मदद न देनेका हमें हक है।"

पर उसके बाद तो कई महीनेतक इस बातका प्रचार नहीं हुआ। महीनोंतक यह शब्द इस सभामें ही छिपा पड़ा रहा। एक महीने बाद जब अमृतसरमें कांग्रेस हुई तब मैंने उसमें असहयोग संबधी प्रस्तावका समर्थन किया था। क्योंकि उस समय मैंने यही आशा रखी थी कि हिंदू-मुसलमानोंको असहयोगका अवसर नहीं आयगा।

: ३७ :

अमृतसर-कांग्रेस

फौजी-कानूनके अनुसार सैकड़ों निर्दोष पंजाबियोंको नाम-मात्रकी अदालतोंने नाम-मात्रकेलिए सबूत लेकर कम या अधिक मियादकेलिए जेलखानोंमें ठूंस दिया था; परंतु पंजाब-सरकार उन्हें जेलमें रख न सकी; क्योंकि इस घोर अन्यायके खिलाफ देशमें चारों ओर इतनी बुलंद आवाज उठी कि सरकार इन कैदियोंको अधिक समयतक जेलमें नहीं रख सकती थी। अतः कांग्रेसके अधिवेशनके पहले ही बहुतेरे कैदी छूट गये थे। लाला हरकिशनलाल इत्यादि सब नेता रिहा कर दिये गये थे और कांग्रेसका अधिवेशन हो ही रहा था कि अली-भाई भी छूटकर आ पहुंचे। इससे लोगोंके हर्षकी सीमा न रही। पंडित मोतीलाल नेहरू, जो अपनी वकालत बंद करके पंजाबमें डेरा डाले बैठे थे, कांग्रेसके अध्यक्ष थे। स्वामी श्रद्धानंदजी स्वागत-समितिके सभापति थे।

अबतक कांग्रेसमें मेरा काम इतना ही रहता था—हिंदीमे एक छोटा-सा भाषण करके हिंदीकी वकालत करना और प्रवासी भारत-वासियोंका पक्ष उपस्थित कर देना। अमृतसरमें मुझे यह पता न था कि इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा; परतु अपने विषयमें मुझे जैसा पहले अनुभव हुआ है उसीके अनुसार यहां भी एकाएक मुझपर एक जिम्मेदारी आ पड़ी।

सम्राट्की नवीन सुधारोंके संबंधमें घोषणा प्रकाशित हो चुकी थी। वह मेरे नजदीक पूर्ण सतोषजनक नहीं थी। औरोंको तो बिलकुल ही पसंद नहीं आई। सुधारोंमें भी खामी थी; परतु उस समय मेरा यही खयाल हुआ कि हम उनको स्वीकार कर सकते हैं। सम्राट्के घोषणापत्रमें मुझे लार्ड सिंहका हाथ दिखाई दिया था उसकी भाषामे, उस समय मेरी आंखें आशाकी किरणें देख रही थी; हालांकि अनुभवी लोकमान्य, चित्तरंजनदास इत्यादि योद्धा सिर हिला रहे थे। भारत-भूषण मालवीयजी मध्यस्थ थे।

मेरा डेरा उन्होने अपने ही कमरेमें रखा था। उनकी सादगीकी झलक मुझे काशीमें, विश्व-विद्यालयके शिलारोपणके समय हुई थी; परतु इस समय तो उन्होंने मुझे अपने ही कमरेमे स्थान दिया था इसलिए मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे आनंदके साथ आश्चर्य हुआ था। उनका कमरा मानो गरीबकी धर्मशाला थी। उसमें कही भी रास्ता नही छूटा था, जहां-तहां लोग डेरा डाले हुए थे। न उसमे एकांत-की गुंजाइश थी, न फैलावकी। जो चाहता वहां आ जाता और उनका मनमाना समय ले जाता। इस दरबेके एक कोनेमें मेरा दरबार अर्थात् खटिया लगी हुई थी। पर यह अध्याय मुझे मालवीयजीके रहन-सहनके वर्णनमे खर्च नहीं करना है। इसलिए अपने विषयपर आ जाता हूं।

इस स्थितिमे मालवीयजीके साथ रोज संवाद हुआ करता था और वह मुझे सब पक्षोंकी बातें उसी तरह प्रेमपूर्वक समझाते, जैसा कि बड़ा भाई छोटेको समझाता है। मुझे यह जान पड़ा कि सुधार-संबंधी प्रस्तावमें मुझे भाग लेना चाहिए। पंजाब-हत्याकांड संबंधी-कांग्रेसकी रिपोर्टकी

जिम्मेदारीमें मेरा हाथ था ही। पंजाबके संबंधमें सरकारसे काम भी लेना था। खिलाफतका मामला था ही। यह भी मेरी धारणा थी कि मांटेगू हिंदुस्तानके साथ दगा नहीं देंगे। कैदियोंके और उसमें भी अली-भाइयोंके छुटकारेको मैंने चिह्न माना था। इसलिए मैंने सोचा कि सुधारोंको स्वीकार करनेका प्रस्ताव होना चाहिए। किंतु चित्तरंजनदासकी मजबूत राय थी कि सुधारोंको बिलकुल असंतोषजनक और अधूरा मानकर उनको रद्द कर देना चाहिए। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे; परतु देशबंधु जिस प्रस्तावको पसंद करें उसके पक्षमें अपनी शक्ति लगानेका निश्चय उन्होंने किया था।

ऐसे भुक्तभोगी सर्वमान्य लोकनायकोंसे अपना मत-भेद मुझे असह्य हो रहा था। दूसरी ओर मेरा अन्तर्नाद स्पष्ट था। मैंने कांग्रेसके अधिवेशनमेंसे भाग जानेका प्रयत्न किया। पंडित मोतीलालजी नेहरू और मालवीयजीको मैंने सुझाया कि मुझे अधिवेशनमें गैरहाजिर रहने देनेसे सब काम सध जायगे और मैं महान् नेताओंके इस मत-भेद से भी बच जाऊंगा।

पर यह बात इन दोनों बुजुर्गोंको न पटी। लाला हरकिशनलालके कानपर बात आते ही उन्होंने कहा—"यह कभी नही हो सकता। पंजाबियोंको इससे बड़ी चोट पहुंचेगी।" लोकमान्य और देशबंधुके साथ मशवरा किया। श्री जिन्नासे भी मिला। किसी तरह कोई रास्ता नही निकला। मैंने अपनी वेदना मालवीयजीके सामने रखी

"समझौतेके आसार मुझे नही दिखाई देते; यदि मुझे अपना प्रस्ताव पेश करना ही पड़े तो अंतको मत तो लेने ही पड़ेंगे। मत लिये जानेकी सुविधा यहां मुझे दिखाई नही देती। आजतक भरी सभामें हम लोग हाथ ही ऊंचे उठवाते आये है। दर्शकों और सदस्योका भेद हाथ ऊंचा करते समय नही रहता। ऐसी विशाल सभामे मत गिननेकी सुविधा हमारे यहां नही होती, इसलिए यदि मैं अपने प्रस्तावके संबंधमें मत लिवाना चाहूं भी तो उसका प्रबंध नही।" मैंने कहा।

लाला हरकिशनलालने इसकी संतोषजनक सुविधा कर देनेका

बीड़ा उठाया। उन्होंने कहा कि जिस दिन मत लेना हो उस दिन दर्शकोंको न आने देंगे, सिर्फ प्रतिनिधि ही आवेंगे और मत गिना देनेका जिम्मा मेरा; पर आप कांग्रेसकी बैठकमें गैरहाजिर नहीं रह सकते।

अतको मैं हारा। मैंने अपना प्रस्ताव बनाया और बड़े संकोचके साथ उसे पेश करना स्वीकार किया। श्री जिन्ना और मालवीयजी समर्थन करनेवाले थे। भाषण हुए। मैं देख सकता था कि यद्यपि हमारे मत-भेदमें कही कटुता न थी, भाषणमे भी दलीलोंके सिवा और कुछ न था, फिर भी सभा इतने मत-भेदको सहन नहीं कर सकती थी, और उसे दुःख हो रहा था। सभा एकमत चाहती थी।

उधर भाषण हो रहे थे; पर इधर भेद मिटानेके प्रयत्न चल रहे थे। आपसमें चिट्ठियां जा-आ रही थीं। मालवीयजी तो हर तरहसे समझौता करनेकेलिए मिहनत कर रहे थे। इतनेमें जयरामदासने अपना सुझाव मेरे हाथमें रखा और बड़े मधुर शब्दोंमें मत देनेके संकटसे प्रतिनिधियोंको बचा लेनेका अनुरोध मुझसे किया। मुझे वह पसंद आ गया। मालवीयजीकी नजर तो चारों ओर आशाकी खोजमे फिर रही थी। मैंने कहा कि यह सशोधन दोनोंको स्वीकार हो सकता है। लोकमान्यको बताया। उन्होंने कहा, दासको पसद हो तो मुझे आपत्ति नहीं। देशबंधु पिघल गये। उन्होंने विपिनचंद्र पालकी ओर देखा। मालवीयजीको अब पूरी आशा बंध गई और उन्होंने चिट्ठी हाथसे छीन ली। देशबधुके मुंह से 'हां' शब्द अभी पूरा निकला ही नहीं था कि वह बोल उठे— "सज्जनो, आप यह जानकर प्रसन्न होगे कि समझौता हो गया है।" फिर तो क्या पूछना था ? तालियोंकी हर्ष-ध्वनिसे सारा मंडप गूंज उठा और लोगोंके चेहरेपर जहां गंभीरता थी वहा खुशी चमक उठी। यह प्रस्ताव क्या था, उसकी चर्चा करनेकी यहां जरूरत नही; क्योंकि यह प्रस्ताव कैसे हुआ, यही बताना मेरे इन प्रयोगोंका विषय है। समझौतेने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

: ३८ :

कांग्रेसमें प्रवेश

कांग्रेसमें यह जो मुझे भाग लेना पड़ा, इसे मै कांग्रेसमें अपना प्रवेश नहीं मानता। उसके पहलेकी कांग्रेसकी बैठकमें जो मैं गया सो तो केवल वफादारीकी निशानीके तौरपर। एक छोटे-से-छोटे सिपाहीके सिवा वहां मेरा दूसरा काम कुछ होगा, ऐसा आभास मुझे दूसरी पिछली सभाओं के संबंधमें नही हुआ और न ऐसी इच्छा ही हुई।

किंतु अमृतसरके अनुभवने बताया कि मेरी एक शक्तिका उपयोग कांग्रेसकेलिए है। पंजाब-समितिके मेरे कामसे लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबंधु इत्यादि खुश हुए थे, यह मैने देख लिया था। इस कारण उन्होंने मुझे अपनी बैठकोंमें और सलाह-मशवरेमें बुलाया। इतना तो मैने देखा था कि विषय-समितिका सच्चा काम ऐसी बैठकोंमें होता था और ऐसे मशवरोंमें खासकर वे लोग होते, जिनपर नेताओंका खास विश्वास या आधार होता; पर दूसरे लोग भी किसी-न-किसी बहाने घुस जाया करते। आगामी वर्ष किये जानेवाले दो कामोमें मेरी दिलचस्पी थी; क्योंकि उनमें मेरा चंचु-पान होगया था।

एक था जलियांवालाबागके कत्लका स्मारक। इसकेलिए कांग्रेसने बड़ी शानके साथ प्रस्ताव पास किया। उसकेलिए कोई पांच लाख रुपयेकी रकम एकत्र करनी थी। उसके ट्रस्टियोंमे मेरा भी नाम था। देशके सार्वजनिक कार्योंकेलिए भिक्षा मांगनेका भारी सामर्थ्य जिन लोगोंमें है, उनमे मालवीयजीका नंबर पहला था और है। मैं जानता था कि मेरा दर्जा उनसे बहुत घटकर न होगा। अपनी इस शक्तिका आभास मुझे दक्षिण अफ्रिकामें मिला था। राजा-महाराजाओंपर जादू फेरकर लाखों रुपये पानेका सामर्थ्य मुझमें न था, न आज भी है। इस बातमें मालवीयजी साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मैने किसीको नहीं देखा; पर जलियांवालाबागके काममें उन लोगोंसे द्रव्य नही लिया जा सकता, यह मैं जानता था। अत-

एव इस स्मारककेलिए धन जुटानेका मुख्य भार मुझपर पड़ेगा, यह बात मैं ट्रस्टीका पद स्वीकार करते समय समझ गया था। और हुआ भी ऐसा ही। इस स्मारककेलिए बंबईके उदार नागरिकोंने पेट-भरके द्रव्य दिया और आज भी लोगोके पास उसकेलिए जितना चाहिए, रुपया है; परतु इस हिंदू, मुसलमान और सिखके मिश्रित खून से पवित्र हुई भूमिपर किस तरहका स्मारक बनाया जाय, अर्थात् आये हुए धनका उपयोग किस तरह किया जाय, यह विकट प्रश्न हो गया है; क्योकि तीनोके बीच अथवा दोके बीच दोस्तीके बदले आज दुश्मनी का भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति मसविदे तैयार करनेकी थी, जिसका उपयोग कांग्रसकेलिए हो सकता था। बहुत दिनोंके अनुभवसे कहा, कैसे और कितने कम शब्दोंमे अविनय-रहित भाषा लिखना मैं सीख गया हूं— यह बात नेता लोग समझ गये थे। उस समय कांग्रेसका जो विधान था, वह गोखलेकी दी हुई पूजी थी। उन्होने कितने ही नियम बना रखे थे, जिनके आधार पर कांग्रेसका काम चलता था। वे नियम किस प्रकार बने, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हींके मुखसे सुना था; पर अब सब यह मानते थे कि केवल उन्ही नियमोंके बलपर काम नही चल सकता। विधान बनानेकी चर्चा भी प्रतिवर्ष चला करती। काग्रेसके पास ऐसी व्यवस्था ही नही थी कि जिससे सारे वर्ष-भर उसका काम चलता रहे अथवा भविष्यके विषयमे कोई विचार करे। यों मंत्री उसके तीन रहते; पर कार्य-वाहक मंत्री तो एक ही होता। अब यह मंत्री दफ्तरका काम करता या भविष्यका विचार करता, या भूतकालमे ली हुई जिम्मेदारियां चालू वर्ष में अदा करता? इसलिए यह प्रश्न इस वर्ष सबकी दृष्टिमें अधिक आवश्यक हो गया। कांग्रेसमे तो हजारोंकी भीड़ होती है, वहां प्रजाका कार्य कैसे चलता? प्रतिनिधियोंकी संख्याकी हद नही थी। हर किसी प्रांतसे जितने चाहें प्रतिनिधि आ सकते थे। हर कोई प्रतिनिधि हो सकता था। इसलिए इसका कुछ प्रबध होनेकी आवश्यकता सबको मालूम हुई। विधानकी रचना करनेका भार मैंने अपने सिरपर लिया।

किंतु मेरी एक शर्त थी। जनतापर मैं दो नेताओंका अधिकार देख रहा था। इसलिए मैंने उनके प्रतिनिधिकी मांग अपने साथ की। मैं जानता था कि नेता लोग खुद शांतिके साथ बैठकर विधानकी रचना नही करते थे। अतएव लोकमान्य तथा देशबंधुके पाससे उनके दो विश्वास-पात्र नाम मैंने मांगे। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई संगठन-समितिमें न होना चाहिए, यह मैंने सुझाया। यह सूचना स्वीकृत हुई। लोकमान्यने श्री केलकरका और देशबंधुने श्री आई० बी० सेनका नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी साथ मिलकर न बैठी। फिर भी हमने अपना कार्य चला लिया। इस विधानके संबंधमें मुझे कुछ अभिमान है। मै मानता हूं कि इसके अनुसार काम लिया जा सके तो आज हमारा वेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब कभी हो; परंतु मै मानता हूं कि इस जवावदेहीको लेनेके बाद ही मैंनें कांग्रेसमें सचमुच प्रवेश किया।

: ३९ :

खादीका जन्म

मुझे याद नहीं कि सन् १९०८तक मैंने चरखा अथवा करघा देखा हो। फिर भी मैंने 'हिंद-स्वराज्य'में यह माना है कि चरखे द्वारा भारतकी गरीबी मिटेगी। और जिस मार्गसे देशकी भुखमरी मिटेगी उसीसे स्वराज्य भी मिलेगा। यह तो एक ऐसी बात है कि जिसे सब कोई समझ सकते हैं। जब मैं सन् १९१५में दक्षिण अफ्रिकासे भारत आया, उस समय भी मैंने चरखेके दर्शन नही किये थे। आश्रम खोलनेपर एक करघा ला रखा। करघा ला रखनेमें भी मुझे बड़ी कठिनाई हुई। हम सब उसके प्रयोगसे अपरिचित थे, अतः करघा प्राप्त कर लेनें भरसे वह चल तो नहीं सकता था। हममें या तो कलम चलानेंवाले इकट्ठे हुए थे, या व्यापार करना जाननेवाले थे; कारीगर कोई भी नहीं था। इसलिए करघा मिल जानेंपर भी बुनाईका काम सिखानेंवालेकी जरूरत थी। काठियावाड़ और पालनपुरसे करघा मिला और एक सिखानेवाला भी आगया। पर उसनें

अपना सारा हुनर नहीं बताया; लेकिन मगनलाल गांधी ऐसे नही थे कि हाथमें लिये हुए कामको झट छोड़ दे। उनके हाथमें कारीगरी तो थी ही, अतः उन्होंने बुनाईका काम पूरी तरह जान लिया और फिर एक-के-बाद-एक नये बुनकर आश्रममें तैयार हो गये।

हमें तो अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे। इसलिए अबसे मिलके कपड़े पहनने बंद किये, आश्रमवासियोंने हाथके करघेपर देशी मिलके सूतसे बुना हुआ कपड़ा पहननेका निर्णय किया। इससे हमने बहुत-कुछ सीखा। भारतके जुलाहोंके जीवनका, उनकी आमदनीका, सूत प्राप्त करनेमें होनेवाली उनकी कठिनाइयोंका, वे उसमें किस तरह धोखा खाते थे और दिन-दिन किस तरह कर्जदार हो रहे थे, आदि बातोंका हमे पता चला। ऐसा परिस्थिति तो थी नही कि शीघ्र ही हम अपने कपड़े आप बुन सके। अतः बाहरके बुननेवालोसेहमें अपनी जरूरतके मुताबिक कपड़ा बुनवा लेना था; क्योकि देशी मिलके सूतसे हाथ-बुना कपड़ा जुलाहोंके पाससे या व्यापारियोंसे शीघ्र हा नही मिलता था। जुलाहे अच्छा कपड़ा तो सबका-सब बिलायती सूतका ही बुनते थे। इसका कारण यह है कि हमारी मिलें महीन सूत नहीं कातती थी। आज भी महीन सूत वे कम ही कातती है। बहुत महीन तो वह कात ही नहीं सकती। बड़े प्रयत्नके बाद कुछेक जुलाहे हाथ लगे,जिन्होंने देशी सूतका कपड़ा बुन देनेकी मिहरबानी की। इन जुलाहोंको आश्रमकी तरफसे यह वचन देना पड़ा था कि उनका बुना हुआ देशी सूतका कपड़ा खरीद लिया जायगा। इस तरह खास तौरपर बुनाया कपड़ा हमने पहना और मित्रोमें उसका प्रचार किया। हम सूत कातनेवाली मिलोंके बिना तनख्वाहके ,एजेंट बन गये। मिलोंके परिचयमें आनेसे उनके काम-काजका, उनकी लाचारीका हाल हमें मालूम हुआ। हमने देखा कि मिलोका ध्येय खुद कातकर खुद बुन लेना था। वे हाथ-करघेका इच्छा-पूर्वक सहायक नहीं थीं बल्कि अनिच्छा-पूर्वक थी।

यह सब देखकर हम हाथसे न कातनेकेलिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जबतक हाथसे न कातेंगे। तबतक हमारी पराधीनता बनी रहेगी

हमे यह प्रतीति नही हुई कि मिलों के एजेंट बनकर हम देश-सेवा करते हैं।

लेकिन न तो चरखा था, न कोई चरखा चलानेवाला ही था। कुकड़ियां भरनेके चरखे तो हमारे पास थे; लेकिन यह खयाल तो था ही नहीं कि उनपर सूत कत सकता है। एक बार कालीदास वकील एक महिलाको ढूंढ़ लाये। उन्होंने कहा कि यह कातकर बतलायेगी। उसके पास नये कामोंको सीख लेनेमें प्रवीण एक आश्रमवासी भेजे गये; लेकिन हुनर हाथ न आया।

समय बीतने लगा। मैं अधीर हो उठा था। आश्रममें आनेवाले उन लोगोंको, जो इस संबंधमें कुछ बातें कह सकते, मैं पूछता; लेकिन कातनेका इजारा तो स्त्रियोंका ही था। अतः कातनेवाली स्त्री तो कहीं किसी स्त्रीको ही मिल सकता थी।

सन् १९१७को भड़ौंच की शिक्षा-परिषद्मे गुजराती भाई मुझे घसीट ले गये। वहां महासाहसी विधवा बहन गंगाबाई हाथ लगीं। वह बहुत पढी-लिखी नहीं थीं; लेकिन उनमे साहस और समझ शिक्षित बहनोंमे साधारणतः जितनी होती है, उससे अधिक थी। उन्होंने अपने जीवनमेंसे छुआ-छूतकी जड़ खोद डाली थी और वह निडर होकर अंत्यजोसे मिलती तथा उनकी सेवा करती थीं। उनके पास रुपया-पैसा था; लेकिन उनकी अपनी आवश्यकता बहुत थोड़ी थी। उनका शरीर सुगठित था और चाहे जहां अकेले जानेमें वह तनिक भी संकोच नही करती थीं। वह तो घोड़ेकी सवारीकेलिए भी तैयार रहती। इस बहानेसे मैंने गोधराकी परिषद्में विशेष परिचय बढ़ाया। मैंने अपनी व्यथा उन्हें कह सुनाई और जिस तरह दमयंती नलकी तलाशमें घूम रही थी उसी तरह चरखेकी खोजमें घूमनेकी बात स्वीकार करके उन्होने मेरा बोझ हलका कर दिया।

: ४० :

मिल गया

गुजरातमें खूब घूम चुकनेके बाद गायकवाड़ी राज्यके बीजापूर गांवमें गंगाबहनको चरखा मिला। वहां बहुतसे कुटुंबोके पास चरखा

था, जिसे उन्होंने टांडपर चढ़ाकर रख छोड़ा था; लेकिन अगर कोई उनका कता सूत ले ले और उन्हें पूनियां बराबर दी जायं तो वे कातनेकेलिए तैयार थे। गंगाबहनने मुझे खबर दी और मेरे हर्षका पार न रहा। पूनी पहुंचानेका काम कठिन ज्ञान पड़ा। स्वर्गीय भाई उमर सुबानीसे बातचीत करनेपर उन्होंने अपनी मिलसे पूनियां पहुंचानेकी जिम्मेदारी अपने सिर ली। मैंने ये गंगाबहनके पास भेजीं। इसपर तो सूत इतनी तेजीसे तैयार होने लगा कि मैं थक गया।

भाई उमर सुबानीकी उदारता विशाल होते हुए भी आखिर उसकी सीमा थी। पूनियां खरीदकर लेने मे मुझे संकोच हुआ। और मिलकी पूनियां लेकर कातनेमें मुझे वहुत दोष प्रतीत हुआ। अगर मिलकी पूनियां लेते है तो फिर सूत लेनेमें क्या बुराई है? हमारे पुरखाओंके पास मिलकी पूनियां कहां थीं। वे किस तरह पूनियां तैयार करते होंगे? मैंने गंगाबहनको सुझाया कि वह पूनियां बनानेवालोंको ढूंढे। उन्होंने यह काम अपने सिर लिया। एक पिंजरे को ढूंढ़ निकाला। उसे हर महीने ३५) था इससे भी अधिक वेतनपर नियुक्त किया। उसने बालकोंको पूनी बनाना सिखलाया। मैंने रुईकी भीख मांगी। भाई यशवंतप्रसाद देसाईने रुईकी गांठे पहुंचानेका काम अपने जिम्मे लिया। अब गंगाबहनने काम एकदम बढ़ा दिया। उन्होंने बुनकरोंको आबाद किया और कते हुए सूतको बुनवाना शुरू किया। अब तो बीजापुरकी खादी मशहूर हो गई।

दूसरी ओर अब आश्रममे भी चरखा दाखिल करनेमें देर न लगी। मगनलाल गांधीने अपनी शोधक शक्तिसे चरखेमे सुधार किये और चरखे तथा तकले आश्रममें तैयार हुए। आश्रमकी खादीके पहले थानपर फी गज १=) खर्च आया। मैंने मित्रोंके पाससे मोटी, कच्चे सूतकी खादीके एक गज टुकड़ेके १=) वसूल किये, जो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

बंबईमे मै रोग शय्यापर पड़ा हुआ था; लेकिन सबसे पूछा करता। वहां दो कातनेवाली बहनें मिली। उन्हें एक सेर सूतपर एक रुपया दिया। मै अभीतक खादी-शास्त्रमे अंधे जैसा था। हमे तो हाथ-कता सूत चाहिए

था और कातनेवाली स्त्रियां चाहिए थी। गंगाबहन जो दर देती थीं उससे तुलना करते हुए मुझे मालूम हुआ कि मैं ठगा जा रहा हूं। वे बहन कम लेनेको तैयार न थीं, इसलिए उन्हें छोड़ देना पड़ा; लेकिन उनका उपयोग तो था ही। उन्होंने श्री अवंतिकाबाई, रमाबाई कामदार, श्री शंकरलाल बेंकरकी माताजी और श्री वसुमती बहनको कातना सिखाया और मेरे कमरेमें चरखा गूंज उठा। अगर मैं यह कहूं कि इस यंत्रने मुझे रोगीसे निरोगी बनानेमें मदद पहुंचाई, तो अत्युक्ति न होगी। यह सच है कि यह स्थिति मानसिक है। लेकिन मनुष्यको रोगी या नीरोग बनानेमें मनका हिस्सा कौन कम है? मैंने भी चरखेको हाथ लगाया; लेकिन इस समय मैं इससे आगे नहीं बढ़ सका।

अब सवाल यह उठा कि यहां हाथकी पूनियां कहांसे मिलें? श्री रेवाशंकर जौहरीके बंगलेके पाससे तांतकी आवाज करता हुआ एक धुनिया रोज निकला करता था मैंने उसे बुलाया। वह गद्दे-गद्दियोंकी रुई धुनता था। उसने पूनियां तैयार करके देना मंजूर किया; लेकिन भाव ऊंचा मांगा और मैंने दिया भी। इस तरह तैयार सूत मैंने वैष्णवोंको ठाकुरजीकी मालाकेलिए पैसे लेकर बेचा। भाई शिवजीने बंबईमें चरखाशाला खोली। इस प्रयोगमें रुपये ठीक-ठीक खर्च हुए। श्रद्धालु देशभक्तोंने रुपये दिये और मैंने उन्हें खर्च किया। मेरी नम्र सम्मतिमें यह खर्च व्यर्थ नहीं गया। उससे बहुत-कुछ सीखनेको मिला; साथ ही मर्यादाकी माप मिली।

अब मैं एकदम खादी-मय होनेके लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देसी मिलके कपड़ेकी थी। बीजापुरमें और आश्रममें जो खादी बनती थी वह बहुत मोटी और ३० इंच अर्जकी होती थी। मैंने गंगाबहनको चेताया कि अगर ४५ इंच अर्जकी खादीकी धोती एक महीने के भीतर न दे सकेंगी तो मुझे मोटी खादीका पंचा पहनकर काम चलाना पड़ेगा। गंगाबहन घबराईं, उन्हें यह कम मियाद मालूम हुई; लेकिन हिम्मत नहीं हारीं। उन्होंने एक महीनेके भीतर ही मुझे पचास इंच अर्जका धोती-जोड़ा ला दिया और मेरी दरिद्रता दूर कर दी।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठीगांवसे अंत्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहनको आश्रममें लाये और उनके द्वारा लंबे अर्जकी खादी बुनवाई। खादीके प्रचारमें इस दंपतिका हिस्सा ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता। इन्होंने गुजरातमें और गुजरातके बाहर हाथ-कते सूतको बुननेकी कला दूसरोंको सिखाई है। यह निरक्षर लेकिन संस्कृत बहन जब करघा चलाने बैठती हैं तो उसमें इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि इधर-उधर देखनेकी या किसीके साथ बात करनेकी भी फुरसत अपनेलिए नही रहने देतीं।

: ४१ :

एक संवाद

जिस समय स्वदेशीके नामपर यह प्रवृत्ति शुरू हुई उस समय मिल-मालिकोंकी ओरसे मेरी खूब टीका होने लगी। भाई उमर सुबानी स्वयं होशियार और सावधान मिल-मालिक थे, इसलिए वह अपने ज्ञानसे तो मुझे फायदा पहुंचाते ही थे; लेकिन साथ ही वह दूसरोंके मत भी मुझे सुनाते थे। उनमेंके एक मिल-मालिककी दलीलका असर भाई उमर सुबानीपर भी पड़ा और उन्होंने मुझे उनके पास ले चलनेकी बात कही। मैंनें उनकी इस बातका स्वागत किया और हम उन मिल-मालिकके पास गये। वह कहने लगे—

"यह तो आप जानते हैं न कि आपका स्वदेशी आंदोलन कोई पहला आंदोलन नही है?" "मैंने जवाब दिया—"जी हां।"

"आप यह भी जानते हैं कि बंग-भंगके दिनोंमें स्वदेशी-आंदोलनने खूब जोर पकड़ा था? इस आंदोलनसे हमारी मिलोंने खूब लाभ उठाया था और कपड़ेकी कीमत बढ़ा दी थी; जो काम नही करना चाहिए, वह भी किया था।" "मैंने यह सब सुना है और सुनकर दुःखी हुआ हूं।"

"मै आपके दुःखको समझता हूं; लेकिन उसका कोई कारण नहीं है। हम परोपकारकेलिए अपना व्यापार नही करते है। हमें तो नफा

कमाना है। अपने मिलको भागीदारों (शेयर होल्डरों) को जवाव देना है। कीमतका आधार तो किसी चीजकी मांग है। इस नियमके खिलाफ कोई क्या कह सकता है? बंगालियोंको यह अवश्य ही जान लेना चाहिए था कि उनके आंदोलनसे स्वदेशी कपड़ेकी कीमत जरूर ही बढ़ेगी।

"वे तो बेचारे मेरे समान शीघ्र ही विश्वास कर लेने वाले ठहरे, इसलिए उन्होंने यह मान लिया था कि मिल-मालिक एकदम स्वार्थी नहीं बन जायगे; दगा तो कभी देंगे ही नहीं, और न कभी स्वदेशीके नामपर विदेशी वस्त्र ही बेचेंगे।"

"मुझे यह मालूम था कि आप ऐसा मानते है इसीलिए मैंने आपको सावधान कर देनेका विचार किया और और यहांतक आनेका कष्ट दिया जिससे भोले-भाले बंगालियोकी भांति आप भी भूलमें न रह जायं।"

यह कहकर सेठने अपने एक गुमाश्तेको नमूने लानेकेलिए इशारा किया। नमूने रद्दी सूतसे बने हुए कंवलके थे। उन्हें लेकर उन्होंने कहा—

"देखिए, यह नया माल हमने तैयार किया है। इसकी बाजारमें अच्छी खपत है; रद्दीसे बना है, इस कारण सस्ता तो पड़ता ही है। इस मालको हम ठठ उत्तरतक पहुंचाते है हमारे एजेंट चारों ओर फैले हुए है। इससे आप यह तो समझ सकते है कि हमें आपके-सरीखे एजेंटोंकी जरूरत नही रहती। सच बात तो यह है कि जहां आप-जैसे लोगोंकी आवाज तक नही पहुंचती, वहां हमारे एजेट और हमारा माल पहुंच जाता है। हां, आपको तो यह भी जान लेना चाहिए कि भारतको जितने मालकी जरूरत रहती है उतना तो हम बनाते भी नही। इसलिए स्वदेशीका सवाल तो खासकर उत्पत्तिका सवाल है। जब हम आवश्यक परिमाणमें कपड़ा तैयार कर सकेंगे और जव उसका किस्ममें सुधार कर सकेंगे, तब परदेशी कपड़ा अपने-आप आना बंद हो जायगा। इसलिए मेरी तो यह सवाल है कि आप जिस ढंगसे स्वदेशी आंदोलनका काम कर रहे है, उस ढंगसे मत कीजिए और नई मिलें खड़ी करनेकी तरफ अपना ध्यान लगाइए। हमारे यहा स्वदेशी मालको खपानेका आंदोलन आवश्यक

नहीं है, आवश्यकता तो स्वदेशी माल उत्पन्न करनेकी है।"

"अगर मैं यही काम करता होऊं तो आप मुझे आशीर्वाद देंगे न?" मैंने कहा।

"यह कैसे ? अगर आप मिल खड़ी करनेकी कोशिश करते हों तो आप धन्यवादके पात्र हैं।

"मैं यह तो नहीं करता हूं। हां चरखेके उद्धार-कार्यमें अवश्य लगा हुआ हूं।"

"यह कौनसा काम है ?

मैंने चरखेकी बात सुनाई और कहा "मैं आपके विचारोंसे सहमत होता जा रहा हूं। मुझे मिलोंकी एजेंसी नहीं लेनी चाहिए उससे तो लाभके बदले हानि ही है। मिलोंका माल यों ही नही पड़ा रहता। मुझे तो कपड़ा उत्पन्न करनेमें और तैयार कपड़ेको खपानेमें लग जाना चाहिए। अभी तो मैं केवल उत्पत्तिके काममें ही लगा हुआ हूं। मै हर तरहकी स्वदेशी वस्तुओंमें विश्वास रखता हूं; क्योकि उसके द्वारा भारतकी भूखों मरनेवाली आधी बेकार स्त्रियोंको काम दिलाया जा सकता है। वे जो सूत काते उसे बुनवाना और इस तरह तैयार खादी लोगोंको पहनाना ही मेरा काम है और यही मेरा आंदोलन है। चरखा-आंदोलन कितना सफल होगा, वह तो मै नहीं कह सकता। अभी तो उसका श्रीगणेश-मात्र हुआ है; लेकिन मुझे उसमें पूरा विश्वास है। चाहे जो हो, यह तो निर्विवाद है कि इस आंदोलनसे कोई हानि नहीं होगी। इस आंदोलनके कारण हिंदुस्तानमें तैयार होनेवाले कपडेमें जितनी वृद्धि होगी, उतना लाभ ही होगा। इसलिए इस कोशिशमें आपका बतलाया हुआ दोष तो नही है।"

"अगर आप इस तरह इस आंदोलनका संचालन करते हो तो मुझे कुछ भी कहना नहीं है। यह एक जुदी बात है कि इस यन्त्र-युगमें चरखा टिकेगा या नहीं। फिर भी, मै तो आपकी सफलता ही चाहता हूं।"

: ४२ :

असहयोगका प्रवाह

इसके बाद खादीकी तरक्की किस तरह हुई, उसका वर्णन इन अध्यायोंमें नही किया जा सकता। यह बतला चुकनेपर कि कौन-कौन चीज किस तरह जनताके सामनें आई, उसके इतिहासमें उतरना उन अध्यायोंकी सीमाके बाहरकी बात है। ऐसा करनेसे तो उन विषयोंकी एक-एक पुस्तक ही अलग तैयार हो जायगी। यहां मै तो केवल यही बताना चाहता हूं कि सत्यकी शोध करते हुए किस तरह जुदी-जुदी बातें मेरे जीवनमें एकके-बाद-एक अनायास आती गईं।

इसलिएमै मानता हूं कि अब असहयोगके बारेमें कुछ बातें बतानेका समय आ गया है। खिलाफतके बारेमें अली-भाइयोंका जबरदस्त आंदोलन तो चल ही रहा था। स्वर्गीय मौलाना अब्दुल बारी वगैरा उलेमाओंके साथ इस विषयमें खूब बहस हुई। इस बारेमें खास तौरपर तरह-तरहसे विचार होते रहे कि मुसलमान शांति और अहिंसाका किस हदतक पालन कर सकते हैं और आखिर यह फैसला हुआ कि एक हदतक बतौर एक नीतिके उसका पालन करनेमे कोई हर्ज नहीं और यह भी तय हुआ कि जो एक बार अहिंसाकी प्रतिज्ञा ले ले, वह सचाईसे उसका पालन करनेकेलिए बंधा है। आखिर असहयोगका प्रस्ताव खिलाफत-कांफ्रेंसमें पेश किया गया और लंबी बहसके बाद वह पास हुआ। मुझे याद है कि एक बार उसकेलिए इलाहाबादमें सारी रात सभा होती रही। शुरू-शुरूमे स्व० हकीम साहबको शांतिपूर्ण असहयोगकी शक्यताके संबंधमें शंका थी लेकिन उनकी शंका दूर हो जानेपर वह उसमें शामिल हो गये और उनकी मदद बहुत कीमती साबित हुई।

इसके बाद गुजरातमें राजकीय परिषद्की बैठक हुई। इस परिषद्में मैने असहयोगका प्रस्ताव रखा। परिषद्में प्रस्तावका विरोध करनेवालेकी पहली दलील यह थी कि जबतक कांग्रेस असहयोगका प्रस्ताव पास नहीं करती है तबतक प्रांतीय परिषदोंको उनके पास करनेका अधिकार

नहीं। मैंने जवाबमें कहा कि प्रांतीय-परिषदें पीछे पैर नहीं हटा सकतीं;
लेकिन आगे कदम बढ़ानेका अधिकार तो तमाम अधीन संस्थाओंको है;
यही नहीं बल्कि अगर उनमे हिम्मत हो तो ऐसा करना उनका धर्म भी है;
इससे तो प्रधान संस्थाओंका गौरव बढ़ता है। इसके बाद प्रस्तावके गुण-दोषों-
पर भी अच्छी और मीठी बहस हुई। फिर मत लिये गए और बड़े बहुमतसे
असहयोगका प्रस्ताव भी पास हो गया। इस प्रस्तावके पास होनेमें अब्बास-
तैयबजी और वल्लभभाईका बहुत बड़ा हिस्सा था। अब्बास साहब अध्यक्ष
थे और उनका झुकाव असहयोगके प्रस्तावकी ओर ही था।

महा-समितिने इस प्रश्नपर विचार करनेकेलिए कांग्रेसकी एक
खास बैठक १९२०के सितंबर महीनेमें बुलानेका निश्चय किया। बहुत
बड़े पैमानेपर तैयारियां हुईं। लाला लाजपतराय अध्यक्ष चुने गये।
बंबईसे खिलाफत और कांग्रेस स्पेशलें छूटीं। कलकत्तेमें सदस्यों और
दर्शकोंका बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ।

मौलाना शौकतअलीके कहनेपर मैंने असहयोगके प्रस्तावका मसविदा
रेलमें तैयार किया। इस समयतक मेरे मसविदोमें शांतिमय शब्द प्रायः
नहीं आता था। मै अपने भाषणोंमें उसका उपयोग करता था। लेकिन
जहां अकेले मुसलमान भाइयोंकी सभा होती वहां शांतिमय शब्दसे मैं
जो कुछ समझाना चाहता, समझा नही सकता था; इसलिए मैंने मौलाना
अबुलकलाम आजादसे इसकेलिए दूसरे शब्द पूछे। उन्होंने 'बाअमन'
शब्द बतलाया और असहयोगके लिए 'तर्के मवालात' शब्द सुझाया।

इस तरह जब गुजरातीमें, हिंदीमे, हिंदुस्तानीमें असहयोगकी भाषा
मेरे दिमागमें तैयार हो रही थी उसी समय, जैसा कि मै ऊपर कह चुका
हूं, कांग्रेसकेलिए एक प्रस्ताव तैयार करनेका काम मेरे जिम्मे आया। उस
प्रस्तावमें 'शांतिमय' शब्द नही आ पाया था। प्रस्ताव तैयार कर चुकनेपर
ट्रेनमें ही मैंने उसे शौकतअलीके हवाले कर दिया था। रातमें मुझे
खयाल आया कि खास शब्द 'शांतिमय' तो प्रस्तावके मसविदेमेंसे छूट
गया है। मैंने महादेवको उसी समय जल्दीसे भेजा और कहलवाया कि

छापनेके पहले उसमें 'शांतिमय' शब्द भी जोड़ दिया जाय। मुझे याद आ रहा है कि इस शब्दके जुड़नेके पहले ही प्रस्ताव छप चुका था। उसी रातको विषय-समितिकी बैठक थी, इसलिए बादमें मुझे मसविदेमें 'शांतिमय' शब्द जोड़ना पड़ा। साथ ही मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने पहलेसे ही प्रस्ताव तैयार न कर लिया होता तो बड़ी कठिनाई होती।

तिसपर भी मेरी हालत तो दयाजनक ही थी। मुझे इस बातका पता भी नहीं था कि कौन तो मेरे प्रस्तावको पसंद करेंगे और कौन उसके विरोधमें बोलेंगे। मुझे इस बातका भी बिलकुल पता न था कि लालाजीका झुकाव किस तरफ है। कलकत्तेमें पुराने अनुभवी योद्धागण एकत्र हुए थे। विदुषी एनी बेसेंट, पंडित मालवीयजी, विजयराघवाचार्य, पंडित मोतीलाल जी, देशबंधु वगैरा नेता उनमें मुख्य थे।

मेरे प्रस्तावमें खिलाफत और पंजाबके अन्यायको लेकर ही असहयोग करनेकी बात कही गई थी। श्री विजयराघवाचार्यको इतनेसे संतोष न हुआ। उनका कहना था, 'अगर असहयोग करना है तो फिर किसी खास अन्यायको लेकर ही क्यों किया जाय? स्वराज्यका अभाव तो बड़े-से-बड़ा अन्याय है, इसे लेकर ही असहयोग किया जाना चाहिए।' मोतीलालजी भी यह जोड़ना चाहते थे। मैंने तुरंत ही यह सुझाव मंजूर कर लिया और प्रस्तावमें स्वराज्यकी मांग भी जोड़ दी। लंबी, गंभीर और कुछ तेज बहसके बाद असहयोगका प्रस्ताव पास हो गया।

सबसे पहले मोतीलालजी आंदोलनमें शामिल हुए। उस समय मेरे साथ उनकी जो मीठी बहस हुई थी, वह मुझे अबतक याद है। कहीं थोड़े शब्दोंको बदल देनेकी बात उन्होंने कही थी और मैंने वह मंजूर कर ली थी। देशबंधुको राजी कर लेनेका बीड़ा उन्होंने उठाया था। देशबंधुका दिल असहयोगकी तरफ़ था; लेकिन उनकी बुद्धि उनसे कह रही थी कि जनता असहयोगके भारको सह नहीं सकेगी। देशबंधु और लालाजी पूरे असहयोगी तो नागपुरमें बने थे। इस विशेष अधिवेशनके अवसरपर मुझे लोकमान्यकी अनुपस्थिति बहुत ज्यादा खटकी थी। आज भी मेरा यह

मत है कि अगर वह जिंदा रहते तो अवश्य ही कलकत्तेके प्रसंगका स्वागत करते। लेकिन अगर यह नही होता और वह उसका विरोध करते, तो भी वह मुझे अच्छा लगता और मैं उससे बहुत-कुछ शिक्षा ग्रहण करता। मेरा उनके साथ हमेशा मत-भेद रहा करता। लेकिन यह मत-भेद मधुर होता था। उन्होंने मुझे सदा यह मानने दिया था कि हमारे बीच निकटका संबंध है। ये पंक्तियां लिखते हुए उनके अवसानका चित्र मेरी आंखोके सामने घूम रहा है। आधी रातके समय मेरे साथी पटवर्धनने टेलीफोन द्वारा मुझे उनकी मृत्युकी खबर दी थी। उसी समय मैंने अपने साथियोसे कहा था—"मेरी बड़ी ढाल मुझसे छिन गई।" इस समय असहयोगका आंदोलन पूरे जोर पर था। मुझे उनसे आश्वासन और प्रेरणा पानेकी आशा थी। आखिर जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमान हुआ था तब उनका क्या रुख होता सो तो दैव ही जाने; लेकिन इतना मुझे मालूम है कि देशके इतिहास की इस नाजुक घड़ीमे उनका न होना सबको खटकता था।

: ४३ :

नागपुरमें

कांग्रेसके विशेष अधिवेशन मे असहयोगका जो प्रस्ताव पास हुआ था नागपुर वाले वार्षिक अधिवेशनमे उसे कायम रखना था। कलकत्तेकी तरह नागपुरमें भी असख्य आदमी इकट्ठे हुए थे। अभी प्रतिनिधियोकी सख्याका निश्चय नही हो पाया था, तिसपर भी, जहांतक मुझे याद है, उस समय चौदह हजार प्रतिनिधि आये थे। लालाजीके आग्रहसे स्कूलों-सबंधी प्रस्ताव-में थोड़ा परिवर्तन करना मैंने मंजूर कर लिया था। देशबधुने भी थोड़ा फेर-बदल करवाया था और आखिर अहिंसात्मक असहयोगका प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे पास हुआ था।

इसी बैठकमे कांग्रेसके विधानका प्रस्ताव भी पास करवाना था। विधानका मसविदा ता मैंने विशेष अधिवेशनमे ही रख दिया था, इसलिए वह प्रकाशित हो चुका था और उसपर काफी बहस भी हो चुकी थी।

श्री विजयराघवाचार्य इस अधिवेशनके सभापति थे। विधानमें विषय-समितिने एकही महत्वका परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियोंकी सख्या पंद्रह-सौ रखी थी, उसके बदले विषय-समितिने उसे छः हजार नियत किया। मेरे विचारमें यह कार्रवाई बिना विचारे का गई थी। इतने वर्षोंके अनुभवके बाद भी मेरा तो यही मत है। बहुतसे प्रतिनिधियोंसे अधिक अच्छा काम होता है, अथवा प्रजातंत्रका अच्छी तरह निर्वाह होता है, इस कल्पनाको मैं एकदम भ्रम-पूर्ण मानता हूं। अगर पंद्रह-सौ प्रतिनिधि मनके उदार, प्रजाके स्वत्त्वकी रक्षा करनेवाले और प्रामाणिक हों, तो वे छः हजार जैसे-तैसे चुने गये प्रतिनिधियोंकी अपेक्षा प्रजातंत्रकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकते है। प्रजातंत्रको निवाहनेके लिए जनतामें स्वतंत्रताकी, स्वाभिमानकी और ऐक्यकी भावना तथा अच्छे और सच्चे प्रतिनिधियोंको चुननेका आग्रह होना चाहिए। लेकिन संख्याके मोहमें फंसी हुई विषय-समितिको तो छः हजारसे भी ज्यादा प्रतिनिधियोंकी जरूरत थी। इसलिए छः हजार तो समझौतेके तौरपर कायम रहे।

कांग्रेसमें स्वराज्यके ध्येयपर भी बहस हुई थी। विधानके एक नियम में साम्राज्यमे रहकर अथवा उससे बाहर होकर, जैसी स्थिति हो, स्वराज्य प्राप्त करनेकी बात कही गई थी। कांग्रेसमें एक दल ऐसा भी था, जो साम्राज्यमें रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। इस पक्षका समर्थन पंडित मालवीयजी और श्री जिनाने किया था, परंतु उन्हें अधिक मत नहीं मिल सके। विधान में तो यही बात कही गई थी कि शांति और सत्य-रूप साधनोंके द्वारा ही स्वराज्य प्राप्त किया जाय। लेकिन इस शर्तका भी विरोध किया गया था। कांग्रेसने विरोधको नामंजूर किया और सारा विधान सुंदर बहसके बाद पास हो गया। मेरे विचारमें अगर लोगोंने इस विधानपर प्रामाणिकतापूर्वक और उत्साहसे अमल किया होता तो उनसे जनताको बड़ी शिक्षा मिलती और यह भी संभव था कि उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो जाता। लेकिन यहां इस विषयकी अधिक चर्चा करना अप्रासंगिक है।

इसी सभामें हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य, अछूतोद्धार और खादीके संबंधमें भी प्रस्ताव पास हुए थे तभीसे अस्पृश्यताके कलंकको दूर करनेका भार कांग्रेस-के हिंदू सदस्योंने अपने जिम्मे लिया है और खादीके द्वारा कांग्रेसने अपना संबंध भारतके अस्थि-पंजर गरीब लोगोंके साथ जोड़ा है। खिलाफतके सवाल-को लेकर असहयोग करना और उसके द्वारा हिंदू-मुस्लिम-एकता साधनेकी कोशिश करना भी कांग्रेसका एक बड़ा काम था।

: ४४ :

पूर्णाहुति

अब इन अध्यायोंको बंद करनेका समय आ पहुंचा है; इससे आगेका मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है कि जनता उसके विषयमें कुछ भी न जानती हो, सो बात नहीं। और सन् १९२१के सालसे तो मैं कांग्रेसके नेताओंके साथ इतना हिल-मिलकर रहा हूं कि कोई बात ऐसा नहीं है, जिसका यथार्थ वर्णन मैं उनका जिक्र किये बिना कर सकूं। ये संबंध अभी ताजे ही हैं। श्रद्धानंदजी, देशबंधु, लालाजी, और हकीम साहब आज हमारे पास नहीं हैं, फिर भी सौभाग्यसे दूसरे बहुतसे नेता अभी मौजूद हैं। कांग्रेसके महापरिवर्तनके बादका इतिहास तो अभी तैयार ही हो रहा है। मेरे मुख्य प्रयोग कांग्रेसके द्वारा ही हुए हैं, इसलिए उन प्रयोगोंका वर्णन करते समय नेताओंका उल्लेख करना अनिवार्य है। औचित्यकी दृष्टिसे भी इन बातोंका वर्णन मुझे अभी नहीं करना चाहिए। और जो प्रयोग अभी हो रहे हैं, उनके संबंधमें मेरे। निर्णय निश्चयात्मक नहीं कहे जा सकते, इसलिए भी इन अध्यायोंको फिलहाल बंद कर देना ही मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। अगर यह कहूं कि मेरी लेखनी ही आगे बढ़ने से इन्कार करती है तो भी अत्युक्ति न होगी।

पाठकोंसे बिदा मांगते हुए मुझे दुःख होता है। मेरी दृष्टिमें मेरे प्रयोग बहुत कीमती हैं। मुझे पता नहीं, मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूं या नहीं। मैंने अपनी ओरसे तो ठीक-ठीक वर्णन करनेमें कुछ

उठा नही रखा है। मैंने सत्यको जिस रूपमें देखा है और जिस राहसे देखा है, उसे उसी रूपमें, उसी राहसे बतानकी हमेशा कोशिशकी है। और साथ ही पाठकोंके सम्मुख उन वर्णनोंको रखकर मैंने अपने चित्तमें शांतिका अनुभव किया है; क्योंकि मुझे उनसे आशा रहा है कि उनके पढ़नेसे पाठकोंके हृदयमें सत्य और अहिंसाके प्रति अधिक श्रद्धा उत्पन्न होगी।

सत्यसे भिन्न किसा परमेश्वरके अस्तित्वका मुझे अनुभव नहीं। अगर पाठकोंको इन अध्यायोके पन्ने-पन्नेमें यह प्रतीत न हुई हो कि सत्यमय बननेकेलिए अहिसा ही एक राजमार्ग है, तो मै अपने इस प्रयत्नको व्यर्थ समझूंगा। प्रयत्न भले ही व्यर्थ हों लेकिन यह वचन व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी अभी कच्ची है, अपूर्ण है इसलिए मेरी सत्यकी झांकी उस सत्य-रूपी सूर्यके तेजकी एक किरण-मात्रके दर्शनके समान है, जिसके तेजका अंदाज हजारों साधारण सूर्योको इकट्ठा करनेपर भी नही हो सकता। अतः अबतकके मेरे प्रयोगोके आधारपर इतना तो मै अवश्य कह सकता हूं कि इस सत्यका सपूर्ण दर्शन सपूर्ण अहिंसाके अभावमे अशक्य है।

ऐसे व्यापक सत्यनारायणके प्रत्यक्ष दर्शनकेलिए प्राणी-मात्रके प्रति आत्मवत् (अपने समान) प्रेमकी बड़ी भारी जरूरत है। इस सत्यको पानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य जीवनके एक भी क्षेत्रसे बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य-पूजा मुझे राजनीतिक क्षेत्रमें घसीट ले गई। जो यह कहते हैं कि राजनीतिसे धर्मका कोई संबंध नहीं है, मैं निःसंकोच होकर कहता हूं कि वे धर्मको नहीं जानते और मेरा विश्वास है कि यह बात कहकर मै किसी तरह विनयकी सीमाको लांघ नही रहा हूं।

बिना आत्म-शुद्धिके प्राणी-मात्रके साथ एकताका अनुभव नही किया जा सकता। और आत्म-शुद्धिके अभावमे अहिंसा-धर्मका पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है। अशुद्धात्मा परमात्माके दर्शन करनेमे असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन-पथके सारे क्षेत्रोंमें शुद्धिकी जरूरत रहती है। इस तरहकी शुद्धि हमारा साध्य है; क्योंकि व्यक्ति और समष्टिमे इतना निकटका संबंध है कि एककी शुद्धि अनेकका शुद्धिके बराबर हो जाती है।

और व्यक्तिगत कोशिश करनेकी ताकत तो सत्य-नारायणने सब किसीको जन्म हीसे दे दी है।

लेकिन मै तो पल-पलपर इस बातका अनुभव करता हू कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्ध होनेका मतलब तो मनसे, वचनसे, और कायासे निर्विकार होना, राग-द्वेष आदिसे रहित होना है। इस निर्विकार स्थिति तक पहुंचनेकेलिए प्रतिपल प्रयत्न करनेपर भी मै उसतक नही पहुच सका हूं। इस कारण लोगोकी प्रशसा मुझे भुला नही सकती, उलटे बहुधा मुझे बुरी लगती है। मै तो मनके विकारोंको जीतना, सारे ससारको शस्त्र-युद्ध करके जीतनेसे भी कठिन समझता हूं। भारतमे आनेके बाद भी मैने अपनेमें छिपे हुए विकारोंको देखा है, देखकर शर्मिदा हुआ हूं; लेकिन हिम्मत नही हारा हूं। सत्यके प्रयोगोंको करते हुए मैने सुखका अनुभव किया है, आज भी उसका अनुभव कर रहा हूं। लेकिन में जानता हू कि अभी मुझे बीहड़ रास्ता तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना पड़ेगा। जबतक मनुष्य खुद होकर अपने-आपको सबसे छोटा नही मानता है तबतक मुक्ति उससे दूर रहती है। अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है, उसकी हद है। और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि इस तरहकी नम्रताके बिना मुक्ति कभी नही मिल सकती। इसलिए अभी तक ऐसी नम्रता पानेकी प्रार्थना करते हुए और उसमे ससारसे सहायताकी याचना करते हुए मै इन अध्यायोको समाप्त करता हू।

समाप्त